सामाजिक मनोविज्ञान की रूपरेखा

(AN OUTLINE OF SOCIAL PSYCHOLOGY)

रवीन्द्र नाथ मुकर्जी
अवकाश प्राप्त अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग,
बरेली कॉलेज, बरेली

किताब महल

प्रथम संस्करण 1980
नवनितम संस्करण 1992
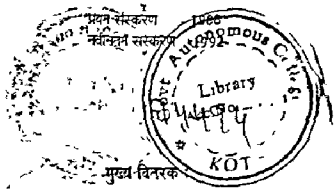
मुख्य वितरक

1 किताब महल, एजेन्सीज,
84, के० पी० कक्कड रोड, इलाहाबाद

2 किताब महल, डिस्ट्रीब्यूटर्स,
28, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली

3 किताब महल, एजेन्सीज,
अशोक राजपथ, पटना

4 किताब महल, एजेन्सीज,
मनोज बिल्डिंग, सेण्ट्रल बाजार रोड,
रामदास पेठ, नागपुर

मूल्य 62 00

प्रकाशक किताब महल, 15, थार्नहिल रोड, इलाहाबाद।
मुद्रक सेन्चुरी प्रिन्टर्स, 22, सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद

जिनका स्नेह मेरे जीवन
की
अमूल्य निधि बनी हुई है
उन्हीं
स्नेहशीला बहनों—
प्रभा,
पुष्पिता,
छवि,
आरती,
व
मिनती
को यह पुस्तक सस्नेह समर्पित है।

—'दादा'

भूमिका

किसी भी लेखक के लिए पुस्तक का नवीनतम संस्करण स्वतः ही गौरवपूर्ण होता है। मैं उस गौरव को अनुभव करता हूँ और उसकी गरिमा को समझता हूँ। इसलिए मैं गम्भीर हूँ--गम्भीर हूँ अपने सुधि पाठकों के प्रति अपने उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में। इसीलिए इस सम्बन्ध में हमारा नवीनतम प्रयास नवीन रूप में उन्हीं के सेवार्थ प्रस्तुत है।

मेरा यह सदा ही संकल्प रहा है कि हर नवीन संस्करण को एक नया रूप दिया जावे, नये तौर पर उसे सजाया-संवारा जाये। इसी सकल्प को कार्य रूप देते हुए उस पुस्तक के प्रायः सभी अध्यायों में कुछ नयापन लाने का प्रयास किया गया है। इसमें जहाँ एक ओर नई सामग्री को सम्मिलित किया गया है, वहीं फालतू सामग्री को कठोरता से निकाल फेंका गया है। फलत. पुस्तक के आकार में कुछ पृष्ठों का बोझ कम हो गया है।

संक्षेप में, प्रयास पुस्तक की उपयोगिता को बढ़ाने की दिशा में ही रहा है, पर इस दिशा में लेखक को कितनी सफलता मिली है, इसका मूल्यांकन तो स्वतः पाठकों को ही करना है। मुझे उनके निर्णयों की सादर अपेक्षा रहेगी।

रवीन्द्र नाथ मुकर्जी

विषय-सूची

प्रथम खण्ड : सामाजिक मनोविज्ञान के विषय में

द्वितीय खण्ड : मानव-व्यवहार के प्रमुख आधार

तृतीय खण्ड : समूह व्यवहार

चतुर्थ खण्ड : समूह-व्याधिकी का मनोविज्ञान

प्रथम खण्ड

सामाजिक मनोविज्ञान के विषय में

(ABOUT SOCIAL PSYCHOLOGY)

1. सामाजिक मनोविज्ञान के विषय में
2. सामाजिक मनोविज्ञान तथा अन्य सामाजिक विज्ञान
3. सामाजिक मनोविज्ञान की पद्धतियाँ

भौतिक सुख प्राप्त होता है। चूँकि, इस विचारधारा में भौतिक सुख या आनन्द पर अधिक बल दिया गया है, इस कारण इसे 'सुखवादी भौतिकवाद' (hedonistic materialism) कहा गया है। बहुत-कुछ यही बात रोमन दार्शनिक श्री सिसरो (Cicero . 106—43 B. C.) ने भी कही है। इनके अनुसार, मानव-व्यवहार का आधार सुख और दुःख है। व्यक्ति उन्हीं कार्यों की ओर झुकता है, जिनसे उसे सुख मिलता है या मिलने की आशा होती है; और, उन कार्यों से दूर भागता या जी चुराता है जो कि दुःखदायी होते हैं। परन्तु, आज सभी वैज्ञानिक इस बात से सहमत हैं कि केवल सुख-दुःख के आधार पर मानव-व्यवहार का विश्लेषण न तो किया जा सकता है और न ही प्रत्येक व्यवहार या क्रिया करने से पूर्व सुख या दुःख का हिसाब लगाना व्यक्ति के लिये सम्भव है।

इसके पश्चात्, जिन विचारकों ने मानव-व्यवहार के विश्लेषण का प्रयत्न किया, उनमें श्री रूसो (Rousseau 1712–1778) का नाम उल्लेखनीय है। आपने *'सामान्य संकल्प' (general will)* के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया; जिसके अनुसार, यद्यपि समाज के विकास में समाज के सभी सदस्यों की इच्छाओं का योगदान होता है, फिर भी समाज के विकसित हो जाने के बाद समस्त व्यक्तिगत इच्छाओं का एकीकरण हो जाता है और सामूहिक हित और नैतिक इच्छाओं को प्रधानता प्राप्त हो जाती है। अतः स्पष्ट है कि सामूहिक हित के सन्मुख व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हित की बलि दे सकता है, और देता भी है।

इस सम्बन्ध में श्री हीगल (Hegel : 1770–1831) के विचारों का भी उल्लेख किया जा सकता है। आपके अनुसार, चिन्तन की प्रक्रिया (process of thinking) ही वास्तविक जगत् की निर्माता (creator) है, अर्थात् 'विचार' (idea) ही वास्तविक जगत् का निर्माण करता है। इस प्रकार, मस्तिष्क और वस्तु-जगत् दोनों ही 'सर्वव्यापक विचार' (universal idea) या 'विश्वात्मा' (world spirit) के प्रतिबिम्ब हैं, और उसी से संचालित है।

१९वीं शताब्दी के आरम्भ में रसायनशास्त्र (chemistry) तथा शरीर-रचनाशास्त्र (physiology) में प्रगति होना आरम्भ हुई। रसायनशास्त्र की प्रगति से मानव-व्यवहार की वास्तविक प्रकृति को समझने में सहायता मिली, क्योंकि रासायनिक खोज से यह पता चला कि रासायनिक पदार्थ का निर्माण कई तत्त्वों से होता है। उदाहरणार्थ, पानी ऑक्सीजन एवं हाइड्रोजन, इन दो तत्वों के मिलने से बनता है। इसी प्रकार, मानव-व्यवहार के सम्बन्ध में भी यह विचार फैलने लगा कि व्यक्ति का व्यवहार केवल मानसिक प्रक्रियाओं (mental processes) या मस्तिष्क का ही चमत्कार नहीं है, बल्कि उसका कारक भी एकाधिक तत्त्व ही हैं। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति का व्यवहार केवल मस्तिष्क की उपज न होकर उसके साथ-साथ समाज की भी उपज है। इस प्रकार, व्यक्ति के व्यवहार के निर्धारण में मस्तिष्क और समाज दोनों का ही योगदान होता है। इसी विचार से प्रभावित होकर मनोवैज्ञानिकों का ध्यान मानव-व्यवहार के निर्धारक तत्त्वों की ओर आकृष्ट हुआ। उसी समय शरीर-रचनाविज्ञान में प्रयोगात्मक अध्ययन आरम्भ हुआ, जिससे प्रभावित होकर सर्वप्रथम श्री वुण्ट (Wundt) ने सन् 1879 में लिपजिग में एक मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला स्थापित की। यहीं से मनोविज्ञान का प्रयोगात्मक अध्ययन आरम्भ हुआ, जिसके फलस्वरूप मानव-व्यवहार की वास्तविक प्रकृति दिन-प्रतिदिन अधिक स्पष्ट होती गयी।

परन्तु, इस क्षेत्र में जिसका प्रभाव में वास्तव क्रान्तिकारी तथा अतुलनीय था, वह थी सन् 1959 में प्रकाशित श्री डार्विन की अमर कृति Origin of Species (जातियों की उत्पत्ति)। इस पुस्तक में श्री डार्विन ने प्राणीशास्त्रीय उद्विकास (biological evolution) के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। तभी से यह स्वीकार किया जाने लगा कि मस्तिष्क या मानसिक प्रक्रियाओं का भी, स्वयं सावयव (organism) की भाँति, क्रमिक विकास होता है, और इस बीच मस्तिष्क का सरल रूप धीरे-धीरे जटिल रूप धारण कर लेता है। परन्तु, यह क्रमिक विकास किसी एक कारक (single factor) का नहीं, अपितु अनेक कारकों का परिणाम होता है। उन कारकों में समाज या समूह भी एक है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम काल में कुछ फ्रान्सीसी विद्वानों ने सामाजिक मनोविज्ञान के विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इन विद्वानों ने अपने अध्ययन द्वारा यह दर्शाने का प्रयत्न किया कि समाज में कोई भी व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों से पूर्णतया पृथक् नहीं रह पाता, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति के व्यवहार का प्रभाव अन्य व्यक्तियों के व्यवहार पर निरन्तर पड़ता रहता है। जिस प्रकार व्यक्ति अनेक तरह के व्यवहार दूसरों को देख कर सीख जाता है, उसी प्रकार समाज समग्र रूप में कुछ व्यवहार-प्रतिमानों को व्यक्ति के सम्मुख प्रस्तुत करता है, और इस प्रकार व्यवहार की दिशा निर्धारित करता है। इन विद्वानों में श्री टार्ड (Tarde) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आपके मतानुसार, व्यक्ति में स्वभाव से (by nature) ही सुझाव-ग्रहण की प्रवृत्ति होती है, और इसीलिये वह वैसा ही करता है, जैसा कि वह दूसरों को करते हुए देखता है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति का व्यवहार दूसरे के व्यवहारों का अनुकरण मात्र है। अनुकरण की यह प्रक्रिया समाज में अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से क्रियाशील रहती है, और इसी के सहारे सामाजिक व वैयक्तिक (individual) व्यवहारों की उत्पत्ति उनके विकास तथा विस्तार को समझा जा सकता है।

सामाजिक मनोविज्ञान के विकास में फ्रेंच-समाजशास्त्री श्री इमाइल दुर्खीम (Emile Durkheim) की भी देन कम नहीं है। उनके अनुसार व्यक्ति के लिये समाज ही वास्तविक भगवान है, और इसलिये वह समाज के अनिवार्य प्रभावों से अपने को विमुक्त नहीं कर सकता। समाज सामूहिक चेतना (collective consciousness) का एक जीता-जागता रूप है। चूँकि, यह चेतना किसी व्यक्ति विशेष की नहीं, अपितु सबकी होती है, इस कारण वह व्यक्ति पर एक बाध्यतामूलक प्रभाव डालती है और उसके व्यवहारों तथा इच्छाओं तक को नियंत्रित करती है। समाज या समूह व्यक्ति को सब कुछ करने को बाध्य कर सकता है। यदि समाज का दबाव व्यक्ति पर अस्वस्थ रूप में पड़ता है तो व्यक्ति आत्महत्या तक कर सकता है। अतः व्यक्ति की समस्त क्रियाओं व व्यवहारों का मूल स्रोत स्वयं समाज ही है।

एक पृथक् सामाजिक विज्ञान के रूप में सामाजिक मनोविज्ञान से लोगों का परिचय सन 1908 में हुआ जब कि श्री ई० ए० रॉस (E. A. Ross) ने *Social Psychology* (सामाजिक मनोविज्ञान) के नाम से एक पुस्तक सर्वप्रथम प्रकाशित की। इस पुस्तक में आपने लिखा कि सामाजिक मनोविज्ञान 'समूह-मस्तिष्क' (group mind) का अध्ययन करता है। इसी को आधार मानकर सामाजिक मनोविज्ञान के अन्य पहलुओं पर आपने अपने विचार व्यक्त किये हैं।

सामाजिक मनोविज्ञान के विकास में श्री विलियम मैक्डूगल (William Mc-dougall) के अनुदान को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह बात सन् 1908 में प्रकाशित आपकी पुस्तक *An Introduction to Social Psychology* के द्वारा

यन से ही स्वत स्पष्ट हो जाती है। आपने मानव-व्यवहार के एक विशेष मनः-शारीरिक (psycho-physical) आधार पर अत्यधिक बल दिया और वह था मूलप्रवृत्तियाँ। आपके अनुसार मनुष्य को वंशानुसंक्रमण की प्रक्रिया द्वारा कुछ जन्मजात प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं। ये मूलप्रवृत्तियाँ (instincts) ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में समस्त मानव-व्यवहार की प्रमुख चालिकायें (prime movers of all humam activities) होती है। मूलप्रवृत्तियों (instincts) द्वारा चालित मानव-व्यवहारो के फलस्वरूप ही समाज का विकास होता है। अत: मानव के सामाजिक कार्यों या व्यवहारो का भी एक मनोवैज्ञानिक आधार होता है। इस कारण, मनोविज्ञान के अध्ययन के क्षेत्र मे व्यक्ति के केवल वैयक्तिक (individual) कार्यों को ही नही, अपितु सामाजिक व्यवहारो को भी सम्मिलित कर लेना चाहिए। चूँकि, यह विज्ञान व्यक्ति के 'सामाजिक' कार्यों से भी सम्बन्धित है, इस कारण श्री मैक्डूगल ने इसे सामाजिक विज्ञान कहकर सम्बोधित किया। यद्यपि मूलप्रवृत्तियो को समस्त मानव-व्यवहार का प्रमुख चालक मानने की जो गलती मैक्डूगल ने की, उसे आज सभी विद्वान् स्वीकार करते है, फिर भी इस सत्य को भी अस्वीकार नहीं करते कि श्री मैक्डूगल ने अपने अध्ययन द्वारा सामाजिक मनोविज्ञान को एक सुदृढ आधार प्रदान किया, और उसके आगे के अध्ययन के पथ को प्रशस्त किया।

इस क्षेत्र में श्री सिगमण्ड फ्रॉयड (Sigmund Freud) के योगदान का भी उल्लेख अनिवार्य है। आपने तथा आपके अनुयायियो ने इस बात पर बल दिया कि प्राय. सभी मानसिक समस्याओं का मूल कारण मनुष्य की मूलप्रवृत्तियो तथा सामाजिक नियम, आचार आदि के बीच चलने वाला संघर्ष है। मनुष्य अपनी मूलप्रवृत्तियो (instincts) से प्रेरित होकर कुछ व्यवहार या कार्य करना चाहता है; पर हो सकता है कि वह मूलप्रवृत्यात्मक व्यवहार सामाजिक रीति-नीति, आचार आदि के विपरीत हो। ऐसी अवस्था मे समाज उन कार्यों को करने से व्यक्ति को रोकता है, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्तियो और समाज के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। व्यक्ति को समाज का सदस्य बनने के लिये कुछ मूलप्रवृत्तियो के प्रकाशन मे संशोधन करना तथा कुछ का दमन करना ही पड़ता है। इस प्रकार, श्री फ्रॉयड तथा उनके साथियो ने व्यक्ति के मूलप्रवृत्यात्मक (instinctive) व्यवहारो की बाहरी अभिव्यक्ति मे समाज के प्रभावो या दबावो (pressures) को स्वीकार करके सामाजिक मनोविज्ञान के अध्ययन को एक नयी गति प्रदान की। फ्रॉयड के नेतृत्व मे इस मनोविश्लेषणवाद (psycho-analysis) की देन को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

सन् 1908 से पहले सामाजिक मनोविज्ञान की अध्ययन-पद्धति 'घर बैठे अटकलपच्चू' (arm-chair speculation) मात्र थी। परन्तु, सामाजिक मनोविज्ञान को एक वैज्ञानिक स्थिति (status) प्रदान करने के लिये इस पद्धति का शीघ्र ही बहिष्कार किया गया और उसके स्थान पर प्रयोगात्मक पद्धति (experimental method) का विकास किया गया। चूँकि, धीरे-धीरे सामाजिक मनोविज्ञान को सामाजिक या सामूहिक परिस्थिति मे व्यक्ति के व्यवहारो का अध्ययन कहकर परिभाषित किया जाने लगा, इसलिये यह आवश्यक हो गया कि वास्तविक सामाजिक परिस्थितियो मे प्रयोगात्मक रूप से व्यक्ति के व्यवहारों का अध्ययन किया जाये। सामाजिक मनोविज्ञान के क्षेत्र मे प्रयोग व परीक्षण-पद्धति की सहायता से

मानव-व्यवहारों का अध्ययन करने का सर्वप्रथम श्रेय जर्मनी के शिक्षाशास्त्रियों को ही है। इन विद्वानों ने विद्यार्थियों के एकान्त मे किये गए कार्यों और कक्षा व अन्य सामाजिक परिस्थितियों मे किये गए कार्यों का सर्वप्रथम तुलनात्मक अध्ययन किया। सन् 1910 मे प्रो० मीड (Meade) ने प्रतियोगिता तथा स्पर्धा (competition and rivalry) के परिणामो का प्रयोगात्मक पद्धति के द्वारा अध्ययन किया। श्री एफ० एच० ऑलपोर्ट (F. H. Allport) ने भी व्यक्ति के व्यवहार पर समूह के प्रभावों का अध्ययन प्रयोगात्मक विधि के द्वारा किया। अपने अध्ययन के आधार पर प्राप्त सामग्री को श्री ऑलपोर्ट ने सन् 1920 मे अपनी पुस्तक *Social Psychology* मे प्रकाशित किया। आपने इस पुस्तक मे सभी लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि सामाजिक मनोविज्ञान का अध्ययन-विषय केवल 'सामूहिक मस्तिष्क' (group mind) नहीं हो सकता। श्री जे० वाटसन (J. Watson) ने भी इस मत का समर्थन किया, क्योंकि उनके अनुसार, सामाजिक मनोविज्ञान समुदाय में व्यक्ति के व्यवहारो का अध्ययन करता है।

सन् 1931 मे श्री मर्फी और श्रीमती मर्फी (Murphy and Murphy) ने *Experimental Social Psychology* नामक एक पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक में उन्होंने बहुत से प्रयोगात्मक अध्ययनो के अतिरिक्त सामाजिक मनोविज्ञान की अन्य समस्याओ का भी वर्णन किया है। इसके पश्चात्, सर्वश्री न्यूकॉम्ब (Newcomb), किम्बल यंग (Kimball Young), शेरिफ़ (Sherif), ब्रिट (Britt), क्रेच और क्रचफ़ील्ड (Kretch and Crutchfield), ऑटो क्लाइनबर्ग (Otto Klineburg) आदि विद्वानो ने भी अपनी-अपनी कृतियो को प्रकाशित करके सामाजिक मनोविज्ञान के विकास मे अपना सहयोग प्रदान किया। इन विद्वानो ने जनमत (public opinion), प्रचार (propaganda), राजनैतिक आन्दोलन (political compaigns), युद्ध, क्रान्ति, नेतृत्व (leadership), समाजीकरण (socialisation), पक्षपात, व्यक्तित्व, भीड़, व्यवहार, फ़ैशन, अनुकरण, सुझाव व सहानुभूति आदि विषय को सामाजिक मनोविज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत सम्मिलित माना, और इन विषयो का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धतियो की सहायता से किया। इन विद्वानो के प्रयत्नो के फलस्वरूप ही आज सामाजिक मनोविज्ञान अपने को एक विज्ञान के रूप मे प्रतिष्ठित करने मे सफल हो सका है।

सामाजिक मनोविज्ञान क्या है ?

(What is Social Psychology ?)

कोई भी व्यक्ति (जिस अर्थ मे 'व्यक्ति' शब्द का प्रयोग हम यहाँ कर रहे हैं) केवल एक प्राणीशास्त्रीय प्राणी ही नही, वरन् एक सामाजिक प्राणी भी है। इस सत्य के प्रति श्री अरस्तू ने हमारा ध्यान बहुत पहले ही आकर्षित किया था। व्यक्ति सामाजिक प्राणी इसलिये है कि उसे अपने सामाजिक, शारीरिक, बौद्धिक तथा सांस्कृतिक अस्तित्व के लिये समाज पर निर्भर रहना पड़ता है। इस रूप मे व्यक्ति के जीवन के विभिन्न पक्षो पर समाज का प्रभाव स्पष्टत. पडता है। इस प्रकार के प्रभावों का एक पहलू यह है कि व्यक्ति को अपने सामाजिक, शारीरिक, बौद्धिक

व सांस्कृतिक जीवन को बनाये रखने के लिये, अर्थात् जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित एक अथवा अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आसपास के अन्य अनेक व्यक्तियों तथा समूहों में अन्त:क्रियात्मक सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। अन्य व्यक्तियों और/अथवा समूहों से अन्त:क्रिया के दौरान न केवल व्यक्ति की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, वरन् व्यक्ति के विचारों व व्यवहारों पर भी अन्य व्यक्तियों और/अथवा समूहों के विचारों, क्रियाओं और व्यवहारों का प्रभाव निरन्तर पड़ता ही रहता है; और, शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो इन प्रभावों से अपने को विमुक्त रख पाता हो। जो विज्ञान व्यक्ति के व्यवहारों पर सामाजिक परिस्थितियों के प्रभावों का विश्लेषण तथा अध्ययन करता है, उसे सामाजिक मनोविज्ञान के नाम से अभिहित किया जाता है। सामाजिक मनोविज्ञान व्यक्ति और व्यक्ति तथा व्यक्ति और समूह के बीच सामाजिक क्षेत्र में होने वाली अन्त:क्रियाओं और उनके परिणामों का अध्ययन करता है।

एक विशेष विज्ञान के रूप में सामाजिक मनोविज्ञान का विकास अभी हाल में ही हुआ है। मनोविज्ञान स्वयं भी अभी हाल तक केवल मानसिक प्रक्रियाओं (mental processes) का एक विज्ञान मात्र था, अर्थात् केवल मस्तिष्क से सम्बन्धित एक अमूर्त विज्ञान के रूप में था, जिसका कि कोई भी सम्बन्ध सामाजिक परिस्थितियों या सामूहिक प्रभावों से नहीं था। परन्तु श्री डार्विन के आविष्कार के बाद मनोवैज्ञानिकों का ध्यान मस्तिष्क के क्रमिक विकास और उस पर पड़ने वाले विभिन्न प्रभावों की ओर आकर्षित हुआ। साथ ही, जैसा कि श्री मैकडूगल का कथन है, यह भी स्पष्ट हो गया कि मस्तिष्क का विकास स्वयं ही एक सामाजिक प्रक्रिया है, क्योंकि इस विकास के प्रत्येक स्तर पर समाज और अन्य व्यक्तियों के बीच होने वाली अन्त:क्रियाओं का प्रभाव स्पष्ट रूप में पड़ता है। जहाँ एक व्यक्ति के मस्तिष्क के विकास में सामाजिक शक्तियाँ कार्य करती हैं, वहीं दूसरी ओर सामाजिक शक्तियाँ स्वयं ही व्यक्तियों के बीच होने वाली अन्त:क्रियाओं का परिणाम होती हैं। इसलिये समाज और व्यक्ति के जीवन को तभी ठीक-ठीक समझा जा सकता है जबकि हम एक के सन्दर्भ में दूसरे को समझने का प्रयत्न करें।[1] जिस प्रकार यह कहना गलत होगा कि व्यक्ति का व्यवहार उसकी मानसिक प्रक्रियाओं द्वारा निर्धारित होता है, उसी प्रकार यह विश्वास भी भ्रममूलक है कि मानव-व्यवहार, विचार या क्रिया पूर्णतया सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर है। वास्तविकता तो यह है कि मानव-व्यवहार इन दोनों के बीच की अवस्था है। दूसरे शब्दों में, मानव-व्यवहार मानसिक प्रक्रियाओं और सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम होता है। जो विज्ञान इस सत्य को स्वीकार करता है और मानवीय व्यवहारों तथा सामाजिक परिस्थितियों के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन करता है, उसे 'सामाजिक मनोविज्ञान' कहते हैं।

मानव स्वयं अपने मस्तिष्क के बल पर ही कुछ नहीं कर सकता—यहाँ तक कि सोचना-विचारना भी केवल मस्तिष्क की क्रियाशीलता पर निर्भर नहीं है। श्री कार्ल मैनहीम (Karl Mannheim) ने लिखा है कि यदि वास्तव में देखा जाय, तो यह कहना गलत ही होगा कि एक अकेला व्यक्ति सोचता है या सोच भी सकता है। इसके स्थान पर यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि व्यक्ति उस विचार-प्रक्रिया में और आगे सोचने के कार्य में साझेदार बनता है या योगदान करता है जिसे कि उससे पहले ही अन्य लोगों ने सोचा है। वह अपने को परम्परागत रूप से प्राप्त ऐसी परिस्थितियों में पाता है जिसमें ऐसे अनेक विचार के प्रतिमान (patterns

of thought) उपलब्ध होते हैं। यही प्रतिमान स्वयं उसके विचारों को प्रभावित करते, और उसे अपने रंग में रँग देते हैं। इस प्रकार, जिस विचार के विषय में हम सामान्यतः यह सोचते है कि वह व्यक्ति के अपने मस्तिष्क की उपज है, वह वास्तव में मस्तिष्क के सहयोग में सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम होता है। और, जो बात व्यक्ति के विचारों के सम्बन्ध में है, बिलकुल वही बात उसकी क्रियाओं या अन्य व्यवहारों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। अधिक स्पष्ट रूप में यह कहना उचित होगा कि व्यक्ति का व्यवहार उसकी मानसिक योग्यता (mental capabilities) तथा सामाजिक शक्तियों का मिलाजुला फल है। जो विज्ञान इन दोनों कारकों (factors) के फलस्वरूप उत्पन्न मानव-व्यवहारों का विश्लेषण करता है, उसे 'सामाजिक मनोविज्ञान' कहते है।

सामाजिक मनोविज्ञान मनुष्य की व्यवहार-प्रणाली तथा उस पर पड़ने वाले विभिन्न सामाजिक प्रभावों के स्रोत का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के विचार व व्यवहार उसकी अपनी मानसिक या मनः शारीरिक प्रक्रियाओं की उपज होते हुए भी उन पर सामाजिक-सांस्कृतिक अवस्थाओं व शक्तियों का प्रभाव भी पड़ता है। सामाजिक मनोविज्ञान इसी सत्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है और व्यक्ति और समूह एवं व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध के कुछ मूल आधारों, तत्वों (elements), नियमों व तथ्यों (facts) का अध्ययन करता है। संक्षेप में, सामाजिक मनोविज्ञान सामाजिक परिस्थितियों व प्रभावों की क्रियाशीलता के परिणामस्वरूप उत्पन्न अन्य लोगों के संदर्भ में व्यक्ति के व्यवहारों का अध्ययन है।

सामाजिक मनोविज्ञान की परिभाषा

(Definition of Social Psychology)

श्री ऑटो क्लाइनबर्ग (Otto Klineberg) के अनुसार, "सामाजिक मनोविज्ञान को दूसरे व्यक्तियों द्वारा प्रभावित व्यक्ति की क्रियाओं (activities) का वैज्ञानिक अध्ययन कहकर परिभाषित किया जा सकता है।"[2]

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) ने सामाजिक मनोविज्ञान को इस प्रकार परिभाषित किया है—"सामाजिक मनोविज्ञान व्यक्तियों की पारस्परिक अन्तःक्रियाओं का अध्ययन करता है, और इस बात की जाँच करता है कि इन अन्तःक्रियाओं का व्यक्ति-विशेष के विचारों, भावनाओं, उद्वेगों और आदतों पर क्या प्रभाव पड़ता है।"[3]

श्री शेरीफ तथा श्रीमती शेरीफ (Sherif and Sherif) के शब्दों में, "सामाजिक मनोविज्ञान सामाजिक प्रेरक परिस्थितियों के सन्दर्भ में व्यक्ति के अनुभव तथा व्यवहार का अध्ययन है।"[4]

श्री मैक्डूगल (McDougall) के अनुसार, "सामाजिक मनोविज्ञान वह विज्ञान है जो समूहों के मानसिक जीवन का और व्यक्ति के विकास तथा क्रियाओं पर समूह के प्रभावों का वर्णन करता और उसका विवरण प्रस्तुत करता है।"[5]

श्री ब्राउन (Brown) की परिभाषा इन शब्दों में है—"सामाजिक मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यवहार के सम्बन्ध में अनुसन्धान, उसके साथियों के संदर्भ में,

इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि सामाजिक मनोविज्ञान मानव की मानसिक प्रक्रियाओं की क्रियाशीलता व सामाजिक परिस्थिति में, अन्य व्यक्तियों के साथ अन्तःक्रियात्मक (interactional) सम्बन्धों के सन्दर्भ में, व्यक्ति के सामाजिक व्यवहारों का वैज्ञानिक अध्ययन है। सामाजिक मनोविज्ञान व्यक्ति के सामाजिक व्यवहारों के मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक आधारों को एक-दूसरे के सन्दर्भ में ढूंढने का प्रयत्न करता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं की व्याख्या
(Explanation of Above Definitions)

उपर्युक्त परिभाषाओं का यदि सावधानी से विश्लेषण किया जाय तो सामाजिक मनोविज्ञान की प्रकृति स्वतः ही स्पष्ट हो सकती है। श्री ऑटो क्लाइनबर्ग की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि सामाजिक मनोविज्ञान का सम्बन्ध व्यक्ति या मानव के व्यवहार से है। परन्तु, मानव-व्यवहार का आधार मात्र प्राणीशास्त्रीय (biological) नहीं होता, अर्थात् मानव-व्यवहार को केवल शारीरिक और मानसिक क्षमताओं की उपज मान लेना गलत होगा, क्योंकि मानव केवल एक प्राणीशास्त्रीय प्राणी ही नहीं, अपितु एक सामाजिक प्राणी भी है। इसलिये मानव-व्यवहार को प्राणीशास्त्रीय व सामाजिक आधारों के सन्दर्भ में भी समझना अधिक उचित होगा। इन दोनों स्थितियों का सामाजिक आधार यह है कि प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक प्राणी के रूप में समाज के अन्य अनेक व्यक्तियों से सम्बन्धित होता है। इस पारस्परिक सम्बन्ध का परिणाम यह होता है कि व्यक्ति समाज में रहकर दूसरे व्यक्तियों को प्रभावित करता है और उनसे स्वयं प्रभावित होता है। सामाजिक प्रभावों के आदान-प्रदान की इस क्रिया-प्रतिक्रिया को ध्यान में रखते हुए उन प्रभावों के फलस्वरूप पनपने वाले व्यक्ति के व्यवहारों का अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान करता है। अतः सामाजिक मनोविज्ञान सामाजिक व्यवहार के सन्दर्भ में व्यक्ति का अध्ययन है। परन्तु सामाजिक मनोविज्ञान सामाजिक व्यवहार या सामूहिक परिस्थिति में ही क्रियाशील रहता है। इस प्रकार, सामाजिक मनोविज्ञान को सामूहिक परिस्थिति में व्यक्ति के व्यवहारों का अध्ययन करने वाला विज्ञान कहा जा सकता है। ऑटो क्लाइनबर्ग की परिभाषा में यही बात स्पष्ट होती है।

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) की परिभाषा प्रथम परिभाषा का ही एक विस्तृत रूप है। व्यक्ति की कोई भी सम्पूर्ण व्याख्या तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि उसे सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की एक इकाई के रूप में न मान लिया जाय। यह सामाजिक व्यवस्था व्यक्ति के व्यवहार को निर्देशित तथा नियन्त्रित करती है। परन्तु, यह सामाजिक व्यवस्था व सामाजिक शक्तियाँ मनुष्यों में एक-दूसरे के बीच पाई जाने वाली अन्तःक्रियाओं के फलस्वरूप ही पनपती हैं। इन अन्तःक्रियाओं के दो सम्भावित परिणाम होते हैं—प्रथम तो यह कि व्यक्ति का समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ एक आदान-प्रदान या लेने-देने का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, और दूसरा यह कि व्यक्तियों की पारस्परिक अन्तःक्रियाओं के फलस्वरूप सामाजिक जीवन में कुछ सामान्य विचार, भावनाएँ, आदतें, व्यवहार-प्रतिमान, प्रथायें, परम्परायें, आदर्श आदि पनप जाते हैं। इन सामान्य या सामूहिक विचारों, भावनाओं, आदतों, आदर्शों आदि के सम्पर्क में व्यक्ति को निरन्तर आना पड़ता है, जिसके फलस्वरूप उसके स्वयं के विचार, भावना, उद्वेग व आदर्श भी प्रभावित होते रहते हैं, क्योंकि,

जैसा कि पहले ही कहा गया है, सामाजिक अन्तःक्रियाओं के परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति का समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ एक आदान-प्रदान का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और इसके कारण प्रत्येक व्यक्ति पर अन्य व्यक्तियों का और अन्य व्यक्तियों पर प्रत्येक व्यक्ति का एक प्रभाव या दबाव होता ही है। इस प्रकार श्री **किम्बल यंग** के अनुसार, सामाजिक मनोविज्ञान व्यक्तियों (persons) का अध्ययन उनके अन्तःक्रियात्मक (interactional) सम्बन्धों और उन सम्बन्धों का व्यक्ति के विचारों, भावनाओं, उद्वेगों व आदतों पर पड़ने वाले प्रभावों के सन्दर्भ में करता है। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि सामाजिक अन्तःक्रियाओं के तीन स्वरूप हो सकते हैं—व्यक्ति और व्यक्ति के बीच, व्यक्ति और समूह के बीच तथा समूह और समूह के बीच। इन तीनों प्रकार की अन्तःक्रियाओं द्वारा एक ओर जिस प्रकार व्यक्तित्व का विकास होता है, उसी प्रकार दूसरी ओर सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का अस्तित्व, निरन्तरता व विस्तार भी सम्भव होता है। सामाजिक मनोविज्ञान इन्हीं अन्तःक्रियाओं का व्यक्ति के व्यवहारों, विचारों, भावनाओं, आदतों आदि पर पड़ने वाले समस्त सम्भावित परिमाणों का अध्ययन करता है।

श्री शेरीफ एवं श्रीमती शेरीफ (Sherif and Sherif) ने सामाजिक मनोविज्ञान को व्यक्ति के अनुभव तथा व्यवहार का अध्ययन बताया है। यह एक स्वीकृत सत्य है कि व्यक्ति की मानसिक प्रक्रियाओं, अनुभवों तथा व्यवहारों पर उन विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है, जिनमें कि व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक पलता व पनपता है या जिनमें उसे रहना पड़ता है। इसी सत्य को स्वीकार करते हुए सामाजिक मनोविज्ञान सामाजिक परिस्थितियों द्वारा प्रभावित व निर्देशित व्यक्ति के अनुभव व व्यवहार का अध्ययन करता है। परन्तु, इस सम्बन्ध में **श्री शेरीफ और श्रीमती शेरीफ** के अनुसार, यह स्मरणीय है कि सम्पूर्ण सामाजिक परिस्थिति व्यक्ति को प्रभावित नहीं करती। सम्पूर्ण सामाजिक परिस्थिति के ऐसे अनेक पहलू हो सकते हैं, जिनसे व्यक्ति का न तो कोई सम्बन्ध होता है और न ही जिनमें उसकी कोई रुचि होती है। इसलिए, उनका प्रभाव भी व्यक्ति पर 'नहीं' के बराबर ही होता है। उदाहरणार्थ, सम्पूर्ण भारतीय सामाजिक परिस्थिति में मुस्लिम-विवाह-संस्था व उससे सम्बन्धित नियम व निषेध भी सम्मिलित हैं। परन्तु, इन नियमों व निषेधों का एक हिन्दू पर प्रभाव 'कुछ नहीं' ही होता है, क्योंकि उनसे उसका कोई भी सम्बन्ध स्वाभाविक सामाजिक जीवन बिताने के दौरान नहीं होता। उसे तो प्रभावित करता है भारतीय सामाजिक परिस्थिति का दूसरा पक्ष, अर्थात् हिन्दू-विवाह-संस्था, उसके नियम व निषेध। यही बात सामाजिक परिस्थिति के अन्य पहलुओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, अर्थात् सम्पूर्ण सामाजिक परिस्थिति का केवल वह भाग ही व्यक्ति के अनुभव तथा व्यवहार को प्रत्यक्षतः (directly) प्रभावित करता है जिसके साथ व्यक्ति का किसी न किसी रूप में सम्बन्ध होता है, यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप में सभी भाग एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं, और सभी का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है। फिर भी, सामान्य रूप में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक परिस्थिति के वे भाग जो कि अधिक स्पष्टतः व प्रत्यक्षतः प्रभावित करते हैं, व्यक्ति के अनुभवों व व्यवहारों के निर्धारण में 'प्रेरक शक्ति' का काम करते हैं। इसी लिए श्री शेरीफ और श्रीमती शेरीफ ने सामाजिक मनोविज्ञान को सामाजिक प्रेरक परिस्थितियों के संदर्भ में व्यक्ति के अनुभव तथा व्यवहार का अध्ययन कह कर परिभाषित किया है। इन विद्वानों के अनुसार, सामाजिक मनोविज्ञान केवल व्यक्ति के व्यवहारों का ही नहीं, बल्कि अनुभवों का भी अध्ययन है। यह सच है कि व्यक्ति के अनेक अनुभव उसके

व्यवहार के रूप में प्रकट होते हैं, परन्तु सभी अनुभवों की अभिव्यक्ति व्यवहार के रूप में नहीं हो पाती। अनेक अनुभव ऐसे भी होते हैं जो व्यक्तित्व की एक आन्तरिक 'पूँजी' बनकर व्यक्ति के अन्दर ही रह जाते हैं और बाद में व्यवहार को किसी न किसी रूप में प्रभावित करते हैं। अतः स्पष्ट है कि अनुभव तथा व्यवहार परस्पर घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं और इसलिए सामाजिक मनोविज्ञान में इन दोनों का अध्ययन होना चाहिए।

श्री मैक्डूगल (McDugall) ने सामाजिक मनोविज्ञान को परिभाषित करने में एक नवीन दृष्टिकोण अपनाया है। आपने इस विज्ञान के अध्ययन-विषय को दो स्पष्ट भागों में विभाजित किया है—एक तो समूहों के मानसिक जीवन का अध्ययन, और दूसरा व्यक्ति के विकास व क्रियाओं पर समूहों के प्रभाव का वर्णन व विवरण। डॉ० मैक्डूगल मत है कि समाज या समूहों का अपना एक संगठन होता है, और इनका विकास भी विभिन्न वैयक्तिक (individual) मस्तिष्कों के पारस्परिक सम्बन्धों के संगठन से ही हुआ है और इन वैयक्तिक इकाइयों पर ही इनका अस्तित्व निर्भर करता है। इस प्रकार, समूहों का भी एक मानसिक जीवन होता है जिसका अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान करता है। साथ ही, व्यक्तिगत मस्तिष्क, जिनके सम्मेलन तथा संगठन से समाज या समूहों का निर्माण होता है, एक-दूसरे के सहायक तथा पूरक हैं। इसीलिये, व्यक्ति के विकास तथा उसकी क्रियाओं पर अन्य व्यक्तियों तथा समूहों का प्रभाव स्पष्टतः पड़ता है। वास्तव में, समाज जब अनेक दिनों तक बना रहता है और संगठित हो जाता है तो उसका अपना एक अस्तित्व अलग ही होता है। यह अस्तित्व एक विशेष सामाजिक पर्यावरण को व्यक्ति के सम्मुख प्रस्तुत करता है। चूँकि, इसी सामाजिक पर्यावरण में व्यक्ति को रहना तथा कार्य करना पड़ता है, इस कारण इसका प्रभाव उसके मस्तिष्क द्वारा निर्देशित कार्यों या व्यवहारों पर पड़ता है। इन प्रभावों का भी अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान करता है। इस प्रकार, सामाजिक मनोविज्ञान एक दोतरफा अध्ययन-विधि है—व्यक्तिगत मस्तिष्क के द्वारा समाज का निर्माण या विकास, और समाज या सामाजिक पर्यावरण द्वारा व्यक्ति के व्यवहारों का निर्धारण व निरूपण। इसीलिये डॉ० मैक्डूगल ने लिखा है—"यदि यह सच है कि व्यक्ति जिस समाज में पलता-बढ़ता है, उसी की मानसिक शक्तियों (mental forces) द्वारा उसके मस्तिष्क का विकास निर्धारित होता है तो यह भी सत्य है कि ये मानसिक शक्तियाँ व्यक्तिगत मस्तिष्कों की अन्तःक्रियाओं की ही उपज होती हैं। व्यक्ति का जीवन और समाज का जीवन एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं और इनमें से किसी का भी अस्तित्व दूसरे के बिना सम्भव नहीं है, यानी जो तथ्यों (facts) को स्वीकार करता है और व्यक्ति व समाज (जिसमें कि व्यक्ति अपना पार्ट अदा करता है) के पारस्परिक प्रभावों को दर्शाता है, सामाजिक मनोविज्ञान कहा जा सकता है।"[7]

श्री ब्राउन (Brown) की परिभाषा स्वीकार करती है कि सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति पर अन्य व्यक्तियों का जो प्रभाव पड़ता है, उसके दो सम्भावित रूप होते हैं – एक तो व्यक्ति का व्यक्ति पर पड़ने वाला प्रभाव, और दूसरा व्यक्ति पर समूह का प्रभाव। इन दोनों ही प्रकार के प्रभावों से व्यक्ति का व्यवहार एक एक सामाजिक रूप धारण करता है। सामाजिक मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यवहार के सामाजिक रूप का अध्ययन है। इस प्रकार श्री ब्राउन के अनुसार, अन्य व्यक्तियों या/और समूहों के साथ अन्तःक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न व्यक्ति के व्यवहार के सम्बन्ध में अनुसंधान करना सामाजिक मनोविज्ञान और समूहों का प्रमुख कार्य है।

अन्त मे, इस पुस्तक के लेखक ने अपनी परिभाषा में इस बात का संकेत दिया है कि व्यवहार दो प्रकार के होते हैं—एक तो वैयक्तिक व्यवहार (individual behaviour), और दूसरा सामाजिक व्यवहार (social behaviour)। वैयक्तिक व्यवहार वह व्यवहार है जो एक व्यक्ति अन्य किसी व्यक्ति से कोई सम्बन्ध न रखते हुए और उससे प्रभावित हुए बिना करता है। जैसे एक व्यक्ति वर्षा के पानी में नहाता है और आनन्द लेता है, या किसी पिछली घटना को याद करके खूब हँसता है, या ताश से 'पेशेन्स' खेलता है। ये सभी वैयक्तिक व्यवहार के उदाहरण हैं, और ऐसे व्यवहारो का अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान नही करता है। दूसरी ओर, सामाजिक व्यवहार वह व्यवहार है जिसमे कर्त्ता, परिस्थिति और अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों का समावेश होता है। सामाजिक व्यवहार करने वाला एक व्यक्ति होता है; यह व्यक्ति अन्य परिचित या अपरिचित व्यक्ति या व्यक्तियों (जिसमें समूह भी सम्मिलित है) के विगत, वर्तमान या भावी व्यवहार द्वारा प्रभावित होते हुए, एक सामाजिक-सास्कृतिक परिस्थिति मे, जब किसी प्रकार का व्यवहार करता है तो उसे सामाजिक व्यवहार कहते हैं। इस प्रकार सामाजिक व्यवहार के दो प्रमुख आधारो का उल्लेख किया जा सकता है—पहला वे जन्मजात मानसिक गुण या क्षमतायें, जिनका प्राणीशास्त्रीय प्राणी के रूप मे व्यक्ति स्वयं अधिकारी होता है, और दूसरा एक सामाजिक-सास्कृतिक परिस्थिति में अन्य व्यक्तियो का घेरा जो उस व्यक्ति से सम्बन्धित है और उसके व्यवहार को प्रभावित करता है। प्रथम को सामाजिक व्यवहार का प्राणीशास्त्रीय या मनोवैज्ञानिक आधार और द्वितीय को सामाजिक आधार कहा जा सकता है। सामाजिक मनोविज्ञान इन्हीं सामाजिक व्यवहारो का अध्ययन है। चूंकि सामाजिक व्यवहार व्यक्ति या कर्त्ता की मात्र शारीरिक व मानसिक क्षमताओं के बल पर ही घटित नही हो सकता, उसके लिये एक अन्य प्रभावशाली कारक 'समाज' (जो कि व्यक्तियो के पारस्परिक अन्त-क्रियात्मक सम्बन्धों का बोधक है) की भी आवश्यकता होती है, इस कारण सामाजिक मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यवहारो का अध्ययन मनःशरीरिक और सामाजिक आधारों के सन्दर्भ मे करता है।

सामाजिक मनोविज्ञान की प्रकृति

(Nature of Social Psychology)

सामाजिक मनोविज्ञान की प्रकृति का बहुत कुछ आभास विभिन्न विद्वानो द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओं की उपर्युक्त व्याख्या से ही हो जाता है। सभी परिभाषाओं मे एक बात सामान्य (common) है, और वह यह कि सामाजिक मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यवहारों का अध्ययन करता है, और, चूंकि व्यक्ति का व्यवहार अन्य व्यक्तियो या समूहों या समाज या या सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियो द्वारा नियंत्रित, निर्देशित और प्रभावित होता है, इस कारण सामाजिक मनोविज्ञान को इन्ही के सन्दर्भ में व्यक्ति के व्यवहारो का अध्ययन करना पड़ता है। इस अर्थ मे सामाजिक मनोविज्ञान व्यक्ति तथा समाज, दोनों का ही अध्ययन है। इसीलिए सामाजिक मनोविज्ञान की प्रकृति के सम्बन्ध मे यह सच ही कहा गया है कि "सामाजिक मनोविज्ञान समाजशास्त्र और मनोविज्ञान की सीमाभूमि पर स्थित एक ऐसा विज्ञान है जो इन दोनो ही विज्ञान की विशेषताओं को अपने मे समेटता है।" (Social psychology is a border-land science which touches the fringes of both Sociology and Psyohology)। निःसन्देह ही यह

कथन सामाजिक मनोविज्ञान की वास्तविक प्रकृति को स्पष्टतः अभिव्यक्त करता है। मनोविज्ञान व्यक्ति की मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है; जबकि समाजशास्त्र व्यक्तियों की अन्तःक्रियाओं और सामूहिक जीवन का अध्ययन है। आरम्भ में, मनोवैज्ञानिकों का यह विश्वास था कि व्यक्ति जो कुछ भी करता है, वह उसकी मानसिक प्रक्रियाओं या शक्तियों का प्रतिफल है, और इस मामले में सामाजिक पर्यावरण (social environment) का उसमें कोई भी हाथ नहीं है। इस प्रकार आरम्भिक मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्ति के व्यवहारों के निर्धारण में मनोवैज्ञानिक कारकों (factors) को ही सब कुछ मान लिया, और यह निष्कर्ष निकाला कि समाज व्यक्तियों को नहीं, अपितु व्यक्ति समाज को प्रभावित करते हैं। इस कारण समाज की विशेषताओं का निर्धारण व्यक्ति की मानसिक क्षमताओं द्वारा ही होता है। इसके विपरीत, आरम्भ के समाजशास्त्रियों ने समाज या समूह के प्रभाव को ही सब कुछ मान लिया। उनके अनुसार व्यक्ति की मानसिक विशेषताओं के आधार पर समाज की प्रकृति का अध्ययन नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः सत्य यह है कि समाज मुख्य है, और व्यक्ति गौण। समाज से पृथक् करके व्यक्ति के स्वभाव को ही समझना कठिन है। समाज की अपनी कुछ निजी विशेषताएँ व शक्तियाँ होती हैं, और उन शक्तियों के सामने व्यक्ति को झुकना पड़ता है; अर्थात् व्यक्ति के व्यवहार, आदत, स्वभाव या सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास उस सामाजिक पर्यावरण द्वारा ही होता है जिसमें जन्म से लेकर मृत्यु तक व्यक्ति निवास करता, पलता और पनपता है। व्यक्ति की मानसिक क्षमताओं के आधार पर उसके व्यवहारों का निर्धारण नहीं होता, बल्कि समाज के स्वभाव के अनुसार ही व्यक्ति के व्यवहारों की विशेषताओं का विकास होता है। इस प्रकार इन आरम्भिक समाजशास्त्रियों के अनुसार व्यक्ति के व्यवहारों को निश्चित करने में समाज मुख्य है और व्यक्ति गौण।

परन्तु, जैसे-जैसे सामाजिक अध्ययनों की प्रगति होती गई, यह बात स्पष्ट होती गयी कि उपर्युक्त दोनों ही मत दोषपूर्ण हैं। प्रथम मत के समर्थक यह भूल जाते हैं कि जिस समाज या सामाजिक पर्यावरण में व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्यु तक रहना पड़ता है। उसका प्रभाव व्यक्ति के व्यवहारों पर नहीं पड़ेगा, यह कैसे हो सकता है; उसी प्रकार दूसरे मत के समर्थक समाज को आवश्यकता से अधिक प्रधानता देने की भूल करते हैं। सामाजिक पर्यावरण अकेले व्यक्ति के व्यवहारों के निर्धारण में कोई जादुई चमत्कार नहीं दिखा सकता, जब तक मानवीय व्यवहार को, अन्य एक आधार, मानसिक क्षमताओं का भी सहयोग प्राप्त न हो। इनमें से कोई भी एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् या परे नहीं है। व्यक्ति स्वयं एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, और उनमें आदान-प्रदान की एक प्रक्रिया या अन्तःक्रिया सदा ही चलती रहती है। इन्हीं अन्तःक्रियाओं के फलस्वरूप समाज की उत्पत्ति होती है, और एक समय के बाद कुछ प्रथाओं, परम्पराओं, सामाजिक आदर्शों, विचारों और संस्थाओं का विकास होता है जो व्यक्ति की मानसिक प्रक्रियाओं को निरंतर प्रभावित करते हुए उसके व्यवहारों को निर्धारित करती हैं। यह सच है कि व्यक्तियों के वे पारस्परिक सम्बन्ध जो उन्हें सामूहिक जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य करते हैं, स्वाभावतः मनोवैज्ञानिक होते हैं, क्योंकि वे मानवीय सम्बन्ध भावनाओं, विचारों, उद्वेगों, अभिलाषाओं और उद्देश्यों पर आधारित होते हैं। परन्तु, यह भी सच है कि इन भावनाओं, उद्वेगों, उद्देश्यों आदि का मूल (original) रूप शायद ही बना रह पाता है, क्योंकि उन पर सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव निरंतर पड़ता है। इस कारण

व्यवहारों के निर्धारण में न तो मनोवैज्ञानिकों का 'व्यक्ति' एक मात्र कारक है, और न ही समाजशास्त्रियों का 'समाज'। व्यक्ति का व्यवहार इन दोनों के अन्तःक्रियात्मक प्रभावों का प्रतिफल है। सामाजिक मनोविज्ञान चूँकि इस सत्य को स्वीकार करता है, इस कारण इसे मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र के बीच का विज्ञान कहा जाता है। इस अर्थ में सामाजिक मनोविज्ञान की प्रकृति की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि यह मानसिक प्रक्रियाओं व सामाजिक परिस्थितियों की क्रियाशीलता के फलस्वरूप उत्पन्न मानव के व्यवहारों का अध्ययन है। इसमें से वह किसी भी कारक की पृथक् रूप से नहीं, अपितु एक-दूसरे के सन्दर्भ में विवेचना करता है।

वास्तव में, ऐसी कुछ समस्याएँ हैं जिनका अध्ययन न तो मनोविज्ञान करता है, और न समाजशास्त्र। इसलिए एक ऐसे विज्ञान की आवश्यकता हुई जो मनोविज्ञान के 'व्यक्ति' और समाजशास्त्र के 'समाज' में जो पारस्परिक तथा एक-दूसरे पर निर्भर रहने वाला सम्बन्ध (अर्थात् अन्तःनिर्भरता और अन्तःसम्बन्ध) है, उसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले विषयों का भी अध्ययन कर सके। सामाजिक मनोविज्ञान ऐसे ही विषयों का अध्ययन करता है। यह विज्ञान समाज में व्यक्ति के व्यवहार के प्रत्येक पक्ष से सम्बन्धित है। अन्य कोई भी विज्ञान समाज के सदस्य के रूप में या सामाजिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में व्यक्ति के व्यवहारों का उतना सम्पूर्ण अध्ययन नहीं करता है जितना कि सामाजिक मनोविज्ञान। इसीलिए सर्वश्री क्रेच और क्रचफील्ड (Krech and Crutchfield) ने लिखा है कि "समाज का अध्ययन करने वाले विज्ञानों में केवल सामाजिक मनोविज्ञान ही मुख्यतया सम्पूर्ण व्यक्ति का अध्ययन करता है। अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों की अध्ययन-वस्तु सामाजिक संगठन की संरचना (structure) एवं प्रकार्य (function) तथा सीमित एवं विशिष्ट प्रकार की संस्थाओं के अन्तर्गत लोगों द्वारा प्रदर्शित संस्थागत व्यवहार (institutional behaviour) ही है। दूसरी ओर सामाजिक मनोविज्ञान का सम्बन्ध समाज में व्यक्ति के व्यवहार के प्रत्येक पक्ष से है।। अतः मोटे तौर पर सामाजिक मनोविज्ञान को समाज में व्यक्ति के व्यवहार का विज्ञान कहकर परिभाषित किया जा सकता है।"[6]

सामान्य मनोविज्ञान भी सामाजिक मनोविज्ञान की भाँति ही व्यक्ति की क्रियाओं का अध्ययन करता है। परन्तु, दोनों में अन्तर केवल इतना है कि प्रथम विज्ञान (सामान्य मनोविज्ञान) व्यक्ति को प्राथमिक रूप में एक मनोवैज्ञानिक प्राणी मानकर उसके व्यवहारों या क्रियाओं का अध्ययन अकेली परिस्थिति (alone situation) में तथा केवल मानसिक प्रक्रियाओं (mental processes) के सन्दर्भ में करता है, जबकि दूसरा विज्ञान (सामाजिक मनोविज्ञान) व्यक्ति को एक मनो-सामाजिक या मनःसामाजिक (psycho-social) प्राणी मान कर उसके व्यवहारों का अध्ययन सामाजिक परिस्थिति (social situation) में तथा सामाजिक-मानसिक कारकों के अन्तःक्रियात्मक सम्बन्धों (interactional relations) के सन्दर्भ में करता है। इसीलिये सामाजिक मनोविज्ञान मनोवैज्ञानिक अध्ययन होते हुए भी 'सामाजिक' (social) है। इसका अर्थ यही है कि सामाजिक मनोविज्ञान (general psychology) के प्रामाणिक निष्कर्षों और खोजों (findings) की कदापि अवहेलना नहीं करता है, अपितु इन निष्कर्षों तथा खोजों का वास्तविक सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्ति के व्यवहारों को यथार्थ रूप से समझने के काम में प्रयोग करता है। इसीलिये यह सामाजिक विज्ञान है। श्री एम० शेरिफ (M Sherif) ने उचित ही लिखा है—"सामाजिक मनोविज्ञान केवल विभिन्न प्रकार की अवधारणाओं (concepts)

को अपना लेने के कारण ही 'सामाजिक' नहीं हो गया है, अपितु वास्तविकता तो यह है कि सामान्य मनोविज्ञान की प्रामाणिक अवधारणाओं को सामाजिक क्षेत्र में विस्तृत करके या उपयोग में लाकर ही सामाजिक मनोविज्ञान बन पाया है।"[9] यह कथन सामाजिक मनोविज्ञान की वास्तविक प्रकृति को यथार्थ रूप में अभिव्यक्त करता है।

सामाजिक मनोविज्ञान का विषय क्षेत्र

(Scope of Social Psychology)

श्री रॉस (Ross) के अनुसार, "सामाजिक मनोविज्ञान उन मानसिक अवस्थाओं और प्रवाहों (currents) का अध्ययन करता है जो मनुष्यों में उनके पारस्परिक सम्पर्क (association) के कारण उत्पन्न होते हैं। यह विज्ञान मनुष्यों की उन भावनाओं विश्वासों और कार्यों में पाये जाने वाली उन समानताओं को सुलझाने और वर्णन करने का प्रयत्न करता है जिनके मूल में मनुष्यों के अन्दर होने वाली अन्तःक्रियायें अर्थात् सामाजिक कारण रहते हैं।"[10] यह सच है कि प्रत्येक व्यक्ति के अलग-अलग विचार, भावनायें, विश्वास, आदर्श और कार्य-विधियाँ होती हैं; फिर भी अगर ध्यान से देखा जाय तो यह स्पष्ट होगा कि इन समस्त विषयों की दृष्टि से किसी भी समूह के सदस्यों में काफी समानता होती है। समूह के अधिकतर सदस्यों के विचार, भावना, आचार, विश्वास, आदर्श आदि में इन समानताओं का क्या कारण है, इस प्रश्न का उत्तर देना सामाजिक मनोविज्ञान का ही कार्य है। यह विज्ञान इन्हीं समानताओं को जन्म देने वाली शक्तियों का विश्लेषण व विवरण प्रस्तुत करता है।

इस कार्य के लिए सामाजिक मनोविज्ञान को एक ओर समाज की प्रकृति, संरचना, संगठन और अन्तःक्रियात्मक प्रक्रियाओं (interactional processes) को समझना और सुलझाना पड़ता है, तो दूसरी ओर व्यक्ति के मानसिक व शारीरिक आधारों का भी अध्ययन करना होता है। इस प्रकार सामाजिक मनोविज्ञान के विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत वह सब आता है जिसका कि कोई सामाजिक-मनोवैज्ञानिक (socio-psychological) आधार है। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी।

मानव केवल प्राणीशास्त्रीय प्राणी ही नहीं, अपितु एक सामाजिक प्राणी भी है; और इन दोनों ही रूपों में उसकी अनेक शारीरिक, मानसिक, सामाजिक व सांस्कृतिक आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति किये बिना सामाजिक प्राणी के रूप में मानव का अस्तित्व कदापि बना नहीं रह सकता है। इसीलिए वह इन आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहता है, और इसके लिये उसे कुछ क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। अतः हम कह सकते हैं कि मानव की विभिन्न आवश्यकताएँ ही उसे व्यवहार करने को प्रेरित करती हैं। यह प्रेरक शक्ति व्यक्ति की आन्तरिक जन्मजात क्षमता (inborn disposition) भी हो सकती है और सामाजिक शक्तियाँ भी; क्योंकि, जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, मानव की आवश्यकता शारीरिक-मानसिक भी हो सकती है और सामाजिक-सांस्कृतिक भी। उदाहरणार्थ, भूख लगना एक जन्मजात प्राणीशास्त्रीय आवश्यकता है। व्यक्ति भूख लगने पर कुछ शारीरिक-मानसिक प्रतिक्रियाएँ अनुभव करता है, जिसके कारण वह भोजन की तलाश करता है। फिर भी, यह याद रखना चाहिए कि कोई भी जन्मजात प्रवृत्ति शून्य में क्रियाशील नहीं होती, और सामाजिक आदर्श, लोकाचार, परम्परा, शिक्षा—संक्षेप

से सामाजिक परिस्थितियाँ उसे संशोधित और परिमार्जित कर देती हैं। उदाहरणार्थ, भूख लगने पर भी व्यक्ति होटल में भोजन छीन कर नहीं खाता है, बल्कि पैसा देकर, सामाजिक नियमानुसार खरीद कर खाता है। जिस प्रकार जन्मजात प्रवृत्तियों पर समाज का प्रभाव होता है, उसी प्रकार सामाजिक प्रेरक शक्तियों का भी किसी न किसी रूप में एक मनोवैज्ञानिक आधार होता है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति सामाजिक नियमानुसार विवाह केवल सामाजिक कर्तव्यों को निभाने के लिए ही नहीं करता, अपितु यौन-तृप्ति (जो कि मनःशारीरिक आवश्यकता व प्रेरक है) के लिये भी करता है। इसीलिए सामाजिक मनोविज्ञान मानव की मूलप्रवृत्तियों (instincts) तथा प्रेरणाओं (जिनमें शारीरिक या मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक दोनों ही प्रकार की प्रेरणाएँ (motives) सम्मिलित हैं) का अध्ययन करता है, क्योंकि इनको समझे बिना व्यक्ति के व्यवहार को भली प्रकार समझा नहीं जा सकता।

प्रेरणा के साथ-साथ प्रत्यक्षीकरण (perception) का भी अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान करता है, क्योंकि व्यवहार किसी परिस्थिति-विशेष में घटित होता है, और उसके घटित होने से पूर्व व्यक्ति उस परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण करता है और अपनी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय करता है कि उसे वैसा कुछ करना है या नहीं। उदाहरणार्थ, यदि एक व्यक्ति अकेला है, तो हो सकता है कि वह अन्य व्यक्ति से मार खाकर चुपचाप घर चला आये, क्योंकि अपने उस अकेलेपन की परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण करते हुए वह शायद यही उचित समझता है। पर, यदि उसके साथ अन्य साथी भी हों तो वह ईंट का जवाब पत्थर से दे सकता है। इस प्रकार, प्रत्यक्षीकरण व्यक्ति के व्यवहार को निर्धारित करने में सहायता प्रदान करता है। इसीलिए सामाजिक मनोविज्ञान के लिये इसका भी अध्ययन आवश्यक हो जाता है; क्योंकि, जैसा कि सर्वश्री क्रेच और क्रचफील्ड (Kretch and Crutchfield) ने लिखा है, 'क्रिया में दिशा और अन्तर्वस्तु (content) होती है, और इन दोनों का निर्धारण, अपनी दुनिया के बारे में, व्यक्ति के प्रत्यक्षीकरण के द्वारा ही होता है।"[11]

व्यक्ति के व्यवहारों को उसकी सामाजिक मनोवृत्तियाँ (social attitudes) भी प्रभावित करती हैं। एक परिस्थिति या वस्तु के विषय में एक व्यक्ति जो कुछ सोचता है और उसे जिस दृष्टिकोण से देखता है या उसके प्रति जो मनोभाव—घृणा, भय, प्रेम आदि—रखता है, वही उस व्यक्ति की मनोवृत्ति है। इस प्रकार मनोवृत्ति मस्तिष्क की वह चेतन दशा है जो कि व्यक्ति को एक विशेष प्रकार से सोचने या व्यवहार करने को प्रेरित करती है। मनोवृत्तियाँ व्यक्ति के विविध अनुभवों के आधार पर पनपती हैं। इनका विकास व्यक्ति के समाज में पलने के साथ-साथ होता है। इस प्रकार एक ब्राह्मण-परिवार के बच्चे में हरिजनों के प्रति छुआछूत की मनोवृत्ति पनप जाती है और हरिजनों से सम्बन्धित उसके व्यवहारों को प्रभावित करती है। व्यक्ति की मनोवृत्तियों को समझे बिना उसके व्यवहारों की वैज्ञानिक व्याख्या सम्भव नहीं है। इसीलिए मनोवृत्तियों का अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान का एक उल्लेखनीय विषय है। अनेक मनोवैज्ञानिक तो मनोवृत्तियों के अध्ययन को सामाजिक मनोविज्ञान की केन्द्रीय समस्या (central problem) या विषय मानते हैं।[12]

सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह समूह में दूसरों के साथ रहता, और रहना पसन्द भी करता है। "जब कभी भी दो या अधिक व्यक्ति एकत्रित हो जाते हैं और एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते है।"[13] अतः स्पष्ट है कि समूह की प्रकृति ही

कुछ ऐसी होती है कि वह व्यक्ति के व्यवहारों को प्रभावित करती हैं। इस कारण सामाजिक समूहों का अध्ययन भी सामाजिक मनोविज्ञान का एक उल्लेखनीय विषय है।

जब बच्चा सर्वप्रथम जन्म लेता है तो वह केवल रक्त, मांस, हड्डी आदि का एक जीवित पुतला मात्र होता है। उसे जन्म के साथ अपने माता-पिता के केवल कुछ शारीरिक तथा मानसिक गुण व लक्षण प्राप्त होते हैं। उस समय उसमे कोई भी मानवोचित या सामाजिक गुण नही होता। न वह बोल पाता है, न कपडे पहन पाता है, न शिष्टाचार जानता है और न ही उसका कोई मूल्य या आदर्श होता है। पर समाज और संस्कृति के बीच पलते हुए उसमें ये सभी गुण धीरे-धीरे पनपते रहते है। वह उठना-बैठना, खाना-पीना, बोलना-चालना दूसरो के साथ व्यवहार करना आदि सीख जाता है। इस सीखने की प्रक्रिया मे न केवल व्यक्ति की शारीरिक व मानसिक क्षमताएँ सहायक होती हैं, अपितु सामाजिक नियम, प्रथा, परम्परा, आदर्श, आचार, धर्म, अनुकरण, सुझाव, सहानुभूति, परिवार, स्कूल, कालेज तथा अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक कारक भी अपना-अपना योगदान देते है। सामाजिक मनोविज्ञान मानव के सीखने की प्रक्रिया (process of human learning) तथा इसमें योगदान करने वाले कारकों (factors in human learning) का भी अध्ययन करता है।

मानव के सीखने की प्रक्रिया की क्रियाशीलता के फलस्वरूप व्यक्ति सामाजिक व्यवहार करना सीख जाता है, उसे अपने-पराये का ज्ञान होता है, वह उचित और अनुचित मे भेद कर लेता है एवं कर्त्तव्याकर्त्तव्य के बारे मे सचेत हो जाता है। संक्षेप मे, उसमे सामाजिक जीवन मे हिस्सेदार बनने की क्षमता, और एक सामाजिक प्राणी कहलाने के लिए आवश्यक गुण व लक्षण विकसित हो जाते है। इस कार्य मे परिवार, खेल का समूह (play group), शिक्षा-संस्था, धार्मिक, राजनैतिक तथा आर्थिक संस्थायें, सामाजिक समूह, विवाह आदि का योगदान रहता है। इस प्रकार, जिस सम्पूर्ण प्रक्रिया के द्वारा प्राणीशास्त्रीय प्राणी एक सामाजिक व्यक्ति मे रूपान्तरित हो जाता है, उसे समाजीकरण (socialization) कहते है। इस प्रक्रिया मे योगदान करने वाले कारकों के संदर्भ मे सामाजिक मनोविज्ञान समाजीकरण का अध्ययन करता है।

व्यक्ति के समाजीकरण के साथ-साथ उसके सामाजिक व्यक्तित्व (personality) का भी निर्माण और विकास होता है, और यह निर्माण व्यक्ति की आदतो, गुणो, अवगुणो, विचारो, भावनाओ, आदर्शों आदि के संगठित रूप को अभिव्यक्त करता है। व्यक्ति के शारीरिक व मानसिक गुणो या संक्षेप मे सावयव (organism), समाज और संस्कृति, इन तीन कारकों के अन्तःक्रियात्मक सम्बन्ध व क्रियाशीलता के फलस्वरूप ही व्यक्तित्व का विकास होता है। सामाजिक मनोविज्ञान इन कारकों के संदर्भ में व्यक्तित्व के निर्माण व विकास का भी अध्ययन करता है।

यों तो सामाजिक अन्तःक्रियाओं के दौरान प्रत्येक व्यक्ति का अन्य व्यक्तियों पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य ही पडता है, पर कुछ व्यक्तियों मे अन्य लोगों को प्रभावित करने की योग्यता या क्षमता अधिक होती है जिसके बल पर वे सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों मे नेता की स्थिति प्राप्त कर लेते हैं। प्रत्येक नेता का प्रभाव अपने अनुयायियों (followers) के व्यवहारों को निर्धारित व निर्देशित करने के क्रम में महत्त्वपूर्ण होता है। कभी-कभी तो देश के महान् नेता सम्पूर्ण समाज को

ही बदल कर रख देते हैं। अतः सामाजिक मनोविज्ञान नेतृत्व (leadership) के अध्ययन को अपने विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत एक महत्वपूर्ण स्थान देता है।

व्यक्ति अपने नेताओं के द्वारा ही नहीं, अपितु अपने सामूहिक रूप से भी प्रभावित होता है। **भीड़ और श्रोतागण** (crowd and audience), व्यक्ति के सामूहिक रूप के ही दो उदाहरण हैं जो व्यक्ति के व्यवहार को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। इसीलिए भीड़ के सदस्य के रूप में व्यक्ति ऐसे अनोखे व्यवहार भी करता है जिनकी आशा भीड़ से बाहर, अकेले में उससे कभी नहीं की जा सकती। सामाजिक मनोविज्ञान भीड़ का अध्ययन करता है और इस प्रश्न का उत्तर देता है कि भीड़ के सदस्य के रूप में व्यक्ति का व्यवहार उसके सामान्य व्यवहार से पूर्णतया भिन्न क्यों होता है ?

आज प्रजातंत्र का युग है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि रेडियो, समाचार-पत्र, पत्रिका, पुस्तक, भाषण आदि के माध्यम से सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में अपना मत स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त करे। इससे विचारों या मतों का आदान-प्रदान होता है, और एक **जनमत** (public opinion) का निर्माण होता है, जिसका उल्लेखनीय प्रभाव केवल व्यक्ति के व्यवहारों पर ही नहीं, सरकार के व्यवहारों पर पड़ता है। इसीलिए जनमत का अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान का एक महत्वपूर्ण विषय है।

आधुनिक युग **प्रचार** (propaganda) और **फ़ैशन** (fashion का युग है। चुनाव के समय में ही केवल प्रचार का बोलबाला नहीं रहता, अपितु आज तो सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, यहाँ तक कि धार्मिक जीवन का भी प्रत्येक पहलू प्रचार से प्रभावित होता रहता है। अतः प्रचार के अध्ययन को भी सामाजिक मनोविज्ञान ने साग्रह अपने विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया है। फैशन का भी अध्ययन यह विज्ञान करता है।

सामाजिक जीवन के कुछ व्याधिकीय पक्ष (pathological aspects) भी होते हैं। पक्षपात, युद्ध, क्रान्ति, अन्तर्राष्ट्रीय तनाव, उग्र राष्ट्रीयता, वेश्यावृत्ति, भिक्षावृत्ति, आदि सामाजिक जीवन के व्याधिकीय पक्षों के ही उदाहरण है। इन सभी का प्रभाव समाज और व्यक्ति, दोनों पर ही अत्यन्त अस्वस्थ रूप में पड़ता है। पर, चूँकि व्यक्ति के व्यवहारों पर इनका प्रभाव सुस्पष्ट होता है, इसलिए सामाजिक मनोविज्ञान इनका भी अध्ययन करता है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सामाजिक मनोविज्ञान के विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत मूलप्रवृत्ति, प्रेरणा, प्रत्यक्षीकरण और मनोवृत्तियों के अध्ययन से लेकर मानव के सीखने के कारक, अनुकरण, सुझाव, सहानुभूति, समूह, प्रथा, परम्परा, धर्म, समाजीकरण, व्यक्तित्व, नेतृत्व, भीड़, व्यवहार, जनमत, प्रचार, फैशन, युद्ध-क्रान्ति, आदि तक का समस्त अध्ययन सम्मिलित है। वास्तव में, सामाजिक मनोविज्ञान समाज में व्यक्ति के व्यवहारों से अपने को सम्बन्धित मानता है, और चूंकि व्यक्ति के व्यवहार को किसी निश्चित सीमा के अन्तर्गत सीमित नहीं किया जा सकता, इस कारण विभिन्न सामाजिक मनोवैज्ञानिकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इस विज्ञान के विषय-क्षेत्र को निश्चित कर लिया है। दो-एक उदाहरणों से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी।

श्री क्लाइनबर्ग (Klineberg) के अनुसार सामाजिक मनोविज्ञान के विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों का अध्ययन सम्मिलित है[14]—

1. सामान्य मनोविज्ञान और सामाजिक मनोविज्ञान के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या (Interpetration of General Psychology and Social Psychology)—इसके अन्तर्गत दो प्रकार का अध्ययन सम्मिलित है—एक ओर तो इस बात की जाँच की जाती है कि प्रेरणा (motivation), उद्वेगात्मक व्यवहार (emotional behaviour), प्रत्यक्षीकरण (perception), स्मरण-शक्ति (memory) आदि असामाजिक क्रियाओं पर सामाजिक कारकों का किस भाँति प्रभाव पड़ता है ? और दूसरी ओर यह देखा जाता है कि कुछ आधारभूत मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं (basic psychological concepts) के अध्ययन में परम्परागत सामाजिक-मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं (traditional social-psychological concepts)—जैसे अनुकरण (imitation), सुझाव (suggestion), पक्षपात (prejudice) इत्यादि—के प्रभावों की विवेचना किस प्रकार की जा सकती है।

2. बालक का समाजीकरण, संस्कृति एवं व्यक्तित्व (The Socialization of the Child, Culture and Personality)—इस विभाग के अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है कि एक बच्चा किस भाँति एक वयस्क सामाजिक प्राणी के रूप में ढलता और बदलता है। बालक के समाजीकरण के दौरान ही व्यक्तित्व का विकास होता है, इसलिए यह भी सामाजिक मनोविज्ञान का अध्ययन-विषय है। साथ ही, आज यह स्वीकार किया जाता है कि व्यक्तित्व का वैज्ञानिक अध्ययन तब तक सम्भव नहीं है, जब तक कि उन विस्तृत सांस्कृतिक परिस्थितियों का भी अध्ययन न किया जाय, जिनमें कि बच्चा पलता और बड़ा होता है।

3. वैयक्तिक एवं सामूहिक भेद (Individual and Group Differences)—दो व्यक्ति एक से नहीं होते। यह वैयक्तिक भिन्नता किन सामाजिक-मनोवैज्ञानिक कारकों के कारण होती है, इसका अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान करता है। इस सिलसिले में केवल वैयक्तिक भिन्नताएँ ही नहीं, सामूहिक या राष्ट्रीय भिन्नताएँ भी देखने को मिलती हैं। अतः राष्ट्रीय चरित्र (national character) भी सामाजिक मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय है।

4. मनोवृत्ति तथा मत, विचारों का आदान-प्रदान, प्रचार आदि (Attitudes and Opinions, Communication Research, Content Analysis, Propaganda)—यह विभाग सामाजिक मनोवैज्ञानिकों के लिये क्रियात्मक अध्ययन-विषयों को प्रस्तुत करता है। इसके अन्तर्गत यह देखा जाता है कि मनोवृत्तियों का विकास कैसे होता है ? किन-किन माध्यमों से विचारों का आदान-प्रदान होता है ? इन सामूहिक साधनों (mass media) का क्या प्रभाव पड़ता है ? जनमत का निर्माण कैसे होता है और प्रचार का मनोविज्ञान (psychology of propaganda) क्या है तथा प्रचार के द्वारा मनोवृत्ति, जनमत, व्यवहार आदि में कैसे और किस सीमा तक परिवर्तन होता है ?

5. सामाजिक अन्तःक्रिया, समूह-गतिशीलता तथा नेतृत्व (Social Interaction, Group Dynamics and Leadership)—सामाजिक मनोविज्ञान समाज में विभिन्न मानव-समूहों के बीच होने वाली अन्तःक्रियाओं का अध्ययन करता है, और समूह-निर्माण (group formation), समूह की क्रियाशीलता (group

functioning) तथा समूह-निर्णय (group decision) आदि का भी विश्लेषण करता है। इतना ही नहीं, सामाजिक मनोविज्ञान नेतृत्व का भी अध्ययन करता है।

6. सामाजिक व्याधिकी (Social Pathology)—सामाजिक मनोविज्ञान समाज के व्याधिकीय पक्षों में भी रुचि रखता है, और इसीलिए मानसिक अस्वाभाविकता (mental abnormality), बाल-अपराध, सामान्य अपराध, पक्षपात, औद्योगिक संघर्ष (industrial conflict) आदि विषयों का भी अध्ययन करता है।

7. राजनीति—घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय (Politics—Domestic and International)—आधुनिक समय में सामाजिक मनोविज्ञान के अध्ययन के क्षेत्र में जो नया झुकाव देखने में आता है, वह है राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय, दोनों ही स्तरों पर राजनैतिक व्यवहारों का अध्ययन।

अन्त में क्राउडन्ने ने यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि यद्यपि सामाजिक मनोविज्ञान के अध्ययन-विषयों को उपर्युक्त सात भागों में विभाजित किया गया है, फिर भी यह मान लेना गलत होगा कि किसी भी अर्थ में ये विभाग एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् हैं। वास्तव में, हर विभाग दूसरे का सहायक और पूरक है।

श्री राबर्ट एम० फ्रम्किन (Robert M. Frumkin) के मतानुसार, आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान के सम्पूर्ण अध्ययन-क्षेत्र को निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है—

1. मनुष्य के सम्बन्ध में एक प्रौढ़ विचारधारा का विकास (The Development of a Mature Conception of Man)—वैज्ञानिक पद्धतियों को अपनाये बिना जिन लोगों ने मनुष्य का अध्ययन किया है, उनमें से अधिकांश ने मनुष्य का वास्तविक चित्र अंकित करने के बजाय उसका हास्यजनक चित्र (a caricature rather than a portrait of man) ही प्रस्तुत किया है। सामाजिक मनोविज्ञान इस कमी को दूर करने का प्रयत्न करता है, और मनुष्य के सम्बन्ध में वास्तविक और वैज्ञानिक ज्ञान दूर करवाता है।

2. समाजीकरण की प्रक्रिया की गतिशीलता (The Dynamics of the Socialization process)—इसके अन्तर्गत एक प्राणिशास्त्रीय प्राणी के सामाजिक व्यक्ति में बदल जाने की प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है। इस सम्बन्ध में सामाजिक विज्ञान विभिन्न मानवशास्त्रियों के द्वारा किये गये अध्ययनों की भी सहायता लेता है, क्योंकि भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक परिस्थितियों में समाजीकरण की प्रक्रिया में योगदान देने वाले कारक अलग-अलग होते हैं।

3. सामाजिक अन्तःक्रिया की गतिशीलता (The Dynamics of Social Interaction)—किसी भी व्यक्ति के व्यवहार पर अन्य व्यक्तियों व समूहों का प्रभाव सामाजिक अन्तःक्रियाओं के दौरान पड़ता है। इसलिए व्यक्ति के व्यवहार के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये सामाजिक मनोविज्ञान अन्तःक्रियाओं के विभिन्न स्वरूपों, जैसे सहयोग प्रतिस्पर्द्धा (competition) संघर्ष व्यवस्थापन (accommodation) आदि का अध्ययन विशेष रूप से करता है।

4. संचार की गतिशीलता (The Dynamics of Communication)—मानव-व्यवहार विचार, मत आदि के अदान-प्रदान या संचार के द्वारा अत्यधिक प्रभावित होता है। यह संचार की प्रक्रिया मौखिक (जैसे भाषण आदि), अमौखिक (जैसे समाचार-पत्र, पत्रिका आदि) साधनों के द्वारा क्रियाशील होती है। सामाजिक मनोविज्ञान संचार के इन साधनों का अध्ययन करता है, और यह बतलाता है कि जनमत, प्रचार, फ़ैशन आदि के विकास और विस्तार में इनका कैसा और क्या योग रहता है?

5. सीखने-सिखाने की प्रक्रिया की गतिशीलता (The Dynamics of the Teaching-learning process)—सामाजिक अन्त:क्रिया के दौरान अनुकरण, सुझाव आदि के द्वारा व्यक्ति किस प्रकार सामाजिक व्यवहारों को सीखता है या दूसरा को सिखाता है, और इस सीखने या सिखाने की प्रक्रिया में कौन-कौन-से कारक योगदान करते हैं, इन सब विषयों का अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान करता है।

6 वैयक्तिक और सामूहिक अन्तरों का विश्लेषण (The Analysis of Individual and Group Differences)—इसके अन्तर्गत उन वंशानुसंक्रमण (heredity) तथा पर्यावरण (environment) सम्बन्धी कारकों का विश्लेषण किया जाता है, जिनके कारण व्यक्तियों में वैयक्तिक भिन्नताएँ पायी जाती हैं। इसी प्रकार धर्म शिक्षा, व्यवसाय, वर्ग, जाति, प्रजाति आदि के आधार पर भी सामूहिक भिन्नताएँ पनप जाती हैं। सामाजिक मनोविज्ञान इन सामूहिक भिन्नताओं के प्राणिशास्त्रीय व सामाजिक-सांस्कृतिक आधारों का भी विश्लेषण करता है।

7 सामाजिक व्याधियों का अध्ययन (The Study of Social Pathology)—इसके अन्तर्गत पारिवारिक विघटन, बाल-अपराध, वर्ग-संघर्ष, मानसिक बीमारी, युद्ध, क्रान्ति आदि सामाजिक व्याधिकीय समस्याओं का अध्ययन किया जाता है और उन मानसिक-सामाजिक कारकों को स्पष्ट किया जाता है जिनके कारण ऐसी समस्याएँ सामने आती हैं।

8 पारिवारिक सामंजस्य की गतिशीलता (The Dynamics of Family Adjustment)—सामाजिक मनोविज्ञान परिवार के विभिन्न सदस्यों की स्थितियों तथा कार्यों (statuses and roles) के प्रभावों के सदर्भ में पारिवारिक सामंजस्य की समस्या का अध्ययन करता है।

9. पक्षपात का अध्ययन (The Study of Prejudice)—सामाजिक मनोविकार का एक स्वरूप पक्षपात है। पक्षपात वैयक्तिक तथा सामूहिक, दोनों ही स्तरों पर पाये जाते हैं। वर्ग-पक्षपात, जातीय पक्षपात, प्रजातीय पक्षपात, आदि सामूहिक पक्षपात के ही विभिन्न रूप हैं, जिनका अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान करता है।

10 अन्तःवैयक्तिक प्रतिस्पर्धा का अध्ययन (The Study of Interpersonal Competition)—मानव-व्यवहार को समझने के लिये व्यक्तियों में परस्पर होने वाली प्रतिस्पर्धा का भी अध्ययन आवश्यक है। उदाहरणार्थ एक विद्यार्थी पढ़ाई में खूब मेहनत कर रहा है। उसके इस व्यवहार या कार्य का कारण यह हो सकता है कि वह वार्षिक परीक्षा में अपनी कक्षा के उस विद्यार्थी को पछाड़ देना चाहता है जो कि अर्द्धवार्षिक में प्रथम रहा है। प्रतिस्पर्धा की यह भावना ही उसे पढ़ाई के विषय में एक विशेष ढंग से व्यवहार करने को प्रेरित कर रही है। यही बात कुछ

अन्य प्रकार के व्यवहारो के सम्बन्ध में भी सच हो सकती है। इसीलिये सामाजिक मनोविज्ञान अन्तःवैयक्तिक प्रतिस्पर्धा के अध्ययन में भी रुचि रखता है।

11. समूह के निर्माण और विकास का अध्ययन (The Study of the Formation and Development of the Group)—व्यक्ति का अध्ययन तब तक पूर्ण नही हो सकता है, जब तक कि समूह का अध्ययन न किया जाय, क्योंकि समूह बनाने और समूह मे रहने की एक स्वाभाविक इच्छा व्यक्ति मे होती है। साथ ही, समूह का अत्यधिक प्रभाव व्यक्ति के समाजीकरण व व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता है। इसलिए, समूहों के निर्माण, विकास तथा प्रभावों का अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान करता है।

12. सामाजिक प्रत्यक्षीकरण का अध्ययन (The Study of Social Perception)—सामाजिक परिस्थितियो (भौतिक या अभौतिक) के सम्बन्ध मे प्रत्यक्ष ज्ञान को ही सामाजिक प्रत्यक्षीकरण कहते हैं। इसका पूर्ण विकास ज्ञान और अनुभव के बढने के साथ-साथ होता है। इसी प्रत्यक्षीकरण की सहायता से व्यक्ति उस सामाजिक परिस्थिति की विवेचना करता है, जिसमे उसे एक क्रिया करनी होती है। इसलिए व्यक्ति के व्यवहारो को यथार्थ रूप में समझने के लिये सामाजिक मनोविज्ञान सामाजिक प्रत्यक्षीकरण का भी अध्ययन करता है।

13. नेता और अनुयायी के पारस्परिक सम्बन्ध की गतिशीलता (The Dynamics of the Leader-Follower Relationship)—नेता और अनुयायी एक-दूसरे के पूरक होते हैं। नेता का व्यवहार अनुयायियो को प्रभावित करता है, पर अनुयायी के बिना नेता का अस्तित्व ही नही हो सकता। इसलिए इनके पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन आवश्यक है। अतः सामाजिक मनोविज्ञान इस विषय मे भी रुचि रखता है।

इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि सामाजिक मनोविज्ञान मनुष्य की ऐसी प्रतिक्रियाओं का अध्ययन नही करता है जिनका आधार मनोवैज्ञानिक नही होता। साथ ही, उन प्रतिक्रियाओं की ओर भी सामाजिक मनोविज्ञान ध्यान नही देता, जो मुख्य रूप से भौगोलिक परिस्थितियो के परिणामस्वरूप घटित होती हैं। उदाहरणार्थ, यदि ठण्डक से एक व्यक्ति ठिठुर रहा है तो इस प्रतिक्रिया का अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान नही करेगा।

आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान समाज के सदस्य के रूप मे व्यक्ति के व्यवहारों का अध्ययन करता है। समूह का अध्ययन यह वहीं तक करता है, जहाँ तक उसका (समूह का) व्यक्ति के व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है। एक समय था, जब कि सामाजिक मनोविज्ञान के अध्ययन में सामूहिक मस्तिष्क (group mind), सामूहिक चेतना (collective consciousness) आदि विषयों पर अधिक बल दिया जाता था, परन्तु, अब सामाजिक परिस्थिति मे तथा दूसरे व्यक्तियो के सन्दर्भ मे व्यक्ति के व्यवहारो का अध्ययन करना ही सामाजिक मनोविज्ञान का प्रमुख कार्य है। इसलिए श्री ब्रिट (Britt) ने लिखा है, "सामाजिक मनोविज्ञान दूसरे व्यक्तियो के प्रति प्रतिक्रियाओं (reactions) के सन्दर्भ मे तथा सामाजिक परिस्थितियो के सन्दर्भ मे व्यक्तियो के व्यवहार का अध्ययन है।"[15] फिर भी, सामान्य रूप मे हमें सर्वश्री लं पियर तथा फार्न्सवर्थ (La Piere and Farnsworth) के इस कथन से सहमत होना चाहिए कि सामाजिक मनोविज्ञान, सामाजिक विज्ञानो के सामान्य क्षेत्र के अन्तर्गत एक विशिष्ट विज्ञान (specialized discipline)

है और उसके विषय-क्षेत्र को सुनिश्चित रूप से परिभाषित नहीं किया जा सकता है; क्योंकि ज्ञान में वृद्धि होने के साथ-साथ उसमे भी परिवर्तन होगा ही। एक समय विशेष मे जिन समस्याओ का अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान करता है उन्हें के आधार पर इसके अध्ययन के सामान्य क्षेत्र को सम्भवत सबसे अच्छी तरह उजागर किया जा सकता है।[16]

सामाजिक मनोविज्ञान की उपयोगिता या महत्व

(Utility or Importance of Social Psychology)

1 आधुनिक युग मे सामाजिक मनोविज्ञान की उपयोगिता व उसका महत्व उत्तरत्तोर बढता ही जा रहा है, क्योंकि यह विज्ञान ऐसी समस्याओ का अध्ययन करता है, जिनसे आज हमारा सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। उदाहरणार्थ, जनमत और प्रचार को ही लीजिए—आधुनिक प्रजातान्त्रिक युग मे मनुष्य इन दोनो के बिना अपने जीवन की कल्पना ही नहीं कर सकता। जनमत व्यक्ति को ही नही, सरकार तक को हिला देने की शक्ति रखता है। इसी प्रकार, प्रचार की प्रभुता हमे सामाजिक राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक, सभी क्षेत्रो मे देखने को मिलती है। इसके अतिरिक्त, फैशन, प्रथा, परम्परा आदि भी हमारे जीवन को अत्यधिक प्रभावित करती हैं। इन सभी विषयो के सम्बन्ध में सामाजिक मनोविज्ञान हमे व्यवस्थित ज्ञान देता है और उनके अस्वस्थ रूप से बचने के लिये अपने सुझाव सामने रखता है।

2. हमारे राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे खतरा उत्पन्न करने वाले कारको मे युद्ध, क्रान्ति, शीत-युद्ध, पक्षपात आदि महत्वपूर्ण हैं। सामाजिक मनोविज्ञान इन समस्याओं का अध्ययन करता, और हमें उनके कारणो तथा परिणामो के सम्बन्ध में सचेत करता है। इतना ही नहीं, सामाजिक मनोविज्ञान अपने अध्ययनो से प्राप्त ज्ञान के आधार पर इस प्रकार की एक योजना प्रस्तुत कर सकता है जिसके आधार पर व्यक्ति और व्यक्ति के बीच, समुदाय और समुदाय के बीच, तथा राष्ट्र और राष्ट्र के बीच पाई जाने वाली कटुता, द्वेष, घृणा, पक्षपात, आदि का अन्त हो सके और उनमे एक-दूसरे के प्रति समझ और सहनशीलता पनप सके। यह सत्य है कि एक सच्चे वैज्ञानिक के रूप मे सामाजिक मनोवैज्ञानिक यह नहीं कह सकते हैं कि किसी राष्ट्र या व्यक्ति-विशेष के मत व विचार ही ठीक हैं और दूसरों के बिलकुल गलत, पर हाँ, वे इस बात पर बल अवश्य दे सकते हैं कि विभिन्न 'जीवन की विधियो" (ways of life) या 'वादों' (isms) के बीच का युद्ध कभी समाप्त नहीं हो सकेगा, यदि हम केवल इसी विश्वास के आधार पर लड़ते रहेंगे कि एक दिन किसी एक पक्ष की विजय अवश्य होगी। इस प्रकार के झगड़े से कभी कोई समस्या हल नहीं हो सकती। उचित तो यही है कि हम सामाजिक मनोविज्ञान के अध्ययनों द्वारा प्रमाणित इस सत्य को स्वीकार कर लें कि विभिन्न समाजों या राष्ट्रों में अलग-अलग सामाजिक-सास्कृतिक परिस्थितियों के अनुसार व्यक्ति के भिन्न-भिन्न व्यवहार-प्रतिमानो (behaviour patterns) और सामाजिक व्यवस्थाओ (social systems) का होना ही स्वाभाविक है। चूंकि, सभी समाजो में सामाजिक-सास्कृतिक परिस्थितियाँ एक-सी नहीं हैं, इसीलिए हर जगह एक-सी सामाजिक व्यवस्था या व्यवहार-प्रतिमानों की भी आशा नहीं की जा सकती है। भिन्नताएँ तो अवश्य ही होंगी, पर, उन भिन्नताओं के बीच भी निश्च-शांति सम्भव है, यदि सभी राष्ट्र अहिंसा, सह-अस्तित्व (co-existence) या पंचशील (panchashila) के सिद्धान्तों को स्वीकार कर ल। इस प्रकार, सामाजिक मनो-

विज्ञान अन्तर्राष्ट्रीय तनाव, युद्ध आदि को समाप्त करने तथा विश्व-शान्ति के सपने को साकार रूप देने मे हमारी मदद कर सकता है। इसकी सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय आचारो या सम्बन्धो की एक संहिता (a code of international ethics or relations) तैयार की जा सकती है।[17]

3. युद्ध की भांति पक्षपात भी एक सर्वव्यापक सामाजिक रोग है। यदि अमेरिका मे प्रजातीय पक्षपात देखने को मिलता है तो भारतवर्ष मे जातीय पक्षपात; जिसकी वास्तविक अभिव्यक्ति जातिवाद के रूप मे होती है और जो समाज को पीड़ित करता है। इसी प्रकार वर्ग-पक्षपात श्रमिक तथा पूंजीपति के पारस्परिक सम्बन्धों को कलुषित करके औद्योगिक उन्नति के रास्ते मे रोड़ा बन जाता है। जिनको सामाजिक मनोविज्ञान का कोई भी ज्ञान नही है, उनका भी कहना है कि उद्योग तथा वाणिज्य का राष्ट्रीयकरण (nationalization of the industry and commerce) इसका एक मात्र हल है। सामाजिक मनोवैज्ञानिक मानव-व्यवहार के सम्बन्ध मे अपने ज्ञान के आधार पर, औद्योगिक तनाव को दूर करने मे सहायक सिद्ध हो सकता है। अमेरिका के वेस्टर इलेक्ट्रिक, अहमदाबाद के सूती मिलो तथा जमशेदपुर के टाटा इस्पात-कारखानों, जैसे बड़े-बड़े औद्योगिक संस्थानों मे सामाजिक मनोवैज्ञानिक, मालिको तथा मजदूरो के बीच तनाव को घटा कर उनमे सहयोग और सद्भावनापूर्ण सम्बन्धो को पनपाने मे जो सराहनीय कार्य कर रहे हैं, उससे इस विज्ञान का महत्व स्वत ही प्रमाणित होता है।[18]

4. उपर्युक्त व्यावहारिक (practical) उपयोगिता या महत्व के अतिरिक्त सामाजिक मनोविज्ञान के कुछ सैद्धान्तिक (theoretical) महत्व भी हैं, और उनमे सबसे उल्लेखनीय यह है कि यह विज्ञान मनुष्य के सम्बन्ध मे यथार्थ ज्ञान करवाता है। जैसा कि श्री एश (Asch) का कथन है कि १८वी शताब्दियो में मानव के सम्बन्ध मे अनेक सिद्धान्तों (doctrines of man) का प्रचलन था। उस समय कोई मनुष्य को आर्थिक प्राणी मानता था, तो कोई उसे सुख-दु.ख का हिसाब रखने वाला। पर, ये सभी भ्रान्त धारणायें थी। सामाजिक मनोविज्ञान ने यह स्पष्ट कर दिया है कि समाज और व्यक्ति मे एक अन्त सम्बन्ध और अन्त.निर्भरता है, और इन दोनो की अन्त.क्रियाओं के आधार पर ही व्यक्ति के व्यवहार निर्धारित होते हैं।

5. प्रत्येक समाज मे कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो समाज-विरोधी व्यवहार करते हैं। इन व्यवहारो के कुछ सामाजिक तथा मानसिक कारण होते हैं, जिनको समझे बिना ऐसे व्यक्तियो का उपचार नही किया जा सकता। सामाजिक मनोविज्ञान हमें इस काम मे सहायता देता है।

6. सामाजिक विघटन का एक कारण सामाजिक मनोवृत्ति है, जिसका सामाजिक मनोविज्ञान अध्ययन करता है। उदाहरणार्थ, यदि अनेक व्यक्ति राज्य के प्रति विद्रोह की मनोवृत्ति को बनाये रखें, या कानूनों को उपेक्षा की दृष्टि मे देखें तो उसका परिणाम सामाजिक विघटन (social disorganization) ही होगा। अत: सामाजिक व्यवस्था व संगठन को बनाये रखने के लिये समाज-विरोधी मनोवृत्तियों को कम करना जरूरी है। चूंकि, मनोवृत्ति सामाजिक मनोविज्ञान का अध्ययन-विषय है, इस कारण यह विज्ञान इनके ज्ञान के आधार पर स्वस्थ मनोवृत्तियो के विकास के उपाय भी बता सकता है।

7 सामाजिक मनोविज्ञान समाजीकरण व व्यक्तित्व के विकास का भी अध्ययन करता है। इस कारण अच्छे व्यक्तित्व के विकास में किस प्रकार की परिस्थितियाँ सहायक हो सकती है, इस विषय में भी वैज्ञानिक ज्ञान करवाने का उत्तरदायित्व सामाजिक मनोविज्ञान ही ले सकता है। इस ज्ञान के आधार पर माता-पिता को अपने बच्चों को पालने तथा अच्छे नागरिकों के रूप में विकसित करने में मदद मिल सकती है। इससे पारिवारिक जीवन ही नहीं, सामाजिक जीवन भी सुखी और सम्पन्न हो सकता है।

सामाजिक मनोविज्ञान की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

(The Current or Modern Trends in Social Psychology)

वर्तमान समय में सामाजिक मनोविज्ञान को विज्ञान के रूप में सुप्रतिष्ठित करने का अधिकाधिक प्रयत्न किया जा रहा है। यह प्रगति शायद इस कारण हो रही है कि आज यह उत्तरोत्तर स्वीकार किया जा रहा है कि मनुष्य की सबसे महत्वपूर्ण समस्याएँ स्वयं उससे, तथा दूसरों के साथ में उसके सम्बन्धों से सम्बन्धित हैं, ऐसा ही अधिकांश आधुनिक अनुसन्धानों तथा सिद्धान्तों से पता चलता है। आज तीन प्रगतिशील प्रवृत्तियों के फलस्वरूप सामाजिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में कुछ ठोस परिणाम निकाले जा सके हैं।[19] वे तीन इस प्रकार हैं[20]—

1 मनुष्य के बीच होने वाली अन्तःक्रिया तथा उसके पर्यावरण का सामाजिक तथा अन्य प्रकार की संयुक्त उपजों (joint products) के रूप में अनुभव तथा व्यवहार का अध्ययन। यह प्रवृत्ति 'वैयक्तिक' दृष्टिकोण (individual approach) या 'सांस्कृतिक' दृष्टिकोण (cultural approach) के विपरीत है। नवीन दृष्टिकोण यह है कि व्यक्ति को स्वयं अपने-आप से प्राप्त होने वाला आन्तरिक प्रभाव (internal influences) और उसके अपने पर्यावरण से प्राप्त होनेवाला बाह्य प्रभाव (external influences), दोनों ही एक-दूसरे के साथ स्वाभाविक रूप में अन्तःक्रिया करते रहते है। यह अन्तःक्रिया कोई आकस्मिक घटना नहीं होती, बल्कि क्रमों और नियमों के अनुसार ही घटित होती है। इस कारण वैज्ञानिक तरीकों से इस अन्तःक्रिया का तथा व्यक्ति के अनुभव तथा व्यवहार पर पड़ने वाले इसके प्रभावों का अध्ययन किया जा सकता है।

2. सामाजिक मनोविज्ञान की एक और आधुनिक प्रवृत्ति है—वैज्ञानिक पद्धतियों तथा प्रविधियों (scientific methods and techniques) का उत्तरोत्तर प्रयोग। भविष्य में विकास के एक आवश्यक दृढ़ आधार के निर्माण के लिए वैज्ञानिक पद्धतियों को अपनाना अनिवार्य है। वैज्ञानिक पद्धतियों के द्वारा विशिष्ट या महत्वपूर्ण कारकों को ढूँढ़ निकालना तथा उनकी क्रियाशीलता को समझना सरल होता है। वैज्ञानिक पद्धति वास्तव में प्रविधियों का एक संकलन होती है; और सामाजिक मनोविज्ञान को अपने विविध अध्ययन-विषयों के जटिल कारकों का अध्ययन तथा विश्लेषण करने के लिये निरीक्षण (observation), प्रयोग (experiment), प्रश्नावली (questionnaires), साक्षात्कार (interview) आदि अनेक प्रविधियों को काम में लाना पड़ता है। जहाँ कहीं भी सम्भव हो सकता है, अब प्रयोगात्मक विधि (experimental method) पर अत्यधिक बल दिया जा रहा है। परन्तु, आज सामाजिक मनोविज्ञान में जिस सुनिश्चित सावधानी

(sound precaution) से काम लिया जाता है, वह है संयुक्त रूप में प्रविधियों को, जहाँ कहीं भी सम्भव हो, काम में लाना। जब एक प्रविधि द्वारा प्राप्त परिणामों की जाँच दूसरी के प्राप्त परिणामों के आधार पर कर ली जाती है, तभी यथार्थ निष्कर्षों को निकालना सम्भव होता है।[21]

3. सामाजिक मनोविज्ञान की तीसरी आधुनिक प्रवृत्ति समस्याओं के सम्बन्ध में सन्तुलित प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त करने तथा अनुसंधानकर्त्ता की इस प्रवृत्ति से बचने का अधिकाधिक प्रयत्न करती है कि उन्हीं की अपनी संस्कृति, समाज या समूह आदर्श है (ethnocentrism)। सामाजिक मनोविज्ञान के अनुसंधानों से सदैव यह खतरा बना रहता है कि कहीं अनुसंधानकर्त्ता अपनी संस्कृति, समाज या सामाजिक पर्यावरण को आदर्श मानते हुए दूसरे सामाजिक पर्यावरण की अवहेलना न कर बैठे। प्रत्येक समूह मानव-समस्याओं के सम्बन्ध में अपनी पूर्वधारणा के आधार पर एक सिद्धान्त बना लेता है; परन्तु, यह सिद्धान्त प्रायः यथार्थवादी या वैज्ञानिक नहीं होता। इसीलिये सामाजिक मनोवैज्ञानिकों को इस बात का निरन्तर सचेत प्रयत्न करना पड़ता है कि कहीं वे अपनी ही पूर्वधारणा या सिद्धान्त के आधार पर दूसरे समूह के सम्बन्ध में निष्कर्ष न निकाल लें। लेकिन, इस खतरे से बचने की विधियाँ भी खोज निकाली गयी हैं और वे हैं तुलनात्मक दृष्टिकोण या विधियाँ—इनके अन्तर्गत विभिन्न संस्कृतियों में, एक ही संस्कृति के अन्दर पाये जाने वाले विभिन्न समूहों में, तथा एक ही समाज के विभिन्न ऐतिहासिक युगों में की गयी खोजों (finding) की तुलना की जाती है और तब कहीं कोई अन्तिम निष्कर्ष निकाला जाता है।[22] ऐसा इसलिये किया जाता है कि आज अधिकांश विद्वानों का मत है कि मानव-व्यवहार का अध्ययन यदि एक ही सांस्कृतिक, सामूहिक या ऐतिहासिक युग की पृष्ठभूमि में किया जायेगा तो उसमें यथार्थता नहीं आ पायेगी। इसलिये तुलनात्मक विधि के प्रयोग द्वारा मान्य व प्रामाणिक निष्कर्षों तक पहुँचने की प्रवृत्ति आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान में बढ़ती जा रही है।

श्री शेरिफ एवं श्रीमती शेरिफ द्वारा उल्लिखित उपर्युक्त तीन आधुनिक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त एक अन्य प्रवृत्ति का भी उल्लेख किया जा सकता है। यह प्रवृत्ति इस प्रकार है—

4. आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान को अब व्यावहारिक (applied) बनाने का प्रयास किया जा रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि आधुनिक सामाजिक मनोवैज्ञानिक मानव-व्यवहार और मानव-समस्याओं के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करके ही सन्तुष्ट नहीं हो रहे, बल्कि वे यह भी चाहते हैं कि उस ज्ञान का वास्तविक प्रयोग उन समस्याओं को सुलझाने की दिशा में हो। इस प्रकार सामाजिक मनोविज्ञान का व्यावहारिक पक्ष यह है कि इस ज्ञान को, व्यावहारिक रूप में, मानवीय समस्याओं को सुलझाने और सामाजिक परिवर्तन को नियोजित रूप में नियंत्रित करने में काम में लाया जाता है। अतः स्पष्ट है कि हमारे आश्रयदाता तथा हमारे पालक समाज का जो ऋण हम सामाजिक मनोवैज्ञानिकों पर है, उसका भुगतान हम दीर्घकालीन शर्तों पर करते हैं। यानी, इसके लिए हम मानव तथा सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के बीच होने वाली अन्तःक्रियाओं के फलस्वरूप पनपते मानव-व्यवहार एवं समस्याओं की प्रकृति व प्रक्रियाओं को समझते हैं, और उसके आधार पर अपनी आधारभूत समस्याओं को हल करते हैं—अपने मौलिक अंशदान द्वारा। वैज्ञानिक खोज हमारा आधार है, ज्ञान हमारी शक्ति है, और प्रगति हमारा ध्येय है।

REFERENCES

1 William Mcdougall *The Group Mind*, (Methuen) 1919, p. 1.

2. "Social psychology may be defined as the scientific study of activities of the individual as influenced by other individuals."—*Otto Klineberg, Social Psychology*, Revised edition, (Henry Holt and Co, New York, 1957), p. 3.

3 "Social psychology is the study of persons in their interactions with one another and with reference to the effects of this interplay upon the individual's thoughts, feelings, emo , and habits."—*Kimball Young, A Hand Book of Social Psychology*, (Routledge and Kegan Paul Ltd, London, 1962), p. 8.

4 "Social psychology is the scientific study of the experience and behaviour of individuals in relation to social stimulus situations."—*Sherif and Sherif, An Outline of Social Psychology*, (Harper and Bros, New York, 1956), p. 4

5. "Social psychology is a science which deals with the mental life of groups and describes and accounts for the influence of the groups on the growth and activities of the individual "—*William McDougall*, op. cit., p 2.

6 "Social psychology investigates the behaviour of the individual with reference to his fellow men, whether as individuals or as groups "—*J.F. Brown Psychology and the Social Order*, (McGraw Hill Book Co, New York, 1936), p 1.

7. "Any psychology that recognizes these facts and attempts to display the reciprocal influences of the individual and the society in which he plays his part may be called Social Psychology."—*William McDougall, op cit.*, p. 2.

8 "Social Psychology may therefore be broadly defined as the science of the behaviour of the individual in society."—*Kretch and Crutchfield*, Theory and Problems of Social Psychology. (McGraw-Hill Book Co, New York, 1948), p. 7

9. "Social Psychology derives the designation 'social' not from the use of a different set of concepts, but from the fact that it extends concepts valid in General Psychology to the social field."—*M. Sherif and C.W. Sherif*, op. cit, p 5.

10. "Social Psychology studies the Psychic planes and currents that come into existence among men in consequence of their association. It seeks to understand and account for those uniformities in feeling, belief of volition—and hence in action—which are due to interaction of human beings, i e., to social causes "—*E.A. Ross*, Social Psychology, (Macmillan and Co., New York) 1925, p. 7.

अध्याय 2

सामाजिक मनोविज्ञान तथा अन्य सामाजिक विज्ञान
[SOCIAL PSYCHOLOGY AND OTHER SOCIAL SCIENCES]

"सामाजिक मनोविज्ञान की स्थिति सामान्य मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के बीच की स्थिति है।" —Sprott

डॉ० मैक्डूगल (McDougall) के इस कथन से शायद कोई भी असहमत नहीं होगा कि विभिन्न विशिष्ट विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्धों को यथार्थ रूप में परिभाषित करने का काम कुछ ऐसा है जिसे तब तक पूरा नहीं किया जा सकता, जब तक कि इन विज्ञानों में विकास तथा परिवर्तन होता जा रहा है।[1] यह काम निरन्तर परिवर्तनशील अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान आदि सामाजिक विज्ञानों के मामले में तो और भी कठिन प्रतीत होता है, और, यह आशा की जाती है कि इनके आपसी सम्बन्ध के बारे में निकट भविष्य में एक मत का अभाव ही रहेगा। इसीलिए आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि विभिन्न सामाजिक विज्ञानों की दुनिया में सामाजिक मनोविज्ञान की वास्तविक स्थिति को अन्तिम रूप में निश्चित नहीं किया जा सकता। इसका प्रमुख आशय यह है कि इस विज्ञान के नवीनतम होने के कारण इसकी प्रगति व विकास की सम्भावनाएँ अत्यधिक हैं, और इसलिये इसमें परिवर्तन भी तेजी से हो रहा है। इस दौरान इसकी अध्ययन-वस्तु तथा विषय-क्षेत्र में ही नहीं, अपितु पद्धतिशास्त्र (methodology) में भी अनेक परिवर्द्धन (extension) तथा परिमार्जन (revision) होते जा रहे हैं। इस कार्य के लिये सामाजिक मनोविज्ञान को स्वभावतः ही अन्य सामाजिक विज्ञानों से बहुत कुछ लेना और देना पड़ रहा है। इस पारस्परिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप सामाजिक मनोविज्ञान का अन्य विज्ञानों के साथ सम्बन्ध उत्तरोत्तर घनिष्ठ होता जा रहा है। इस सत्य का आभास निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट ही हो जायगा।

सामाजिक मनोविज्ञान तथा सामान्य मनोविज्ञान
(Social Psychology and General Psychology)

सामान्य मनोविज्ञान मानसिक प्रक्रियाओं (mental processes) का विज्ञान है। और भी स्पष्ट रूप में यह विज्ञान मनोवैज्ञानिक कारकों के कारण घटित मानव-व्यवहार का एक प्रत्यक्षात्मक विज्ञान (positive science) है। इस विज्ञान में मानव-व्यवहार का अध्ययन, आन्तरिक और वाह्य, दोनों प्रकारों से हो सकता है। सामाजिक मनोविज्ञान का सम्बन्ध भी मानव-व्यवहार से है। इस कारण इन दोनों विज्ञानों में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि सामाजिक मनोविज्ञान को सामान्य मनोविज्ञान की शाखा माना जाता है।

श्री अकोलकर (Akolkar) के अनुसार, "वैयक्तिक या सामान्य मनोविज्ञान व्यक्ति के मानसिक जीवन तथा व्यवहार का अध्ययन करता है।

इसका उद्देश्य कतिपय विश्वसनीय निष्कर्षों पर पहुँचना है, अर्थात् मानव के मानसिक जीवन तथा व्यवहार के नियमों को ढूंढ़ निकालना है। वैयक्तिक मनोविज्ञान व्यक्ति को उसके सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन के सन्दर्भ से पृथक् करके देखता है; इसीलिए यह विज्ञान व्यक्ति के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन के सदर्भ (context) की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं देता, यद्यपि वास्तविकता तो यही है कि समूह या समूहों की सदस्यता व्यक्ति के प्रत्यक्षीकरण, भावना, विश्वासों, मनोवृत्ति तथा व्यवहार को निर्धारित करती ही है। वैयक्तिक मनोविज्ञान में व्यक्ति को एक ऐसे सचेत सावयव (sensitive organism) के रूप में समझा जाता है जो अपने ही आसपास की उत्तेजनाओं के प्रति क्रिया और प्रतिक्रिया करता रहता है। दूसरे शब्दों में, सामान्य मनोविज्ञान सामान्यीकृत (generalized) मानव का अध्ययन है।"[2] इतना होने पर भी मनोवैज्ञानिकों ने इस सत्य को उत्तरोत्तर स्वीकार करना आरम्भ किया कि व्यक्ति के व्यवहारों को उसके पर्यावरण से पूर्णतया पृथक् करके देखा नहीं जा सकता। श्री क्रेच तथा क्रचफील्ड (Krech and Crutchfield) ने उचित ही लिखा है "सम्भवतः एकान्त में व्यक्ति के रूप में किसी प्राणी का अस्तित्व होता ही नहीं है। व्यक्ति की समूह की सदस्यता, दूसरे व्यक्तियों के साथ उसके अनुभव, उसके भूत एवं वर्तमान के अन्तःवैयक्तिक सम्बन्ध—इन सब का प्रभाव उसकी प्रत्येक मनोवैज्ञानिक क्रिया पर पड़ता ही है, चाहे प्रभाव कितना ही साधारण और अप्रत्यक्ष क्यों न हो। परिणामस्वरूप प्रत्येक मनुष्य सामाजिक संसार में रहता है, और कोई भी मनोवैज्ञानिक, चाहे उसकी रुचि कुछ भी क्यों न हो, समाज से परे (asocial) मनुष्य का अध्ययन न तो करता है और न ही कर सकता है।" इसीलिए मनोविज्ञान की आधुनिक परिभाषा यह है कि मनोविज्ञान सावयव (organism) तथा पर्यावरण (environment) के बीच होने वाली अन्तःक्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न व्यक्ति की क्रियाओं का अध्ययन है। सामाजिक मनोविज्ञान भी सामाजिक या सामूहिक परिस्थितियों में व्यक्ति की क्रियाओं या व्यवहारों का अध्ययन करता है। अतः स्पष्ट है कि इन दोनों विज्ञानों के बीच, आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

सामाजिक मनोविज्ञान समाजीकरण की प्रक्रिया तथा व्यक्तित्व के विकास में विशेष रुचि रखता है। इसके लिये व्यक्तित्व की प्राणीशास्त्रीय व मनोवैज्ञानिक मूलप्रवृत्ति (instincts), संवेदना (sensation), प्रत्यक्षीकरण (perception), स्मरण-विस्मरण (remembering and forgetting), प्रेरणा (motivation), संवेग (emotion), चिन्तन-प्रक्रिया (thinking process), बुद्धि (intelligence), स्नायु-मण्डल (nervous system) की क्रियाशीलता, ग्रन्थियाँ (glands) आदि आधारों के सम्बन्ध में सामाजिक मनोवैज्ञानिक को यथार्थ ज्ञान होना चाहिए। यह ज्ञान उसे सामान्य मनोविज्ञान से ही मिलता है। दूसरी ओर सामाजिक मनोविज्ञान, उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक आधारों पर, सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के वास्तविक प्रभावों के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों को सचेत रखकर उन्हें उनके अध्ययन-कार्य में सहयोग देता है और उनके निष्कर्षों को एकतरफा होने से बचाता है। इस अर्थ में भी ये दोनों विज्ञान एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। वास्तव में अपने-अपने अध्ययन के प्रत्येक स्तर पर ये दोनों एक-दूसरे के सहायक तथा पूरक हैं। इन्हीं कारणों से श्री अकोलकर के शब्दों में, "सामान्य मनोविज्ञान एवं सामाजिक मनोविज्ञान में विभाजन या भेद कभी भी

अन्तिम नहीं हो सकता । यह विभाजन सुविधा के लिए है, एक श्रम-विभाजन है। मनोविज्ञान दो नहीं हो सकते हैं।"[3]

यह सच है कि व्यक्ति के व्यवहार के अध्ययन में सामान्य मनोविज्ञान तथा सामाजिक मनोविज्ञान के बीच श्रम-विभाजन (division of labour) है। यदि व्यक्ति एक प्राणीशास्त्रीय व मनोवैज्ञानिक प्राणी है, तो साथ ही वह एक सामाजिक प्राणी भी है। उसका सम्पूर्ण जीवन प्राणीशास्त्रीय प्राणी के रूप मे आरम्भ होकर एक सामाजिक प्राणी के रूप में समाप्त होता है । इन दोनों स्थितियों के आधार पर ही मनोविज्ञान तथा सामाजिक मनोविज्ञान के बीच श्रम-विभाजन है। सामान्य मनोविज्ञान व्यक्ति के प्राणीशास्त्रीय व मनोवैज्ञानिक आधारों को विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन करता है; पर, जब यही मनोविज्ञान केवल व्यक्ति के व्यवहार के अध्ययन की सीमा से निकल कर उस व्यवहार के सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभावों का अध्ययन, समाज व संस्कृति के चौखटे मे रखकर, करना आरम्भ कर देता है तो एक नवीन विषय-क्षेत्र का जन्म होता है, और उस विषय-क्षेत्र से सम्बन्धित विज्ञान को हम सामाजिक मनोविज्ञान कहते हैं । सामाजिक मनोविज्ञान यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही किसी न किसी समाज का सदस्य होता है। वह अपने पालन-पोषण के लिये अपने माता-पिता, संगी-साथी, स्कूल-कालेज, समिति, राष्ट्र, प्रथा, परम्परा, धर्म, आदर्श आदि अनेक सामाजिक तत्वों (यद्यपि इनमे से प्रत्येक का एक मनोवैज्ञानिक आधार भी होता है) पर निर्भर रहता है। उसके चरित्र और व्यक्तित्व का विकास सामाजिक परिस्थितियों और पर्यावरण में होता है। जन्म से मृत्यु तक वह समाज से प्रभावित होत रहता है, और स्वयं भी समाज को प्रभावित करता रहता है। यही व्यक्ति के व्यवहार का सामाजिक-सांस्कृतिक पहलू है। सामाजिक मनोविज्ञान इस पहलू का अध्ययन करता है, और फिर सामान्य मनोविज्ञान द्वारा निर्धारित मानव-व्यवहार के तथ्यों को काम मे लाते हुए, मानव के उपर्युक्त सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभावों के संदर्भ मे मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है । यह श्रम-विभाजन अध्ययन की सुविधा के लिये किया गया है ताकि पहला विज्ञान (सामान्य मनोविज्ञान) व्यक्ति के व्यवहार के प्राणीशास्त्रीय-मनोवैज्ञानिक आधारों की ओर विशेष ध्यान दे सके और अपने क्षेत्र में विशिष्ट (specialized) निष्कर्षों को ढूंढ-निकाल सके; जबकि दूसरा विज्ञान (सामाजिक मनोविज्ञान) इन निष्कर्षों की अवहेलना किसी भी रूप में न करते हुए, व्यक्ति के व्यवहार पर पड़ने वाले सांस्कृतिक-सामाजिक प्रभावों का विश्लेषण कर सके। अतः स्पष्ट है कि इन दोनों विज्ञानों को पृथक् करना कठिन है। श्री फ्रॉयड (Freud) ने लिखा है—"वैयक्तिक मनोविज्ञान और सामाजिक या सामूहिक मनोविज्ञान के बीच भेद ऊपरी तौर पर महत्वपूर्ण प्रतीत हो सकता है । परन्तु यदि इस भेद का गम्भीरतापूर्वक परीक्षण किया जाय तो इसकी तीव्रता फीकी पड़ जाती है । यह सच है कि वैयक्तिक मनोविज्ञान का सम्बन्ध एक व्यक्ति-विशेष से है, परन्तु बहुत ही कम । फिर, यह भी अत्यन्त विशिष्ट परिस्थितियों में ही वैयक्तिक मनोविज्ञान व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों की अवहेलना कर सकता है। व्यक्ति के मानसिक जीवन में सदैव ही कोई न कोई एक दूसरा व्यक्ति एक आदर्श, एक लक्ष्य, एक सहायक या एक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में घुलामिला या सम्बद्ध रहता है। अतः एक विस्तृत एवं पूर्णतया उचित अर्थ में, आरम्भ से ही वैयक्तिक मनोविज्ञान सामाजिक मनोविज्ञान भी है।"[4]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सामान्य मनोविज्ञान तथा सामाजिक मनोविज्ञान का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। फिर भी इन दोनों विज्ञानों में, विषय-क्षेत्र तथा दृष्टिकोण के आधार पर, कुछ आधारभूत अन्तर भी है। सामान्य मनोविज्ञान अपने अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत उन विषयों को सम्मिलित करता है, जो "विशेष रूप से" मनोवैज्ञानिक हैं, और जिन पर सामाजिक कारकों का प्रभाव बहुत कम पड़ता है। उदाहरणार्थ, स्मृति, संवेदना, मूलप्रवृत्ति, स्नायु-स्पन्दन, आदि के अध्ययन में सामाजिक परिस्थितियों की कुछ सीमा तक अवहेलना की जा सकती है। इसके विपरीत, सामाजिक मनोविज्ञान उन विषयों का अध्ययन करता है, जिनका आधार मनोवैज्ञानिक होते हुए भी सामाजिक-सांस्कृतिक भी है। मोटे तौर पर सामान्य मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यवहार के मनोवैज्ञानिक पक्ष का अध्ययन है, जबकि सामाजिक परिस्थिति में व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान करता है। दोनों की ही अध्ययन-वस्तु की प्रकृति "सामाजिक" है, भेद केवल मात्रा (degree) का है। इसी भेद को स्पष्ट करते हुए थी क्लाइनबर्ग (Klineberg) ने लिखा है—"सामाजिक मनोविज्ञान का विद्यार्थी उन घटनाओं का अध्ययन करता है जो अधिक सामाजिक हैं; और, सामान्य मनोविज्ञान का विद्यार्थी उन घटनाओं का जो कम सामाजिक हैं।"[5]

सामाजिक मनोविज्ञान और समाजशास्त्र
(Social Psychology and Sociology)

समाजशास्त्र और सामाजिक मनोविज्ञान का पारस्परिक सम्बन्ध इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक मनोविज्ञान समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के बीच का विज्ञान है, अर्थात् अपने अध्ययन-कार्य को सफलतापूर्वक आगे बढ़ाने के लिये सामाजिक मनोविज्ञान को जितनी सहायता मनोविज्ञान से लेनी पड़ती है, उतनी ही समाजशास्त्र से भी। उपर्युक्त दोनों विज्ञानों का सम्बन्ध आगे की विवेचना से और भी स्पष्ट हो जायेगा।

समाजशास्त्र सामाजिक संरचना (social structure), सामाजिक प्रक्रियाओं (social processes) तथा व्यक्तियों के अन्त.सम्बन्धों व अन्त.क्रियाओं का एक सामान्य विज्ञान है। श्री गिडिंग्स (Giddings) के अनुसार, "समाजशास्त्र समग्र रूप से समाज का क्रमबद्ध वर्णन और व्याख्या है।"[6] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। यह समाज मनुष्य में पाये जाने वाले अन्त.सम्बन्धों तथा अन्त.क्रियाओं के फलस्वरूप पनपता है। समाज कोई अखण्ड व्यवस्था नहीं है। इसके अन्तर्गत परिवार, स्कूल, गाँव, नगर, राज्य, आर्थिक संस्थाएँ, राजनैतिक संस्थाएँ आदि अनेक समितियाँ तथा संस्थाओं का समावेश होता है। समाजशास्त्र इन सभी की वास्तविक प्रकृति, विशेषताओं, कार्यों तथा प्रभावों का अध्ययन करता है। इन विभिन्न समितियों तथा सस्थाओं की विशिष्ट प्रकृति व क्रियाशीलता विविध सामाजिक परिस्थितियों को उत्पन्न करती है। समाजशास्त्र अपने अध्ययनों द्वारा सामाजिक मनोविज्ञान को इन सामाजिक परिस्थितियों की जानकारी देता है, और उसी आधार पर सामाजिक मनोविज्ञान सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्ति के व्यवहारों का अध्ययन करता है। दूसरी ओर, समाजशास्त्र जिन समितियों, संस्थाओं, सामाजिक सम्बन्धों तथा अन्त.क्रियाओं का अध्ययन करता है, उन सब का कोई न कोई मनोवैज्ञानिक आधार होता ही है। सामाजिक मनोविज्ञान समाजशास्त्र

को इनका यथार्थ ज्ञान करवाता है, अर्थात् सामाजिक मनोविज्ञान सामाजिक जीवन के मनोवैज्ञानिक आधारों के प्रति समाजशास्त्र को सजग रखकर उसके अध्ययन-कार्य को यथार्थता प्रदान करने में मदद करता है। मनोविज्ञान को मनुष्य की मानसिक प्रक्रियाओं को समझने के लिये समाजशास्त्रीय ज्ञान पर निर्भर रहना पड़ता है। इसी प्रकार मानवीय अन्त.सम्बन्धों और अन्त क्रियाओं की वास्तविकता को समाजशास्त्री को मनोवैज्ञानिक खोजों के आधार पर समझना होता है। सामाजिक मनोविज्ञान सामान्य मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को सामाजिक सम्बन्धों और अन्त क्रियाओं के क्षेत्र में रख कर जो ज्ञान प्राप्त करता है, उससे सामान्य मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र, दोनों को ही लाभ होता है। अत. स्पष्ट है कि ये तीनों विज्ञान तथा समाजशास्त्र और सामाजिक मनोविज्ञान—एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्ध में श्री अकोलकर (Akolkar) का कथन है, "सामाजिक मनोविज्ञान इस तथ्य को स्वीकार करता है कि मानवीय प्रकृति एवं व्यवहारों की एक सन्तोषप्रद व्याख्या के लिये हमें समाजों की संरचना, संगठन तथा संस्कृति को समझना चाहिए जिनसे व्यक्ति सम्बन्धित होता है।"[7] यही कारण है कि **श्री क्रेच और श्री क्रचफील्ड** का निष्कर्ष है कि सामाजिक मनोवैज्ञानिकों तथा समाजशास्त्रियों को, उनके द्वारा किये गये अनुसंधानों या तथ्यों की प्रकृति और उनकी विचारधाराओं के सामान्य निष्कर्षों के आधार पर, अलग करने का प्रयास निष्फल ही होगा। अर्थशास्त्रियों, राजनीतिशास्त्रियों तथा मानवशास्त्रियों की तरह ही वे (सामाजिक मनोवैज्ञानिक व समाजशास्त्री) सभी समाज-वैज्ञानिक हैं।"[8]

परन्तु उपर्युक्त अन्त सम्बन्ध तथा अन्त.निर्भरता को देखते हुए यह न समझना चाहिए कि सामाजिक मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र बिलकुल एक-से विज्ञान हैं। इन दोनों में कुछ मौलिक अन्तर भी है—**प्रथम** अन्तर तो अध्ययन-विषय के आधार पर है। समाजशास्त्र में हम उन समाजों, समूहों, संस्थाओं, समितियों आदि का अध्ययन करते हैं जिनकी क्रियाशीलता सामाजिक परिस्थितियों को उत्पन्न करना है। दूसरी ओर, सामाजिक मनोविज्ञान सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्ति के व्यवहारों का अध्ययन है। यह विज्ञान समाजों, समूहों आदि का भी अध्ययन करता है, पर उसी सीमा तक जहाँ तक कि व्यक्ति के व्यवहारों पर उनके प्रभावों का सम्बन्ध है। इस प्रकार सामाजिक मनोविज्ञान की धुरी व्यक्ति का व्यवहार है जब कि समाजशास्त्र का केन्द्र-बिन्दु है समाज या समूह या सामाजिक सम्बन्ध। **दूसरा** प्रमुख अन्तर इन दो विज्ञानों के दृष्टिकोण का है। सामाजिक मनोविज्ञान का दृष्टिकोण आधारभूत रूप में मनोवैज्ञानिक है, जबकि समाजशास्त्र का दृष्टिकोण मौलिक रूप से सामाजिक। सामाजिक मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यवहार के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर विशेष रूप से बल देता है, यद्यपि उसके सामाजिक पक्षों की किसी भी अर्थ में अवहेलना नहीं करता। इसके विपरीत, समाजशास्त्र घटनाओं (phenomena) के सामाजिक पक्ष को विशेष रूप से उद्घाटित करने का प्रयास करता है, यह स्वीकार करते हुए कि घटनाओं का मनोवैज्ञानिक आधार भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। तीसरा प्रमुख अन्तर पद्धतियों का है। सामाजिक मनोविज्ञान में निरीक्षण-पद्धति (observation method), प्रयोगात्मक पद्धति (experimental method), तुलनात्मक विधि (comparative method) आदि का प्रयोग होता है, जब कि समाजशास्त्र में संख्यात्मक पद्धति (statistical method), व्यक्तिगत जीवन अध्ययन पद्धति (case study method) और सामाजिक सर्वेक्षण (social survey) आदि पद्धतियों का प्रयोग होता है।

संक्षेप में समाजशास्त्र, सामान्य मनोविज्ञान और सामाजिक मनोविज्ञान

के अन्तर को भी बीरस्टीड (Bierstedt) ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है, "इनको अलग करना कठिन, और अत्यधिक सरल बनाना आसान है। लेकिन विद्यार्थी बहुत गलती नहीं करेगा, अगर वह यह कहे कि मनोविज्ञान व्यक्ति का अध्ययन करता है, सामाजिक मनोविज्ञान सामाजिक समूहों में व्यक्ति का और समाजशास्त्र उन्हीं समूहों का और उस अधिक विस्तृत समाज का, जो हम सब को घेरे हुए है।"[9]

सामाजिक मनोविज्ञान और मानवशास्त्र
(Social Psychology and Anthropology)

मानवशास्त्र के साथ भी सामाजिक मनोविज्ञान का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है, क्योंकि दोनों ही विज्ञानों का सम्बन्ध 'मानव' से है। मानवशास्त्र सृष्टि के आरम्भ से लेकर अब तक की मानव-जाति के समग्र रूप का वह विज्ञान है, जो उसके शारीरिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक उद्भव एवं विकास का अध्ययन करता है। अतः स्पष्ट है कि मानवशास्त्र मानव-जीवन के शारीरिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पक्षों का अध्ययन करता है। इन तीनों ही पक्षों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव स्पष्टतः पड़ता है। यही कारण है कि मानवशास्त्र और सामाजिक मनोविज्ञान का पारस्परिक सम्बन्ध अति निकट का है। श्री लिन्टन (Linton) के अनुसार, मोटे तौर पर, मानवशास्त्र की दो प्रमुख शाखायें हैं—शारीरिक मानवशास्त्र और सांस्कृतिक मानवशास्त्र।[10] इनमें से शारीरिक मानवशास्त्र मानव की शारीरिक विशेषताओं—जैसे वंशानुसंक्रमण, प्रजातीय भेद आदि का अध्ययन है।[11] इन सारी विशेषताओं का प्रभाव व्यक्ति की व्यवहार-प्रणाली पर पड़ता है; और यही सामाजिक मनोविज्ञान का अध्ययन-विषय है। इस प्रकार ये दोनों विज्ञान परस्पर सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार, श्री बील्स तथा श्री हाइजर (Beals and Hoijer) के शब्दों में, "सांस्कृतिक मानवशास्त्र मानव-संस्कृतियों की उत्पत्ति तथा इतिहास, उनके उद्विकास एवं विकास और प्रत्येक स्थान तथा काल में मानव-संस्कृतियों की संरचना व क्रियाशीलता का अध्ययन करता है।"[12] अतः स्पष्ट है कि मानव के आविष्कार, निर्माण-कला, धर्म, विश्वास, रीति-रिवाज, कला, साहित्य, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक संगठन एवं संस्थाओं का अध्ययन सांस्कृतिक मानवशास्त्र के विषय-क्षेत्र में आता है। इन सभी विषयों का प्रभाव व्यक्ति के व्यवहार पर पड़ता है, और इसका अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान करता है। दूसरी ओर समाज और संस्कृति का आधार मूलतः मनोवैज्ञानिक है। मानव-स्वभाव का प्रामाणिक अध्ययन किये बिना समाज और संस्कृति की यथार्थताओं को समझना सम्भव नहीं है। अतः सांस्कृतिक मानवशास्त्र को, सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन के मनोवैज्ञानिक आधार का ज्ञान प्राप्त करने के लिये सामाजिक मनोविज्ञान पर निर्भर रहना पड़ता है। इसीलिए इन दोनों विज्ञानों में पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। सांस्कृतिक मानवशास्त्र की एक शाखा सामाजिक मानवशास्त्र है। सामाजिक मनोविज्ञान सामाजिक परिस्थितियों में और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर मानव-व्यवहार और व्यक्ति का अध्ययन करता है, और सामाजिक मानवशास्त्र मानव-व्यवहार और व्यक्तित्व से सम्बन्धित सामाजिक व्यवस्थाओं या सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन। इस प्रकार सामाजिक मानवशास्त्र और सामाजिक मनोविज्ञान एक-दूसरे के पूरक रूप में निरन्तर गतिशील हैं।

परन्तु, इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सामाजिक मनोविज्ञान और मानवशास्त्र में कोई अन्तर नहीं है। प्रथम अन्तर तो अध्ययन-विषय का ही है। सामाजिक मनोविज्ञान का केन्द्रीय विषय मानव व्यवहार तथा अनुभव है, जबकि मानवशास्त्र मानव तथा उसके सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवसायों या संस्थाओं का अध्ययन करता है; और, वह भी विशेष रूप से आदिकालीन मानव व संस्कृति का। इस प्रकार प्रथम विज्ञान का सम्पर्क व्यक्ति के व्यवहार से है जबकि दूसरे का मानव-संस्कृति से। दूसरे इन दो विज्ञानों के दृष्टिकोणों में भी पर्याप्त भिन्नता है। सामाजिक मनोविज्ञान सामाजिक-सांस्कृतिक सन्दर्भ में अध्ययन करते हुए भी व्यक्ति के व्यवहारों की ओर विशेष ध्यान देता है जबकि मनोविज्ञान मानव और उसकी संस्कृति की ओर। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सामाजिक मनोविज्ञान की दृष्टि में व्यक्ति का व्यवहार प्रधान है, जबकि मनोविज्ञान की दृष्टि में मानव और उसकी संस्कृति का।

सामाजिक मनोविज्ञान तथा अर्थशास्त्र

(Social Psychology and Economics)

डॉ० मार्शल (Marshall) के अनुसार "अर्थशास्त्र मनुष्य के जीवन की साधारण व्यापार-क्रियाओं का अध्ययन है। अर्थशास्त्र यह पता लगाता है कि मनुष्य किस प्रकार धन कमाता है और किस प्रकार उसे व्यय करता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र एक ओर सम्पत्ति का अध्ययन है और दूसरी ओर, जो अधिक महत्त्वपूर्ण है, मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है।" इस प्रकार अर्थशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन के केवल एक पहलू—आर्थिक पहलू या क्रियाओं—का अध्ययन करता है। चूंकि आर्थिक क्रियायें सामाजिक क्रियाओं का ही एक विशेष पक्ष है, इस कारण आर्थिक क्रियाओं का प्रभाव सामाजिक जीवन और व्यक्ति के व्यवहार पर पड़ता है। इसका अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान करता है। दूसरी ओर, क्रमागत उपयोगिता-ह्रास-नियम (law of diminishing utility), सम-सीमान्त उपयोगिता-नियम (law of equi-marginal utility) आदि अर्थशास्त्र के नियम मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित हैं। आवश्यकता, उपयोगिता और सन्तुष्टि सभी मानसिक क्रियायें हैं। इसी प्रकार माँग व पूर्ति का नियम मूल्य के चढ़ाव-उतार के समय उपभोक्ता व विक्रेताओं के मस्तिष्क की विचारधाराओं को ही अभिव्यक्त करता है। व्यक्ति के व्यवहार के मनोवैज्ञानिक आधारों की समुचित जानकारी के बिना आर्थिक क्रियाओं और नियमों को कदापि समझा नहीं जा सकता; यहाँ तक कि व्यापार-चक्र (trade cycles) और औद्योगिक उतार-चढ़ाव (industrial fluctuations) के सिद्धान्त भी सामाजिक मनोविज्ञान की खोजों (findings) पर ही आधारित हैं। थकान, विश्राम, काम करने की इच्छा, श्रमिक-कुशलता, औद्योगिक हड़ताल आदि सभी सामाजिक-मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हैं। अतः स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र को सामाजिक मनोविज्ञान में ही आश्रय मिला है (Economics is anchored in social psychology)। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार आर्थिक क्रियाओं का प्रभाव व्यक्ति के सामाजिक व्यवहारों पर पड़ता है, उसी प्रकार आर्थिक क्रियाएँ स्वयं मानसिक प्रक्रियाओं द्वारा निर्देशित व नियंत्रित होती हैं। अतः सामाजिक मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र एक-दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं।

व्यावहारिक दृष्टि से भी अर्थशास्त्र और सामाजिक मनोविज्ञान का पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ है। एक उदाहरण के द्वारा इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है। अर्थशास्त्रियों के सम्मुख आज एक बहुत बड़ी समस्या यह है कि श्रमिक और मालिक—उत्पादन के इन दो महत्त्वपूर्ण साधनों के बीच आज जो कटु विरोध, द्वेष तथा तनाव की स्थिति पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत देखने को मिलती है, उसे किस प्रकार दूर किया जाय। इस कार्य में सामाजिक मनोविज्ञान का योगदान वास्तव में सराहनीय है। सामाजिक मनोवैज्ञानिक मिल-मालिकों और मजदूरों के दृष्टिकोण से एक-दूसरे को अवगत कराते हैं और इस बात का सुझाव देते हैं कि इस दृष्टिकोण में किस प्रकार स्वस्थ परिवर्तन सम्भव है, और किस प्रकार की मनोवैज्ञानिक सन्तुष्टि मिलने पर श्रमिकों को उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा मिलेगी। इस प्रकार प्रचार (propaganda) के मनोविज्ञान, प्रक्रिया, उपयोगिता व सीमाओं से श्रमिक और मालिक व व्यापारियों को अवगत कराकर सामाजिक मनोविज्ञान श्रमिकों को और श्रमसंघ को दृढ़ करके उनके हितों की पूर्ति व रक्षा करने में तथा मालिक व व्यापारियों को अपने-अपने उद्योग-धन्धों को फैलाने में सहायता करता है। दूसरी ओर, अर्थशास्त्र युद्ध, क्रान्ति, फ़ैशन आदि (जिनका अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान करता है) के आर्थिक पक्षों का स्पष्टीकरण करके समाज तथा व्यक्ति को निराशा, द्वेष, घृणा, तनाव व संघर्ष, अर्थात् मनोवैज्ञानिक अशान्ति एवं असंतुलन से बचाता है। अत: व्यावहारिक रूप में भी ये दोनों विज्ञान एक-दूसरे से सन्बन्धित हैं।

परन्तु, इन दोनों विज्ञानों में कुछ आधारभूत अन्तर भी है—प्रथम तो यह कि दोनों विज्ञानों का अध्ययन-विषय अलग-अलग है। अर्थशास्त्र उपभोग, आवश्यकता, मूल्य, आय, धन, उत्पत्ति, भूमि, श्रम, पूँजी, विनिमय, बाजार, वितरण, मजदूरी, लगान, सूद, विभिन्न आर्थिक संस्थाओं आदि का अध्ययन करता है। इसके विपरीत, सामाजिक मनोविज्ञान प्रेरणा, उद्वेग, मनोवृत्ति, मूलप्रवृत्ति, अनुकरण, सुझाव, भीड़-व्यवहार, समाजीकरण, व्यक्तित्व, नेतृत्व, पक्षपात, युद्ध, क्रान्ति, समूह, फैशन, जनमत, प्रचार आदि को अपने अध्ययन का विषय बनाता है। संक्षेप में, अर्थशास्त्र मनुष्य की केवल आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करता है, जबकि सामाजिक परिस्थिति में व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान के द्वारा किया जाता है। दूसरा अन्तर दृष्टिकोण का है। अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण आर्थिक है, जबकि सामाजिक मनोविज्ञान का दृष्टिकोण सामाजिक-मनोवैज्ञानिक (socio-psychological) है। तीसरा अन्तर पद्धतिशास्त्र (methodology) का है। अर्थशास्त्र में अनुमान या निगमन-पद्धति (deductive method) और अनुभव या आगमन-पद्धति (inductive method) दोनों का आवश्यकतानुसार पृथक् या मिश्रित रूप में प्रयोग किया जाता है। इसके विपरीत सामाजिक मनोविज्ञान में निरीक्षण-पद्धति, प्रयोगात्मक पद्धति और तुलनात्मक पद्धति आदि को प्रयोग में लाया जाता है।

सामाजिक मनोविज्ञान तथा राजनीतिशास्त्र

(Social Psychology and Political Science)

राजनीतिशास्त्र मनुष्य के राजनैतिक जीवन और उससे सम्बन्धित समूहों और संस्थाओं का अध्ययन है। श्री गेटेल (Gettel) के अनुसार "राजनीतिशास्त्र राज्य का विज्ञान है। यह विज्ञान राजनैतिक समितियों, सरकार के संगठन, कानून

की व्यवस्था तथा अन्तर्राजकीय (interstate) सम्बन्धों का अध्ययन करता है।" अतः स्पष्ट है कि राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य के राजनैतिक क्रियाकलापों का विश्लेषण होता है, और इनका एक मनोवैज्ञानिक आधार होना स्वाभाविक ही है। दूसरी ओर राजनैतिक समितियों और संस्थाओं का भी प्रभाव व्यक्ति के व्यवहारों पर पड़ता है, इन्ही व्यवहारो का अध्ययन सामाजिक विज्ञान करता है। इतना ही नही, युद्ध, क्रान्ति, शीत-युद्ध (cold war) आदि विषयो का अध्ययन राजनीतिशास्त्र और सामाजिक मनोविज्ञान, दोनों ही करते हैं। इन सब बातो को देखते हुए कहा जा सकता है कि इन दोनो विज्ञानों का पारस्परिक सम्बन्ध अति निकट का है।

आधुनिक विचारक आज इस बात से सहमत हैं कि राज्य तथा उसकी संस्थाओ का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने की सर्वोत्तम कुंजी सामाजिक मनोविज्ञान से प्राप्त होती है। इसका कारण भी स्पष्ट है। मनुष्य एक विचारशील प्राणी है, और उसके प्रत्येक कार्य (जिसमे राजनैतिक कार्य भी सम्मिलित हैं) के पीछे विचारो की एक शृंखला होती है। इस विचार-शृंखला (जो कि सामाजिक मनोविज्ञान का अध्ययन-विषय है) को समझे बिना राजनैतिक सम्बन्धो को नही समझा जा सकता। यही कारण है कि ई० बार्कर (E Barker) ने लिखा है, "मानवीय क्रियाकलापों की पहेली को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सुलझाना आजकल का फैशन बन गया है। यदि हमारे पूर्वज प्राणीशास्त्रीय दृष्टि से सोचते थे तो हम आज मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सोचते हैं।"[1] वास्तव मे हमारे जीवन, हमारी संस्थाओ और हमारे संगठनों पर आन्तरिक मनोवृत्तियों, प्रेरणाओ तथा भावनाओं का उतना ही प्रभाव पड़ता है, जितना कि बाहरी दुनिया का। इन आन्तरिक तत्वो से हमारा परिचय सामाजिक मनोविज्ञान ही कराता है। हम बहुधा देखते हैं कि शासन का एक स्वरूप एक देश मे सफल होता है, परन्तु दूसरे मे नही—एक राष्ट्र के लिये स्वतन्त्रता वरदान साबित होती है तो दूसरे के लिये अभिशाप। समान घटनाओ (phenomena) के विभिन्न परिणामों की इस समस्या पर प्रकाश डालने के लिये हमें सामाजिक मनोविज्ञान की शरण लेनी पड़ती है। मानव के राजनैतिक व्यवहारों या कार्यकलापों को उचित ढंग से समझने के लिये राजनीतिशास्त्र को, सामाजिक मनोविज्ञान की सहायता से, मानव की मूलप्रवृत्तियों, अनुकरण-शक्ति, सुझाव ग्रहण करने की प्रवृत्ति (suggestibility), बुद्धि, तर्कशक्ति आदि की वास्तविकताओ को जानना जरूरी हो जाता है। इतना ही नहीं, कोई शासन तब तक स्थायी नहीं हो सकता, जब तक वह अपने नागरिकों की मनोवृत्तियों, सामान्य भावनाओं तथा आदर्शों के साथ सामंजस्य न कर ले। प्रो० गार्नर ने उचित ही लिखा है कि स्थायी तथा लोकप्रिय शासन के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने कार्यो में प्रजा के मानसिक विचारों तथा नैतिक भावनाओं को प्रतिबिम्बित करे। संक्षेप में डॉ० लेबों (Le Bon) के कथनानुसार, "सरकार को एक प्रजाति की मानसिक प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए।"[1] श्री डाइस ने तो मनोविज्ञान को राजनीति की आधारशिला तक मान लिया है। सर्वश्री बर्नेज, मैकडूगल, वैलेस, मैकाइवर आदि विद्वानों ने भी सामाजिक तथा राजनैतिक घटनाओं का मनोवैज्ञानिक ढंग से वर्णन किया है। बात यह है कि राज्य के वही नियम सफल हो सकते हैं, जो जनता के मनोविज्ञान के अनुकूल होंगे, नहीं तो राज्य में विक्षोभ, विद्रोह या क्रान्ति का भय बना रहेगा।

इतना ही नहीं, प्रजातन्त्रीय शासन-व्यवस्था मे जनता तथा राज्य दोनो के लिये ही जनमत व प्रचार का बड़ा महत्व होता है, और इनके विषय में विशिष्ट ज्ञान हमें सामाजिक मनोविज्ञान से मिलता है। दृढ़ जनमत का निर्माण करके जनता शासन

का पलड़ा भी उलट सकती है। इसी प्रकार चुनाव के समय प्रचार का सहारा कौन नहीं लेता ? अतः स्पष्ट है कि व्यावहारिक क्षेत्र में भी राजनीतिशास्त्र को सामाजिक मनोविज्ञान से मदद लेनी पड़ती है।

इसी प्रकार सामाजिक मनोविज्ञान को भी अपने अध्ययन-कार्य में राजनीतिशास्त्र से मदद लेनी पड़ती है। राजनीतिशास्त्र उन राजनैतिक परिस्थितियों या कार्यकलापों से सामाजिक मनोविज्ञान को परिचित करवाता है जो व्यक्ति के सामाजिक व्यवहारों को प्रभावित कराते हैं। उदाहरणार्थ, राजनीतिशास्त्र सामाजिक मनोविज्ञान को उन अन्तर्देशीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक कारणों की जानकारी कराता है जिनके फलस्वरूप युद्ध या क्रान्ति होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामाजिक मनोविज्ञान तथा राजनीतिशास्त्र में पारस्परिक लेन-देन का एक निश्चित सम्बन्ध है।

परन्तु सम्बन्ध का अर्थ समानता नहीं है। इसीलिये इन दो विज्ञानों में कुछ मौलिक अन्तर भी है—(1) पहला अन्तर तो अध्ययन-विषय से सम्बन्धित है। राजनीतिशास्त्र राज्य या राजनैतिक समिति व संस्थाओं का विज्ञान है जबकि सामाजिक मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यवहारों का विज्ञान है। (2) दूसरा अन्तर दृष्टिकोण का है। राजनीतिशास्त्र भी व्यक्ति के क्रियाकलापों का अध्ययन करता है—एक राजनैतिक दृष्टिकोण से ही सही। इसका सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन के मुख्यतः राजनैतिक पक्ष से है। इसके विपरीत, सामाजिक मनोविज्ञान का दृष्टिकोण सामाजिक पृष्ठभूमि पर मनोवैज्ञानिक रहता है। (3) तीसरा अन्तर इन दो विज्ञानों की प्रकृति से सम्बन्धित है। आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान एक प्रत्यक्षात्मक (positive) विज्ञान है। यह व्यक्ति के व्यवहार के यथार्थ रूप से सम्बन्ध रखता है, आदर्श रूप से नहीं। परन्तु, राजनीतिशास्त्र एक आदर्शात्मक विज्ञान (normative science) भी है, और उस रूप में यह राजनीति की उन समस्याओं का समाधान भी करता है जिनमें आदर्शों अथवा मूल्यों का प्रश्न उठता है। इसीलिये श्री गैटेल (Gettel) ने लिखा है कि राजनीतिशास्त्र 'राज्य क्या था' का एक ऐतिहासिक अनुसंधान है, 'राज्य क्या है।' का एक विश्लेषणात्मक अध्ययन है, और 'राज्य कैसा होना चाहिए।' का एक राजनैतिक-आदर्शात्मक विवेचन है।[15] अतः स्पष्ट है कि सामाजिक मनोविज्ञान तथा राजनीतिशास्त्र के बीच आदान-प्रदान का सम्बन्ध होते हुए भी इनमें कुछ मौलिक असमानतायें भी हैं।

सामाजिक मनोविज्ञान की स्थिति
(Status of Social Psychology)

मानव-व्यवहार तथा समाज का अध्ययन केवल सामाजिक मनोविज्ञान ही नहीं, वरन् समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि अन्य अनेक विज्ञानों के द्वारा भी होता है, जिनमें कि नवीनतम विज्ञान सामाजिक मनोविज्ञान है। इसीलिये इस विज्ञान को अन्य सामाजिक विज्ञानों से अत्यधिक सहायता लेनी पड़ती है। अतः सामाजिक मनोविज्ञान की स्थिति के सम्बन्ध में लोगों के हृदय में सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि जो विज्ञान अन्य विज्ञानों पर इतना अधिक निर्भर है, उसका कोई अपना पृथक् अस्तित्व हो भी सकता है या नहीं ! इस सम्बन्ध में दो अलग-अलग मत प्रचलित हैं। वैसे दोनों ही गलत हैं। प्रथमतः कुछ विचारकों का मत है कि सामाजिक मनोविज्ञान समाजशास्त्र की एक शाखा मात्र है, क्योंकि सामाजिक मनोविज्ञान 'सामाजिक-अन्तःक्रियात्मक सम्बन्ध'

समाजशास्त्र का अध्ययन-विषय है) के फलस्वरूप उत्पन्न व्यक्ति के व्यवहारों का अध्ययन करता है। दूसरा मत यह है कि सामाजिक मनोविज्ञान सामान्य मनोविज्ञान के विस्तृत क्षेत्र की ही एक शाखा है। श्री हरबर्ट गुर्नी (Herbert Gurnee) इसी मत के समर्थक हैं। उनका कहना है कि सामाजिक मनोविज्ञान ने सामान्य मनोविज्ञान से बहुत कुछ ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ, सामान्य मनोविज्ञान सीखना, प्रेरणा, अनुकरण, प्रत्यक्षीकरण (perception), स्मृति (memory) आदि क्रियाओं का अध्ययन करता है, और इन विषयों का "मनोवैज्ञानिक ज्ञान ही 'सामाजिक मनोविज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों का मूलभूत आधार है। सामाजिक मनोविज्ञान की इन क्रियाओं और विषयों से सम्बन्धित सिद्धान्त भी वही है जो सामान्य मनोविज्ञान के।" अतः ये विद्वान् सामाजिक मनोविज्ञान को सामान्य मनोविज्ञान की एक शाखा मानते हैं। अन्य विज्ञानों की दुनिया में सामाजिक मनोविज्ञान की स्थिति के सम्बन्ध में एक तीसरा मत उपर्युक्त दोनों मतों के बीच का है। श्री स्प्रॉट (Sprott) ने लिखा है, "सामाजिक मनोविज्ञान की स्थिति सामान्य मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के बीच की स्थिति है" (Social psychology lies midway between general psychology and sociology)। सामान्य मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के साथ सामाजिक मनोविज्ञान के घनिष्ठ सम्बन्ध को देखकर कुछ विद्वान् इन विज्ञानों को एक दूसरे से अलग करने का प्रयत्न व्यर्थ मानते हैं। श्री क्लाइनबर्ग (Klineberg) ने बहुत कुछ इसी बात का समर्थन किया है, क्योंकि उनके अनुसार, "एक ओर सामाजिक मनोविज्ञान और सामान्य मनोविज्ञान के बीच तथा दूसरी ओर सामाजिक मनोविज्ञान व समाजशास्त्र या मानवशास्त्र के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं है।"[16]

परन्तु, इन सब कथनों से यही बात स्पष्ट होती है कि सामाजिक मनोविज्ञान का सामान्य मनोविज्ञान, समाजशास्त्र या मानवशास्त्र आदि विज्ञानों के साथ पारस्परिक आदान-प्रदानमूलक अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सामाजिक मनोविज्ञान का अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। सामाजिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत भी ऐसे विषयों का अध्ययन किया जाता है जो नवीन हैं एवं स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। पर, इस सम्बन्ध में यह सोचना भी गलत होगा कि सामाजिक मनोविज्ञान का अपना एक पृथक् अस्तित्व केवल इसलिये है कि वह कुछ नवीन विषयों या ऐसे विषयों का अध्ययन करता है जिनका अध्ययन दूसरे सामाजिक विज्ञानों द्वारा नहीं किया जाता है। "वस्तुतः बात यह है कि सामाजिक मनोविज्ञान अपने नाम के आगे 'सामाजिक' विशेषण इसलिये नहीं लगाता है कि वह सामान्य मनोविज्ञान से भिन्न कुछ नवीन तथ्यों का अध्ययन करता है, अपितु इसलिये लगाता है कि वह सामान्य मनोविज्ञान द्वारा निर्धारित तथ्यों को समाज के चौखटे में रखकर आंकता है।"

इतना ही नहीं, मानव-व्यवहार के अध्ययन के क्षेत्र में सामाजिक मनोविज्ञान की अपनी एक नवीन दृष्टि है, इसलिये भी इसका अपना एक पृथक् अस्तित्व है। वह दृष्टि है सामाजिक-मनोवैज्ञानिक (socio-psychological) दृष्टि। इसकी सुस्पष्ट स्वीकृति अन्य किसी सामाजिक विज्ञान के अध्ययन में देखने को नहीं मिलती है। मनोवैज्ञानिक आधारों को अस्वीकार न करते हुए भी समाजशास्त्र की दृष्टि मुख्यतः सामाजिक ही है। उसी प्रकार सामाजिक परिस्थितियों का महत्व स्वीकार करने पर भी सामान्य मनोविज्ञान की दृष्टि मौलिक रूप में मनोवैज्ञानिक ही है, अर्थशास्त्र की आर्थिक और राजनीतिशास्त्र की राजनैतिक।

जैसा कि प्रो० न्यूकॉम्ब (Newcomb) ने लिखा है, यह सच है कि वैयक्तिक मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री तथा सांस्कृतिक मानवशास्त्री की अनेक समस्याएँ वास्तव

में सामाजिक-मनोवैज्ञानिक (social-psychological) समस्यायें हैं। फिर भी ये दोनों विज्ञान (वैयक्तिक मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र व सांस्कृतिक मानवशास्त्र) इन समस्याओं का अपने-अपने दृष्टिकोण से अध्ययन करते हैं। इनमें से किसी के भी क्षेत्र में जीवरस (protoplasm) का 'मिलन' (meet) समाज से होता है, क्योंकि वैयक्तिक मनोविज्ञान संस्कृति के बारे में बहुत कम या कुछ भी नहीं कहता; दूसरी ओर समाजशास्त्र व सांस्कृतिक मानवशास्त्र मानव-आवयव (human organism) में जीवरस की क्रियाशीलता के सम्बन्ध में बहुत कम या कुछ भी नहीं कहता है। यह सामाजिक मनोविज्ञान ही है जो यह मिलन क्षेत्र (meeting ground) को प्रस्तुत करता है, अर्थात् सामाजिक-सांस्कृतिक और प्राणीशास्त्रीय-मनोवैज्ञानिक तथ्यों की अन्त:क्रियाओं का अध्ययन करता और व्यक्ति के व्यवहारों पर पड़ने वाले उनके परिणामों को बताता है। इस काम के लिये वह वैयक्तिक या सामान्य मनोविज्ञान और समाजशास्त्र या सांस्कृतिक मानवशास्त्र से तथ्यों को ग्रहण करता है और फिर इन्हीं के आधार पर अपने सिद्धान्तों को प्रतिपादित करता है।[17]

प्रो० न्यूकॉम्ब (Newcomb) ने आगे लिखा है कि इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सामाजिक मनोविज्ञान मानव-व्यवहार के अध्ययन में उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों को एक-दूसरे के अधिक निकट लाने मात्र का प्रयत्न करता है। साथ ही, इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि सामाजिक मनोविज्ञान दो 'विरोधी' (opposite) दृष्टिकोणों में समझौता कराने का प्रयत्न करता है, क्योंकि दोनों के ही सिद्धान्त (principles) अपने-अपने क्षेत्र में सुप्रतिष्ठित हैं, और उनके बीच विरोध या समझौते का कोई प्रश्न ही नहीं है। इन सबके विपरीत, सामाजिक मनोविज्ञान के सम्बन्ध में वास्तविकता यह है कि उसकी एक विशिष्ट विषय-सामग्री (subject matter) है, एक विशिष्ट दृष्टिकोण है और अपने कुछ सिद्धान्त हैं। **वह 'अपने पैरों पर खड़ा है,'** ठीक उसी अर्थ में जिस अर्थ में शारीरिक रसायनशास्त्र (biochemistry); यद्यपि पड़ोस के विज्ञानों का आभार इन पर (सामाजिक मनोविज्ञान पर) उतना है जितना कि प्राणीशास्त्र व रसायनशास्त्र का शारीरिक रसायनशास्त्र पर।[18]

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सामाजिक मनोविज्ञान का अपना एक पृथक अस्तित्व है। परन्तु, इस पृथक् अस्तित्व में तात्पर्य यह नहीं है कि यह अन्य सभी सामाजिक विज्ञानों से बिलकुल भिन्न है, या उनकी सहायता के बिना ही पनप सकता है। वस्तुतः किसी भी विज्ञान के सम्बन्ध में आज यह कल्पना नहीं की जा सकती, सामाजिक मनोविज्ञान के सम्बन्ध में भी नहीं। यह विज्ञान अन्य विज्ञानों से बहुत कुछ लेता भी है। इसका यह लेन-देन का सम्बन्ध एक ओर सामान्य या वैयक्तिक मनोविज्ञान से, और दूसरी ओर समाजशास्त्र और सांस्कृतिक मानवशास्त्र से अत्यधिक घनिष्ठ है। पर, चूंकि सामाजिक मानवशास्त्र मानव-व्यवहार से सम्बन्धित इन विज्ञानों के तथ्यों की सहायता लेते हुए अपने स्वयं के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करता है और इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति का व्यवहार न तो केवल सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों पर, और न ही केवल शारीरिक-मनोवैज्ञानिक आधारों पर निर्भर है, अपितु इनका समन्वित प्रभाव ही मानव-व्यवहार का वास्तविक आधार है। इस कारण यह आशा की जाती है कि **सामाजिक मनोविज्ञान मानव-व्यवहार के समन्वित विज्ञान को विकसित करने में काफी हद तक सहायक हो सकता है।**[19]

REFERENCES

1 "To define exactly the relations of the several special sciences is a task which can never be completely achieved so long as these sciences continue to grow and change."—*Dr. William McDougall.*

2 "Individual or General Psychology is a study of man's, mental life and behaviour. Its aim is to arrive at dependable generalizations, i.e. laws of the mental life and behaviour of man. Individual Psychology views man in the abstract ; the context of his social cultural life is not specifically kept in view, though in point of fact individual's membership of a group or groups does determine his perception, thought, beliefs, attitude and behaviour. In Individual Psychology man is considered just a sensitive organism who is active and reactive to the stimuli round him. In other words, General psychology is the study of generalized man."—*V.V. Akolkar*, "Social Psychology," (Asia Publishing House, Bombay, 1960) p. 13

3 "For these reasons the division between General Psychology and Social Psychology can never be absolute. It is only a matter of convenience, a division of labour. There cannot be two Psychologies."—*V.V. Akolkar, ibid.*, p. 15

4 S. Freud, "Group Psychology and the Analysis of the Ego," translated by James Strachey, (Hogarth, London, 1922), pp. 1-2

5 "The student of Social Psychology deals with phenomena which are more social and the student of General Psychology with those which are less social."—*Otto Klineberg*, "Social Psychology." (Henry Holt and Co., New York, 1957), p. 5

6 "Sociology is the systematic description and explanation of society viewed as a whole."—*Giddings*, "Introductive Sociology", p. 9

7 "Social Psychology recognizes the fact that for a satisfactory explanation of human nature and behaviour, we must take into account the structure, organization and culture of societies to which individuals belong."—*V.V. Akolkar*, op. cit., p. 18

8 "It would be fruitless to attempt to differentiate among social Psychologists and sociologists on the basis of the specific research they do or the nature of the data and generalizations they use in their thinking. They, together with economists, political scientists and anthropologists, are all social scientists. Krech and Crutchfield, "Theory and Problems of Social Psychology", (Mc-Graw Hill Book Co., New York, 1948), p. 25

9. "This separation is difficult, and it is easy to oversimplify it, but the student will not be far wrong if he observes that Psychology studies the individual, social Psychology the individual in his group, and sociology and groups themselves and the larger society that surrounds us all." Robert Bierstedt, "The Social Order", (Mc-Graw Hill Book Co, New York, 1957), p 9
10. Linton, The Study of Man, Appleton-Century, 1936, p 8
11. E.A. Hoebel, "Man in the Primitive World", (McGraw-Hill Book Co., New York, 1949), p 4
12. Beals and Hoijer, "An Introduction to Anthropology," (The Macmillan Co., New York, 1959), p. 9.
13. "The application of the Psychological clue to the riddles of human activity has indeed become the fashion of the day If our forefathers thought biologically, we think psychologically"—*E. Barker.*
14. "Government to be stable and really popular must reflect and express the mental ideas and moral sentiments of those who are subject to its authority. In short, it must be in harmony with what Le Bon calls mental constitution of a race"—*Garner.*
15. "It (Political Science) is a historical investigation of what the state has been, an analytical study of what the state is, a politico-ethical discussion of what the state should be"—*Gettel*
16. Herbet Gurnee, "Element of Social Psychology", (Farrer and Rinehert Ltd., New York, 1936), p. 10.
17. T.M. Newcomb, "Social Psychology" (Henry Holt and Co., New York, 1959), p. 27.
18. Ibid., p. 27.
19. "Social Psychology can help in building up integrated science of human behaviour." See J.H Curtis, "Social Psychology", McGraw-Hill Book Co, New York, 1960.

सामाजिक मनोविज्ञान की पद्धतियाँ
[METHODS OF SOCIAL PSYCHOLOGY]

"सत्य तक पहुँचने के लिए कोई संक्षिप्त पथ नहीं है। विश्व के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें वैज्ञानिक पद्धति के द्वार से ही गुजरना पड़ेगा।"
—Karl Pearson

सामाजिक मनोविज्ञान का उद्देश्य अन्य सभी ऐसे विज्ञानों की भाँति प्रयोग-सिद्ध और मौलिक प्रविधियों (techniques) का प्रतिपादन करना है, जिनकी सहायता से विश्वसनीय व प्रामाणिक 'ज्ञान' (knowledge) प्राप्त किया जा सके, और ऐसे ज्ञान के द्वारा सामाजिक घटनाओं (social phenomena) की यथार्थ व्याख्या, भविष्यवाणी और नियन्त्रण सम्भव हो सके। वास्तव में, 'ज्ञान' के संकलन के लिये प्रत्येक विज्ञान की अपनी अध्ययन-पद्धतियाँ होती हैं। ये पद्धतियाँ अनुसन्धान-कर्त्ता के प्रयत्नों को एक सही दिशा में चालित करती हैं और उसे प्रकृति या मानव-जीवन की वास्तविकताओं (realities) को समझने में सहायता देती हैं। परन्तु, उसका यह समझना, जानना या ज्ञान प्राप्त करना सदैव ही अपूर्ण रहता है, और वह इस अर्थ में कि कल जो 'सत्य' (truth) था, आज वह 'असत्य' हो सकता है, और आज जिसे हम सत्य मानते हैं, अगले दिन वह भी असत्य सिद्ध हो सकता है; एक समय था जब कि पृथ्वी को चौरस (flat) माना जाता था और वही उस समय 'वास्तविक' था। परन्तु, आज उसी वास्तविकता को अवास्तविक प्रमाणित करके पृथ्वी के आकार को प्रायः गोल माना जाता है। यही बात अन्य प्राकृतिक तथा सामाजिक घटनाओं के विषय में भी लागू होती है। इसी कारण आज के वैज्ञानिक एक महाप्रश्न के उत्तर को खोजने का यत्न करते हैं और वह यह कि—"इस समय हम जितनी चीजों को निःसन्देह ठीक-ठीक जानते हैं, उनमें से कितनी वास्तव में सत्य नहीं हैं?"[1] समस्त विज्ञान की उन्नति या उसका विकास भी इसी प्रश्न के उत्तर में निहित है। वैज्ञानिक जब इसी 'नहीं' का उत्तर ढूँढने का प्रयत्न करता है, तभी नयी खोज या नया आविष्कार सम्भव होता है, और उसी के साथ विज्ञान प्रगति के पथ पर एक पग और आगे बढ़ जाता है। इसीलिये श्री पास्चर (Pasteur) ने वैज्ञानिक अनुसन्धानकर्त्ताओं को सम्बोधित करते हुए सच ही कहा है, "जब लोग आप से यह कहें कि आप सही हैं, आप यह प्रमाणित करने का प्रयत्न कीजिए। मैं आपसे यह कहूँगा कि आप गलत हैं, यही प्रमाणित करने का आप प्रयत्न करें।"[2] इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी घटना को सही या गलत प्रमाणित करना वास्तविक तथ्यों (actual facts) पर निर्भर करता है, और यदि वे वास्तविक तथ्य यह प्रमाणित करते हैं कि अब तक जिसे हम सच मानते रहे हैं, वास्तव में वह गलत है, तो वैज्ञानिक की यह खोज भी उतनी ही महत्वपूर्ण होगी जितना कि घटना की सत्यता को प्रमाणित करना। यह तभी हो सकता है जब वैज्ञानिक अपने विषयों का अध्ययन करने के लिये वैज्ञानिक पद्धतियों को काम में लायें। पर विज्ञान की पद्धति क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में

हम कह सकते हैं कि जिन तरीकों से एक विज्ञान अपने अध्ययन-विषय से सम्बन्धित वास्तविक तथ्यों का संग्रह करता है, उनका वर्गीकरण करता है, और उससे सामान्य निष्कर्ष व वैज्ञानिक नियमों का प्रतिपादन करता है, उसे विज्ञान की पद्धति कहते हैं। संक्षेप में, एक विज्ञान के अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के वैज्ञानिक ढंग या विधि को ही वैज्ञानिक पद्धति कहते है।

सामाजिक मनोविज्ञान की पद्धतियाँ
(Methods of Social Psychology)

सामाजिक मनोविज्ञान एक सामाजिक विज्ञान है। इस कारण अन्य विज्ञानों की भाँति इसकी भी कुछ अध्ययन-पद्धतियाँ हैं। जब यह विज्ञान अपने शैशव-अवस्था में था, उस समय इसकी विधियाँ 'आत्मगत,' काल्पनिक, अक्रमबद्ध तथा अयथार्थ थी। इन विधियों द्वारा प्राप्त सामग्री, और उस सामग्री से निकाले गये निष्कर्ष अवैज्ञानिक और इस कारण अविश्वसनीय होते थे। उस समय के सर्वश्री सुकरात, प्लेटो, अरस्तू आदि दार्शनिक तथा समाजशास्त्री जिस तरीके से सामाजिक व्यवहारों का अध्ययन किया करते थे, उसे आरामकुर्सी वाली अटकलपच्चू-पद्धति या विप्रयोग-कल्पना-पद्धति (arm-chair speculation method) कहा गया है। इस पद्धति को इस नाम से पुकारने का कारण भी स्पष्ट है। उस समय के विद्वान् व्यक्ति के व्यवहारों का अध्ययन घर बैठे ही कर लिया करते थे। उनके अध्ययन में वास्तविक निरीक्षण व परीक्षण का स्पर्श मात्र भी नहीं होता था। वे तो कल्पना पर अधिक विश्वास करते थे, और इसीलिये आरामकुर्सी पर बैठे-बैठे ही व्यक्ति के सामाजिक व्यवहारों के सम्बन्ध में अटकलपच्चू निष्कर्षों पर पहुँचने में भी उन्हें देर नहीं लगती थी। आश्चर्य की बात तो यह है कि आरम्भिक मनोवैज्ञानिक सर्वश्री टार्ड (Tarde), लीबाँ (Le Bon), रॉस (Ross) और मैक्डूगल (McDougall) तक ने इसी पद्धति पर भरोसा किया। श्री टार्ड द्वारा प्रस्तुत अनुकरण का नियम (law of imitation), श्री लीबाँ का भीड़-मस्तिष्क (crowd mind) सम्बन्धी अध्ययन तथा डॉ० मैक्डूगल द्वारा प्रतिपादित मूलप्रवृत्ति का सिद्धान्त इसी विप्रयोगकल्पना-पद्धति की ही उपज थे।

पर शीघ्र यह अनुभव किया गया कि यदि सामाजिक मनोविज्ञान को एक विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करना है तो इस अटकलपच्चू-पद्धति का तिरस्कार तथा अन्य वैज्ञानिक पद्धतियों का आविष्कार परमावश्यक है, क्योंकि विप्रयोगकल्पना-पद्धति द्वारा हम जिन सैद्धान्तिक (theoretical) निष्कर्षों तक पहुँचते हैं, वे वास्तविक अथवा वैज्ञानिक नहीं भी हो सकते। इस कारण इस पद्धति पर अधिक भरोसा करना उचित नहीं है। सैद्धान्तिक निष्कर्षों को वास्तविक तथ्यों की कसौटी पर कस कर देखना चाहिए। इसी मान्यता के फलस्वरूप सामाजिक मनोविज्ञान में प्रयोगात्मक पद्धति (experimental method) का विकास हुआ, जिसका श्रेय श्री ब्रेड (Breid) को है। आपने वैज्ञानिक ढंग से सुझाव (suggestion) का प्रयोगात्मक अध्ययन किया। श्री डेनिस (Denis) का कथन है कि सामाजिक व्यवहार का उल्लेखनीय वैज्ञानिक अध्ययन सन् 1917 के लगभग येल (Yale), आयोवा (Iowa) तथा अन्य अमेरिकी बाल-विकास-अनुसंधान-संस्थानों (Child Development Research Institutes) में किया गया था। सन् 1935 के बाद इस बात के अध्ययन के लिये बहुत-सी संस्थाएँ खोली गयीं, जिनके द्वारा बालिगों के सामाजिक व्यवहार के अनेक अध्ययन किये गये।

इसी प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अनेक देशों में सामूहिक व्यवहार (group behaviour) का अध्ययन करने के लिये वैज्ञानिक पद्धतियों को काम में लाया गया। इन सबका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक मनोविज्ञान में भी कुछ यथार्थ पद्धतियों को उचित स्थान मिला। अपने अध्ययन-कार्य में यह विज्ञान आज जिन पद्धतियों का प्रयोग करता है, अब हम उन्हीं की विवेचना करेंगे।

डॉ० चौबे ने सामाजिक मनोविज्ञान की आधुनिक पद्धतियों को दो मोटे भागों में बाँटा है, और प्रत्येक भाग के अन्तर्गत उपविभागों का भी उल्लेख किया है। वे विभाग और उपविभाग इस प्रकार हैं—

1. निरीक्षण-पद्धति (Methods of Observation)
   - (क) अन्तर्दर्शन-पद्धति (*Introspection method*)
   - (ख) बहिर्दर्शन-पद्धति (Objective observation method)
   - (ग) प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental method)
2. विवरण-पद्धति (Methods of Experiment)
   - (अ) विकासात्मक पद्धति (Developmental or genetic method)
   - (ब) वैयक्तिक जीवन-अध्ययन-पद्धति (Case history method)
   - (स) तुलनात्मक पद्धति (Comparative method)
   - (द) मनोविश्लेषण-पद्धति (Psycho-analytic method)
   - (य) व्याधिकीय पद्धति (Pathological method)
   - (र) सांख्यिकीय पद्धति (Statistical method)
   - (ल) प्रक्षेपण-प्रविधियाँ (*Projective techniques*)

इन पद्धतियों का विस्तृत विवेचन आगे किया जा रहा है—

अन्तर्दर्शन-पद्धति
(Introspection Method)

अन्तर्दर्शन-पद्धति का प्रयोग सामान्य मनोविज्ञान में विशेष रूप से होता है। परन्तु सामाजिक मनोविज्ञान भी अपने कुछ विषयों का अध्ययन इसी पद्धति की सहायता से करते हैं। जब एक व्यक्ति अन्तर्दर्शन करता है, अर्थात् स्वयं 'अपने ही अन्दर देखता है' (looks within) और अपने वर्तमान तथा तात्कालिक (immediate) अनुभवों को बतलाता है तो उसे हम अन्तर्दर्शन-पद्धति कहते हैं। और भी स्पष्ट रूप में इस पद्धति के अनुसार व्यक्ति स्वयं अपनी मानसिक प्रक्रियाओं का निरीक्षण करता है, और प्रत्यक्ष रूप में आवश्यकताओं तथा माँगों के सम्बन्ध में अपने भावों (feelings) को व्यक्त करता है, और अपने लक्ष्यों, अपने उद्देश्यों तथा सफलता-विफलताओं के सम्बन्ध में अपने अनुभवों को बताता है। इसी प्रकार व्यक्ति अपनी मनोवृत्तियाँ (attitudes), आदतों तथा उनके निर्माण (habit and its formation), विश्वासों (beliefs), विचारों (ideas) आदि को भी सफलतापूर्वक अभिव्यक्त कर सकता है। उसकी इन अभिव्यक्तियों या कथनों के आधार पर ही मनोवैज्ञानिक कुछ निष्कर्ष निकालते हैं। इस पद्धति की मान्यता

यह है कि व्यक्ति के मन की बात, उसकी मनोवृत्ति, भावना, विचार, विश्वास, धारणाएँ आदि व्यक्तित्व के आन्तरिक तत्त्व या 'उसका अपना कुछ' (something his own) होता है, और इस कारण ऊपरी तौर पर उसके सम्बन्ध में जानना सम्भव नहीं हैं। इसीलिये उसके विषय में कुछ जानने के लिए मनोवैज्ञानिक को स्वयं व्यक्ति का ही सहारा लेना पड़ता है, जो अपने अन्दर प्रवेश करके अपने ही विषय में बताता है। उसके इस बताने से मनोवैज्ञानिक को अपने अध्ययन के लिये आवश्यक सामग्री मिल जाती है। इसीलिए केन और मचफील्ड ने लिखा है, "व्यक्ति के स्वय का तात्कालिक अनुभव — इस प्रकार उसके भावों, उद्वेगों, विचारों, प्रत्यक्ष ज्ञान—उसकी मनोवृत्तियों तथा मतों को श्रेणीबद्ध करने के लिऐ विशेष महत्वपूर्ण तथ्यो का स्रोत बन जाता है।"[3]

श्री स्टाउट ने इस पद्धति को तीन स्तरो में विभाजित किया है—(1) किसी बाह्य वस्तु के निरीक्षण के क्रम मे अपनी क्रियाओं पर चिन्तन, (2) स्वतन्त्र रूप से अपनी क्रियाओं के बारे में चिन्तन, जैसे, मैंने ऐसा क्यों किया ? आदि। इस प्रकार के प्रश्नों में व्यक्ति स्वय को भी भूल जाता है, और जो कुछ उसका दिल व दिमाग कहता है, वह सभी को व्यक्त करता है, (3) व्यक्ति कभी-कभी अपनी मानसिक शक्ति में वृद्धि या बौद्धिक उन्नति के लिए सोचना आरम्भ कर देता है। दूसरे, वह अपनी मानसिक क्रियाओं के स्वरूप मे परिवर्तन लाना चाहता है। श्री स्टाउट के अनुसार तीन सम्भावित अवस्थाएँ हैं जबकि व्यक्ति अन्तर्दर्शन करता है, और उस अन्तर्दर्शन के परिणामो को अभिव्यक्त करता है। ये परिणाम उसके आन्तरिक भावों, उद्वेगों, विचारों, विश्वासो, मतो तथा मनोवृत्तियो को स्पष्ट रूप मे परिभाषित करने में सहायक होते हैं। यह काम किसी भी बाहरी पद्धति द्वारा, बिना व्यक्ति की सहायता के, अनुसन्धानकर्त्ता के लिये करना सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए, यदि क व्यक्ति एक विशेष प्रकार के समूह की ओर एक विशिष्ट प्रकार की मनोवृत्ति प्रदर्शित करता है, तो उसे अन्तर्दर्शन करने को कह कर उसकी उस मनोवृत्ति की प्रकृति व कारण के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इसी प्रकार फैशन करने वालों को अन्तर्दर्शन करने को कह कर हम यह पता लगा सकते हैं कि वे फैशन क्यों करते हैं, अर्थात् फैशन के मनोविज्ञान को अन्तर्दर्शन द्वारा जाना जा सकता है।

अन्तर्दर्शन-पद्धति के लाभों (advantages, of introspecion method) का भी उल्लेख, इस सन्दर्भ में किया जा सकता है। प्रथम लाभ तो यह है कि जैसा कि हम पहले ही लिख चुके हैं, अन्तर्दर्शन-पद्धति के द्वारा हम व्यक्ति की मानसिक क्रियाओं—जैसे आशाओं, इच्छाओं, भावों, विचारों, विश्वासो, मतों आदि—का अध्ययन व विश्लेषण कर सकते हैं। यह सभी कुछ विशेष रूप से उसका अपना निजी है और इसके बारे में वह स्वय ही ठीक से बता सकता है। अन्य किसी उपाय से इन आन्तरिक इच्छाओं, भावों, विचारों आदि को जानना सरल नहीं है। दूसरे, अन्तर्दर्शन-पद्धति की सहायता से यह भी सम्भव होता है कि प्रयोगात्मक निरीक्षण द्वारा हमे जो सामग्री मिली है, उसकी परीक्षा हम फिर से कर लें। 'हमने जो कुछ देखा है' और 'व्यक्ति जो कुछ सोचता है', इन दोनों की तुलना से हमारे अध्ययन में अधिक यथार्थता आ सकती है। तीसरे, अन्तर्दर्शन-पद्धति वास्तव में आत्म-निरीक्षण (self-observation) है, और यदि व्यक्ति बिना किसी बाहरी या

कृत्रिम दबाव के स्वतन्त्रतापूर्वक आत्म-निरीक्षण करता और अपने मस्तिष्क की प्रतिक्रिया का विवरण, बिना किसी रोकटोक के, सत्यता से दे देता है तो वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालना सरल हो सकता है।

परन्तु अन्तर्दर्शन-पद्धति के कुछ दोष (demerits of introspection) भी हैं—(1) विद्वानों का मत है कि व्यक्ति अपनी मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन यथार्थ रूप से नहीं कर पाता है, विशेष कर उस अवस्था में जब वह लापरवाह या अज्ञानी होता है। (2) अन्तर्दर्शन-पद्धति अवैज्ञानिक भी है, और वह इस अर्थ में कि व्यक्ति अपनी मानसिक प्रक्रियाओं को व्यक्त करने में स्मृति (memory), पूर्वधारणा आदि का सहारा लेता है, और बहुधा अपने अनुभवों को कल्पना के रंग में रंगकर उसे रोचक बनाने का प्रयत्न करता है। इसीलिये एक ही क्रिया के सम्बन्ध में विभिन्न व्यक्ति अलग-अलग भाव व्यक्त करते हैं। (3) अक्सर अन्तर्दर्शनकर्त्ता का अचेतन मन तथ्यों को विकृत करने तथा अपने भावों को गलत ढंग से व्यक्त करने को उसे बाध्य करता है। अन्तर्दर्शनकर्त्ता स्वयं नहीं जानता कि उसकी अचेतन इच्छायें, कामनायें एवं प्रेरणायें वास्तव में क्या हैं? और, इस प्रकार वह केवल वही कहता है जो उसे तथ्य-प्रनीत होता है। (4) विद्वानों का कहना है कि यह पद्धति वैयक्तिक है। इस पद्धति की सहायता से केवल एक ही व्यक्ति की मानसिक प्रक्रियाओं का पता लगाया जा सकता है। और यह जरूरी नहीं है कि एक व्यक्ति के विषय में जो सच है, वह सब के विषय में भी सच हो। दूसरे शब्दों में, एक व्यक्ति से निकाले गये निष्कर्षों को सब पर लागू नहीं किया जा सकता। (5) यह पद्धति विश्वसनीय पद्धति नहीं है, क्योंकि इसमें व्यक्ति के द्वारा [illegible] गये मानसिक क्रियाओं के अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष निकाले [illegible] हैं, [illegible] कि मानसिक क्रिया अत्यधिक परिवर्तनशील होती है। परिवर्तनशील तथ्यों पर निश्चय ही अधिक भरोसा किया जा सकता है।

बहिर्दर्शन या निरीक्षण-पद्धति
(Observation Method)

जब तक मनोविज्ञान के अन्तर्गत भावों, मनोवृत्तियों आदि के अध्ययन पर बल दिया जाता रहा, तब तक अन्तर्दर्शन-पद्धति की ही प्रधानता रही। परन्तु, फिर धीरे-धीरे इस पद्धति के अनेक दोष स्पष्ट होने लगे, और यह आवश्यक हो गया कि केवल अन्तर्दर्शनकर्त्ता के कथना पर विश्वास न करके मनोवैज्ञानिक स्वयं भी बाहरी तौर पर तथ्यों का निरीक्षण करें। बहिर्दर्शन या निरीक्षण-पद्धति इसी अनुभूति का फल है। आज सभी भौतिक या प्राकृतिक व सामाजिक विज्ञानों में यह पद्धति एक मूलभूत पद्धति मानी जाती है। श्री गुड तथा श्री हाट (Goode and Hatt) का कथन है कि विज्ञान का आरम्भ निरीक्षण से होता है, तथा उसकी पुष्टि के लिये अन्त में निरीक्षण का ही सहारा लेना पड़ता।"[4] श्री मोजर (Moser) ने इसे वैज्ञानिक अनुसन्धान की 'शास्त्रीय पद्धति' (classical method) का नाम दिया है। निरीक्षण-पद्धति की परिभाषा करते हुए श्रीमती यंग (Young) ने लिखा है, 'निरीक्षण आँखों द्वारा विचारपूर्वक अध्ययन की एक प्रणाली है जिसका उपयोग सामूहिक व्यवहार तथा जटिल सामाजिक संस्थाओं के साथ ही सम्पूर्णता (totality) का निर्माण करने वाली पृथक् इकाइयों की सूक्ष्म परीक्षा करने की एक पद्धति के रूप में किया जा सकता है।"[5] इस प्रकार निरीक्षण-पद्धति की विशेषतायें निम्न हो सकती हैं—

(1) वैसे तो निरीक्षण मे आँखो, कानो तथा वाक्शक्ति, सभी का प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु विशेषकर आँखो का ही प्रयोग इस पद्धति मे होता है। मोजर (Moser) के शब्दो मे, "सच्चे अर्थ मे निरीक्षण मे कानो तथा वाणी की अपेक्षा नेत्रों का ही प्रयोग विशेष रूप से सम्मिलित है।" (2) निरीक्षण सदैव उद्देश्य-पूर्ण तथा सूक्ष्म होता है। जब हम अपने अध्ययन-विषय से सम्बन्धित तथ्यों को एकत्रित करने के उद्देश्य से सूक्ष्म रूप मे किसी चीज या घटना का अवलोकन करते हैं, तो हम निरीक्षण-पद्धति का प्रयोग कर रहे होते हैं। (3) निरीक्षण का उद्देश्य अध्ययन-विषय से सम्बन्धित तथ्यों का पारस्परिक सम्बन्ध तथा कार्य-कारण' का पता लगाना होता है, ताकि वैज्ञानिक निष्कर्षों तक पहुँचा जा सके। (4) इस पद्धति मे अनुसन्धान-कर्त्ता स्वयं क्षेत्र (field) मे जाकर अपनी आँखों से देखकर अध्ययन करता है, अर्थात् इस पद्धति मे दूसरे की आँखों पर विश्वास नही किया जाता। इसीलिये अनुसधान-कर्त्ता अपने अध्ययन-विषय का वास्तविक निरीक्षण सामाजिक परिस्थितियों के बीच रह कर करता है। वह उस विषय से सम्बन्धित तथ्यो का सग्रह करता है, उनका वर्गीकरण करता है, और सामान्य निष्कर्ष निकालता है। उदाहरण के लिये, यदि हमे यह मालूम करना है कि मुसलमानों मे विवाह के समय किन-किन रस्मो और रिवाजों को माना जाता है, तो हम वास्तविक रूप मे कुछ मुसलमानो के विवाह मे सम्मिलित होकर चीजों का प्रत्यक्ष रूप मे, अपनी आँखों से निरीक्षण करेंगे। यह निरीक्षण-पद्धति की सबसे प्रमुख विशेषता है।

निरीक्षण-पद्धति के प्रकार (Kinds of Observation Method)—निरीक्षण निम्न प्रकार के होते हैं—

1. सहभागी निरीक्षण (Participant Observation)—इस प्रकार के निरीक्षण मे अनुसंधानकर्त्ता, जिस समुदाय का उसे अध्ययन करना होता है, उस समुदाय मे जाकर उसके एक सदस्य के रूप मे वहाँ बस जाता है, और फिर वहाँ के लोगो के जीवन के साथ घुलमिल कर उनके विषय मे वास्तविक तथ्य को इकट्ठा करता है। इसीलिये श्री मेज (John A. Madge) ने लिखा है, "जब निरीक्षणकर्ता के हृदय की धड़कन समूह के अन्य व्यक्तियो की धडकनों से मिल जाती है तथा वह किसी दूरस्थ प्रयोगशाला से आये हुए तटस्थ प्रतिनिधि के समान नही रह जाता, तो समझना चाहिये कि उसने सहभागी निरीक्षणकर्त्ता कहलाने का अधिकार प्राप्त कर लिया है।" श्री मोजर (Moser) ने इस पद्धति को छोटे समूहों के अध्ययन के लिये विशेष रूप से उपयुक्त बताया है।

सहभागी निरीक्षण का सबसे बडा गुण यह है कि (अ) इसके द्वारा समुदाय के सदस्यो के वास्तविक व्यवहारो का सूक्ष्म अध्ययन करना सम्भव हो जाता है; (ब) साथ ही, निरीक्षणकर्त्ता समूह के जीवन मे जितना अधिक घुलमिल जाता है, उतना ही समूह के विभिन्न व्यवहारो, पारस्परिक सम्बन्धो तथा रिवाजो का सच्चा महत्व समझने की शक्ति प्राप्त करता है; (स) इसके द्वारा विषय का अध्ययन स्वाभाविक परिस्थितियों में होता है, और जिन व्यक्तियो के व्यवहारो का निरीक्षण किया जाता है, उनके व्यवहारो मे कृत्रिमता आ नही पाती।

पर, सहभागी निरीक्षण के कुछ उल्लेखनीय दोष भी हैं। जैसे (क) इसमें अनुसन्धानकर्त्ता को वैज्ञानिक तथा समूह के सदस्य के रूप मे दो अलग-अलग पार्ट अदा करने पड़ते हैं। ऐसे मे यदि उसमे विशेष वैयक्तिक कुशलता न होगी तो वह इन दोनों मे सन्तुलन स्थापित नहीं कर पायेगा, जिससे फलस्वरूप अध्ययन यथार्थ नही

हो पायेगा, (ख) कभी-कभी अनुसन्धानकर्त्ता समूह के जीवन में इतना अधिक घुल-मिल जाता है कि समूह के प्रति उसके अन्तर में 'दुर्बलताएँ' पनप जाती हैं जो वैज्ञानिक अध्ययन के पथ में रोड़ा बन जाती हैं; (ग) कई बार ऐसा भी होता है कि अनुसन्धानकर्त्ता समूह में एक महत्त्वपूर्ण स्थिति (status) को प्राप्त कर लेता है, जिसके बल पर वह समूह के साधारण या स्वाभाविक व्यवहार को परिवर्तित कर देता है, इससे भी यथार्थ व्यवहारों का ज्ञान नहीं हो पाता है; (घ) इस पद्धति का प्रयोग सीमित अथवा छोटे क्षेत्र में ही हो सकता है, और इसमें समय तथा धन भी अधिक लगता है।

2. **असहभागी निरीक्षण** (Non-participant Observation)—जब एक अनुसंधानकर्त्ता किसी समूह के जीवन में उसके एक सदस्य के रूप में वास्तविक तौर पर भाग न लेते हुए केवल वैज्ञानिक के रूप में समान, तटस्थ भाव से निरीक्षण करता है तो उसे असहभागी निरीक्षण कहते हैं। इसमें अनुसन्धानकर्त्ता उस समुदाय में जाकर बस तो नहीं जाता, पर समय-समय पर वहाँ जाकर वास्तविक निरीक्षण के द्वारा तथ्यों का संग्रह अवश्य करता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी सामाजिक मनोवैज्ञानिक को किसी स्कूल के बच्चों के व्यवहारों का अध्ययन करना है तो वह समय-समय पर उनकी कक्षाओं में जाकर या बाहर रह कर बच्चों द्वारा कक्षाओं के अन्दर व बाहर किये जाने वाले व्यवहारों का निरीक्षण करेगा, और उन्हें नोट कर लेगा। यह नहीं होगा कि अनुसन्धानकर्त्ता स्वयं बच्चों के साथ कक्षा में बैठकर पढ़ेगा या कक्षा से बाहर उनके साथ खेलने में या उनकी शरारतों में शामिल हो जायेगा।

इस प्रकार के निरीक्षण में समय, धन व शक्ति की बचत होती है और सहभागी निरीक्षण के अन्य दोषों को भी बचाया जा सकता है। फिर भी इसके द्वारा मानव-व्यवहार की गहराइयों तक पहुँचना बहुत कठिन होता है, क्योंकि समूह के वास्तविक जीवन से अलग रहने के कारण अनुसन्धानकर्त्ता को वास्तविक तथ्यों से वंचित रह जाना पड़ता है।

3. **अर्द्धसहभागी निरीक्षण** (Quasi-participant Observation)—आधुनिक समाज अत्यधिक बड़े आकार का तथा जटिल प्रकृति का होता है। इसके सदस्यों के व्यवहारों के अध्ययन में पूर्ण रूप से सहभागी निरीक्षण-पद्धति को (समुदाय के बड़े आकार व जटिलताओं के कारण) उपयोग में नहीं लाया जा सकता है। दूसरी ओर असहभागी निरीक्षण से भी विशेष सफलता मिलने की आशा नहीं हो सकती। अतः विद्वानों ने इन दोनों के बीच का मार्ग अपनाने का सुझाव दिया है। यही अर्द्ध-सहभागी निरीक्षण है, जिसमें अनुसन्धानकर्त्ता समुदाय की कुछ साधारण क्रियाओं में तो सहभागी बन जाता है, पर अन्य सभी का केवल एक वैज्ञानिक के समान, तटस्थ भाव से निरीक्षण करता है। यदि उचित रीति से पालन किया जाय तो इस प्रणाली में सहभागी और असहभागी, दोनों ही प्रणालियों के लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

4. **अनियंत्रित निरीक्षण** (Non-controlled Observation)—सामाजिक व्यवहारों का अध्ययन नियन्त्रित निरीक्षण तथा अनियंत्रित निरीक्षण द्वारा भी किया जा सकता है। जब हम किसी घटना या व्यवहार का, किसी भी प्रकार का कृत्रिम या बाहरी प्रतिरोध न लगाते हुए, उसके स्वाभाविक रूप में तथा स्वाभाविक परिस्थिति में निरीक्षण करते हैं तो उसे अनियंत्रित निरीक्षण कहते हैं। वास्तव में सहभागी, असहभागी तथा अर्द्धसहभागी निरीक्षण अनियंत्रित निरीक्षण-पद्धति के ही तीन उपभाग हैं। इसमें घटना या व्यवहार को उसके स्वाभाविक प्रवाह में बहने दिया जाता

प्रयोगात्मक पद्धति
(Experimental Method)

सामाजिक मनोविज्ञान के अध्ययन मे इस पद्धति का अत्यधिक महत्व है। श्री ग्रीन उड (Green Wood) के मतानुसार, "प्रयोग उपकल्पना (hypothesis) का प्रमाण होता है, जिसके द्वारा दो तथ्यों के बीच कार्य-कारण-सबंध ज्ञात करने के लिए ऐसी विपरीत स्थितियों का अध्ययन किया जाता है, जिनमें एक को छोड़कर अन्य सभी तथ्य नियंत्रित रहते हैं। साथ ही वह तथ्य या तो अनुमानित कारण होता है अथवा प्रभाव-कारण।" श्री फेस्टिंगर (Festinger) के मतानुसार, प्रयोगात्मक विधि का मूल तत्व यह है कि नियंत्रित दशाओ मे स्वतन्त्र चल (independent variable) मे परिवर्तन करके उसका प्रभाव आश्रित चल (dependent variable) पर देखा जाये।

उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर हम प्रयोगात्मक विधि को इस प्रकार समझा सकते हैं—प्रत्येक घटना के दो अग होते हैं—'कार्य' और 'कारण'। बिना 'कारण' के कोई 'कार्य' नही होता है, अर्थात् कार्य सदैव 'कारण' पर निर्भर या आश्रित होता है। प्रयोगात्मक विधि मे 'कार्य' को इसीलिये आश्रित चल (dependent variable) और 'कारण' को स्वतन्त्र चल (independent variable) कहते हैं। साथ ही, एक ही कार्य के अनेक कारण हो सकते हैं। प्रयोगात्मक पद्धति मे इन अनेक कारणो मे से एक समय मे एक कारण को, अध्ययन के उद्देश्य या उपकल्पना (hypothesis) के अनुसार, चुन लिया जाता है, और यह मान लिया जाता है कि वही 'कार्य' का कारण' है। अन्य कारणो पर यह मान कर नियंत्रण रखा जाता है या उन्हे दूर हटा दिया जाता है कि वे स्थायी कारक (constant factors) हैं, और उनका कोई भी प्रभाव फिलहाल (for the time being) 'कार्य' पर, अर्थात् आश्रित चल (dependent variable) पर नही पड रहा, अर्थात् सारा प्रभाव उस चुने हुए कारण या स्वतन्त्र चल (independent variable) का ही है। इस कारण कार्य पर 'कारण' के प्रभाव को मालूम करने के लिए इस 'कारण' मे ही केवल परिवर्तन किया जाता है, जब कि दूसरे कारको को स्थिर (constant) रखा जाता है। इस प्रकार प्रयोगात्मक पद्धति के अन्तर्गत एक 'कार्य' (अर्थात् आश्रित चल) के अन्य कारकों (अर्थात् स्थायी कारकों) को स्थिर रखते हुए केवल एक 'कारण' (अर्थात् स्वतन्त्र चल) मे परिवर्तन किया जाता है और फिर उस एक कारण का क्या प्रभाव कार्य पर पडता है, इसका अध्ययन किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी अध्ययन-विशेष की निर्धारित उपकल्पना (hypothesis) के अनुसार आत्महत्या ('कार्य') पर परिवार ('कारण') के प्रभाव को जानने के लिए प्रयोग करना है तो आत्महत्या को प्रभावित करने वाले रोमान्टिक प्रेम, आर्थिक विफलतायें आदि अन्य कारक ('स्थायी कारक') स्थिर रहने चाहिये, केवल परिवार (अर्थात् 'कारण' या स्वतन्त्र चल) मे परिवर्तन किया जाना चाहिए, और फिर आत्महत्या (अर्थात् 'कार्य' या आश्रित चल) पर उसके प्रभाव का पता लगाना चाहिए।

प्रयोगात्मक पद्धति के अपने कुछ दोष भी हैं, यद्यपि व्यक्ति की रुचि, ध्यान, स्मृति, तर्क तथा अन्य मानसिक विलक्षणताओं को समझने के लिये मनोवैज्ञानिक अध्ययन-क्षेत्र मे इस प्रकार के प्रयोग सफलतापूर्वक किये जा रहे हैं। इस पद्धति का पहला दोष यह है कि इसमे किसी 'कार्य' विशेष को या कारण को ही महत्ता प्रदान

की जाती है, जबकि अन्य कारकों को स्थिर मान लिया जाता है। इस प्रकार का निष्कर्ष उस कार्य की पूर्ण व्याख्या नहीं कर पाता, क्योंकि ऊपर के उदाहरण में आत्महत्या की पूर्ण व्याख्या केवल परिवार के सन्दर्भ में ही नहीं की जा सकती। दूसरा दोष यह है कि जब व्यक्तियों को यह पता चल जाता है कि उनके व्यवहारों को जानने के लिये उन पर प्रयोग किया जा रहा है तो वे स्वाभाविक ढंग से व्यवहार नहीं करते। फलस्वरूप अध्ययन का निष्कर्ष यथार्थ नहीं होता। तीसरे, प्रयोगात्मक पद्धति में प्राय: कृत्रिम वातावरण उपस्थित करने की आवश्यकता होती है। सामाजिक जीवन से सम्बन्धित कृत्रिम वातावरण उपस्थित करना अत्यन्त कठिन कार्य होता है। अन्त में, कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी हैं जिनको कृत्रिम रूप में प्रस्तुत किया ही नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ, यदि हमें युद्ध या औद्योगिक हड़तालों का अध्ययन करना है तो हम अपनी प्रयोगशाला में इनका कृत्रिम रूप उपस्थित नहीं कर सकते है।

फिर भी इस पद्धति के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। श्री मोडे ने इस पद्धति द्वारा प्रतिस्पर्द्धा (competition) तथा पारितोषिक (reward) के प्रभाव का अध्ययन किया है। श्री ऑलपोर्ट (Allport) ने भी दूसरे व्यक्ति की उपस्थिति का क्या प्रभाव एक व्यक्ति की क्रियाओं पर पड़ता है, इसका अध्ययन इस पद्धति की सहायता से ही किया है। इसके महत्व को स्पष्ट करते हुए श्री मिलर (Miller) ने कहा है, "प्रयोगात्मक अनुसन्धानों के द्वारा हम लोगों को सामाजिक नियन्त्रण की प्रविधियों के विषय में कुछ और ज्ञान प्राप्त हुए हैं। साम्प्रदायिक आतंक (group panic), प्रजातन्त्रीय, राजतन्त्रीय तथा स्वतन्त्र नेतृत्व साम्प्रदायिक नैराश्य (group frustration), मतदान आदि में पक्षपात की क्रियाशीलता इत्यादि विषयों पर प्रयोगशाला में किये गये आधुनिक प्रयोगों द्वारा हमारे सामाजिक मनोविज्ञान के ज्ञान में जो वृद्धि हुई है, उसमें यह विश्वास हो जाता है कि इसी प्रकार का प्रयत्न सामूहिक व्यवहार के एक क्रमबद्ध सामाजिक मनोविज्ञान के विकास के सम्बन्ध में भी होगा।"

तुलनात्मक पद्धति

(Comparative Method)

सामाजिक मनोविज्ञान में तुलनात्मक पद्धति का भी प्रयोग किया जाता है, क्योंकि इस पद्धति के आधार पर मानव के समस्त व्यवहारों की सामान्य विशेषताओं का पता चल सकता है। जो सामाजिक मनोवैज्ञानिक इस पद्धति को काम में लाते हैं, वे सर्वप्रथम विभिन्न समूहों, समुदायों तथा समाज के सदस्यों के विभिन्न ऐतिहासिक कालों में व्यवहारों का अलग अलग अध्ययन करते हैं, उनकी उत्पत्ति के कारणों का पता लगाते हैं तथा उनके विकास या विनाश के आधारों को ढूँढ निकालते हैं। फिर, उनमें जो सामान्य चीजें होती हैं, उन्हें तुलनात्मक आधार पर छाँट लेते हैं, और उनके आधार पर सामान्य निष्कर्ष निकालते हैं, जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं। श्री शेरिफ एवं श्रीमती शेरिफ (Sherif and Sherif) ने इस पद्धति के विषय में लिखा है कि तुलनात्मक पद्धति के अन्तर्गत व्यक्ति के व्यवहार के सम्बन्ध में विभिन्न संस्कृतियों में, एक ही संस्कृति के अन्दर पाये जाने वाले विभिन्न समूहों में, तथा एक ही समाज के विभिन्न ऐतिहासिक युगों में निकाली गई खोजों (findings) की तुलना की जाती है, और तब कहीं कोई अन्तिम निष्कर्ष निकाला

जाता है। इसका कारण यह है कि एक ही सांस्कृतिक, सामूहिक, या ऐतिहासिक युग की पृष्ठभूमि में किये गये मानव-व्यवहार का अध्ययन तब तक यथार्थ नहीं हो सकता जब तक कि तुलनात्मक दृष्टिकोण अपनाया न जाय।

इस पद्धति के अन्तर्गत पशुओं के व्यवहार की तुलना सामाजिक मनुष्य के व्यवहार से की जाती है। इसके लिये पशुओं तथा मनुष्यों में समान रूप से पाई जाने वाली काम, क्रोध, वात्सल्य, भय आदि की प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में सभी कुछ, विशेष रूप से, देखा-समझा जाता है। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन से यह पता लगाया जाता है कि इन प्रवृत्तियों के विषय में सामाजिक मनुष्य (जो कि संस्कृति, जैसे प्रथा, परम्परा, नियम, कानून, धर्म, भाषा, शिक्षा आदि का अधिकारी है) पशु से किन अर्थों में पृथक् है, और समाज व संस्कृति का वास्तविक प्रभाव उन प्रवृत्तियों पर क्या पड़ता है।

इस पद्धति के एक अन्य रूप का उल्लेख डॉ० दूबे ने किया है। उनके अनुसार "कभी-कभी विषयी (व्यक्ति) का अध्ययन जब किन्हीं पद्धतियों से असम्भव हो जाता है तो उसके व्यवहार की किसी अन्य व्यक्ति के व्यवहार से तुलना की जाती है। इस प्रकार की तुलना में समानता और भेद पर विशेष ध्यान दिया जाता है। फिर, इसी समानता और भेद के बीच एक मापदण्ड निश्चित किया जाता है, और इस मापदण्ड के आधार पर यह ज्ञात किया जाता है कि व्यक्ति सामान्य व्यवहार से कितनी दूर है।"

यदि विभिन्न व्यक्तियों से सम्बन्धित तथ्यों को सावधानी से एकत्रित किया जाय, उन्हें उचित ढंग से प्रस्तुत किया जाय तथा उनमें पायी जाने वाली समानताओं और भिन्नताओं, दोनों को ही वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषित किया जाय, तो व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार में सामान्य नियमों को ढूंढा जा सकता है। परन्तु, इसके लिये यह परमावश्यक है कि विषयों का चुनाव और उनकी तुलना वैज्ञानिक ढंग से की जाय, और अपने निजी अभिमत तथा पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण (bias) को दृढ़ता से दूर रखा जाय।

सामाजिक मनोविज्ञान की अन्य पद्धतियाँ
(Other Methods of Social Psychology)

उपर्युक्त चार पद्धतियों के अतिरिक्त सामाजिक मनोविज्ञान-जिन पद्धतियों या प्रविधियों (techniques) का प्रयोग अपने अध्ययन-क्रम में करता है, वे निम्नलिखित हैं—

(1) **विकासात्मक पद्धति** (Developmental or Genetic Method)—श्री डार्विन (Darwin) के आविष्कार के पश्चात् यह विश्वास विद्वानों में दृढ़ होता गया कि व्यक्ति के केवल सावयव (organism) या शरीर का ही विकास नहीं होता, अपितु वंशानुसंक्रमण (heredity) के फलस्वरूप व्यक्ति में जो सम्भावनायें' (potentialities), अर्थात् शारीरिक व मानसिक गुण होते हैं, उनका भी विकास पीढ़ी-दर-पीढ़ी से गुजरता हुआ कई निश्चित स्तरों को पार करता है। विकासात्मक पद्धति में इन्हीं स्तरों (stages) का अध्ययन किया जाता है, ताकि व्यक्ति के मानसिक गुण, विलक्षणता अथवा किसी स्वभाव विशेष की क्रमिक प्रश्नावलियों तथा प्रयोगशाला की अनेक विधियों का सहारा लेना पड़ता है।

(2) वैयक्तिक जीवन-अध्ययन-पद्धति (Case-Study Method)—श्रीमती यंग (Young) के अनुसार, "वैयक्तिक जीवन-अध्ययन एक सामाजिक इकाई—चाहे वह एक व्यक्ति, परिवार, संस्था, सांस्कृतिक समूह अथवा सम्पूर्ण समुदाय हो—के जीवन का अनुसन्धान व विश्लेषण करने की एक पद्धति को कहते हैं। इसका उद्देश्य उन कारकों (factors) को निश्चित करना होता है जो इकाई के जटिल व्यवहार-प्रतिमानों (complex behaviour patterns) तथा उस इकाई-पर्यावरण से सम्बन्धों को स्पष्ट करते हैं।"[8]

इस अध्ययन-पद्धति के अन्तर्गत एक अनुसंधानकर्ता अपने सहानुभूतिपूर्ण प्रश्नों द्वारा एक विशेष व्यक्ति के जीवन के बारे में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करता है जिससे कि उसे पता चल जाय कि व्यक्ति के जीवन पर कौन-कौन-सी सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव प्रमुख रहा है और उन परिस्थितियों का उसके व्यवहारों पर क्या प्रभाव पड़ा है। इस पद्धति की सफलता अनुसंधानकर्ता की कुशलता, बुद्धिमत्ता तथा लोगों को प्रभावित करके उनसे खबरें मालूम करने की क्षमता पर निर्भर करती है। एक उदाहरण के द्वारा इस पद्धति को और भी स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। मान लीजिये, हमें इस पद्धति के द्वारा आत्म-हत्या-सम्बन्धी मानव-व्यवहार का अध्ययन करना है तो इसके लिये हम कुछ ऐसे लोगों को चुन लेंगे जिन्होंने आत्महत्या करने का प्रयत्न किया है; पर, किसी कारणवश अपने उस प्रयत्न में सफल नहीं हुए। इन चुने हुए व्यक्तियों से हम समय-समय पर अलग-अलग मिलेंगे और उनमें से प्रत्येक के दिल में यह विश्वास जमा देंगे कि जो कुछ भी बताया जायेगा, उसका किसी भी रूप में हम दुरुपयोग नहीं करेंगे और उसका प्रयोग केवल उसके आत्महत्या-सम्बन्धी व्यवहार के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिये ही किया जायेगा। इस प्रकार एक व्यक्ति को कुछ कहने के लिये प्रस्तुत करके हम चतुर और सहानुभूतिपूर्ण प्रश्नों और बातचीत के द्वारा उसके सम्पूर्ण जीवन, परिस्थितियों व उसके व्यवहार को प्रभावित करने वाले तथ्यों को जानने का प्रयत्न करेंगे। इस सम्बन्ध में जिन लोगों ने आत्महत्या कर ली है, उनके व्यक्तिगत लेखों, पत्रों, डायरियों, आत्मकथाओं आदि की भी सहायता हम ले सकते हैं। अन्त में, इस प्रकार एकत्रित तथ्यों को उचित ढंग से व्यवस्थित व विश्लेषित करके आत्महत्या-सम्बन्धी मानव-व्यवहार को समझा तथा उसके कारणों का पता लगाया जा सकता है।

कुछ विद्वान् इस पद्धति के पक्ष में अपना मत देते हैं तो कुछ इसे बिलकुल ही निरर्थक बतलाते हैं। श्री कूले (Cooley) का कथन है कि यह पद्धति हमारी बोध-शक्ति को बढ़ाती है और मानव-व्यवहार के सम्बन्ध में हमारी धारणा को अधिक स्पष्ट करती है। श्री पार्क (Park) ने तो इस पद्धति की प्रविधि (technique) को बिलकुल ही प्राकृतिक और भौतिक विज्ञानों की पद्धति के समान माना है। इसके विपरीत श्री रीडवेन (Readven) ने इस पद्धति की कटु आलोचना की है। उनका कहना है कि इस पद्धति से कोई भी वैज्ञानिक निष्कर्ष नहीं निकल सकता, क्योंकि कोई व्यक्ति अपने जीवन के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहता है, वह प्रायः बढ़ा-चढ़ाकर ही कहता है। इतना ही नहीं, अनुसन्धानकर्त्ता स्वयं भी प्रायः उस व्यक्ति से इस प्रकार का प्रश्न करते हैं, और उस प्रश्न के उत्तर में उसकी इस प्रकार सहायता करते हैं कि वह व्यक्ति ठीक वही कहता है जो अनुसन्धानकर्त्ता सुनना चाहते हैं।

3. मनोविश्लेषण-पद्धति (Psycho-analytic Mehod)—इस पद्धति के प्रतिपादक श्री फ्रॉयड (Freud) हैं। आप के मतानुसार मन का 7/8 भाग अचेतनावस्था में रहता है, और केवल 1/8 भाग चेतनावस्था में रहता है। इसी प्रकार मनुष्य में कुछ प्रवृत्तियाँ जन्मजात होती हैं और ये प्रवृत्तियाँ व्यक्ति को एक निश्चित ढंग से व्यवहार करने या कतिपय जन्मजात इच्छाओं को एक निश्चित ढंग से पूरा करने को प्रेरित करती हैं। परन्तु, हो सकता है कि यह निश्चित ढंग समाज के नियम, कानून, परम्परा, आदर्श आदि द्वारा मान्य ढंग के विपरीत हो। उस अवस्था में सामाजिक नियमों और जन्मजात प्रवृत्तियों के बीच विरोध होता है और अधिकांशतः सामाजिक नियमों की ही विजय होती है। अतः व्यक्ति को अपनी जन्मजात प्रवृत्तियों को दबा देना और सामाजिक नियमों के अनुसार काम करना पड़ता है। इसके परिणाम-स्वरूप व्यक्ति के मन में एक प्रकार की निराशा छा जाती है। यह निराशा अचेतन मन में चली जाती है और वहाँ वास करने लगती है। पर, कभी-कभी यही निराशा अचेतन मन से निकलकर चेतन मन पर भी छा जाती है। तभी व्यक्ति विचित्र व्यवहार करने लगता है। इसी की चरम स्थिति है स्नायविक या पागल हो जाना। वैसे तो प्रबल अचेतन मन प्रत्येक व्यक्ति में ही होता है, फिर भी यदि व्यक्ति का मानसिक विकास स्वस्थ ढंग से हुआ है तो अचेतन मन की शक्ति क्षीण हो जाती है और व्यक्ति सामान्य सामाजिक प्राणी के रूप में स्वाभाविक व्यवहार करता है। पर, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसा भी कोई व्यक्ति हो सकता है जिसके व्यवहार पर अचेतन मन का प्रभाव बिलकुल ही न हो। इसका प्रभाव तो किसी न किसी रूप में अवश्य ही रहता है। यही कारण है कि कभी-कभी व्यक्ति कुछ का कुछ कह जाता है और कुछ का कुछ कर जाता है। व्यक्ति के इन्हीं व्यवहारों का विश्लेषण करने और उन व्यवहारों में अन्तर्निहित मनोवैज्ञानिक कारणों को ढूँढ निकालने के लिये श्री फ्रॉयड ने मनोविश्लेषण-पद्धति को प्रतिपादित किया था।

ऐसा भी देखा गया है कि व्यक्ति की जन्मजात दबी हुई इच्छायें अचेतन मन में सक्रिय रहती हैं, और उनकी सन्तुष्टि स्वप्नों में, विशेष शब्दों के प्रयोग द्वारा होती है। कभी-कभी ऐसी इच्छाओं और प्रवृत्तियों से वशीभूत होकर व्यक्ति असामाजिक कार्य तथा असंतुलित व्यवहार कर बैठता है। मनोविश्लेषक इन व्यवहारों के कारणों का पता स्वप्न (dream), शब्द-साहचर्य (word association), स्वतन्त्र साहचर्य (free association), सम्मोहन (hypnotism) आदि प्रविधियों की सहायता से मनोविश्लेषण द्वारा लगाते हैं।

संक्षेप में, मनोविश्लेषण-पद्धति द्वारा मनोव्याधियों से पीड़ित व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचारों, उद्वेगों, स्वप्नों आदि की अभिव्यक्ति करता जाता है, जिन्हें कि मनोविश्लेषक नोट करते जाते हैं और फिर मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों के अनुसार उन मनोभावों और मानसिक संवेदनाओं का अर्थ निकालते हैं।

4. सांख्यिकीय पद्धति (Statistical Method)—आधुनिक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक इस पद्धति का प्रयोग बहुत अधिक करते हैं, क्योंकि इससे सम्पूर्ण अध्ययन बहुत ही यथार्थ तथा स्पष्ट हो जाता है। व्यक्ति के व्यवहार से सम्बन्धित ऐसी अनेक घटनायें (phenomena) हैं, जिनको अंकों में व्यक्त किया जा सकता है और उनसे वैज्ञानिक निष्कर्ष भी सरलता से निकाले जा सकते हैं। इसीलिये इस पद्धति का प्रयोग आजकल प्रायः सभी ऐसे अध्ययनों में किया जाता है, जिनमें कि उस विषय से सम्ब-

निश्चित तथ्यों को संख्या में व्यक्त किया जा सके। संख्या में व्यक्त किये जाने वाले तथ्यों का संग्रह, उनका वर्गीकरण तथा उनसे सामान्य निष्कर्ष और वैज्ञानिक नियम निकालने की विधि को ही सांख्यिकीय पद्धति कहते हैं। सामाजिक मनोवैज्ञानिक अध्ययनों में इस पद्धति का महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है, क्योंकि नियन्त्रित निरीक्षण द्वारा प्राप्त परिमाणात्मक (quantitative) तथ्यों के विश्लेषण और व्याख्या के लिये ही नहीं, अपितु सामाजिक मनोविज्ञान की अन्य पद्धतियों द्वारा एकत्रित तथ्यों के झुकाव व पारस्परिक सम्बन्धों को समझने के लिये भी सांख्यिकीय पद्धति उपयोगी सिद्ध हुई है। वास्तव में सामाजिक मनोविज्ञान आज जिस वैज्ञानिक स्थिति पर प्रतिष्ठित है, उसका बहुत कुछ श्रेय इस पद्धति को ही है।

5. प्रक्षेपन-प्रविधियाँ (Projective Techniques)—सामाजिक मनोवैज्ञानिक व्यक्ति के भावों, मनोवृत्तियों आदि को समझने के लिये प्रक्षेपण-प्रविधियों को विशेष रूप से काम में लाते हैं। इन प्रविधियों में (अ) थीमैटिक अपरसेप्शन टेस्ट (Thematic Apperception Test), (ब) चिल्ड्रेन अपरसेप्शन टेस्ट (Children Apperception Test) तथा (स) रोर्शा टेस्ट (Rorschach Test) उल्लेखनीय हैं। पहली प्रविधि में कुछ चित्रों से सहायता ली जाती है। उन चित्रों में से एक को लेकर व्यक्ति को एक कहानी की रचना करनी होती है। इस कहानी से व्यक्ति की मनोवृत्तियों तथा मानसिक उलझनों का पता मनोवैज्ञानिक लगा लेते हैं। दूसरी प्रविधि पहले की ही भाँति होती है, पर इसका प्रयोग केवल बच्चों के लिये ही किया जाता है। इसलिये बच्चों की कल्पना को प्रेरित करने के लिये उनके ही उपयुक्त चित्रों तथा अन्य साधनों का प्रयोग किया जाता है। तीसरी प्रविधि में चित्र के स्थान पर कई अनियमित रेखाओं वाले, स्याही या किसी रंग के धब्बे वाले दस अलग-अलग कार्ड होते हैं जिनमें से प्रत्येक को देख-देखकर व्यक्ति अपने मन के भावों को व्यक्त करता है और मनोवैज्ञानिक उनका विश्लेषण करके व्यक्तित्व के एकाधिक लक्षणों (traits) का पता लगा लेते हैं।

निष्कर्ष
(Conclusion)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामाजिक मनोविज्ञान की पद्धतियों के दोष और गुण दोनों ही हैं। परन्तु, अगर उन्हें एक योग्य अन्वेषक सही अर्थ में, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रयुक्त करे तो निश्चय ही वह वैज्ञानिक नियमों का प्रतिपादन कर सकता है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि कौन-सी पद्धति सबसे अच्छी है? इसके उत्तर में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि सामाजिक मनोविज्ञान सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों में मानव के व्यवहार का विज्ञान है, और यह व्यवहार अनेक रूप में तथा विभिन्न दशाओं और परिस्थितियों में प्रकट होता है। इस कारण उनका किसी एक पद्धति की सहायता से अध्ययन करना न तो उचित होगा और न वह किया ही जा सकता है।

REFERENCES

1. "How many of the things we now know for sure, arn't really true." This probably paraphrased statement has been informally credited to the late Charles F. Kettering, world famous inventor

2. "They will tell you to try to prove you are right; I tell you to try to prove you are wrong."—*Pasteur.*
3. "The immediate experience of the individual himself—his feelings, emotions, thoughts, perceptions—provides a unique and especially important source of data for the rating of attitudes and opinion."—*Krech and Crutchfield*, "Theory and Problems of Social Psychology," (McGraw Hill Book Co., New York 1948), p. 242.
4. "Science begins with observation and must ultimately return to observation for its final validation."—*W.J. Goode and P.Q. Hatt*, "Methods in Social Research," 1954, p. 199.
5. "Observation—a deliberate study through the eye—may be used as one of the methods for scrutinizing collective behaviour and complex social institutions as well as the separate units composing a totality."—*P.V. Young*, "Scientific Social Surveys and Research," (Asia Publishing House, Bombay 1960), p. 154.
6. "The data are so real and vivid and therefore our feelings about them are so strong that we sometimes tend to mistake the strength of our emotions for extensiveness of knowledge."—*Jessie Bernard*, "Fields and Methods of Sociology" (Farrar and Rinehart, New York, 1934), pp. 273-74.
7. "Life situations which can be adequately studied under controlled and artificial conditions are relatively few. Often we have to observe while 'the observing is good' and in the exact social and cultural setting in which the situations occurred."—*P.V. Young*, op. cit., p. 157.
8. "Case study is a method of exploring and analyzing the life of a social unit—be that unit a person, a family, institution, culture group, or even an entire community. Its aim is to determine the factors that account for the complex behaviour patterns of the unit and the relationships of the unit to its surrounding milieu."—*Pauline V. Young*, op. cit., p. 229.

द्वितीय खण्ड

मानव-व्यवहार के प्रमुख आधार

(MAIN FOUNDATIONS OF HUMAN BEHAVIOUR)

मानव-व्यवहार का प्राणीशास्त्रीय आधार: वंशानुसंक्रमण
[BIOLOGICAL FOUNDATION OF HUMAN BEHAVIOUR : HEREDITY]

"मनुष्य क्या कर सकता है, यह वंशानुसंक्रमण से निश्चित होता है।"
—David Abrahamson

मानव-व्यवहार एक जटिल प्रक्रिया है, और इसी कारण इसकी व्याख्या किसी एक कारक के आधार पर सम्भव नहीं है। मोटे तौर पर मानव-व्यवहार के तीन प्रमुख आधार हैं—शारीरिक, मानसिक या मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक-सांस्कृतिक। ये आधार या कारक एक-दूसरे से पृथक् नहीं हैं, और न ही इनके योग मात्र से मानव-व्यवहार का निर्धारण होता है। वास्तव में ये तीनों आधार एक-दूसरे के साथ अन्तःक्रियात्मक सम्बन्ध रखते हैं, और एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं, जिसके फलस्वरूप मानव-व्यवहार घटित होता है। कोई भी मानव-व्यवहार या सामाजिक क्रिया शुद्ध रूप में न तो शारीरिक क्रिया है, और न ही मनोवैज्ञानिक या सामाजिक-सांस्कृतिक। सामाजिक प्राणी के रूप में मानव का व्यवहार इन तीनों आधारों या कारकों का 'योगफल' नहीं, अपितु गुणनफल होता है। इसीलिए सामाजिक मनोविज्ञान के विद्यार्थी को मानव-व्यवहार के अध्ययन में उसके जैविक आधार को भी महत्त्व देना पड़ता है। इस जैविक आधार को समझने के लिये हमें मानव-शरीर की व्यवस्थाओं (systems of human body) की पूरी जानकारी हासिल करनी होगी।

मानव-शरीर की व्यवस्थाएँ
(Systems of Human Body)

मानव-शरीर अनेक अंगों से मिलकर बनता है, परन्तु ये सारे अंग एक-दूसरे से पृथक् नहीं हैं और न ही पृथक् रूप में कार्य करते हैं। इनमें आपस में एक अन्तः-निर्भरता (inter-dependence) तथा अन्त सम्बन्ध होता है। इसी के फलस्वरूप एक जैविक व्यवस्था (biological system) का निर्माण होता है, जिसमें सम्पूर्ण मानव-शरीर समा जाता है। इस सम्पूर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ उपव्यवस्थायें (sub-systems) भी होती हैं, जिनके सम्मिलित अन्त-सम्बन्ध और क्रियाशीलता मानव-शरीर को बनाये रखते हैं। ये संख्या में नौ हैं, और वे इस प्रकार हैं—

(1) **अस्थि-पंजरीय व्यवस्था** (Skeletal System)—वह व्यवस्था है जो 206 हड्डियों तथा जोड़ों को मिलाकर शरीर के ढाँचे को बनाती है। (2) **मांसपेशीय व्यवस्था** (Muscle System) शरीर के ढाँचे (हड्डियों आदि) को एक आवरण (covez) प्रदान करती है। मनुष्य के शरीर में 600 से अधिक मांसपेशियाँ होती हैं, जिनके कारण शरीर के अंग फैल व सिकुड़ सकते हैं। (3) **स्नायु-मण्डल** (Nervous System) स्नायुओं का एक जाल-सा होता है जो मनुष्य की सभी छोटी-

बड़ी क्रियाओं को सम्पादित करने का आदेश शरीर के सम्बन्धित अंग को देता है। (4) पाचन-क्रिया-व्यवस्था (Digestive System) में शरीर के वे अंग आते हैं जो भोजन को पचाने और शरीर में स्फूर्ति (energy) उत्पन्न करने का कार्य करते हैं। (5) साँस-सम्बन्धी व्यवस्था (Respiratory System) के अन्तर्गत नाक, गला, फेफड़े आदि आते हैं, जो ऑक्सीजनयुक्त हवा को शरीर के अन्दर ले जाते हैं तथा दूषित हवा को बाहर निकाल फेंकते हैं। (6) रक्त-परिचालन-व्यवस्था (Circulatory System) के अन्तर्गत रक्त का दौरा समस्त शरीर में होता रहता है। (7) लिम्फैटिक व्यवस्था (Lymphatic System) शरीर में एक प्रकार का स्वेद उत्पन्न करती है, कोषों को नहलाती है और उन्हें भोजन प्रदान करती है। (8) अन्तःस्रावी व्यवस्था (Endocrine Glands) से जो स्राव होता है, उससे शरीर की आवश्यकता की पूर्ति होती है। (9) प्रजनन-व्यवस्था (Reproductive System) नयी सन्तानों को उत्पन्न करने या जन्म देने की व्यवस्था है।

मानव-व्यवहार के जैविक आधार को एक दूसरे प्रकार से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। निम्नलिखित विवेचना से यह स्वतः ही स्पष्ट हो जायेगा।

मानव-व्यवहार के शारीरिक आधार

(Physical Basis of Human Behaviour)

मानव के सम्पूर्ण शरीर की रचना असंख्य छोटे-छोटे कोषों (cells) से मिलकर हुई है। ये सभी कोष एक-दूसरे से सम्बन्धित तथा एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं। फिर भी सभी कोष एक ही कार्य नहीं करते, बल्कि कार्यों की दृष्टि से उनमें श्रम-विभाजन तथा विशेषीकरण होता है। इस आधार पर कोषों को तीन मोटे भागों में बाँटा गया है। वे ये हैं—

(अ) ग्राहक कोष या ज्ञानेन्द्रियाँ (Receptor cells or Receptors)—ये वे कोष हैं जो उत्तेजना से प्रभावित होते हैं। इनका काम केवल उत्तेजना को ग्रहण करना है।

(ब) स्नायु कोष या वाहक-कोष अर्थात् स्नायु-मण्डल (Nerve or Conductor Cells or Nervous System)—इन कोषों का काम ग्राहक या ज्ञानेन्द्रियों में उत्तेजना द्वारा उत्पन्न किये गये स्नायु-प्रवाह को सम्पूर्ण शरीर में प्रसारित कर देना है।

(स) मांसपेशीय या प्रभावक कोष अर्थात् कर्मेन्द्रियाँ (Muscles or Effector Cells or Effectors)—इन कोषों की सहायता से ही मनुष्य के शरीर में किसी प्रकार की गति, परिवर्तन या क्रिया होती है। परन्तु ये कोष तब तक कोई क्रिया नहीं करते जब तक कि उसे करने का आदेश स्नायु-मण्डल से प्राप्त नहीं होता।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनुष्य जो भी क्रिया करता है, उसमें ज्ञानेन्द्रिय, स्नायु मण्डल तथा कर्मेन्द्रिय, तीनों का योगदान रहता है। ज्ञानेन्द्रिय उत्तेजना को ग्रहण करती है, स्नायु-मण्डल उसे सम्पूर्ण शरीर में प्रसारित करता है, तथा शरीर के एक अंग को क्रिया करने का आदेश देता है, जिसके अनुसार कर्मेन्द्रिय कार्य को सम्पन्न करती है। अतः मानव-व्यवहार के शारीरिक या जैविक आधार को समझने के लिए इन तीनों प्रकार के कोषों के बारे में कुछ विस्तार में जान लेना उचित होगा।

से प्रतिक्रिया होती है, इस प्रतिक्रिया को ही सहज क्रिया (reflex action) कहा जाता है, जैसे आँखों के सामने उँगली करने से पलकें सहज ही बन्द हो जाती हैं।

(ब) केन्द्रीय स्नायु-मण्डल—यह स्नायु-मंडल का सर्वप्रमुख भाग है। शरीर में फैले हुए असंख्य स्नायुओं का संचालन यदि किसी एक केन्द्र से न हो तो प्राणी का सारा व्यवहार शृंखलाहीन हो जाय। प्राणी को अनेक उत्तेजनाएँ ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त होती हैं, जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकार की क्रियाएँ होती रहती हैं। इन समस्त क्रियाओं या प्रतिक्रियाओं को संगठित, नियंत्रित व निर्देशित करना केन्द्रीय स्नायु-मण्डल का ही काम है। इसमें हजारों स्नायु-कोष होते हैं, जिनकी सहायता से केन्द्रीय स्नायु-मण्डल अपने भीतर आने और बाहर जाने वाले ग्राहकों और प्रभावकों, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। इसी की क्रियाशीलता के फलस्वरूप हम अपने वातावरण से सफलतापूर्ण अनुकूलन कर पाते हैं। केन्द्रीय स्नायु-मण्डल के दो भाग हैं—(i) सुषुम्ना या मेरुदण्ड (spinal cord) और (ii) मस्तिष्क (brain)।

(i) सुषुम्ना या मेरुदण्ड—सुषुम्ना स्नायुओं की एक लम्बी नली है, जो गर्दन से शुरू होकर पीठ से होती हुई पुच्छ की हड्डी (tail bone) तक चली गयी है। मेरुदण्ड में शरीर के हर भाग से आने वाले स्नायुओं के ३१ जोड़े होते हैं। इसमें शरीर के बाहर की उत्तेजनायें दो प्रकार से कार्य करती हैं। एक तो यह कि उत्तेजनाएँ मस्तिष्क तक पहुँच जायें और दूसरे यह कि वे तत्काल ही किसी प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हों। सामान्यतः सहज क्रियाओं (reflex actions) का संचालन मेरुदण्ड या सुषुम्ना के द्वारा ही होता है। इस प्रकार, सुषुम्ना के दो प्रमुख कार्य हैं—प्रथम तो सहज क्रियाओं को नियन्त्रित व संचालित करना, दूसरे ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्रहण की गयी उत्तेजनाओं को मस्तिष्क तक पहुँचाना। ज्ञानेन्द्रियों में जो स्नायु-प्रवाह की उत्तेजना उत्पन्न होती है, उसे ज्ञानवाही स्नायु-कोष ज्ञानवाही स्नायुओं द्वारा केन्द्र की ओर भेज देता है। यह पृष्ठ-मार्ग से होकर सुषुम्ना में प्रवेश करती है और फिर सुषुम्ना के माध्यम से मस्तिष्क में पहुँचती है, ताकि उचित रूप से क्रियाओं में परिवर्तित हो सके। अगर उत्तेजना ऐसी है, जिसके लिये तात्कालिक क्रिया की आवश्यकता है तो ऐसी स्थिति में सुषुम्ना अपने उत्तरदायित्व पर प्रभावकों को क्रियाशील करती है और उसकी सूचना केन्द्र को देती है। यही कारण है कि हाथ जलने पर हम अपने हाथ को तुरन्त खींच लेते हैं और तुरन्त यह भी जान जाते हैं कि हाथ जल गया है।

(ii) मस्तिष्क—मस्तिष्क को भी कई भागों में बाँटा गया है, जैसे सुषुम्ना-शीर्ष (medulla), सेतु (pons), लघु मस्तिष्क (cerebellum), थैलेमस (thalamus), हाइपोथैलेमस (hypothalamus), बृहद् मस्तिष्क (cerebrum), आदि। इनके विषय में संक्षेप में जान लेना उचित होगा। सुषुम्ना-शीर्ष मेरुदण्ड का सबसे ऊपरी भाग है। यह एक इंच लम्बा होता है, और सुषुम्ना की स्नायुओं को मस्तिष्क की स्नायुओं से मिलाता है। श्वास, हृदय-गति, रक्त-संचालन आदि क्रियाएँ इसके द्वारा नियन्त्रित होती हैं। पाचन-क्रिया के संचालन में भी इसका हाथ रहता है। सेतु सुषुम्ना-शीर्ष के ठीक ऊपर होता है। यह 'सेतु' इस प्रकार है, क्योंकि यह मस्तिष्क के विभिन्न भागों को मिलाता है। लघु मस्तिष्क सेतु के ऊपर होता है। यह दो बराबर भागों में बँटा हुआ होता है—एक भाग स्नायु-तन्तुओं के द्वारा सुषुम्ना-शीर्ष से मिला होता है जबकि दूसरा भाग सेतु के द्वारा बृहद् मस्तिष्क से

मिला हुआ होता है, जैसे लिखने, तैरने, दौड़ने आदि विभिन्न शारीरिक क्रियाओं में सन्तुलन स्थापित करना इसका प्रमुख कार्य है। थैलेमस लघु मस्तिष्क और सेतु के ऊपर एक छोटा-सा भाग होता है। यह ज्ञानेन्द्रियों में उत्पन्न उत्तेजनाओं को मस्तिष्क तक प्रसारित करता है। हाइपोथैलेमस थैलेमस से कुछ नीचे रहता है। थैलेमस की भाँति यह भाग संवेगात्मक (emotional) व्यवहारों का नियन्त्रण करता है। शारीरिक तापमान, रक्तचाप तथा यौन-क्रियाओं का नियन्त्रण व पाचन-क्रिया का संचालन भी इसी के द्वारा होता है। वृहत् मस्तिष्क सबसे ऊपर का तथा मस्तिष्क का सबसे बड़ा भाग है। लघु मस्तिष्क की भाँति यह भी दो बराबर भागों में बँटा होता है। दाहिना अर्द्ध भाग शरीर के बायें हिस्से की चेतन और अचेतन क्रियाओं का, तथा बायाँ अर्द्धभाग शरीर के दाहिने हिस्से की चेतन और अचेतन क्रियाओं का नियन्त्रण करता है। शरीर की समस्त उत्तेजनायें वृहद् मस्तिष्क में आती हैं, और सारी क्रियायें इसी के द्वारा नियन्त्रित व संचालित होती हैं।

कर्मेन्द्रियाँ

(Effectors)

ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तेजनाओं को ग्रहण करती हैं, जबकि स्नायु-मण्डल उन्हीं उत्तेजनाओं के आधार पर क्रियाओं को संचालित व नियन्त्रित करता है। ये स्वयं क्रिया नहीं करतीं। स्नायु-मण्डल से प्राप्त आदेशानुसार क्रिया करना कर्मेन्द्रियों का काम है। इनको दो मोटे भागों में विभाजित किया जाता है—प्रथम मांसपेशियाँ (muscles) तथा द्वितीय रसग्रंथियाँ (glands)। मांसपेशियाँ दो प्रकार की होती हैं—(अ) धारीदार (striped) तथा (ब) चिकनी (smooth)। (हाथ-पैर चलाना आदि) ऐच्छिक क्रियाओं का संचालन धारीदार मांसपेशियों द्वारा तथा (साँस लेना, पाचन-क्रिया, रक्त-प्रवाह, आदि) अनैच्छिक क्रियाओं का संचालन चिकनी मांसपेशियों द्वारा होता है। शरीर के विभिन्न भागों में धारीदार मांसपेशियों की संख्या प्रायः 600 होती है, जबकि चिकनी मांसपेशियाँ उदरीय भाग (visceral organs), रक्त-नली (blood vessels), हृदय, आँख, आँतों, जननेन्द्रियों (genitals) और मूत्रनलियों में पायी जाती हैं।

रसग्रंथियाँ शरीर के वे कोष होते हैं, जो एक प्रकार का स्राव (secretion) निकालते हैं। यह स्राव क्रिया पर अपना प्रभाव डालता है। रसग्रन्थियाँ दो प्रकार की होती हैं—(क) नलीयुक्त या बहिःस्रावी ग्रन्थियाँ (duct glands) और (ख) नलीरहित या अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ (endocrine glands)। नलीयुक्त ग्रन्थियाँ जो स्राव उत्पन्न करती हैं, उसे निश्चित स्थान तक पहुँचाने के लिये एक विशेष प्रकार की नली होती है। उदाहरणार्थ, जीभ के नीचे लारग्रन्थि होती है, जो मुँह में लार (saliva) पहुँचाती है। लार पाचन-क्रिया में सहायक होती है। इसी प्रकार अश्रुग्रन्थि (tear glands), स्वेदग्रन्थि आदि भी होती हैं। इन्हें बहिःस्रावी ग्रन्थि कहते हैं, क्योंकि ये जो स्राव निकालती हैं, उससे शरीर की किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति तो होती ही है, साथ ही वह स्राव शरीर के बाहर भी निकल आता है, जैसे आँखों से आँसू निकलता है और मुँह से लार टपकती है। इसके विपरीत, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों में नलीरहित होने के कारण उनसे जो स्राव निकलता है, वह शरीर के बाहर नहीं निकल पाता। वह खून में मिलकर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है और मानव-व्यवहार को प्रभावित करता है। इन ग्रन्थियों के विषय में विवेचना हम आगे के एक अध्याय में करेंगे।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति की क्रियाओं या उसके व्यवहार को प्रभावित करने में शारीरिक या जैविक कारकों—ज्ञानेन्द्रियों, स्नायु-मण्डल तथा कर्मेन्द्रियों—का महत्वपूर्ण योग रहता है। इसीलिये, मानव-व्यवहार के विश्लेषण में इनकी अवहेलना नहीं की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि प्रत्येक बच्चे को अपने माता-पिता से वंशानुसंक्रमण (heredity) की प्रक्रिया द्वारा एक शरीर तथा कुछ शारीरिक व मानसिक गुण (traits) प्राप्त होते हैं। इन शारीरिक व मानसिक गुणों का प्रभाव भी व्यक्ति के व्यक्तित्व व व्यवहार पर पड़ता है। अतः मानव-व्यवहार के जैविक आधार को पूर्ण रूप से समझने के लिये वंशानुसंक्रमण के बारे में भी कुछ ज्ञान लेना उचित होगा।

मानव-वंशानुसंक्रमण
(Human Heredity)

बच्चा जब जन्म लेता है तो उसका एक शरीर होता है। वह शरीर उसे अपने माता-पिता से मिलता है। माता-पिता से प्राप्त इस शरीर में हाथ, पैर, पेट, आँख, कान, सिर, मस्तिष्क, आदि विभिन्न अंग होते हैं। इनके अतिरिक्त, माता-पिता से उसे कुछ शारीरिक व मानसिक विशेषतायें भी प्राप्त होती हैं, जैसे गोरा या काला रंग, घुँघराले या सीधे बाल, भूरी या काली आँखें, लम्बा या नाटा कद, तेज या मन्द बुद्धि आदि। ये सभी शारीरिक व मानसिक विशेषतायें उस बच्चे का वंशानुसंक्रमण हैं।

वंशानुसंक्रमण का अर्थ
(Meaning of Heredity)

आम तौर से लोगों में यह गलत धारणा बनी है कि बच्चों में माता-पिता के शारीरिक और मानसिक लक्षणों का एक मिश्रण होता है, अर्थात् जो कुछ भी शारीरिक व मानसिक विशेषतायें माता-पिता की होंगी, उनकी (अर्थात् उन विशेषताओं की) एक खिचड़ी बच्चों में देखने को मिलेगी; क्योंकि मैथुन (sexual intercourse) द्वारा माता-पिता, दोनों के रक्तों का सम्मिश्रण होता है। इस अवैज्ञानिक धारणा के अनुसार यदि माता गोरे वर्ण की है और पिता कृष्ण वर्ण का, तो बच्चे का रंग या वर्ण इन दोनों के बीच का यानी सांवला होगा। ये सब धारणायें गलत हैं; और, उनमें भी सबसे गलत धारणा यह है कि मैथुन द्वारा माता और पिता का रक्त एकसाथ मिल जाता है। श्री मेण्डेल (Mendel) ने अपने अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि वास्तव में रक्त द्वारा बच्चों में गुण नहीं आते। पैतृक विशेषतायें वास्तव में उन लघुतम अणुओं द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलती हैं जिन्हें वाहकाणु (genes) कहते हैं। वाहकाणु वंशानुसंक्रमण की वास्तविक इकाइयाँ हैं। हमारा शरीर असंख्य कोषों या कोष्ठों (cells) का योग है जो माता के अण्ड-कोष और पिता के शुक्र-कोष्ठ को मिलाकर बनता है। माता का अण्ड-कोष मासिक धर्म के बाद प्रति माह बन कर तैयार होता है, जबकि शुक्र-कोष्ट पिता के वीर्य (semen) में होता है। जब माता-पिता मैथुन (sexual intercourse) करते हैं तो पिता के वीर्य में से एक शुक्र-कोष्ठ (sperm cell) माता के अण्डकोष (egg cell) में प्रवेश करता है। तभी माँ गर्भवती होती है, अर्थात् बच्चे का सूत्रपात होता है। यही कुछ प्राणिशास्त्रीय प्रक्रियाओं के द्वारा विकसित होकर पूर्ण शिशु के रूप में, प्रायः नौ महीने के बाद, जन्म लेता है। माता के अण्डकोष तथा पिता के

शुक्र-कोष्ठ में से प्रत्येक में 24 जोड़े (pairs) वर्णसूत्र (chromosomes) होते हैं। इन वर्णसूत्रों में से प्रत्येक में विभिन्न शारीरिक-मानसिक विशेषताओं को निर्धारित करने वाले पर्याप्त वाहकाणु (genes) प्रत्येक वर्णसूत्र में माला की गुरियाओं (दाना) की तरह लगे रहते हैं। इन्हीं वाहकाणुओं का पारस्परिक प्रभाव ही शारीरिक और बौद्धिक विशेषताओं को उत्पन्न करता है। कोई भी वाहकाणु कभी अलग से प्रभाव नहीं डालता। अनेक वाहकाणु बच्चे की, संयुक्त रूप से, शारीरिक व मानसिक विशेषताओं को निश्चित करते हैं।

इस सम्बन्ध में श्री मेण्डेल (Mendel) की खोज यह है कि वाहकाणु चाहे पिता के हों या माता के, सदैव अपरिवर्तित रहते हैं और कभी एक-दूसरे के साथ मिश्रित नहीं होते, यद्यपि कुछ वाहकाणु प्रबल (dominant) होते हैं और कुछ गौण (recessive)। प्रबल वाहकाणु वे होते हैं जो मनुष्य की शारीरिक और बौद्धिक विशेषताओं पर अपना प्रभाव छोड़ते हैं और गौण वाहकाणु वे होते हैं जो मनुष्य के शरीर में मौजूद रहते हुए भी अपना प्रभाव नहीं दिखा पाते। उदाहरण के लिये, यदि बच्चे को माता से गोरे रंग का वाहकाणु और पिता से काले रंग का वाहकाणु प्राप्त हुआ है, और यदि गोरे रंग का वाहकाणु प्रबल और काले रंग का वाहकाणु गौण है, तो बच्चे का रंग गोरा होगा, यद्यपि उसके शरीर में काले रंग और गोरे रंग दोनों के ही वाहकाणु मौजूद हैं। परन्तु, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि काले रंग का वाहकाणु हमेशा ही गौण बना रहेगा। अनेक प्राणिशास्त्रीय तथा पर्यावरण-सम्बन्धी (environmental) प्रभावों के कारण वह काले रंग का वाहकाणु किसी भी समय प्रबल हो सकता है और बच्चे में प्रवेश कर उसके रंग को काला बना सकता है, चाहे माँ और बाप दोनों का रंग गोरा ही क्यों न हो। यही कारण है कि कभी-कभी बच्चे की शारीरिक या मानसिक विशेषतायें उसके पिता की तरह न होकर बाबा या परबाबा की तरह होती हैं। इसका अर्थ सिर्फ इतना ही है कि बच्चे में पिता के वाहकाणु गौण हो गये, और बाबा या परबाबा के वाहकाणु प्रबल हो गये।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि माता-पिता से व्यक्ति को मूल रूप में जो कुछ भी शारीरिक और मानसिक विशेषतायें, वर्णसूत्रों के द्वारा, मिलती हैं, उन्हें हम 'वंशानुसंक्रमण' कहते हैं।

वंशानुसंक्रमण का प्रभाव
(Influence of Heredity)

वंशानुसंक्रमणवादियों के नेता श्री फ्रांसिस गॅल्टन (Fraccis Galton) ने अपनी पुस्तक Hereditary Genius (1869) में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जब तक योग्य पुरुष योग्य स्त्री से विवाह करता रहेगा, तब तक योग्य सन्तान निश्चय ही पैदा होती रहेगी, अर्थात् यदि माता-पिता मेधावी हैं तो उनके बच्चे भी अवश्य मेधावी होंगे, क्योंकि हमारी समस्त मानसिक व शारीरिक विशेषतायें किसी न किसी रूप में हमें अपने माता-पिता से ही प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार अन्य विद्वानों ने भी अपने-अपने अध्ययनों के आधार पर वंशानुसंक्रमण के प्रभावों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। अमेरिका में फ़ौजी भर्ती के समय जो मनोवैज्ञानिक परीक्षण हुआ, उनमें नीग्रो प्रजाति के लोगों की बौद्धिक आयु (mental age) 10.4 वर्ष थी, जबकि श्वेत प्रजाति (white race) के सदस्यों की बौद्धिक आयु 13.1 वर्ष थी।[1] इसी प्रकार अगर हमारे शहर के किसी भी रास्ते से कोई नीग्रो प्रजाति

का सदस्य गुजर जाय तो फौरन उसे पहचान लेंगे। इसका कारण यह है कि उसे, नीग्रो प्रजाति के सदस्य के रूप में, अपनी जाति से कुछ निश्चित शारीरिक लक्षण प्राप्त हुए हैं। इन सबके आधार पर वंशानुसंक्रमणवादियों का कथन है कि व्यक्ति की मानसिक व शारीरिक विशेषताओं के निर्धारण में प्रजातीय वंशानुसंक्रमण (racial heredity) भी महत्त्वपूर्ण है। पैतृक वंशानुसंक्रमण (ancestral or parental heredity) के बारे में भी यही बात कही जाती है। अमेरिका में व्यापार के क्षेत्र में जो उच्च कोटि के व्यापारी हैं, उनको लेकर किये गये अध्ययन से पता चलता है कि आज जो व्यापारी अमेरिकी समाज में शीर्ष स्थान पर हैं, उनमें से 26 प्रतिशत व्यापारियों के पिता भी उच्चकोटि के व्यापारी थे। साथ ही, आज उस समाज में जितने व्यापारी हैं, उनमें से 56.7 प्रतिशत के पिता भी व्यापारी ही थे, जबकि केवल 12.4 प्रतिशत व्यापारियों के पिता किसान थे, इसी प्रकार ज्यूक तथा एडवर्ड (Jukes and Edwards) परिवार के वंशजों के भी अध्ययन से पता चलता है कि ज्यूक-वंश के 1200 वंशजों में 440 वंशज शारीरिक बीमारियों से पीड़ित, 310 अत्यन्त दरिद्र, 130 अपराधी, 7 हत्यारे और आधी से अधिक स्त्रियाँ वेश्यायें थीं। 30 वर्ष के बाद इसी परिवार के 2,820 वंशजों का फिर अध्ययन किया गया। इनमें से 600 मानसिक रूप में दोषी पाये गये, और शेष दरिद्र, अपराधी व हत्यारे मिले। इसके विपरीत, एडवर्ड परिवार के 1,394 वंशजों में से 295 विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट पाये गये, 13 कालिजों के प्रधानाचार्य तथा एक संयुक्त राज्य अमेरिका के उपराष्ट्रपति बने। इनमें से कोई भी ऐसा नहीं था जिसको किसी अपराध में सजा मिली हो। कार्ल पियर्सन (Karl Pearson) ने अपने प्रयोगों द्वारा इस बात को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि माता-पिता की शारीरिक विशेषताओं (क़द, आँखों का रंग, वर्ण, बालों की बनावट, स्वास्थ्य आदि) का प्रभाव बच्चों पर अवश्य ही पड़ता है, और इस विषय में वंशानुसंक्रमण का महत्त्व पर्यावरण (environment) से सात गुना ज्यादा होता है [2] इन सब अध्ययनों के आधार पर वंशानुसंक्रमणवादियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक विशेषतायें अपने माता-पिता से वंशानुसंक्रमण की प्रक्रिया द्वारा प्राप्त होती है। इस विषय में पर्यावरण महत्त्वपूर्ण नहीं है।

वंशानुसंक्रमण और पर्यावरण की अपृथक्ता
(Inseparability of Heredity and Environment)

उपर्युक्त अध्ययनों के आधार पर यह ग़लत धारणा बन सकती है कि व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन व व्यवहार का एक मात्र आधार वंशानुसंक्रमण या माता-पिता से प्राप्त शारीरिक व मानसिक विशेषतायें ही हैं। परन्तु, यह धारणा ठीक नहीं है। पर्यावरण के प्रभावों की अवहेलना कदापि नहीं की जा सकती। यह सच है कि नीग्रो प्रजाति के सदस्यों की अपेक्षा अमेरिकी अधिक बुद्धिमान हैं। पर, इसका यह कारण भी तो हो सकता है कि नीग्रो प्रजाति के लोगों को सामाजिक, आर्थिक तथा जीवन को विकसित करने के लिये अपेक्षित अन्य सुविधायें उस भाँति प्राप्त नहीं हैं जितनी कि गोरी प्रजाति के लोगों को। अधिक सुविधायें प्राप्त होने के कारण गोरे प्रजाति के लोग अपने व्यक्तित्व का अधिक विकास कर पाते हैं।

इसी प्रकार यह कहना उचित न होगा कि शारीरिक विशेषताओं के निर्धारण में प्रजातीय वंशानुसंक्रमण ही सब कुछ है। डॉ० मजूमदार (Dr. Majumdar) के अध्ययन के अनुसार फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद फ्रेन्च फ़ौजियों की लम्बाई में औस-

तक एक इंच की कमी हो गयी। इसका कारण यह था कि फ्रांसीसी क्रान्ति ने उस देश के आर्थिक तथा सामाजिक ढाँचे को बिलकुल ही चकनाचूर कर दिया, और लोगों को उचित भोजन, मानसिक शान्ति आदि नहीं मिल पाई। निश्चय ही, इन पर्यावरण-सम्बन्धी कारकों का प्रभाव वहाँ के लोगों की शारीरिक विशेषताओं पर पड़ा।

पैतृक वंशानुसंक्रमण के महत्त्व के सम्बन्ध में भी वंशानुसंक्रमणवादियों का निष्कर्ष एकतरफा है। इस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ज्यूक-परिवार अत्यधिक गरीब था, जिसके कारण उसके वंशजों को उनके व्यक्तित्व के विकास के लिये सुविधा प्राप्त नहीं थी। हो सकता है, इसीलिये इस परिवार के वंशजों का मानसिक विकास व व्यवहार निम्नकोटि का रहा हो। इसके विपरीत, एडवर्ड-परिवार धनी था, जिसके कारण उसके वंशजों को उनके मानसिक विकास की समस्त सुविधायें उपलब्ध थीं। अतः पर्यावरण के प्रभाव को कम महत्त्वपूर्ण सिद्ध नहीं किया जा सकता। यही बात शारीरिक विशेषताओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। डॉ॰ ए॰ शिन्फेल्ड (A. Schienfeld) ने अपने अध्ययन से यह प्रमाणित कर दिया है कि गर्भ में आते ही माता के स्वास्थ्य, रसग्रन्थियों की अव्यवस्था (gland disorder), खाने-पीने की आदतें, जलवायु, रहन-सहन की दशाएँ, पेशा, व्यायाम (exercise), सोने और रहने के तरीकों आदि सभी का प्रभाव बच्चे की शारीरिक विशेषताओं को निर्धारित करने वाले वाहकाणुओं पर पड़ता है।[3] इसी प्रकार श्री फ्रान्स बोआस (Frans Boas) ने अमेरिका में आकर बसने वाले नीग्रो व जापानियों की सन्तानों का अध्ययन करके प्रमाणित कर दिया कि इन बच्चों की न केवल अपने माता-पिता की औसत ऊँचाई से २ इंच ऊँचाई अधिक रही, बल्कि उनके सिर की बनावट में भी अमेरिकी पर्यावरण के फलस्वरूप परिवर्तन हो गया।[4]

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि प्रश्न या विवाद निरर्थक है कि व्यक्ति के जीवन में वंशानुसंक्रमण अधिक महत्त्वपूर्ण है या पर्यावरण। वंशानुसंक्रमण और पर्यावरण एक-दूसरे से पृथक् नहीं हैं। वास्तव में, ये दोनों एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित, और एक-दूसरे पर आधारित हैं। इनके महत्व की अलग-अलग विवेचना करना उतनी ही मूर्खता होगी, जितनी इस बात पर बहस करना कि जीवित रहने के लिये हवा ज्यादा जरूरी है या पानी, मोटरकार के लिए इंजिन अधिक आवश्यक है या पेट्रोल; या पौधे के उगने के लिए बीज ज्यादा जरूरी है या जमीन। वास्तव में दोनों की ही आवश्यकता है, और एक की कल्पना दूसरे के बिना नहीं की जा सकती। यही बात मानव-जीवन व मानव-व्यवहार के विषय में भी सच है। जीवन की प्रत्येक अवस्था में पर्यावरण और वंशानुसंक्रमण, दोनों का ही प्रभाव पड़ता है।

वास्तविकता यह है कि जीवन तथा व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक कच्चा माल वंशानुसंक्रमण प्रदान करता है। परन्तु, उस कच्चे माल से होने वाले व्यक्तित्व के वास्तविक निर्माण, कार्य तथा व्यवहार को एक विशिष्ट साँचे में ढालने का काम पर्यावरण करता है। इसीलिये सर्वश्री मैकाइवर तथा पेज (MacIver and Page) ने उचित ही लिखा है कि वंशानुसंक्रमण द्वारा जीवन की सम्भावनाएँ प्राप्त होती हैं, पर उनकी सारी वास्तविकताओं का आधार पर्यावरण ही है।[5] इसी बात को श्री लैंडिस और श्रीमती लैंडिस (Landis and Landis) ने और भी स्पष्ट

रूप से इस प्रकार समझाया है कि जिस व्यक्ति को वंशानुसंक्रमण द्वारा समस्त उच्च-कोटि के गुण तथा प्रतिभायें प्राप्त हुई हैं, उसे यदि पाषाण-युग में रख दिया जाय तो वह अपनी प्रतिभाओं को उतना विकसित नहीं कर सकेगा जितना कि आज मशीन-युग में सम्भव है। इसी आधार पर श्री और श्रीमती लैण्डिस का अन्तिम निष्कर्ष यह है कि "वंशानुसंक्रमण हमें विकसित होने का सामर्थ्य देता है, पर इस सामर्थ्य के विकसित होने का सुयोग हमें पर्यावरण से ही मिल सकता है। वंशानुसंक्रमण हमें हमारी कार्यशील पूंजी देता है, और पर्यावरण हमें इसके विनियोजन (investments) के अवसर प्रदान करता है।"[6]

REFERENCES

1. See O Klineberg, Race Differences, New York, 1935
2. Karl Pearson, Nature and Nurture, London, 1910
3. "From the moment of conception and through puberty, innumerable factors bear upon the action of the 'stature' genes. The mother's health, gland disorder, food habits, climate, living conditions, occupation, exercise, modes of walking and sleeping, all influence the body structure"—*A. Schienfeld*, You and Heredity, New York, 1939, pp 81-82.
4. See Frans Boas, "Effect of American Environment on Immigrants and their Descendants", Science, Dec. 11, 1936, and The Mind of Primitive Man, New York, 1938, especially chapter VII.
5. "The heredity......contains all the potentialities of life, but all its actualities are evoked within and under the conditions of environment."—*MacIver and Page*, Society An Introductory Analysis, Macmillan and Co, London, 1953, p 95.
6. "Heredity gives us capacity to be developed, but the opportunities for the development of these capacities must come from the environment. Heredity gives us our working capital, environment gives us the opportunity to invest it."—*Landis and Landis*, Man and His Environment, New York, 1952, p. 192.

अध्याय ६

मूलप्रवृत्तियाँ
[INSTINCTS]
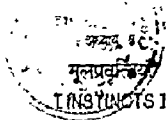
"मूलप्रवृत्तियाँ, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण मानव-व्यवहार की प्रमुख चालक है।" —William McDougall.

प्राय यह देखा गया है कि 'मूलप्रवृत्ति' (instinct) तथा 'मूलप्रवृत्त्यात्मक' (instinctive) शब्दों का प्रयोग अब भी साधारण बोलचाल और साहित्य में, यहाँ तक कि मनोविज्ञान की पुस्तकों में भी, ऐसे ढीले-ढाले अर्थों में किया जाता है कि वैज्ञानिक तौर पर वे बिलकुल ही निरर्थक हो जाते हैं। एक ओर, जो भी काम हम आप से आप कर लेते हैं, उसे मूलप्रवृत्त्यात्मक माना जाता है; दूसरी ओर पशुओं के व्यवहार या क्रियाओं का आधार भी मूलप्रवृत्ति कहा जाता है, और इस सम्बन्ध में मूलप्रवृत्ति को एक 'रहस्यजनक गुण या क्षमता' (mysterious faculty) मान लिया जाता है। यह तो मानवीय क्षमता से बिलकुल भिन्न है और इसे प्रकृति ने केवल पशुओं को ही दिया है, क्योंकि उन्हें उच्चतर क्षमताओं या गुणों से वंचित रखा गया है। दो-एक उदाहरणों द्वारा इस बात को और भी स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। एक दार्शनिक के अनुसार पश्चिमी देश के लोगों में पूजा करने का रिवाज परम्परा और मूलप्रवृत्ति पर टिका हुआ है। एक राजनैतिक लेखक ने लिखा है कि रूस के लोग राजनैतिक मूलप्रवृत्ति को तेजी से ग्रहण कर रहे हैं। एक अन्य लेखक के अनुसार खून के बदले खून की चाह आदिम मानवता की सुदृढ़ मूलप्रवृत्ति है। ऐसे ही अनेक उदाहरणों द्वारा सैकड़ों पृष्ठ भरे जा सकते हैं, और यह दिखाया जा सकता है कि 'मूलप्रवृत्ति' शब्द का दुरुपयोग किस प्रकार और किस सीमा तक किया गया है। वास्तव में जब एक लेखक वैयक्तिक या सामूहिक क्रिया की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है और अपने इस प्रयत्न में असफल रहता है, तो वह अपनी अज्ञानता को छिपाने के लिये एक आवरण (a cloak for ignorance) के रूप में 'मूलप्रवृत्ति' और 'मूलप्रवृत्त्यात्मक' शब्दों को काम में लाता है। अतः यह आवश्यक है कि मूलप्रवृत्तियों की वास्तविकताओं को, वैज्ञानिक ढंग से, समझ लिया जाय, ताकि मानव-व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारक के रूप में इसके महत्त्व का सही मूल्यांकन सम्भव हो।

मनुष्यों और पशुओं के व्यवहार में बहुत से व्यवहार ऐसे होते हैं जो एक जाति (species) के सभी प्राणियों में जन्म से ही समान रूप से पाये जाते हैं और जिनको किसी से सीखने की आवश्यकता नहीं होती, जैसे माँ का दूध पीने में मनुष्य के बच्चे का व्यवहार या बतख का पानी में तैरने से सम्बन्धित व्यवहार। मोटे तौर पर व्यवहार करने की इस जन्मजात प्रवृत्ति या क्षमता या गुण को ही 'मूलप्रवृत्ति' कहा जाता है। प्रारम्भ में 'मूलप्रवृत्ति' शब्द का प्रयोग केवल पशुओं के व्यवहार के सन्दर्भ में
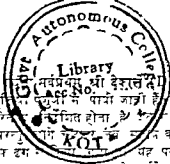
किया जाता था। इस शब्द का [illegible] सर्वप्रथम श्री देकार्ते (Descartes) ने किया था। उनका मत था कि मूलप्रवृत्तियाँ पशुओं में पायी जाती हैं और उनका व्यवहार इन्हीं मूलप्रवृत्तियों द्वारा निर्धारित [illegible] नियंत्रित होता है [illegible] मनुष्य का व्यवहार विवेक पर आधारित होता है। परन्तु [illegible] मानव व पशुओं के व्यवहारों का तुलनात्मक अध्ययन वैज्ञानिक ढंग [illegible] यह पता चला कि पशुओं में भी बुद्धि तथा विवेक का पूर्णतया अभाव नहीं है। श्री हार्टले (Hartley) ने अपने प्रयोगों द्वारा इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि पशु और मानव-व्यवहार में पर्याप्त समानता है। श्री ली रॉय (Le Roy) का तो मत था कि पशु और मनुष्य के व्यवहार में कोई अन्तर ही नहीं है और यदि है तो केवल इतना कि पशु-व्यवहार अपनी साधारण आवश्यकताओं के कारण सरल है जबकि मानव-व्यवहार अपनी विविध आवश्यकताओं के कारण अधिक जटिल है। इसके बाद श्री डार्विन (Darwin) के विकासवादी सिद्धान्त ने मानव-जगत और पशु-जगत् के बीच की खाई को और भी पाट दिया और यह प्रमाणित कर दिया कि पशु-व्यवहार और मानव-व्यवहार, दोनों ही विकास-शृंखला की विभिन्न कड़ियाँ मात्र हैं। दूसरे शब्दों में, मानव-व्यवहार विकास (evolution) के उच्च स्तर पर पहुँच गया है, जबकि पशु-व्यवहार का स्तर अभी निम्न है; पर, आधारभूत रूप में उनमें कोई अन्तर नहीं है।

इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने बाल-मनोविज्ञान के वैज्ञानिक अध्ययनों द्वारा बाल-व्यवहार व पशु-व्यवहार का तुलनात्मक विश्लेषण किया, और इन दोनों के बीच अनेक समानतायें पाईं। इससे निष्कर्ष निकाला गया—"बालकों के प्रारम्भिक व्यवहार में अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान का कोई सहयोग नहीं रहता। उसमें और विवेक-शून्य पशु-व्यवहार में बहुत समानता होती है। इस प्रकार के व्यवहार को मूल-प्रवृत्त्यात्मक व्यवहार कह सकते हैं। यदि यह मान लिया जाय कि अनुभव प्राप्त करने के पूर्व बालक जो क्रियाएँ करते हैं, वे पशु-व्यवहार से मिलती हैं तो यह भी निश्चित रूप से मानना पड़ेगा कि शिशु ने अथवा मानव-जाति ने विकास के क्रम में इन क्रियाओं को करने की प्रेरक शक्ति अपने पूर्वजों से, वंशानुसंक्रमण द्वारा पाई है। अतः विवेकहीन व अनुभवहीन प्रेरणात्मक व्यवहार पशुओं में ही नहीं, अपितु मनुष्यों में भी पाया जाता है। इसी विवेकशून्य अन्धप्रेरणा को मूलप्रवृत्ति की संज्ञा दी गयी है।"[1] मूलप्रवृत्ति के सम्बन्ध में सर्वप्रथम वैज्ञानिक अध्ययन करने तथा इससे सम्बन्धित अनेक गलत धारणाओं को दूर करने का श्रेय डॉ० मैक्डूगल को ही है। अतः हम उनके दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए ही मूलप्रवृत्ति की विवेचना करेंगे।

मूलप्रवृत्ति की परिभाषा
(Definition of Instinct)

डॉ० मैक्डूगल (McDougall) ने मूलप्रवृत्ति की परिभाषा निम्न शब्दों में की है—"मूलप्रवृत्ति एक पैतृक या जन्मजात मनःशारीरिक (psycho-physical) प्रेरणा है जो कि इसके अधिकारी के लिए यह निश्चय करती है कि वह कुछ विशेष वस्तुओं का बोध प्राप्त करे; उनकी ओर ध्यान दे; उस बोध के बीच विशेष प्रकार की उद्वेगात्मक उत्तेजना का अनुभव करे तथा इस सम्बन्ध में विशेष क्रिया करे, अथवा क्रिया करने की प्रेरणा की अनुभूति प्राप्त करे।"[2] दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि डॉ० मैक्डूगल के अनुसार मूलप्रवृत्ति एक जन्मजात मनः-शारीरिक क्षमता है। इस क्षमता के कारण एक प्राणी कुछ चीजों का बोध कर सकता

है। उस बोध से उसमे एक विशेष प्रकार का उद्वेग या संवेग उत्पन्न होता है, जो उस एक निश्चित ढंग से एक कार्य करने को प्रेरित करता है।

श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) के मतानुसार, "मूलप्रवृत्तियाँ विशिष्ट प्रेरक के प्रति प्रतिक्रिया की वे जन्मजात प्रणालियाँ है, जो अस्तित्व के लिये संघर्ष में उपयोगी होने के कारण प्रजातीय वंशानुसंक्रमण द्वारा हस्तान्तरित होती है।"[3] आपने एक अन्य स्थान पर यह उल्लेख किया है कि मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया उन कार्यों या अधिक जटिल कार्य-शृंखलाओं की द्योतक है, जो प्रजाति के लिये हितकर कतिपय उद्देश्यों की पूर्ति करते है। यह उद्देश्य वंशानुगत रूप मे निश्चित होते है और जो वैयक्तिक सावयव (individual organism) के द्वारा अर्जित पूर्व-अनुभव से स्वतन्त्र होते हैं।"[4]

श्री मार्गन (Morgan) ने लिखा है —"मूलप्रवृत्यात्मक व्यवहार वह व्यवहार है जो आरम्भ मे पूर्व-अनुभव से स्वतन्त्र हो, व्यक्ति के कल्याण तथा प्रजातीय संरक्षण में सहायक हो, पशुओं के किसी सीमित समूह के सभी सदस्यों द्वारा लगभग सामान्य रूप से किया जाता हो, तथा बाद को अनुभव के निर्देशन मे परिवर्तित हो सके।"[5]

श्री मार्गन की परिभाषा से ऐसा प्रतीत होता है कि आप मूलप्रवृत्यात्मक व्यवहार को केवल पशुओं तक ही सीमित मानते है। यह सच है कि मानव मूलप्रवृत्तियों का दास नहीं है, और उसके व्यवहार को निर्धारित करने मे पर्यावरण का योगदान महत्त्वपूर्ण है, फिर भी मूलप्रवृत्तियों का कुछ भी प्रभाव मानव के व्यवहार पर नही पड़ता है, यह कहना भी अनुचित ही होगा। मूलप्रवृत्तियों का प्रभाव चाहे कितना ही अप्रत्यक्ष या अपूर्ण क्यों न हो, उसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस दृष्टिकोण से श्री मार्गन की परिभाषा संकीर्ण है। पर, दूसरी ओर आपने इस सत्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि अनुभव के निर्देशन में (under the guidance of experience) मूलप्रवृत्यात्मक व्यवहार में परिवर्तन होने की आशा सदा ही रहती है—जब मूलप्रवृत्यात्मक व्यवहार पहले-पहल प्रकट होता है तो केवल उस समय वह पूर्व-अनुभव से स्वतन्त्र होता है।

श्री गिन्सबर्ग ने अपनी उपर्युक्त परिभाषा मे मूलप्रवृत्तियों की कुछ विशेषताओं के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित किया है। वे विशेषताएँ हैं—मूलप्रवृत्ति क्रिया की एक प्रणाली है, यह जन्मजात होती है, अस्तित्व के लिये संघर्ष में उपयोगी होती है, उस रूप मे प्रजाति के लिये हितकर कतिपय उद्देश्यों की पूर्ति करती है, तथा व्यक्ति द्वारा अर्जित पूर्व-अनुभव से स्वतन्त्र होती है। इन विशेषताओं का स्पष्टीकरण निम्नलिखित विवेचन से हो सकेगा।

मूलप्रवृत्तियों की विशेषतायें
(Characteristics of Instincts)

मूलप्रवृत्तियों की प्रकृति को ठीक से समझने के लिये यह आवश्यक है कि उनकी कुछ आधारभूत विशेषताओं को भी जान लिया जाय। वे विशेषतायें इस प्रकार हैं—

1. मूलप्रवृत्तियाँ जन्मजात होती हैं (Instincts are Innate)—मूलप्रवृत्तियों की सबसे आधारभूत विशेषता यह है कि ये जन्मजात व प्रकृतिदत्त होती हैं। और, वह इस अर्थ मे कि वे जन्म से ही प्राणी में विद्यमान होती हैं। इनको जन्म के बाद सीखने की आवश्यकता नही होती और न ही इनकी सफल क्रियाशीलता के

लिये प्राणी को अपने पुराने अनुभवों पर निर्भर रहना पड़ता है। उदाहरणार्थ, भूख लगने पर छोटा बच्चा पैदा होने के बाद ही चिल्लाने-रोने लगता है, क्योंकि भोजन प्राप्त करने की मूलप्रवृत्ति उसमें जन्म से ही विद्यमान होती है। इसी प्रकार बतख का बच्चा पहला मौका मिलते ही पानी में तैरने लगता है, क्योंकि तैरने की प्रवृत्ति या क्षमता उसमें जन्मजात रूप में पायी जाती है। पर, यह मूलप्रवृत्ति चूँकि मानव में नहीं है, इस कारण पैदा होने के बाद भी मनुष्य का बच्चा तैर नहीं सकता। उसे तो तैरने के लिये प्रशिक्षण (training) ग्रहण करना होगा। उसकी तैरने की क्षमता या कुशलता तो प्रशिक्षण और अभ्यास पर निर्भर करेगी।

परन्तु, इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि मूलप्रवृत्तियाँ जन्मजात होती हैं या जन्मजात रूप में प्राणी में विद्यमान होती हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सभी मूलप्रवृत्तियाँ जन्म से ही पूर्ण विकसित होती हैं। ऐसा हो भी नहीं सकता, क्योंकि सभी स्वयं सावयव (organism) या शरीर का विकास भी एकदम या एकसाथ पूर्ण रूप से नहीं होता। एक निश्चित समय में ही धीरे-धीरे शरीर के विभिन्न अंगों का विकास होता है। जिस प्रकार हम यह आशा नहीं कर सकते कि बच्चा पैदा होते ही दौड़ने, बोलने तथा काम करने लगेगा, उसी प्रकार यह भी आशा करना गलत होगा कि सभी मूलप्रवृत्तियाँ जन्म से ही विकसित होंगी। विकास की क्षमता बच्चे के सावयव में अन्तर्निहित रहती है। उसी क्षमता के कारण धीरे-धीरे एक क्रम से शरीर के विभिन्न अंगों का विकास होता रहता है, और उसी के साथ-साथ प्रत्येक मूलप्रवृत्ति का एक निश्चित समय पर विकास होता जाता है। इस प्रकार विकसित होने के बाद ही मूलप्रवृत्ति क्रियाशील होती है। पर, इससे मूलप्रवृत्तियों की इस विशेषता में कोई कमी नहीं आती कि वे जन्मजात होती हैं।

2. किसी भी जाति के सभी सदस्यों का एक-सा होना (Universality among the Members of the Same Species)—मूलप्रवृत्यात्मक व्यवहार का फैलाव वैयक्तिक नहीं, सामूहिक रूप में होता है, अर्थात् मूलप्रवृत्तियाँ किसी भी जाति के सब सदस्यों में समान रूप से पायी जाती हैं। ऐसा नहीं होता कि कुछ कबूतरों में बाज की छाया को पहचानने की मूलप्रवृत्ति हो और कुछ में न हो; या कुछ मनुष्यों में काम-प्रवृत्ति हो, कुछ में न हो। इसके वेग या मात्रा में सिर्फ भेद हो सकता है—किसी में कम, तो किसी में ज्यादा। इसी प्रकार परिस्थितिवश मूलप्रवृत्यात्मक व्यवहार की बाहरी अभिव्यक्ति में भी कुछ हेरफेर या अन्तर हो सकता है। उदाहरणार्थ, हम पुत्र-कामना की मूलप्रवृत्ति (parental instinct) का अध्ययन कर सकते हैं। वात्सल्य-भाव के कारण पुत्र-प्राप्ति की इच्छा स्वाभाविक है, और इस इच्छा को पूरा करने के लिये जो क्रिया की जाती है, उसे मूलप्रवृत्यात्मक आचरण या व्यवहार कहते हैं। इस व्यवहार में वैयक्तिक भेद हो सकता है, जैसे एक व्यक्ति वात्सल्य-भाव से प्रेरित होकर पति-पत्नी रूप में शारीरिक सम्बन्ध (sexual intercourse) स्थापित करके पुत्र पाने के लिये क्रियाशील होता है, जबकि दूसरा व्यक्ति अन्य किसी के बच्चे को गोद लेकर (by adoption), या किसी अनाथालय से एक बच्चे को लाकर पुत्र-प्राप्ति की इच्छा की पूर्ति करता है, और तीसरा व्यक्ति घर में कुत्ता, बिल्ली या मैना पालकर पुत्र-कामना की प्रवृत्ति को तृप्त करता है। इस प्रकार अलग-अलग परिस्थितियों में मूलप्रवृत्यात्मक व्यवहार में बाहरी तौर पर भेद या भिन्नता हो सकती है, परन्तु आन्तरिक रूप में वात्सल्य-भाव और

पुत्र-कामना सब में समान ही होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मूलप्रवृत्तियाँ किसी भी जाति के सभी सदस्यों में समान होती हैं।

3. अनुकूलन की क्षमता (Adaptability)—प्रत्येक मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया उन उद्देश्यों की पूर्ति के अनुकूल होती है, जो एक जाति के सदस्यों के लिये उपयोगी होती है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि मूलप्रवृत्तियों के कारण प्राणी का पर्यावरण से अनुकूलन सरल हो जाता है। उदाहरण के लिये, यदि बतख में तैरने की मूलप्रवृत्ति न होती तो उसके लिये ताल-तलैया या नदी में रहकर पानी के साथ अनुकूलन करना सरल न होता।

मूलप्रवृत्ति में अनुकूलनशीलता या अनुकूलन की क्षमता होती है। इसका यह अर्थ भी बताया जाता है कि यद्यपि मूलप्रवृत्ति अनुभव से परे जन्मजात प्रवृत्ति होती है, फिर भी इसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन किया जा सकता है। मूलप्रवृत्तियों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता, यह सोचना गलत है। पशुओं में तो मूलप्रवृत्ति का दर्शन बहुत-कुछ मूल रूप (in original form) में ही होता है, परन्तु मानव अपनी शिक्षा, अनुभव, ज्ञान, आदर्श, सामाजिक नियम आदि के आधार पर मूलप्रवृत्तियों में आवश्यक परिवर्तन कर ही लेता है। यदि मूलप्रवृत्तियाँ बिलकुल ही अपरिवर्तनशील होतीं तो मानव आज भी पशु के स्तर पर ही खड़ा होता।

4. उपयोगिता (Utility)—प्रत्येक मूलप्रवृत्ति से एक जाति-विशेष के सदस्यों को कुछ न कुछ उपयोगिता अवश्य ही प्राप्त होती है, इसीलिये प्रत्येक मूल-प्रवृत्त्यात्मक क्रिया में कोई न कोई प्रयोजन छिपा ही रहता है, और जब तक उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जाती, तब तक क्रियाओं की शृंखला नहीं टूटती। उदाहरणार्थ, भूख लगने पर हम कुछ खाना चाहते हैं। भूख का लक्ष्य भोजन-प्राप्ति है, इसीलिये भोजन प्राप्त न कर लेने तक हम भोजन की खोज में क्रियाशील रहते हैं। इसी प्रकार पुत्र-कामना की मूलप्रवृत्ति को लीजिए। जिस औरत के सन्तान नहीं होती, वह पुत्र-प्राप्ति के लिये क्या नहीं करती—देवता से मिन्नतें माँगती है, दवा खाती है, ताबीज धारण करती है, टोटका करती और करवाती है और दूसरे के नवजात बच्चे को चुरा लाती है—यहाँ तक कि अन्धविश्वास के पंजों में फँस कर बच्चे की बलि तक चढ़ा देती है। उसका एक प्रयत्न असफल होता है, तो दूसरा चलता है और दूसरे के असफल होने पर तीसरे उपाय को अपनाया जाता है, और यही क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि पुत्र की प्राप्ति नहीं हो जाती। कोई-कोई स्त्री तो संतान को अपने गर्भ में धारण करने के लिये आवश्यक प्रयत्न उस अवस्था तक निरन्तर करती रहती है जब तक कि सन्तान-धारण की सम्भव क्षमता समाप्त नहीं हो जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मूलप्रवृत्ति की यह एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि वह प्राणी को एक लक्ष्य-विशेष की ओर निरन्तर ढकेलती रहती है, और तब तक शान्ति से बैठने नहीं देती, जब तक कि लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो जाती। इसी के कारण प्राणी एकदम प्रतिकूल परिस्थितियों से भी निरन्तर टक्कर लेता रहता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि मूलप्रवृत्तियाँ न तो सदैव ठीक ही होती हैं, और न ही सदैव प्राणी की जीवन-रक्षा के लिये उपयोगी ही। श्री फैबर (Febre) के मतानुसार ततैया (बर्र) अपने अण्डे को केंचुए के ऊपर ही रखती है, परन्तु ऐसा करने से पूर्व अपनी मूलप्रवृत्ति से प्रेरित होकर उसको इस प्रकार डंक मार देती है कि केंचुआ अचेत तो हो जाता है, पर मरता नहीं। इस मूलप्रवृत्ति के कारण उपयोगिता यह प्राप्त होती है कि अण्डे से जो बच्चे निकलते हैं, उन्हें केंचुए

का ताजा मांस खाने को मिलता रहता है। परन्तु, श्री एवं श्रीमती पेखम (Peckham) का कहना है कि बर्रं (wasp) के डंक सदैव ठीक नहीं लगते। कभी तो केंचुआ अचेत भी नहीं होता, और कभी वह बिलकुल मर जाता है। इसलिये यह कहना उचित न होगा कि मूलप्रवृत्ति से प्राणी को उपयोगिता प्राप्त होती ही।

5 वैयक्तिक अनुभव से स्वतन्त्र (Independent of Individual Experience)—यह भी कहा जाता है कि मूलप्रवृत्तियाँ कम से कम आरम्भ में वैयक्तिक अनुभव से स्वतन्त्र होती हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मूलप्रवृत्ति अपनी क्रियाशीलता के लिये अनुभव पर निर्भर नहीं होती। यह नहीं है कि जब तक अनुभव न हो तब तक मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया घटित ही नहीं होगी। मूलप्रवृत्ति का स्वत ही विकास होता है, और वह स्वत ही क्रिया को संचालित करती है। परन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि मूलप्रवृत्ति सदा अनुभव से स्वतन्त्र रहती है। जैसा कि श्री मॉर्गन (Morgan) का मत है कि मूलप्रवृत्त्यात्मक व्यवहार का प्रारम्भिक रूप तो पूर्व-अनुभव से स्वतन्त्र होता है, पर बाद में उस पर अनुभव का भी प्रभाव पड़ता है।

6 प्रथम क्रिया में ही पूर्णता (Perfection at first performance)—कोई भी मूलप्रवृत्त्यात्मक व्यवहार जब सबसे पहले किया जाता है, तो उसमें इतनी पूर्णता होती है कि ऐसा लगता है कि उसे करने वाले प्राणी ने उस कार्य को करने का पर्याप्त प्रशिक्षण प्राप्त किया है। सालों के अभ्यास तथा प्रशिक्षण के पश्चात् मनुष्य तैरने में जो कुशलता प्राप्त करता है, उससे कहीं अधिक कुशलता से बत्तख का छोटा-सा बच्चा पानी में तैरता फिरता है। यहाँ पर यह कह देना उचित होगा कि मूलप्रवृत्त्यात्मक व्यवहार की प्रथम क्रिया में ही 'पूर्णता' का तात्पर्य यह नहीं है कि मूलप्रवृत्त्यात्मक व्यवहार आरम्भ से ही पूर्ण रूप में विकसित होता है। वास्तव में, विकास का क्रम धीरे-धीरे और निरन्तर चलता रहता है। फिर भी, यदि हम प्रथम बार की गई सामान्य क्रिया और प्रथम बार किये गये मूलप्रवृत्त्यात्मक व्यवहार की तुलना करें तो हमें मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया में निश्चय ही अधिक पूर्णता देखने को मिलेगी। उदाहरण के लिये, चिड़िया घोंसले से निकल कर पहले दिन ही उतनी अच्छी और ऊँची उड़ान नहीं भर सकती, जितनी कुछ दिन के अनुभव के बाद। फिर पहले दिन भी वह उड़ान ऐसी नहीं होती कि चिड़िया बार-बार जमीन पर गिर जाय, जैसे कि मनुष्य का बच्चा पहले दिन पैरों पर खड़े होकर चलने के दौरान बार-बार गिर पड़ता और चोट खाता है।

7. मनःशारीरिक क्षमता (Psycho-physical Disposition)—डॉ० मैक्डूगल के अनुसार मूलप्रवृत्ति एक मनःशारीरिक प्रवृत्ति है, क्योंकि मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया में बोधात्मक, उद्वेगात्मक और क्रियात्मक, ये तीन अंग होते हैं। मूलप्रवृत्ति के कारण ही प्राणी एक विशेष परिस्थिति या वस्तु का बोध करता है। उस बोध से एक उद्वेग या संवेग उत्पन्न होता है, और यह संवेग वह प्रेरक शक्ति बन जाता है, जो प्राणी को एक विशेष ढंग से कार्य करने को बाध्य करती है, या कम से कम उस कार्य को करने की प्रेरणा प्रदान करती है। चूँकि कार्य एक शारीरिक क्रिया है और बोध व उद्वेग मानसिक, इसलिए मूलप्रवृत्ति को मनःशारीरिक क्षमता या प्रवृत्ति कहा गया है। साँप को देखकर (बोध) भय (उद्वेग) के कारण पलायन

(क्रिया), सम्पूर्ण मूलप्रवृत्यात्मक व्यवहार का उत्तम उदाहरण है जिसमें मन या मस्तिष्क तथा शरीर, दोनों का ही योग होता है।

मूलप्रवृत्तियों का वर्गीकरण
(Classification of Instincts)

मूलप्रवृत्तियाँ कितने प्रकार की होती है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मत भेद है। आरम्भ में विद्वान् अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार, एक-दो से लेकर एक सौ मूलप्रवृत्तियों का उल्लेख किया करते थे। उन सब की विवेचना हमारे लिये लाभप्रद नहीं होगी। हम तो यहाँ केवल कुछ प्रमुख वर्गीकरणों का ही उल्लेख करेंगे।

श्री कर्क पैट्रिक के अनुसार, प्रमुख मूलप्रवृत्तियाँ संख्या में केवल पाँच हैं—(क) आत्मरक्षा की मूलप्रवृत्ति; (ख) सन्तानोत्पत्ति की मूलप्रवृत्ति; (ग) सामूहिक जीवन की मूलप्रवृत्ति, (घ) अनुकूलन की मूलप्रवृत्ति; और (ङ) आदर्श-पालन की मूलप्रवृत्ति।

श्री वुडवर्थ (Woodworth) के अनुसार, मूलप्रवृत्तियों को तीन मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है—(अ) शरीर-रक्षार्थ मूल आवश्यकताओं से सम्बन्धित प्रतिक्रियायें, जैसे ध्यान, भूख, कष्ट इत्यादि से रक्षा; (ब) अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में प्रतिक्रियायें, जैसे सामूहिक जीवन, काम-तृप्ति आदि; और (स) खेल से सम्बन्धित प्रतिक्रियायें।

सर्वश्री ड्रीवर (Drever) तथा टोलमैन (Tolman), दोनों ने ही केवल दो-दो प्रकार की मूलप्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। ड्रीवर के अनुसार, मूलप्रवृत्तियों को रुच्यात्मक (appetitive) तथा प्रतिकारात्मक (reactive), इन दो प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है, जबकि टोलमैन द्वारा उल्लिखित दो भाग रुचियाँ (appetites) और घृणायें (aversions) हैं।

श्री थाउलस (Thoules) के अनुसार, मूलप्रवृत्तियाँ केवल तीन हैं—(अ) आत्मरक्षा की मूलप्रवृत्ति; (ब) सन्तानोत्पत्ति की मूलप्रवृत्ति; तथा (स) सामूहिक जीवन की मूलप्रवृत्ति।

डॉ० मैक्डूगल (McDougall) का वर्गीकरण सबसे अधिक व्यापक है। उन्होंने मनुष्य में पाई जाने वाली 14 प्रकार की मूलप्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार, प्रत्येक मूलप्रवृत्ति एक विशेष उद्वेग द्वारा अनुगमित (followed) होती है। इसी कारण आपने मूलप्रवृत्तियों और उनके सहवर्ती उद्वेगों या संवेगों की एक सूची प्रस्तुत की है। सूची इस प्रकार है[6]–

मूलप्रवृत्ति	सहवर्ती उद्वेग
1. पलायन (flight)	भय (fear)
2. निवृत्ति (repulsion)	घृणा (disgust)
3. जिज्ञासा (curiosity)	आश्चर्य (wonder)
4. युयुत्सा (pugnacity)	क्रोध (anger)
5. पुत्र-कामना (parental)	वात्सल्य (tender)

6. आत्मगौरव (self-assertion) — आत्माभिमान (elation)
7. आत्मादश्रा (self-abasement) — आत्महीनता (subjection)
8. काम (sexual) — कामुकता (lust)
9. सामूहिकता (gregariousness) — एकाकीपन (loneliness)
10. संचय (acquisition) — अधिकार-भावना (ownership)
11. विधायकता (constructivity) — कृतिभाव (creativeness)

डॉ० मैक्डूगल के अनुसार, उपर्युक्त मूलप्रवृत्तियों में प्रथम सात मूलप्रवृत्तियाँ तो बहुत ही स्पष्ट या उत्तम रूप से परिभाषित (well-defined) उद्वेगों से सम्बन्धित हैं, जबकि अन्तिम चार मूलप्रवृत्तियाँ कुछ कम प्रभावशील उद्वेगों से सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्ध में कुछ लेखकों ने लिखा है कि डॉ० मैक्डूगल की अन्य कृतियों के अध्ययन में 14 मूलप्रवृत्तियों का उल्लेख मिलता है। उनमें से 11 का उल्लेख तो हम ऊपर कर चुके हैं, शेष तीन और उनके सहवर्ती उद्वेग इस प्रकार हैं—

12. शरणागति (appeal) — करुणा (mercy)
13. भोजनान्वेषण (food-seeking) — भूख (hunger)
14. हास (laughter) — आमोद (recreation)

इन 14 मूलप्रवृत्तियों के अतिरिक्त डॉ० मैक्डूगल ने कुछ सामान्य जन्मजात प्रवृत्तियों (some general or non-specific innate tendencies) का भी उल्लेख किया है। वे हैं—(अ) सहानुभूति (sympathy); (ब) सुझाव (suggestion); (स) अनुकरण (imitation); तथा (द) खेल (play)।[17] इन प्रवृत्तियों की हम अगले अध्याय में विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे। यहाँ हम केवल उपर्युक्त 14 मूलप्रवृत्तियों में से कुछ के विषय में संक्षेप में विचार करेंगे।

1. पलायन की मूलप्रवृत्ति (the Instinct of Flight)—किसी खतरे से दूर भाग जाने की मूलप्रवृत्ति सभी पशुओं के अस्तित्व के लिये आवश्यक है। उच्च श्रेणी के पशुओं (higher animals) में तो यह मूलप्रवृत्ति बहुत ही शक्तिशाली होती है। यह मूलप्रवृत्ति तभी क्रियाशील होती है, जब भय का उदय हो। किसी खतरनाक वस्तु अथवा घटना के दर्शन या श्रवण से मन में भय का उद्वेग (emotion of fear) उत्पन्न होता है और यह उद्वेग प्राणी को भाग निकलने के लिये बाध्य या प्रेरित करता है। यदि भय की मात्रा अत्यधिक हो जाती है या आतंक (terror) छा जाता है तो मनुष्य और पशु, दोनों के ही मस्तिष्क में उसकी प्रतिक्रिया इतनी भयंकर होती है कि उससे उनकी मृत्यु तक हो सकती है। बच्चों में तो अचानक तेज आवाज, बन्दर आदि के आपसी झगड़े, पशु के गर्जन आदि से भी भय का उदय होता है और वे उस स्थान से दूर भाग जाते हैं।

2. निवृत्ति की मूलप्रवृत्ति (the Instinct of Repulsion)—निवृत्ति का शाब्दिक अर्थ है, छुटकारा पाना। जब हम किसी वस्तु से छुटकारा पाने या उसे छोड़ देने के लिये स्वाभाविक रूप से प्रयत्नशील होते हैं तो वह निवृत्ति की मूलप्रवृत्ति की ही क्रियाशीलता होती है। छुटकारा पाने की प्रवृत्ति हम में तब पनपती है, जब किसी चीज से हमें घृणा हो। इसीलिये घृणा को निवृत्ति की मूलप्रवृत्ति का सहवर्ती उद्वेग माना गया है। देखा गया है कि खाते समय मनुष्य या पशु के मुँह में यदि कोई गन्दी चीज चली जाती है तो वह फौरन उसे मुँह से बाहर निकाल देता है।

3 जिज्ञासा की मूलप्रवृत्ति (the Instinct of Curiosity)—जिज्ञासा की मूलप्रवृत्ति केवल मनुष्यो में ही नही, अपितु उच्चस्तरीय पशुओ मे भी पायी जाती है, यद्यपि पशुओ मे इस प्रवृत्ति की गहराई बहुत कम होती है। बन्दरो मे तो जिज्ञासा शरारत से भरपूर होती है। ये अपनी जिज्ञासा की मूलप्रवृत्ति से प्रेरित होकर वस्तुओ के निकट जाते हैं, उसे उठाकर उलट-पलट कर देखते हैं, ठोक-बजाकर नाना प्रकार से 'प्रयोग' (experiment) करते हैं, और अन्त मे कुछ न समझ सकने पर वस्तु को दाँत से काटते, फाड़ते, तोड़ते, बिखरा देते या पटक कर चकनाचूर कर देते हैं। कुछ इसी प्रकार की जिज्ञासा और व्यवहार बच्चो में भी देखने को मिलता है। जब किसी चीज को देखकर हमे आश्चर्य होता है, तभी उसके विषय मे हमारे मन मे जिज्ञासा होती है। इसीलिये आश्चर्य को जिज्ञासा की मूलप्रवृत्ति का सहवर्ती उद्वेग माना गया है।

4 युयुत्सा की मूलप्रवृत्ति (the Instinct of Pugnacity)—लड़ने की मूलप्रवृत्ति को युयुत्सा कहते है। प्राणी गुस्सा या क्रोध का उद्वेग (emotion of anger) उत्पन्न होने पर ही युयुत्सा की ओर प्रेरित होता है। यदि एक कुत्ते के मुँह से मास छीन लिया जाता है तो वह गुस्से मे भर उठता है और काटने को भागता है। इसी प्रकार अपने बच्चे को दूसरे के द्वारा पिटते देखकर उसके माता-पिता को एकदम गुस्सा आ जाता है और वे पीटने वाले व्यक्ति से लड़ने को तैयार हो जाते है। मनुष्य मे क्रोध का सबसे विकराल रूप शायद उस समय देखने को मिलता है जब वह अपनी बहन, बेटी या पत्नी के साथ किसी अन्य पुरुष को अवैध रूप मे यौन-सम्बन्ध स्थापित करते देखता है। उस अवस्था मे युयुत्सा की मूलप्रवृत्ति इतनी तीव्रता से क्रियाशील होती है कि लोग दूसरो की हत्या तक कर बैठते है। श्री डार्विन का कहना है कि क्रोध की अभिव्यक्ति मुख-मण्डल (facial expression) के माध्यम से भी होती है। फिर भी शिक्षा, शिष्टाचार, उच्च आदर्श आदि के कारण सुसभ्य मनुष्य को क्रोध और युयुत्सा की ओर परिस्थितियो को दबाना पड़ता है।

5 दैन्य की मूलप्रवृत्ति (the Instinct of Self abasement)—यह मूलप्रवृत्ति स्वयं को कम महत्त्वपूर्ण समझ कर दूसरे की अधीनता को स्वीकार करने को प्रेरित करती है। यह तभी होती है जब एक प्राणी मे आत्महीनता या पराधीनता (subjection) का उद्वेग उत्पन्न होता है। इसी उद्वेग से प्रेरित होकर नौकर मालिक के सामने हाथ जोड़कर, सिर नीचा किये, खड़ा रहता है, या पालतू कुत्ता अपने स्वामी के पैरो को चाटने और दुम हिलाने लगता है।

6· आत्मगौरव की मूलप्रवृत्ति (the Instinct of Self-assertion)—यह दैन्य की मूलप्रवृत्ति की ठीक विरोधी प्रवृत्ति है। इस मूलप्रवृत्ति का संवेगात्मक या उद्वेगात्मक पक्ष आत्मशक्ति या आत्माभिमान (elation) है। पशु-पक्षियो मे शेर, घोड़े तथा मोर मे आत्मगौरव की मूलप्रवृत्ति सुस्पष्ट रूप मे देखने को मिलती है। शेर किस आत्माभिमान के साथ जंगल मे विचरण करता है, यह तो सभी जानते हैं। इसी प्रकार, काली घटा को देखकर जब मोर नाचता है, तो उसके प्रत्येक हाव-भाव से आत्माभिमान ही टपकता है। इसी प्रकार योग्य व समर्थ पति की बगल मे खड़ी, अपने सौभाग्य से अवगत, पत्नी को देखिये तो आपको पता चलेगा कि आत्माभिमान किस सीमा तक आत्मगौरव का कारण होता है।

7 पुत्र-कामना-सम्बन्धी मूलप्रवृत्ति (Parental Instinct)— मनुष्य तथा पशु दोनों में ही यह प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप में वर्तमान रहती है। यह प्रकृति की सर्वोत्तम देन है, क्योंकि इसी के कारण न केवल समाज की निरन्तरता बनी रहती है, अपितु समाज में दया, स्नेह-ममता, वात्सल्य आदि सद्प्रवृत्तियाँ भी देखने को मिलती हैं। सामान्य रूप से यह देखा जाता है कि पुत्र-कामना की मूलप्रवृत्ति पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक सुस्पष्ट होती है, और यही कारण है कि माँ अपने बच्चे की देखभाल तथा संरक्षण का काम पिता की अपेक्षा अधिक लाड-प्यार और अधिक चाव से करती है। एक छोटी लड़की भी अपनी गुड़िया को जिस प्यार व ममता से नहलाती, कपड़ा पहनाती, खिलाती व सुलाती है, और अपने अनुमान के अनुसार उस गुड़िया के तथाकथित 'बीमार' पड़ने पर परेशान हो उठती है, उसे देखकर हम आश्चर्यचकित ही रह जाते हैं। अविवाहित स्त्री या पुरुष में भी इस प्रवृत्ति का दर्शन सरलता से किया जा सकता है।

8. कुछ अन्य मूलप्रवृत्तियाँ (Some Other Instincts)—इस सम्बन्ध में कुछ अन्य मूलप्रवृत्तियों का भी उल्लेख संक्षेप में किया जा सकता है। सबसे पहले सामूहिकता की मूलप्रवृत्ति (gregarious instinct) का उल्लेख किया जाना चाहिये। यह वह मूलप्रवृत्ति है, जिससे प्रेरित होकर प्राणी समूह में रहना चाहता है। दूसरों के साथ रहना वह पसन्द करता है। बचपन में बालक अपनी माता का साहचर्य चाहता है, और थोड़ा-सा बड़ा होने पर खेल के साथियों के साथ समय बिता देता है। इसी भाँति बढ़ते-बढ़ते वह सम्पूर्ण विश्व को अपना कहने लगता है।

इसी प्रकार कामभूलक प्रवृत्ति (sexual instinct or instinct of reproduction) का उल्लेख किया जा सकता है। फ्रॉयड ने इसे मूल-शक्ति व मूलप्रवृत्ति की संज्ञा दी है। इस प्रवृत्ति से प्रेरित होकर ही प्राणी भिन्न लिंग की ओर आकर्षित होता है तथा उससे यौन-सम्बन्ध स्थापित करता है, जिसके फलस्वरूप नयी सन्तानों की सृष्टि होती है। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि यह प्रवृत्ति जन्म से ही वर्तमान रहती है, और जीवन के विभिन्न स्तरों पर इसकी अभिव्यक्ति अलग-अलग रूपों में होती है। बचपन में माता के स्तन का पान कर और थोड़ा-सा बड़ा होने पर विभिन्न लिंग के व्यक्ति के प्रति प्रेम प्रदर्शित कर, यौवनावस्था में विपरीत लिंग के व्यक्ति के प्रति आकर्षित होकर, और विवाह के पश्चात् पत्नी से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर व्यक्ति इस प्रवृत्ति का प्रकाशन करता है।

एक और मूलप्रवृत्ति भोजनान्वेषण (food-seeking) की प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति सृष्टि के आरम्भ से ही प्राणियों में विद्यमान रहती है। इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि भोजन के बिना जीवन का अस्तित्व सम्भव नहीं है। इस प्रवृत्ति का उद्वेगात्मक पक्ष भूख है। भूख लगते ही प्राणी भोजन की तलाश करने लगता है, और तब तक शान्त नहीं हो पाता जब तक कि उसे भोजन नहीं मिल जाता। भूख की ताड़ना से कभी-कभी व्यक्ति चोरी करता है, दूसरों से भोजन छीन कर खा लेता है, या भीख माँगता है।

इसी प्रकार, संग्रह-वृत्ति (acquisition) के कारण प्राणी विशेषकर उन चीजों को इकट्ठा करता है जो उसके जीवन-धारण में या प्रतिष्ठा को बढ़ाने में सहायक होती हैं। फिर, रचना-वृत्ति या विधायकता (constructiveness) से प्रेरित होकर प्राणी रचनात्मक कार्यों की ओर झुकता है। चिड़िया एक-एक तिनका इकट्ठा करके जिस तरह से घोंसला बनाती है, उसे देखकर ही रचना-वृत्ति की प्रभावशीलता

का अनुमान लगाया जा सकता है। हँसने की मूलप्रवृत्ति केवल मनुष्यों में ही पायी जाती है। आमोद का अनुभव करने तथा हँसने योग्य बातों या उपकरणों के होने पर व्यक्ति स्वतः ही हँसता है। मनुष्य हँसकर ही अपने अनेक दुखों व कष्टों के बोझ को हल्का कर लेता है। मानव के लिए यह प्रकृति का एक अनमोल उपहार है। इसी उपहार के बल पर मानव अपने आप पर हँसता है, दूसरा पर हँसता है, यहाँ तक कि हँसी देने वाले देवता पर भी हँसने की हिम्मत करता है।

मूलप्रवृत्तियाँ और मानव व्यवहार के अन्य प्रकार
(Instincts and Other Forms of Human Behaviour)

डॉ० मैक्डूगल का कथन है कि मूलप्रवृत्तियाँ ही मानव की समस्त क्रियाओं की प्रमुख संचालिका होती हैं। इस सम्बन्ध में अधिक कुछ सोचे बिना ही हम कह सकते हैं कि डॉ० मैक्डूगल का कथन पूर्णतया सत्य प्रतीत नहीं होता। मानव-व्यवहार को प्रभावित करने वाले कुछ अन्य आधारों की विवेचना करने से ही यह बात और भी स्पष्ट हो सकती है।

मूलप्रवृत्ति और सहज-क्रिया
(Instinct and Reflex Action)

श्री हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) आदि कुछ विद्वान्, सामान्यतः, मूलप्रवृत्ति और सहज-क्रिया में कोई भी भेद नहीं मानते। उनका कहना है कि कोई भी मूलप्रवृत्ति अनेक सहज-क्रियाओं की योग या शृंखला मात्र होती है। इस भ्रम का कारण यही है कि मूलप्रवृत्ति और सहज-क्रिया में कुछ समानतायें हैं, और उन समानताओं में दो उल्लेखनीय समानताएँ ये हैं कि (अ) दोनों ही जन्मजात होती हैं, इस कारण दोनों ही स्वाभाविक रूप से घटित होती हैं, तथा (ब) दोनों ही प्रकार की क्रियायें जीवन-रक्षा से सम्बन्धित किसी न किसी उपयोगी उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। परन्तु, सर्वश्री लॉयड मॉर्गन (Lloyd Morgan), गिन्सबर्ग (Ginsberg) आदि का कहना है कि इन समानताओं के होते हुए भी मूलप्रवृत्ति और सहज-क्रिया समान नहीं हैं। सहज-क्रिया वह सरल व स्वाभाविक क्रिया है, जो किसी बाह्य उत्तेजना की प्रतिक्रिया में अनायास ही घटित होती है।

मूलप्रवृत्ति और सहज-क्रिया में अन्तर (Distinction between Instinct and Reflex Action)—सहज-क्रिया की उपर्युक्त परिभाषा से ही स्पष्ट है कि मूलप्रवृत्ति और सहज-क्रिया में एकाधिक अन्तर या असमानताएँ हैं, जिनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(i) सहज-क्रिया किसी बाह्य उत्तेजना की प्रतिक्रियास्वरूप होती है, जैसे कि अगर कोई हमारी आँख के सामने उँगली ले आये तो पलकें अनायास ही बन्द हो जायेंगी। यह सहज-क्रिया है। इसके विपरीत, मूलप्रवृत्तियों का संचालन एक विशेष प्रकार के उद्वेग की आन्तरिक प्रेरणा के द्वारा होता है।

(ii) सहज-क्रिया में शरीर का केवल एक भाग और मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया में सम्पूर्ण शरीर क्रियाशील होता है। दूसरे शब्दों में, मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया में हमारा शरीर समग्र रूप से भाग लेता है, जबकि सहज-क्रिया में केवल शरीर का एक अंग ही प्रतिक्रिया करता है। उदाहरणार्थ, सुई चुभने पर हम अपना हाथ खींच लेते हैं। इस क्रिया या प्रतिक्रिया का पूरे शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरी ओर, घोंसला

बनाने की मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया में चिड़ियाँ अपने पंखों की सहायता से उड़ती हैं, आँखों से तिनका आदि देखती हैं, चोंच से तिनके उठाती हैं, पेड़ पर या अन्य किसी स्थान पर उन्हें एकत्रित करती हैं, और फिर गा-गाकर अपने घोंसले बनाती हैं। अतः स्पष्ट है कि मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया में शरीर समग्र रूप में भाग लेता या प्रभावित होता है।

(iii) साधारणतः सहज-क्रियाओं का संचालन मेरुदण्ड या सुषुम्ना (spinal cord) के द्वारा होता है, जबकि मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया में ज्ञानेन्द्रियों, सम्पूर्ण स्नायु-मण्डल तथा कर्मेन्द्रियों का अपना-अपना योगदान रहता है।

(iv) सहज-क्रिया किसी विशेष उत्तेजना के प्रति एक तात्कालिक प्रतिक्रिया मात्र होती है, जबकि मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया में सम्पूर्ण परिस्थिति के प्रति मन शारीरिक प्रतिक्रिया होती है।

(v) मूलप्रवृत्ति जटिल और सहज-क्रिया सरल व सामान्य होती है। मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया में अनेक क्रियाओं (सहज-क्रियाएँ नहीं) की एक शृंखला होती है, जो उसे जटिल बना देती है, जैसा कि घोंसला वाले उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है। पर, किसी की उँगली को अपनी आँखों के सामने देखकर आँखें बन्द कर लेना एक सादी व सरल क्रिया है।

(vi) प्रत्येक मूलप्रवृत्ति का एक उद्देश्य होता है और उस उद्देश्य का पूर्ण ज्ञान व्यक्ति अथवा प्राणी को रहता है। साथ ही, जब तक उस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जाती, तब तक प्रयत्न जारी रहता है। सहज-क्रिया का भी उद्देश्य होता है, पर व्यक्ति या प्राणी को उसका ज्ञान नहीं होता। साथ ही, मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया की भाँति सहज-क्रिया अधिक समय तक क्रियाशील नहीं रहती। इसका अवधि-काल बहुत क्षणिक होता है।

(vii) मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया में परिवर्तन या संशोधन की सम्भावना होती ही है, पर सहज-क्रिया में ऐसा नहीं होता। शिक्षा, अनुभव, ज्ञान, प्रशिक्षण आदि के आधार पर मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाओं में सुधार होता रहता है। उदाहरणार्थ, भोजनान्वेषण की मूलप्रवृत्ति को तृप्त करने के तरीकों में आज अनेक सुधार हो गए हैं। इसके विपरीत, सहज-क्रिया में किसी भी प्रकार के सुधार की सम्भावना नहीं होती, क्योंकि यह तात्कालिक प्रतिक्रिया है, और इसमें सोचने-विचारने के लिए थोड़ा भी समय नहीं होता। यह तो जन्म से लेकर मृत्यु तक, समान रूप से, यंत्रवत् संचालित होती रहती है।

मूलप्रवृत्तियाँ और आदतें
(Instincts and Habits)

कुछ लेखक मूलप्रवृत्तियों और आदतों को भी एक समझने की गलती करते हैं, क्योंकि ज्यादा पुरानी आदतें बहुत शक्तिशाली होती हैं, और उस रूप में वे व्यक्ति के व्यवहारों को मूलप्रवृत्तियों की भाँति ही नियंत्रित करती हैं। परन्तु श्री आलपोर्ट (Allport) का मत है कि हमें इस प्रकार के भ्रम से बचना चाहिए। यह सच है कि कुछ क्रियायें परिस्थिति, अनुभव व शिक्षा के कारण धीरे-धीरे आदतों में बदल जाती हैं, और आदतों के प्रभाव से व्यक्ति सहज व स्वाभाविक रूप में कतिपय क्रियाओं को करने लगता है। पर, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रत्येक क्रिया को मूलप्रवृत्ति ही मान लिया जाय। श्री डनलप (Dunlop) का मत है कि यद्यपि मूलप्रवृत्तियाँ

आदतें डालने का आधार होती है, फिर भी मूलप्रवृत्तियाँ और आदतें एक नहीं हैं। इनमे समानता केवल इतनी ही है कि पशु और मनुष्य दोनो मे ही मूलप्रवृत्तियो की भाँति आदतो का भी दर्शन होता है, और इन दोनो मे प्राणी को कार्य के लिये प्रेरित करने की प्रबल शक्ति होती है। एक निश्चित समय पर चाय पीने की आदत अगर पड़ जाय तो लाख प्रयत्न करने पर भी उस समय चाय पीने की तलब टाली नही जा सकती। इसीलिये श्री जेम्स ने आदतो को मनुष्य का दूसरा स्वभाव (second nature of man) कहा है।

मूलप्रवृत्तियों और आदतों मे अन्तर (Distinction between Instincts and Habits)—(1) मूलप्रवृत्तियो और आदतो मे सबसे प्रमुख अन्तर यह है कि मूलप्रवृत्तियाँ जन्मजात आन्तरिक प्रवृत्ति होती हैं, जबकि आदतें सीखी जाती हैं, इसलिये इन्हें अर्जित व्यवहार की विधि कहा जा सकता है। (2) प्रत्येक मूलप्रवृत्ति का लक्ष्य होता है और उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वह प्राणी को निरन्तर प्रयत्नशील या क्रियाशील रहने को प्रेरित करती है, जबकि आदतें अपने अभ्यास के फलस्वरूप क्रियात्मक प्रेरणा का कार्य करती हैं। डॉ० मैक्डूगल (McDougall) के मतानुसार आदतो मे प्रेरणात्मक शक्ति नहीं होती, यह शक्ति केवल मूलप्रवृत्तियों मे ही होती है। परन्तु, डॉ० मैक्डूगल के इस मत से आज के मनोवैज्ञानिक सहमत नही है। उनका कहना है कि मूलप्रवृत्ति से प्रेरित होकर एक क्रिया को बार-बार दोहराने से आदतें बनती हैं। यह सच है, पर साथ ही यह भी सत्य है कि जब एक आदत बहुत दृढ़ हो जाती है तो उसकी अपनी स्वतन्त्र प्रेरणात्मक शक्ति बन जाती है। (3) मूलप्रवृत्तियाँ किसी भी जाति (species) के सब सदस्यों मे समान रूप से पायी जाती हैं। दूसरे शब्दो मे, मूलप्रवृत्त्यात्मक व्यवहार मे वैयक्तिक विभिन्नता का सर्वथा अभाव होता है, परन्तु एक जाति के विभिन्न सदस्यो की आदतें भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, और होती भी हैं। इस प्रकार आदत एक वैयक्तिक घटना (individual phenomenon) है, जबकि मूलप्रवृत्ति एक सामूहिक घटना (group phenomenon) इस अर्थ मे है कि इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण जाति (species) से होता है। (4) मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया मे आरम्भ से ही अद्भुत पूर्णता पाई जाती है, और यह पूर्णता प्राणी के अनुभव या अभ्यास के कारण नही होती। इसके विपरीत, चूँकि आदतें अभ्यास पर आधारित होती हैं, इस कारण इनकी प्रथम क्रिया मे पूर्णता का अभाव होता है। (5) मूलप्रवृत्ति मे विश्व-व्यापकता की विशेषता होती है। यह नही है कि पलायन, पुत्र-कामना या जिज्ञासा की मूलप्रवृत्ति भारतवर्ष मे निवास करने वाले प्राणियों मे ही होती है, अमेरिका मे रहने वालों मे नही। मूलप्रवृत्तियाँ तो हर समाज और सांस्कृतिक विकास के हर स्तर पर समान होती हैं, परन्तु आदतें समाज व समय के अनुसार भिन्न-भिन्न होती हैं, अर्थात् आदतें अधिक स्थानीय (local) होती हैं।

मूलप्रवृत्ति और उद्वेग या संवेग
(Instinct and Emotion)

हमारे जीवन तथा क्रियाओं के तीन पहलू होते हैं—ज्ञानात्मक (cognitive), भावनात्मक (affective) और क्रियात्मक (conative)। इनमे संवेग या उद्वेग का सम्बन्ध भावनात्मक पक्ष से ही होता है। भय, घृणा, क्रोध,

करुणा, वात्सल्य आदि उद्वेग के ही उदाहरण हैं। प्रत्येक उद्वेग में कोई न कोई भाव या भावना छिपी रहती है। इसीलिये श्री टिचनर (Titchner) ने उद्वेग को अधिक जटिल भाव (a more complex feeling) कहकर परिभाषित किया है। पर, वास्तव में बात ऐसी नहीं है। भाव एक निर्बल प्रक्रिया है, जबकि संवेग या उद्वेग एक सबल प्रक्रिया। उद्वेग में प्राणी को कार्य के लिये प्रेरित करने की असीम शक्ति निहित होती है। साथ ही, उद्वेग में उत्तेजना स्पष्ट रूप में होती है। इसीलिये श्री वुडवर्थ (Woodworth) ने व्यक्ति की उत्तेजित अवस्था को ही संवेग की संज्ञा दी है। प्रशंसा, सहानुभूति, करुणा आदि कुछ उद्वेगों में उत्तेजना की मात्रा कम होती है।

डॉ० मैक्डूगल के अनुसार, प्रत्येक मूलप्रवृत्ति एक विशिष्ट उद्वेग द्वारा अनुगमित होती है। हर मूलप्रवृत्ति का एक सहवर्ती उद्वेग होगा ही। दैनिक जीवन में जो कुछ हम देखते हैं, उसके आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि डॉ० मैक्डूगल का सिद्धान्त ठीक है; परन्तु, सर्वश्री ड्रेवर, रिवर्स आदि विद्वानों का मत है कि उद्वेग मूलप्रवृत्त का एक आवश्यक अंग नहीं है। उद्वेग तभी उत्पन्न होता है जब सब मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाएँ अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफल नहीं होतीं। उदाहरणार्थ, यदि हमें पता लग जाय कि आवश्यकता पड़ने पर हमें भोजन नहीं मिल पायेगा, तो हमें निश्चय ही भूख अधिक लगेगी।

श्री मॉरगन (C T. Morgan) ने उद्वेगों तथा मूलप्रवृत्तियों के बीच की कुछ समानताओं का उल्लेख किया है। उनके अनुसार (1) मूलप्रवृत्तियों की भाँति अनेक उद्वेग भी विश्वव्यापी होते हैं, जैसे भय, क्रोध आदि। (2) मूलप्रवृत्तियों की भाँति उद्वेग भी प्राणी को तब तक क्रियाशील रहने को प्रेरित करते हैं जब तक कि उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जाती। (3) मूलप्रवृत्ति और उद्वेग, दोनों ही के द्वारा प्रेरित क्रिया में पूरे शरीर की प्रतिक्रिया होती है।

पर, इन दोनों में कुछ अन्तर भी है—(क) उद्वेगात्मक व्यवहार को उत्तेजना परिस्थिति व बाहरी पर्यावरण से भी प्राप्त होती है, जबकि मूलप्रवृत्त्यात्मक व्यवहार जन्मजात होने के कारण शरीर के अन्दर से उत्तेजना प्राप्त करता है। (ख) मूलप्रवृत्तियाँ किसी भी जाति के सभी सदस्यों में समान होती हैं, पर उद्वेगों में वैयक्तिक भिन्नता हो सकती है।

मूलप्रवृत्ति और बुद्धि

(Instinct and Intelligence)

सम्बन्ध—कुछ विद्वानों का मत है कि मूलप्रवृत्ति और बुद्धि एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं, और एक के सहयोग के बिना दूसरे का पनपना सम्भव नहीं है। इन विद्वानों के अनुसार, व्यवहार, मूलप्रवृत्ति और बुद्धि दोनों का ही प्रतिफल होता है और ये दोनों आरम्भ से ही एक-दूसरे के साथ सहयोग करते हैं।

इसके विपरीत, कुछ विद्वानों का कथन है कि मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया पर बुद्धि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि मूलप्रवृत्ति के साथ बुद्धि का कोई सम्बन्ध नहीं है। बुद्धि का विकास जन्म के बाद अनुभव, शिक्षा आदि के आधार पर होता है, जबकि मूलप्रवृत्ति अनुभव से स्वतन्त्र और जन्म से ही पूर्ण होती है। जो जन्म से ही पूर्ण

होता है, उसे बुद्धि के सहयोग की आवश्यता नहीं होती। साथ ही, मूलप्रवृत्ति और बुद्धि में अन्तर्विरोध भी है, क्योंकि मूलप्रवृत्ति स्वाभाविक ढंग से क्रियाशील रहती है, जबकि बुद्धि हर काम को विवेक, ज्ञान आदि की कसौटी पर कसने का प्रयत्न करती है। जो क्रिया मूलप्रवृत्त्यात्मक दृष्टिकोण से ठीक या स्वाभाविक है, वही क्रिया बौद्धिक आधार पर खरी नहीं भी हो सकती है। इन्हीं कारणों से इन दोनों में अन्तर्विरोध है।

वास्तव में, मूलप्रवृत्ति और बुद्धि में उतना अन्तर्विरोध नहीं है जितना कि समझा जाता है। दोनों में, यद्यपि निश्चय ही अन्तर है, फिर भी मूलप्रवृत्ति पर बुद्धि का प्रभाव किसी न किसी रूप में रहता ही है। जानवरों में बुद्धि का अंश कम होता है, पर मनुष्य अपने अनुभव, शिक्षा आदि के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता, बुद्धि को विकसित करता और उसके आधार पर मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया को भी लाभकारी दिशा में मोड़ देता या उस पर नियन्त्रण रखता है। इसलिये, मूलप्रवृत्ति पर बुद्धि के प्रभाव को पूर्णतया अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में डॉ० मैक्डूगल तक का मत है कि प्राणी के व्यवहार में मूलप्रवृत्ति और बुद्धि दोनों का योगदान रहता है और वह इस रूप में कि मूलप्रवृत्ति द्वारा निर्धारित जन्मजात प्रवृत्तियों में संशोधन बुद्धि के द्वारा ही होता है।[8]

अन्तर—मूलप्रवृत्ति और बुद्धि में घनिष्ठ सम्बन्ध होने हुए भी इनमें कुछ अन्तर है, जो इस प्रकार है—(1) मूलप्रवृत्ति जन्मजात होती है, जबकि बुद्धि का विकास आयु, शिक्षा, अनुभव आदि की वृद्धि के साथ-साथ होता है। दूसरे शब्दों में पर्यावरण या परिस्थिति का जितना अधिक प्रभाव बुद्धि पर पड़ता है, उतना मूलप्रवृत्ति पर नहीं। (2) मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया के प्रथम प्रयास में ही पूर्णता होती है, पर बुद्धि धीरे-धीरे निरन्तर पूर्णता की ओर बढ़ती है। (3) मूलप्रवृत्ति जाति के सभी सदस्यों में समान होती है, जबकि बुद्धि की मात्रा प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होती है। (4) बुद्धि में मूलप्रवृत्तियों की अपेक्षा परिवर्तनशीलता का गुण अधिक होता है। इस कारण बुद्धि की सहायता से हम उन परिस्थितियों के साथ भी अपना अनुकूलन कर सकते हैं जिनसे ऐसा करने में मूलप्रवृत्ति हमें मदद नहीं कर सकती।

मैक्डूगल का मूलप्रवृत्ति का सिद्धान्त

(McDougall's Theory of Instinct)

वैसे तो मूलप्रवृत्ति के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये हैं, पर इस क्षेत्र में डॉ० मैक्डूगल के अनुसार मूलप्रवृत्ति एक जन्मजात मनः शारीरिक क्षमता है, जो प्राणी को किन्हीं विशेष प्रकार की परिस्थितियों या वस्तुओं का बोध करवाती है। साथ ही उस बोध से एक विशेष प्रकार का उद्वेग उत्पन्न होता है जिसके फलस्वरूप प्राणी एक विशेष प्रकार का कार्य करता है, या कम से कम इस प्रकार के कार्य करने की प्रेरणा का अनुभव करता है।

सिद्धान्त की व्याख्या

(Explanation of the Theory)

वैसे तो डॉ० मैक्डूगल की सम्पूर्ण पुस्तक An Introduction to Social Psychology उनके मूलप्रवृत्ति-सम्बन्धी विचारों की व्याख्या है, पर श्री मर्फी (Murphy) ने उसे संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

(1) प्रत्येक मनुष्य या पशु में एक विशेष परिस्थिति का बोध करने की एक जन्मजात प्रवृत्ति या आन्तरिक स्वभाव होता है, जैसे एक मुर्गी के बच्चे में बाज की छाया को पहचानने या बोध करने का एक जन्मजात गुण या प्रवृत्ति होती है।

(2) इस बोध से एक विशेष तथा स्पष्ट उद्वेगात्मक उत्तेजना का अनुभव होता है। उदाहरणार्थ, बाज की उस छाया को देखते या उसका बोध करते ही मुर्गी का बच्चा भय का अनुभव करता है। यह भय की अनुभूति एक विशिष्ट उद्वेग (emotion) है।

(3) यह उद्वेग उस प्राणी को एक विशेष प्रकार का कार्य करने को बाध्य करता है या करने की प्रेरणा देता है। जैसे कि वह मुर्गी का बच्चा भय के कारण भागने की कोशिश करेगा और सिर्फ वही मुर्गियाँ बाज के पंजों से छूटकर जीवित रह सकेंगी जो इस प्रकार भाग निकलेंगी। वास्तव में, जीवित रहने के संघर्ष (struggle for existence) में सफल होने के लिये उपर्युक्त तीनों पक्ष—(क) किसी चीज का बोध करना, (ख) उस बोध के फलस्वरूप एक विशेष उद्वेग का अनुभव करना, तथा (ग) उस उद्वेग की प्रेरणा से एक विशेष प्रकार से कार्य करना उपयोगी है।

(4) उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि किसी भी मूलप्रवृत्ति के तीन मानसिक-शारीरिक (psycho-physical) पहलू होते हैं—(अ) ज्ञानात्मक (cognitive), (ब) उद्वेगात्मक (affective) और (स) क्रियात्मक (conative)। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्येक मूलप्रवृत्यात्मक व्यवहार में प्राणी सबसे पहले किसी वस्तु का ज्ञान या बोध करता है, फिर उस ज्ञान के आधार पर उसे एक उद्वेग का अनुभव होता है, और वह उद्वेग उस प्राणी को एक विशेष प्रकार का कार्य करने को बाध्य करता है, या कम से कम कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करता है, जिसके फलस्वरूप प्राणी बोध की हुई वस्तु को या तो पाने का या उससे दूर भागने का प्रयत्न करता है।[9]

(5) डॉ० मैक्डूगल का यह भी कहना है कि मूलप्रवृत्ति के ज्ञानात्मक, उद्वेगात्मक तथा क्रियात्मक, इन तीनों पहलुओं का सम्बन्ध स्नायु-मण्डल (nervous system) के क्रमशः बोध-स्नायु (afferent), केन्द्रीय भाग (central) तथा गति-स्नायु (motor or efferent) से होता है। प्रथम भाग वस्तु के सम्बन्ध में बोध को प्राप्त करता है और उसे केन्द्र तक पहुँचाता है। केन्द्र उद्वेग को उत्पन्न व निर्देशित करता है और गति-स्नायु उसे बाहर की ओर ले जाकर कार्य करने के लिये प्रेरित करती है। दूसरे शब्दों में, इस प्रक्रिया को इस प्रकार समझाया जा सकता है: बोध-स्नायु या ज्ञानवाही स्नायु-कोषों की सहायता से स्नायु-प्रवाह ज्ञानेन्द्रियों से मस्तिष्क के केन्द्र-विशेष में पहुँचता है, जिससे हमें किसी उत्तेजना की संवेदना होती है। केन्द्रीय भाग बोध-स्नायु या ज्ञानवाही स्नायु-कोष और गति-स्नायु या क्रियावाही स्नायु-कोषों में साहचर्य स्थापित करता है या उन दोनों को मिलाने का काम करता है। केन्द्रीय भाग जो स्नायु-प्रवाह ज्ञानवाही स्नायु-कोष (बोध-स्नायु) से पाता है, उसे वह क्रियावाही स्नायु-कोष (गति-स्नायु) में भेज देता है। क्रियावाही स्नायु-कोष केन्द्र से स्नायु-प्रवाहों को मांसपेशियों और ग्रन्थियों (या संक्षेप में कर्मेन्द्रियों) तक ले जाते हैं, जिससे हम कोई भी क्रिया करते हैं। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि प्रत्येक मूलप्रवृत्यात्मक व्यवहार में ज्ञानेन्द्रियों, स्नायु-मण्डल तथा कर्मेन्द्रियों का या संक्षेप

मे प्राणी के शारीरिक तथा मानसिक पक्षो का योगदान होता है। इसीलिये डॉ० मैक्डूगल ने मूलप्रवृत्तियो को जन्मजात मन-शारीरिक प्रवृत्ति या क्षमता कहा है।[10]

(6) प्रत्येक मूलप्रवृत्ति का साथी एक विशेष गुणवाला उद्वेग (emotion) होता है, जैसे पलायन का सहवर्ती उद्वेग भय, पुत्र-कामना का वात्सल्य, जिज्ञासा का आश्चर्य, युयुत्सा का क्रोध आदि। डॉ० मैक्डूगल द्वारा उल्लिखित मूलप्रवृत्तियो तथा उनके सहवर्त्ती उद्वेगो के विषय मे हम पहले ही विस्तारपूर्वक चर्चा कर चुके हैं।

(7) व्यक्ति की जीवनावधि मे मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया के ज्ञानात्मक पक्षो मे बहुत कुछ परिवर्तन किया जा सकता है, जबकि उद्वेगात्मक पक्ष जीवन भर स्थायी तथा अपरिवर्तनशील ही बना रहता है। यह उद्वेगात्मक पक्ष अपनी विशिष्ट प्रकृति (specific character) या विशिष्टता को बनाये रखता है, और साथ ही सभी व्यक्तियो मे और सभी परिस्थितियो मे (जिनमे कि मूलप्रवृत्ति उत्तेजित होती है) सामान्य बना रहता है (remains common)। इसका सहज अर्थ यह हुआ कि जिस मनुष्य की बुद्धिमत्ता व अनुकूलनशीलता अत्यधिक होती है, उसकी मूलप्रवृत्ति के ज्ञानात्मक और क्रियात्मक पक्ष—ज्ञान व अनुभव के आधार पर बहुत कुछ बदल जाते हैं, जबकि उद्वेगात्मक पक्ष सभी व्यक्तियो मे और सभी परिस्थितियो मे एक-सा बना रहता है[11]एक उदाहरण के द्वारा इसे सरलता से समझा जा सकता है। भोजनान्वेषण की मूलप्रवृत्ति को ही लीजिये। भूख का बोध करने पर ही हम भोजन की तलाश करते हैं। इस प्रकार भूख भोजनान्वेषण का उद्वेगात्मक पक्ष हुआ। पर, भूख का बोध हम किस समय करेंगे और किस रूप मे करेंगे—इसमे विभिन्नता व परिवर्तन सम्भव है। राम सुबह दस बजे भूख का बोध करता है, श्याम बारह बजे और रमेश दोपहर के दो बजे के लगभग। इस प्रकार, इसमे व्यक्तिगत भिन्नता हो सकती है। इतना ही नही, भूख के बोध के समय मे भी परिवर्तन किया जा सकता है। राम अगर दस बजे के स्थान पर सुबह आठ बजे खाना आरम्भ कर दे तो कुछ दिन के बाद उसे भूख का बोध दस बजे के स्थान पर आठ बजे ही होने लगेगा : इस प्रकार मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया के बोधात्मक पक्ष मे परिवर्तन व संशोधन सम्भव है। इसी प्रकार भोजन को प्राप्त करने के तरीके मे (अर्थात् मूलप्रवृत्त्यात्मक व्यवहार के क्रियात्मक पक्ष मे) अनुभव व ज्ञान के आधार पर अनेक सुधार किये जा सकते हैं। भूख लगने पर एक दिन भोजन हम अपने परिवार से, दूसरे दिन होटल से और तीसरे दिन स्वय पका कर प्राप्त कर सकते हैं। अत. भोजनान्वेषण की मूलप्रवृत्ति के बोधात्मक व क्रियात्मक पक्ष मे परिवर्तन हो सकता है, पर उद्वेगात्मक पक्ष मे नही, अर्थात् भूख तो सभी व्यक्तियो को, सभी परिस्थितियो मे, लगेगी ही। सृष्टि के आदिकाल से सभी को भूख लगती आयी है, और भविष्य मे भी, दुनिया की परिस्थिति मे कुछ भी उलट फेर होने पर भी सब को भूख लगेगी ही।

(8) डॉ० मैक्डूगल के अनुसार, मूलप्रवृत्तियाँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण मानव-व्यवहार की प्रमुख चालक (prime mover of all human activity) होती हैं।

मैक्डूगल के सिद्धान्त की आलोचना
(Criticism of McDougall's Theory)

इसमे सदेह नही कि डॉ० मैक्डूगल ने मूलप्रवृत्ति का विश्लेषण इतने विस्तार से किया है जितने विस्तार मे कि अन्य किसी विद्वान् ने नही। साथ ही, उन्होने

मूलप्रवृत्ति के महत्त्व की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है। फिर भी, उनके सिद्धान्त में कुछ मौलिक कमियाँ रह गयी हैं, जिनके कारण अधिकतर आधुनिक मनोवैज्ञानिक उसे स्वीकार नहीं करते हैं। विभिन्न विद्वानों ने इस सिद्धान्त में जिन त्रुटियों का उल्लेख किया है, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

1. श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) के मतानुसार डॉ० मैक्डूगल के सिद्धान्त का अध्ययन करने से यह धारणा पनप जाती है कि मस्तिष्क तीन पृथक् भागों— बोधात्मक, उद्वेगात्मक और क्रियात्मक—में बँटा हुआ है। परन्तु, ये भाग न तो पृथक् हैं और न ही हो सकते हैं। ये तीनों एक-दूसरे से इतने घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं कि इनके पृथक् अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

2. प्रत्येक मूलप्रवृत्ति एक उद्वेग द्वारा अनुगमित होती है। इसकी आलोचना विभिन्न विद्वानों ने इस प्रकार की है—

(क) श्री शैण्ड (Shand) के अनुसार, मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया किसी उद्वेग के उत्तेजित हुए बिना भी हो सकती है। उदाहरणार्थ, यह आवश्यक नहीं कि भोजन की तलाश हम तभी करें जबकि हमें भूख लगे। दूसरे शब्दों में, भोजनान्वेषण की मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया भूख-उद्वेग के उत्तेजित हुए बिना भी हो सकती है।

(ख) डॉ० मैक्डूगल का यह कथन भी गलत है कि मूलप्रवृत्ति का साथी केवल एक ही उद्वेग होगा। कोई भी मूलप्रवृत्ति एकाधिक उद्वेगों से सम्बन्धित हो सकती है। चिड़ियों में उड़ने की मूलप्रवृत्ति न केवल भय के उद्वेग से ही सम्बन्धित होती है, अपितु क्रोध, प्रसन्नता या शारीरिक सुख की भावना से भी चिड़ियाँ उड़ती हैं।

(ग) इसी प्रकार कोई भी मौलिक उद्वेग कई मूलप्रवृत्तियों से सम्बन्धित हो सकता है। उदाहरणार्थ, भय का उद्वेग विभिन्न प्रकार के व्यवहारों को जन्म दे सकता है, भागना, छिपना, खामोश या निश्चय हो जाना या चिल्लाना आदि व्यवहार भय के कारण हो सकते हैं।

(घ) सर्वश्री ड्रीवर, रीवर, गिन्सबर्ग आदि विद्वानों का मत है कि प्रत्येक मूलप्रवृत्ति में उद्वेग का होना आवश्यक नहीं है। उद्वेग विशेष रूप से उस अवस्था में उत्पन्न होता है, जब मूलप्रवृत्ति अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफल नहीं होती या मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया में कोई रुकावट पैदा हो जाती है। उदाहरणार्थ, हम भाग रहे हैं और एक पागल कुत्ता हमारा पीछा कर रहा है। जब तक हम भागते रहेंगे, तब तक हमारे अन्दर भय का उद्वेग उत्पन्न न होगा, पर अगर बीच में एक दीवार आ जायगी और हमारे भागने की क्रिया रुक जायगी, उस अवस्था में हमारे मन में भय उत्पन्न हो जायगा। डॉ० विलियम ब्राउन ने लिखा है कि डॉ० मैक्डूगल ने स्वयं ही कहीं-कहीं इस सत्य को स्वीकार किया है और लिखा है कि एकाकीपन के उद्वेग की सहवर्ती मूलप्रवृत्ति सामूहिकता (gregariousness) है। जब तक व्यक्ति की दूसरों के साथ रहने (अर्थात् सामूहिकता) की मूलप्रवृत्ति की सन्तुष्टि होती रहती है, यानी जब तक वह दूसरे लोगों के साथ रहता है, तब तक एकाकीपन की भावना का उसके मन में उदय भी नहीं होगा, पर यदि उस मूलप्रवृत्ति की सन्तुष्टि नहीं होती, अर्थात् यदि उसे दूसरों से पृथक होकर अकेले में रहने को बाध्य होना पड़ता है तो उनमें एकाकीपन का उद्वेग उत्पन्न हो जाता है।

3. मूलप्रवृत्ति को मानव-व्यवहार का प्रमुख चालक मानना भी उचित नहीं है। यह एक जटिल प्रक्रिया है, इसीलिये उसे केवल एक कारक के आधार पर समझाया नहीं जा सकता। इस सम्बन्ध में हम विस्तृत समालोचना अगले पृष्ठों में विस्तार से करेंगे।

मूलप्रवृत्तियाँ मानव-व्यवहार के प्रमुख चालक के रूप में
(Instincts as Prime Mover of all Human Activities)

मूलप्रवृत्तियों के महत्त्व को प्रमाणित करने का प्रयत्न करके डॉ० मैक्डूगल ने, एक तरह से, सामाजिक जीवन की एक मूलप्रवृत्यात्मक नींव डाली है। उनके अनुसार, मनुष्य का प्रत्येक कार्य किसी न किसी मूलप्रवृत्ति की क्रियाशीलता का ही परिणाम होता है। उन्होंने लिखा है कि "मानव-मस्तिष्क की कुछ जन्मजात या वंशानुगत प्रवृत्तियाँ होती हैं। ये प्रवृत्तियाँ ही समस्त विचार और क्रियाओं के आवश्यक स्रोत या प्रेरक शक्तियाँ हैं, चाहे वे विचार व क्रियायें वैयक्तिक हों, और चाहे सामूहिक। साथ ही ये प्रवृत्तियाँ वे आधार हैं जिनसे मानव की बौद्धिक क्षमताओं के पथ-प्रदर्शन (guidance) में व्यक्तियों तथा राष्ट्रों की प्रकृति व संकल्प का क्रमशः विकास होता है।"[12]

मूलप्रवृत्तियों को मानव-व्यवहार के प्रमुख चालक के रूप में प्रमाणित करने के लिये डॉ० मैक्डूगल ने अपने समय में प्रचलित दो सिद्धान्तों का खण्डन किया। वे सिद्धान्त हैं—(1) आदत का सिद्धान्त (theory of habit), और (2) सुख का सिद्धान्त (hedonism)। डॉ० मैक्डूगल का कथन है कि इनमें से किसी भी सिद्धान्त के आधार पर मानव-व्यवहार की पूर्ण व्याख्या सम्भव नहीं है। आदत के सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि आदतें मनुष्य का दूसरा स्वभाव (second nature) होती हैं, और आदतें दृढ़ हो जाने के बाद बहुत प्रभावशाली हो जाती हैं व व्यक्ति के व्यवहारों को सचालित व नियमित करती हैं। इस प्रकार स्थापित आदतों में अपूर्व प्रेरणात्मक शक्ति होती है। पर, डॉ० मैक्डूगल इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि यह सच है कि आदतों में व्यक्ति के व्यवहार को चालित करने की शक्ति होती है, पर उतनी नहीं, जितनी कि प्रमुख मूलप्रवृत्तियों में। आदतों का निर्माण तब होता है जब एक क्रिया को बार-बार दोहराया जाता है। पर, क्रिया को दोहराने की प्रेरणा निरन्तर मूलप्रवृत्तियों से ही प्राप्त होती है। इसलिये आदतों का वास्तविक स्रोत मूलप्रवृत्तियाँ ही हैं। मूलप्रवृत्तियाँ मुख्य हैं और आदतें गौण, क्योंकि मूलप्रवृत्तियों की अनुपस्थिति (absence) में न कोई विचार उत्पन्न हो सकेगा, और न ही कोई क्रिया। यही नहीं, इनमें से कोई दोहराई भी नहीं जायेंगी। इसलिये न किसी विचार की आदत पनप सकेगी और न किसी क्रिया की। आदतों का निर्माण केवल मूलप्रवृत्तियों की सेवा में ही होता है।[13]

इसी प्रकार, डॉ० मैक्डूगल के अनुसार, सुख या दुःख के आधार पर भी मानव-व्यवहार की व्याख्या सम्भव नहीं है। सुखवादी सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि व्यक्ति वह काम करता है जिसमें उसे सुख मिलता है, और उस काम से दूर भागता है जिससे उसे दुःख प्राप्त होता है। डॉ० मैक्डूगल का कहना है कि यह सिद्धान्त बिल्कुल गलत है। सुखवादी सिद्धान्त के समर्थक श्री बेन (Bain) का यह कथन कितना निरर्थक है कि माँ अपने बच्चे को देखकर खुश होती है, उसकी देख-भाल करती है, उसके लिये कितने ही त्याग करती है—इन सब का कारण यह है कि बच्चे से लिपटने से माँ को सुख मिलता है। डॉ० मैक्डूगल के अनुसार, ये सब व्यर्थ की बातें हैं। दुःख या सुख स्वयं क्रिया का स्रोत नहीं होते। इनका प्रभाव केवल इतना

ही होता है कि सुख क्रिया को दीर्घ बनाता है और दुःख उसे संक्षिप्त कर देता है। इस प्रकार, सुख-दुःख केवल मूलप्रवृत्यात्मक प्रक्रियाओं में थोड़ा-सा परिवर्त्तन ला सकते हैं।[15]

इस प्रकार, डॉ० मैक्डूगल के मतानुसार, मानव-व्यवहार की वास्तविक चालक शक्ति मूलप्रवृत्तियाँ होती हैं। यह किसी न किसी मूलप्रवृत्ति का ही क्रियात्मक (conative) पक्ष होता है जो उत्साहहीन से उत्साहहीन विचार-शृंखला (train of thoughts) को उसके उद्देश्य की ओर ले जाता है, और प्रत्येक शारीरिक क्रिया को आरम्भ करता व उसे स्थिर बनाता है। मूलप्रवृत्यात्मक उत्तेजनाएँ समस्त क्रियाओं के लक्ष्यों का निर्धारण करती हैं, और उन लक्ष्यों की प्राप्ति न होने तक क्रियाशील बने रहने के लिये आवश्यक प्रेरक शक्ति प्रदान करती हैं। अपने अत्यधिक विकसित मस्तिष्क की सहायता से मनुष्य जिन बौद्धिक उपकरणों (intellectual apparatus) का निर्माण करता है, वे तो केवल इन लक्ष्यों की प्राप्ति के साधन मात्र होते हैं, या वे साधन होते हैं, जिनके द्वारा मूलप्रवृत्यात्मक उत्तेजनाओं (instinctive impulses) की सन्तुष्टि होती है, जबकि सुख और दुःख केवल साधनों के चुनाव में मदद करते हैं।

आगे डॉ० मैक्डूगल ने और भी जोरदार शब्दों में लिखा है, "इन मूल-प्रवृत्यात्मक क्षमताओं को उनकी शक्तिशाली उत्तेजनाओं सहित हटा लीजिये तो सावयव (organism) किसी भी प्रकार के कार्य-योग्य नहीं रह जायेगा; वह ठीक उसी प्रकार से निश्चल व गतिहीन हो जायेगा, जैसे वह कीमती घड़ी जिसकी मुख्य कमानी (spring) निकाल ली गई हो या भाप का वह इंजन जिसकी आग ठंडी कर दी गई हो। ये उत्तेजनाएँ या प्रेरणायें वे मानसिक शक्तियाँ हैं जो व्यक्तियों और समाजों के सम्पूर्ण जीवन का निर्माण करती और उसे बनाये रखती हैं; और, उन्हीं में हम जीवन, मस्तिष्क और संकल्प का प्रमुख रहस्य पाते हैं।।"[15]

समालोचना (Criticism)—(1) डॉ० मैक्डूगल के उपर्युक्त दृष्टिकोण में सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि आपने मूलप्रवृत्तियों को मानव-व्यवहार के निर्धारण के रूप में आवश्यकता से अधिक महत्त्वपूर्ण मान लिया है। मानव-व्यवहार जैसी जटिल प्रक्रिया में मूलप्रवृत्तियाँ किस भाँति कमानी या इंजन के आग का स्थान ग्रहण कर सकती हैं, इसका कोई भी स्पष्टीकरण डॉ० मैक्डूगल नहीं दे पाये हैं।

(2) डॉ० वुडवर्थ (Woodworth) का कथन है कि प्रत्येक मानवीय क्षमता या व्यवहार का अपना एक रुचि-पक्ष होता है। जब तक हमें किसी विषय में रुचि (interest) नहीं होगी, तब तक उससे सम्बन्धित क्रिया को करने की प्रेरणा का अनुभव हम नहीं कर सकेंगे। डॉ० वुडवर्थ के शब्दों में "संगीत की योग्यता के साथ-साथ संगीत में रुचि, संख्या के सम्बन्धों (गणित) को जानने की योग्यता के साथ-साथ संख्या में रुचि, और यंत्र-कलाओं की योग्यता के साथ-साथ यंत्रों में रुचि होनी चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि योग्यताओं के साथ रुचि सभी मनुष्यों में वर्तमान रहती है, और असाधारण व्यक्ति में यह रुचि तीव्र होती है।"[16]

(3) डॉ० वुडवर्थ ने यह भी लिखा है कि डॉ० मैक्डूगल का सिद्धान्त पशु-जगत् पर कुछ ठीक बैठ सकता है, पर मानव-जगत् पर बिल्कुल नहीं। पशु संस्कृति का अधिकारी नहीं होता; और, न ही शिक्षा, बुद्धि आदि का भण्डार उसके पास होता है। इसलिये वह मूलप्रवृत्तियों के नियंत्रण में यंत्रवत् क्रियाशील रहता है। पर,

मनुष्य की स्थिति पशु से विपरीत है। मनुष्य अपनी शिक्षा, अनुभव तथा ज्ञान के आधार पर अन्य ऐसे अनेक लक्ष्यों को निर्धारित करता रहता है, जिनकी किसी भी मूलप्रवृत्ति के द्वारा अब तक कल्पना भी नहीं की गई है। मानव की आन्तरिक प्रेरणाएँ मैक्डूगल की कल्पना से कहीं अधिक विस्तृत हैं। हमारे लिये संसार केवल इसलिए रुचिकर नहीं है कि वह हमें भोजन, घर और प्रमुख मूलप्रवृत्तियों की सन्तुष्टि प्रदान करता है, अपितु इसलिए भी कि हममें वह शक्ति पायी जाती है, जिसमें हम प्रवृत्ति को अपनी रुचि के अनुसार, अपनी इच्छाओं के अनुरूप ढाल लेते हैं। मानव-प्रेरणाओं का क्षेत्र भी उतना ही विस्तृत है जितना कि वह संसार जिससे मनुष्य सम्बन्धित हो सकता और अपने को सम्बन्धित समझ सकता है।[17]

(4) श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) का मत है कि यह सच होते हुए भी कि मानव चरित्र व व्यवहार वंशानुसक्रमण और मूलप्रवृत्तियों पर एक सीमा तक आधारित है, यह कहना गलत होगा कि मानव-व्यवहार सामाजिक व सांस्कृतिक कारकों से पूर्णतया स्वतन्त्र है। मूलप्रवृत्तियाँ स्वयं इन सामाजिक व सांस्कृतिक कारकों द्वारा परिवर्तित होती रहती हैं।

(5) श्री हॉब हाउस (Hobhouse) का कथन है कि मानव-व्यवहार को निश्चित एवं निर्देशित करने वाली केवल मूलप्रवृत्तियाँ ही नहीं होतीं, अपितु सामाजिक परम्परा भी उस पर प्रमुख रूप से प्रभाव डालती है। ऐसे किसी भी मानव-व्यवहार की कल्पना नहीं की जा सकती, जो विशुद्ध मूलप्रवृत्ति हो, और जिस पर सामाजिक परम्परा व वैयक्तिक अनुभव की कोई छाप न हो। हॉब हाउस ने लिखा है, "भूख और प्यास निःसन्देह मूलप्रवृत्तियों की प्रकृति की हैं, परन्तु भूख और प्यास को सन्तुष्ट करने की पद्धतियाँ अनुभव या शिक्षा द्वारा अर्जित की जाती हैं।"[18] आपने आगे लिखा है, "मनुष्य में जो वंशानुसक्रमण है, वह तो वास्तव में क्षमता, प्रवृत्ति और प्रेरणा है; परन्तु पारस्परिक अन्तःक्रियाओं और पर्यावरण के व्यापक प्रभाव के कारण ही क्षमताएँ परिपूर्ण होती हैं, प्रवृत्ति प्रोत्साहित या हतोत्साहित होती है और प्रेरणाओं का विकास या विनाश होता है। वास्तविक मूलप्रवृत्ति का तत्त्व तो केवल विध्वस्त स्थिति में ही रहता है। मानव-प्रकृति में वंशानुक्रमण स्वयं क्रियाशील नहीं होता, बल्कि वह तो सर्वत्र ही अनुकूलन करने, दूरदर्शिता और नियन्त्रण करने की क्षमता के साथ अन्तःक्रिया करता हुआ ही अपना प्रभाव-विस्तार करता है।"[19]

निष्कर्ष (Counclusion)—उपर्युक्त विवेचना के आधार पर मानव-व्यवहार के निर्धारण में मूलप्रवृत्तियों के महत्त्व या वास्तविक स्थान के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(1) मानवीय व्यवहार में कुछ ऐसी विशेषतायें दिखाई देती हैं जो प्राणी-शास्त्रीय दृष्टिकोण से पशुओं के व्यवहार के समान होती हैं, अर्थात् कुछ विषयों में मनुष्य और पशु दोनों ही समान व्यवहार करते हैं। इस समानता का एक कारण दोनों में कुछ समान मूलप्रवृत्तियों का विद्यमान होना है।

(2) मानवीय चरित्र व व्यवहार किसी न किसी सीमा तक वंशानुसंक्रमण *द्वारा प्रभावित और मूलप्रवृत्तियों पर आधारित होते हैं।*

(3) फिर भी जन्मजात प्रवृत्तियाँ बिलकुल आत्मनिर्भर नहीं होतीं, और न ही मूल रूप में प्रकट होती हैं, बल्कि शिक्षा, अनुभव, ज्ञान, सामाजिक दबाव आदि के आधार पर उनमें अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक तथा वंशानुगत

तत्त्व एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए मानव-व्यवहार का निर्धारण व संचालन करते हैं। इस कारण मानव-व्यवहार की विवेचना केवल जन्मजात प्रवृत्तियों या लक्षणों के आधार पर नहीं की जा सकती, चाहे ये प्रवृत्तियां या लक्षण कितने ही प्रभावशील क्यों न हों।

(4) वंशानुसंक्रमण पर आधारित रहने पर भी मूलप्रवृत्तियों के स्वयं को अभिव्यक्त करने के तरीके उन परिस्थितियों के अनुसार, व्यक्ति के अनुभव व शिक्षा के अनुसार या उन सामाजिक परम्पराओं, मूल्यों व आदर्शों के अनुसार बहुत अधिक बदलते रहते हैं, जिनमें व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित हुआ है। "यदि हम सामाजिक परम्परा को 'सामाजिक वंशानुसंक्रमण' और मूलप्रवृत्तियों की शक्ति को 'प्राणीशास्त्रीय वंशानुसंक्रमण' का नाम दें तो हम कह सकते हैं कि मानव-आचरण सामाजिक व प्राणीशास्त्रीय वंशानुसंक्रमण के साथ वैयक्तिक अनुभव की अन्तःक्रिया का परिणाम है।"[20]

मूलप्रवृत्तियों का सामाजिक जीवन में स्थान

(Place of Instincts in Social Life)

व्यक्ति के व्यवहार के निर्धारण मे मूलप्रवृत्तियो के वास्तविक स्थान को समझ लेने के पश्चात यह भी आवश्यक हो जाता है कि सामाजिक जीवन मे इनका क्या स्थान है, इस सम्बन्ध मे भी हम कुछ जानें। जिन विद्वानों ने एक या एकाधिक मूलप्रवृत्तियो को सामाजिक जीवन के लिये महत्त्वपूर्ण माना है, उन्हें हम तीन वर्गों मे बाँट सकते हैं—(i) प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वे विद्वान् आते हैं जो किसी एक प्रवृत्ति या प्रेरणा को सामाजिक जीवन का आधार मानते हैं। (ii) दूसरे वर्ग के अन्तर्गत आने वाले विद्वान् एकाधिक प्रवृत्तियों को सामाजिक जीवन का आधार तो मानते हैं, पर ये एकाधिक प्रवृत्तियाँ संख्या में कितनी है, इसका निर्णय वे नहीं करते। (iii) अन्तिम वर्ग के विद्वान् सामाजिक जीवन के लिये महत्त्वपूर्ण एकाधिक प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हैं, और यह भी स्पष्ट करते हैं कि ये प्रवृत्तियाँ संख्या में कितनी हैं। हम संक्षेप में इन तीनों वर्गों की जानकारी प्राप्त करेंगे।

सामाजिक व्यवहार का मूलाधार—एक मूलप्रवृत्ति

(Basis of Social Behaviour—One Instinct)

सामाजिक व्यवहार को केवल एक मूलप्रवृत्ति के आधार पर समझाने का प्रयत्न जिन विद्वानों ने किया है, उनमें सर्वश्री ट्रॉटर, फॉयड, एडलर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

(अ) श्री ट्रॉटर (Trotter) के अनुसार, सामूहिकता की मूलप्रवृत्ति (gregarious instinct) मानव के समस्त सामाजिक जीवन का आधार है। उनका कथन है कि इस मूलप्रवृत्ति के प्रभाव से न केवल मनुष्य सदा समूह में रहता है, बल्कि उसके मस्तिष्क पर भी प्रभाव पड़ता है, और वह इस रूप में कि समूह के मतों तथा सत्ता को व्यक्ति स्वीकार कर लेता है और उसी के अनुसार अपने व्यवहारों को ढालता है। डॉ० ट्रॉटर का मत है कि नैतिकता, परम्परा, और आदर्श सभी समूह के कारण ही पनपते हैं, और समूह का निर्माण सामूहिकता की मूलप्रवृत्ति के कारण ही होता है।

डॉ० ट्रॉटर के दृष्टिकोण में सबसे बड़ी कमी यह है कि उन्होंने सामाजिक व्यवहार या सामाजिक जीवन को इतना सरल व सीधा समझ लिया कि उसकी व्याख्या केवल एक मूलप्रवृत्ति के आधार पर ही सम्भव है। समूह का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है, यह तो सच है, पर स्वयं समूह का निर्माण किसी भी एक कारण से कदापि नहीं होता।

(ब) श्री फ्रॉयड (Freud) एक दूसरे विद्वान् हैं, जिन्होंने समस्त मानव-व्यवहार को केवल एक मूलप्रवृत्ति—काम-प्रवृत्ति (sex instinct) समझने-समझाने का प्रयत्न किया है। इस काम-प्रवृत्ति को श्री फ्रॉयड ने 'लिबिडो' (libido) कहा है। उनके अनुसार, मनुष्य का सामाजिक व्यवहार ही नहीं, अपितु समस्त मानव-व्यवहार (जिसमें वैयक्तिक व्यवहार भी सम्मिलित हैं) का आधार यही 'लिबिडो' है। मनुष्यों में हम जितने उच्च या निम्नतम आदर्श देखते हैं, समाज में जो प्रथा, परम्परा, आदर्श, मूल्य आदि पाते हैं, वे सभी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में इसी एक प्रवृत्ति की सन्तुष्टि के साधन मात्र हैं। दैन्य, आत्म-गौरव, पुत्र-कामना, वात्सल्य आदि जिन प्रवृत्तियों और उद्वेगों की आवश्यकता सामाजिक जीवन में होती है, उन सभी को श्री फ्रॉयड काम-प्रवृत्ति का ही अप्रत्यक्ष स्वरूप मानते हैं।

श्री फ्रॉयड के उपर्युक्त मत के सम्बन्ध में अनेक आपत्तियाँ हो सकती हैं, क्योंकि एक मूलप्रवृत्ति के आधार पर, और वह भी काम-प्रवृत्ति के आधार पर, समस्त सामाजिक जीवन व व्यवहार की व्याख्या धृष्टता मात्र ही है। यदि इस प्रवृत्ति को सब से अधिक महत्त्वपूर्ण मान भी लिया जाय और अन्य प्रवृत्तियों की अवहेलना भी की जाय, तो भी समाज के प्रभावों और महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता।

सामाजिक व्यवहार का मूलाधार—अनिश्चित मूलप्रवृत्तियाँ

(Basis of Social Behaviour—Indefinite Instincts)

इस वर्ग के अन्तर्गत वे विद्वान् आते हैं जो एक नहीं, एकाधिक मूलप्रवृत्तियों को सामाजिक जीवन व व्यवहार का आधार मानते हैं; पर ये मूलप्रवृत्तियाँ संख्या में कितनी हैं, इस सम्बन्ध में वे मौन रहते हैं, इन विद्वानों में हम श्री विलियम जेम्स के नाम का विशेष उल्लेख कर सकते हैं। आपने अपनी पुस्तक में अनेक मूलप्रवृत्तियों का उल्लेख किया है, और यह कहा है कि पशु की अपेक्षा मनुष्य की मूलप्रवृत्तियों की संख्या अधिक है। ये मूलप्रवृत्तियाँ सामाजिक व वैयक्तिक व्यवहार के निर्धारण व संचालन में महत्त्वपूर्ण अवश्य ही हैं, पर यह कहना कठिन है कि इस प्रकार की मूल-प्रवृत्तियों की वास्तविक संख्या कितनी है? परन्तु, इस प्रकार के अनिश्चित निष्कर्षों से विज्ञान का काम नहीं चल सकता। दूसरी बात यह है कि केवल इतना कह देने से कि एकाधिक मूलप्रवृत्तियाँ सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण हैं, उनकी महत्ता प्रमाणित नहीं होती। इस वर्ग के विद्वानों ने यह समझाने का प्रयत्न नहीं किया कि प्रत्येक मूलप्रवृत्ति का सामाजिक जीवन में वास्तविक स्थान क्या है? इसी कारण इनके दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सामाजिक जीवन का मूलाधार—कुछ निश्चित मूलप्रवृत्तियाँ

(Basis of Social Behaviour—Some Definite Instincts)

तीसरे वर्ग में वे विद्वान् आते हैं, जिन्होंने न केवल मूलप्रवृत्तियों को सामाजिक जीवन व व्यवहार का आधार माना है, बल्कि उन मूलप्रवृत्तियों की निश्चित संख्या भी उल्लेख किया है। इनमें डॉ० मैक्डूगल का नाम सर्वप्रमुख है।

सहानुभूति वास्तव मे मूलप्रवृत्ति है भी या नही, इसे भी **डॉ० मैक्डूगल** यथार्थ रूप से प्रमाणित नही कर पाये हैं। वास्तविकता तो यह है कि **डॉ० मैक्डूगल** ही नही, अन्य विद्वानों ने भी मूलप्रवृत्तियो को इस ढंग मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है कि उनमें कुछ 'अलौकिकता' आ गई है, ताकि इन विद्वानों को सामाजिक व वैयक्तिक व्यवहार के निर्धारण मे मूलप्रवृत्तियो के दृष्टि-आकर्षक महत्त्व को दर्शाने मे सरलता हो। पर, इनके लिये जो कुछ सरल है, वह सब वैज्ञानिक भी होगा ही, इसमे सन्देह है। इसीलिये आधुनिक मनोवैज्ञानिक मूलप्रवृत्तियो के चमत्कारो से अपने को दूर रखने का ही प्रयत्न करते हैं। उन्हें आज यह सन्देह होने लगा है कि समाज व संस्कृति के बीच पलने वाले मनुष्य में कोई प्रवृत्ति वास्तव मे "मूल" हो भी सकती है या नही; क्योंकि सामाजिक मानव की प्रवृत्ति, चाहे वह किसी भी प्रकार की क्यों न हो, सामाजिक और सांस्कृतिक कारको द्वारा निरन्तर प्रभावित होती रहती है। इसलिये मूलप्रवृत्ति की धारणा ही अवैज्ञानिक है, और यही कारण है कि अभी तक इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं दी जा सकी है, जिसको सभी मनोवैज्ञानिक बिना किसी संकोच के स्वीकार कर सकते। शायद इसी लिये प्रो० न्यूकॉम्ब (Newcomb) का निष्कर्षात्मक (conclusive) सुझाव यह है कि "चाहे मूलप्रवृत्तियों का 'अस्तित्व' हो अथवा न हो, हम इससे केवल इसलिये बचते रहेंगे कि यह एक भ्रान्तिपूर्ण या चकरा देने वाला शब्द है।"

REFERENCES

1 Smt. Surjit Kaur, Samaj Manovigyan, Laxmi Narain Agarwal, Agra, 1959, p. 49.

2. "We may, then, define an instinct as an inherited or innate psychophysical disposition which determines its possessor to perceive, and to pay attention to, objects of a certain class, to experience and emotional excitement of a particular quality upon perceiving such an object, and to act in regard to it in a particular manner, of, atleast, to experience an impulse to such action."—*William McDougall*, An Introduction to Social Psychology, Methuen and Co , Ltd. London, 1960, p. 25.

3. "Instincts may be defined as inherited modes of response to specific stimuli, which have been handed down through racial heredity owing to their value in the struggle for existence."—*Ginsberg*.

4. "The term instinctive activity indicates certain more or less complicated trains of movement, which are adapted to certain ends useful to the race, which are congenitally determined and are independent of previous experience by the individual organism."—*M. Ginsberg*, *The Psychology of Society*, Methuen and Co. Ltd., London, 1951, p. 1.

5. "Instinctive behaviour is that which is, on its first occurrence, independent of prior experience, which tends to the well being of the individual and the preservation of the race, which is similarly performed by all members of the same more or less restricted

19 "What is heredity in man is capacity, propensity, disposition, but the capacity is filled in, the propensities encouraged or checked, the dispositions inhibited or developed by mutual interactions and the pervading influence of the circumambient atmosphere. Elements of true instinct remain, but in a state of dilapidation Heredity does not operate by itself in human nature but everywhere in interaction with capacity to assimilate, to foresee and control."—*L.T. Hobhouse, Mind in Evolution*, p. 105.

20 "If the social tradition may be called 'social heredity' and the force of instinct 'biological heredity', then we may explain human conduct as the result of individual experience in interaction with social and biological heredity."—*Jaideva Singh, op. cit.*, p. 29.

अध्याय 6

अनुकरण, सुझाव व सहानुभूति

[IMITATION, SUGGESTION AND SYMPATHY]

"सुझाव सामाजिक सात्मीकरण के ज्ञानात्मक पक्ष, सहानुभूति, उद्वेगात्मक या भावात्मक पक्ष तथा अनुकरण क्रियात्मक पक्ष का द्योतक है।"

—William McDougall.

अनुकरण

(Imitation)

'अनुकरण' शब्द का प्रयोग बिना किसी रोकथाम के किया जाता है। अनुकरण का मतलब हम ऐसे काम समझते हैं, जो दूसरों की भाँति होते हैं। जब किसी को रोता देखकर हम भी रोने लगते हैं, या दूसरों को दौड़ते देख हम भी दौड़ने लगते हैं, तो इन समस्त क्रियाओं को सामान्यतः अनुकरण के अन्तर्गत ले आया जाता है। श्री बेगहॉट और टार्ड (Bagehot and Tarde) ने भी सांस्कृतिक प्रसार को भी अनुकरण-प्रक्रिया में सम्मिलित कर लिया है। श्री बाल्डविन (Baldwin) ने साधारण एवं जटिल सीखने की प्रक्रिया को भी अनुकरण के अन्तर्गत माना है। इन सब विचारों के आधार पर अनुकरण के सम्बन्ध में कोई वैज्ञानिक ज्ञान नहीं हो सकता। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि रोज के जीवन में हम इस प्रक्रिया को हरदम ही क्रियाशील देख सकते हैं। माता को देवता के सामने प्रणाम करते देखकर लड़की भी देवता को प्रणाम करने के लिये झुकती है, पिता को चश्मा पहनते देखकर पुत्र भी मौका देखकर चश्मा उठाकर पहन लेता है, चाहे वह उसकी नाक के नीचे तक ही खिसक कर चला क्यों न आये। इसी प्रकार बड़े भैया को लिखते देख कर छोटा भाई भी दूसरों की आँख बचा कर कलम लेकर, उल्टी सीधी रेखायें खींचकर लिखने की क्रिया की नकल करता है, चाहे कलम की निब (nib) टूट ही क्यों न जाय या या किसी कीमती पुस्तक के पन्ने लकीरों से भर ही क्यों न जायें और इसके लिये कितनी ही पिटाई क्यों न पड़े। इसी प्रकार बच्चे अपने परिवार के लोगों की, खेल के साथियों की, और विद्यालय के शिक्षकों की नकल उतारते हैं। बड़े होकर युवक-युवतियाँ सिने-अभिनेता व अभिनेत्रियों की पोशाकों, मुद्राओं व केश-विन्यास के ढंगों आदि की नकल करते हैं। कभी-कभी कोई खिलाड़ी अन्य अच्छे खिलाड़ियों के खेलने के तरीकों या प्रविधियों की नकल करता है। इसी प्रकार अनुकरण के एक नहीं सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं। अनुकरण की प्रक्रिया इतनी स्वाभाविक व विश्वव्यापी है कि डॉ. मैक्डूगल जैसे विद्वानों ने इसे मूलप्रवृत्ति माना है। परन्तु, ऐसा नहीं है। इसमें शरीर व मस्तिष्क का सहयोग रहने पर भी अनुकरण एक सामाजिक प्रक्रिया ही है। इस सम्बन्ध में कुछ भी कहने से पूर्व यह आवश्यक होगा कि हम अनुकरण की परिभाषा को जान लें।

अनुकरण की परिभाषा

(Definition of Imitation)

श्री लिन्टन (Linton) के अनुसार, "अनुकरण से तात्पर्य दूसरों के व्यवहार की नकल करना है, चाहे नकल करने वाले व्यक्ति को उस व्यवहार के विषय में

जानकारी प्रत्यक्ष निरीक्षण (direct observation) द्वारा या किसी से सुनकर या अधिक प्रगतिशील समाजों में पढ़कर ही मिली हो।"[1]

श्री थॉउलस (Thouless) के मतानुसार, "अनुकरण प्रतिक्रिया है, जिसके लिये उत्तेजना दूसरे की उसी प्रकार की प्रतिक्रिया के ज्ञान से प्राप्त होती है।"[2]

श्री मैक्डूगल (McDougall) के शब्दो मे, अनुकरण केवल एक मनुष्य द्वारा किसी दूसरे मनुष्य के शरीर-सम्बन्धी व्यवहार-क्रियाओ की नकल करने को कहते हैं।"[3]

प्रो० मीड (Mead) ने लिखा है कि दूसरो के व्यवहारों या कार्यों को जानबूझ कर अपनाने को 'अनुकरण' कहते हैं।[4]

श्री हुलयालकर की परिभाषा सबसे संक्षिप्त है। उनके अनुसार, "अनुकरण दूसरों के व्यवहार की पुनरुत्पत्ति (reproduction) या पुनरावृत्ति (duplication) है।"[5]

अनुकरण मूलप्रवृत्ति नही है

(Imitation is not an Instinct)

उपर्युक्त परिभाषाओ से यह स्पष्ट है कि अनुकरण को एक मूलप्रवृत्ति मान लेना उचित न होगा। श्री लिन्टन ने अपनी परिभाषा मे इस बात पर बल दिया है कि अनुकरण में नकल किये जाने वाले विषय की जानकारी एक व्यक्ति को प्रत्यक्ष निरीक्षण के द्वारा या उसके विषय मे सुनकर अथवा पढ़कर होती है। ये सभी स्रोत बाहरी दुनिया से सम्बन्धित हैं। अतः अनुकरण को जन्मजात प्रवृत्ति नहीं कहा जा सकता। यह बात प्रो० मीड की परिभाषा से और भी स्पष्ट हो जाती है। आपके अनुसार अनुकरण एक ऐसी सचेत प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम दूसरों के व्यवहारो या भूमिकाओं (roles) को जानबूझ कर अपना लेते हैं और उन्ही के अनुरूप व्यवहार करने लगते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि अनुकरण एक मूलप्रवृत्ति नहीं है। श्री हुलयालकर (Hulyalkar) ने अनुकरण को सामाजिक शिक्षण (social learning) या सीखा हुआ व्यवहार कहा है। मूलप्रवृत्ति आन्तरिक क्षमता है, पर अनुकरण मे तो दूसरो के व्यवहार को देख कर उसकी प्रतिकृति (duplicate) अपने व्यवहार मे उतारी जाती है। उदाहरण के लिये, जब बच्चा उद्देश्यहीन रूप से अपने हाथ हिलाता रहता है तो हम भी वैसा करते हुए 'टा-टा' या 'बाई-बाई' (bye-bye) कहते हैं ताकि बच्चा यह सीख जाय कि हाथ हिलाने के साथ 'टा-टा' या 'बाई-बाई' का सम्बन्ध है। इसीलिए थोड़ा बड़ा होकर बच्चा न केवल हाथ हिलाता है, बल्कि उसके साथ 'टा-टा' या 'बाई-बाई' भी कहने लगता है, क्योंकि इसी प्रकार का व्यवहार करते उसने दूसरों को देखा है। इसी प्रकार दूसरों को 'माँ', 'बाबा', 'पापा' आदि कहते सुनकर बच्चा उन शब्दों की नकल मात्र उतारता है, जबकि उन शब्दों के अर्थ के विषय में उसे कोई भी ज्ञान नहीं होता। यों यह भी स्पष्ट है कि अनुकरण एक मूलप्रवृत्ति नहीं, अपितु एक सीखा हुआ सामाजिक व्यवहार है।

डॉ मैक्डूगल (McDougall) ने भी लिखा है कि अनुकरण की मूलप्रवृत्ति (instinct of imitation) को अस्वीकार करने के एकाधिक कारण हैं। प्रथम तो यह कि अनुकृत क्रियाओ में अत्यधिक भिन्नतायें होती हैं, क्योंकि किसी भी व्यवहार का अनुकरण किया जा सकता है। इसीलिये अनुकरण प्रक्रिया में या उसे

क्रियाशील बनाने के उत्तेजकों में कोई विशिष्टता नहीं होती। दूसरे शब्दों में, अनुकरण की प्रवृत्ति एक जाति के सभी सदस्यों में समान रूप में क्रियाशील नहीं होती। इतना ही नहीं, मूलप्रवृत्ति की भांति अनुकरण में कोई सामान्य उद्वेगात्मक स्थिति और सामान्य उद्देश्य भी नहीं होता; और न ही उद्देश्य की प्राप्ति के समय तक क्रियाशील रहने की प्रेरणा हमें अनुकरण से मिलती है, जो प्रत्येक मूल-प्रवृत्ति की एक उल्लेखनीय विशेषता होती है।[6]

अनुकरण का वर्गीकरण
(Classification of Imitation)

(1) डॉ० मैक्डूगल (McDougall) ने तीन मुख्य तथा दो गौण अनुकरण का उल्लेख किया है जो कि इस प्रकार है[7]—

(क) सहानुभूतिपूर्ण अनुकरण (Sympathetic Imitation)—इस प्रकार के अनुकरण में एक व्यक्ति दूसरे के व्यवहार का अनुकरण सहानुभूति की भावना से प्रेरित होकर कुछ अचेतन रूप से ही करता है। एक बच्चा जब दूसरे को हँसता देखकर खुद भी हँसता है या दूसरे किसी बच्चे को रोता देखकर खुद भी रोने लगता है या दूसरे बच्चों को भय से छिपता देख कर खुद भी छिप जाता है तो ऐसे अनुकरणों को हम सहानुभूतिपूर्ण अनुकरण कहते हैं। डॉ० मैक्डूगल का इस प्रकार का अनुकरण पशु-जगत् में भी देखने को मिलता है। यदि एक जाति का एक पशु भय या क्रोध से आवाज करता है तो उस जाति के दूसरे जानवर भी उससे अपनी सहानुभूति प्रकट करने के लिए उसी प्रकार की आवाज करते हैं। इसका कारण यह है कि अपने ही जाति के सदस्य के एक विशेष प्रकार के व्यवहार या क्रिया को देखने या सुनने से दूसरे सदस्यों में भी समान प्रतिक्रिया होती है, और वे भी पहले सदस्य की भांति व्यवहार करने लगते हैं। यही कारण है कि बच्चे को रोता देखकर दूसरे बच्चे मे भी रोने की प्रवृति जागृत होती है, जिसके फलस्वरूप वह भी रोने लगता है। परन्तु डॉ० मैक्डूगल के इस मत से पूर्णतया सहमत होना कठिन है। यह आवश्यक नही कि एक गुस्से से भरे व्यक्ति को देखकर अन्य व्यक्ति को भी गुस्सा आ ही जाय। हो सकता है कि दूसरे व्यक्ति उसे गुस्से में देखकर स्वयं भी गुस्सा होने के बजाय उस पर आश्चर्य प्रकट करें या उसका मजाक उड़ायें। इसी प्रकार एक माता को अपने बच्चे को प्यार करते हुये देखकर देखने वाला भी प्यार के व्यवहार की नकल करेगा, यह कोई जरूरी नहीं है।

(ख) विचार-चालक अनुकरण (Ideo-motor Imitation)—यह अनुकरण अत्यन्त सामान्य होता है। जब कोई एक व्यक्ति अपनी किसी क्रिया से किसी दूसरे को भी उसी के समान कार्य करने को प्रेरित करता है तो उसे विचारचालक अनुकरण कहते है। इस प्रकार के अनुकरण मे दूसरे व्यक्ति से प्राप्त जो कुछ भी विचार मस्तिष्क मे आता है, उसका प्रकाशन दूसरे व्यक्ति से किसी मिलती-जुलती गतिपूर्ण क्रिया के द्वारा हो जाता है। स्टेज पर नर्तकी को नाचते देखकर दर्शक भी अपने पैरों को नृत्य की मुद्रा मे हिलाने लगता है, या गायक के सिर हिलाने के साथ-साथ श्रोता भी अपना सिर हिलाने लग जाता है। डॉ० मैक्डूगल के अनुसार बच्चे द्वारा की गई अनेक अनुकरणात्मक (imitative) क्रियाएँ इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं। बालक दूसरों की विचित्र क्रियाओं या व्यवहारो से बहुत जल्दी आकृष्ट हो जाता है, और उनकी नकल उतारने लगता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई अध्यापक

विविध मुद्रा में पढाते हैं या आदेश देते हैं तो बालक उस मुद्रा का अनुकरण जल्दी ही कर लेता है।

(ग) जानबूझ कर किया गया ऐच्छिक या आत्म-सचेत अनुकरण (Deliberate, Voluntary or Self-conscious Imitation)—इस प्रकार के अनुकरण में किसी ऐसे व्यक्ति के व्यवहार की जानबूझ कर नकल की जाती है जिसे अनुकरण करने वाला आदर्श समझता है। बहुत से युवक और युवतियाँ अपने प्रिय कलाकार को देखकर उसके व्यवहारों, मुद्राओं आदि का अनुकरण करने लगते हैं। इसी प्रकार कुछ लोग अपने माता या पिता के व्यवहारों का सचेत रूप से अनुकरण करने लगते हैं।

अनुकरण के उपर्युक्त तीन मुख्य प्रकारों के अतिरिक्त डॉ० मैक्डूगल ने अनुकरण के दो प्रकारों का भी उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—

(घ) सचेत विचारचालक अनुकरण (Ideo-motor Deliberate Imitation)—इस प्रकार के अनुकरण में द्वितीय व तृतीय प्रकार की अनुकरण-प्रक्रियाओं की विशेषताओं का सम्मिश्रण होता है। उदाहरणार्थ, कोई बच्चा किसी एक क्रिया को देखता है तो उस पर उसका ध्यान केन्द्रित हो जाता है और उसके मस्तिष्क पर उसका प्रभाव पड़ता है; जब बच्चा फिर उसी प्रकार की परिस्थिति में अपने को पाता है तो उस पिछले प्रभाव का विचार उसके दिमाग में फिर से घूम जाता है, और उस विचार से प्रेरित होकर वह सचेत रूप से क्रिया करने लगता है। और भी स्पष्ट रूप से इसे इस प्रकार समझाया जा सकता है। मान लीजिए, एक बच्चा अपने से किसी वयस्क को आग में कागज फेंकते और आग को भड़काते देखता है। यह भड़कती हुई आग उसका ध्यान आकर्षित करती है, और उसके मस्तिष्क में आग भड़काने के उपाय के सम्बन्ध में विचार उत्पन्न होता है। फिर किसी दूसरे अवसर पर वही बच्चा अपने को आग और कागज के पास पाता है। फौरन उसका पिछला विचार सचेत क्रिया में बदल जाता है, और वह भी उस वयस्क व्यक्ति के व्यवहार की नकल करने लगता है।

(ङ) आरम्भिक अनुकरण (Rudimentary Imitation)—इस प्रकार का अनुकरण अत्यन्त छोटे बच्चों में देखने को मिलता है। यह अनुकरण न तो किसी भाव को, और न ही किसी उद्वेग को अभिव्यक्त करता है। यह तो किन्हीं स्वाभाविक प्रवृत्तियों का परिणाम भर होता है। डॉ० मैक्डूगल ने लिखा है कि उनका एक चार महीने का बालक दूसरों को जीभ निकालते देख कर उस क्रिया का अनुकरण करता और अपनी भी जीभ निकालता था।

(च) श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने अनुकरण के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है। वे इस प्रकार हैं—

(अ) जैविक अनुकरण (Biological Imitation)—इस प्रकार का अनुकरण मूलप्रवृत्त्यात्मक (instinctive) स्तर पर होता है। साथ ही, यह अनुकरण अचेतन भी होता है। इसमें शारीरिक क्रियायें एक साधन के रूप में कार्य करती हैं। कुछ जैविक समानता के कारण जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के व्यवहार या क्रिया की नकल करता है तो उसे जैविक अनुकरण कहते हैं। उदाहरणार्थ, पक्षियों में उड़ने की मूलप्रवृत्ति होती है और इसके लिये सभी पक्षियों में पंख आदि समान जैविक विशेषताएँ भी पायी जाती हैं। इन समानताओं के आधार पर ही किसी भी पक्षी के लिये यह सम्भव होता है कि वह दूसरे पक्षियों को उड़ता देख कर उस क्रिया की नकल करे।

(ब) विचारचालक अनुकरण (Ideo-motor Imitation)—इस प्रकार के अनुकरण के सम्बन्ध में हम श्री मैक्डूगल द्वारा उल्लेखित वर्गीकरण की विस्तारपूर्वक विवेचना कर चुके हैं।

(स) तार्किक या प्रयोजनमूलक अनुकरण (Rational or Purposeful Imitation)—जब किसी उद्देश्य या प्रयोजन को लेकर विचारपूर्वक अनुकरण किया जाता है तो उसे तार्किक अनुकरण कहते हैं। इन्जीनियर या एक अध्यापक से शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्ति जब खुद भी इंजीनियर या अध्यापक बनने के लिये उनके व्यवहारों का अनुकरण करते हैं तो उसे तार्किक या प्रयोजनमूलक अनुकरण कहते हैं क्योंकि अनुकरण करने वाला व्यक्ति अपने एक विशेष प्रयोजन या आवश्यकता की पूर्ति के लिये, यानी इन्जीनियर या अध्यापक बनने के लिये, नकल करता है। यह अनुकरण-प्रक्रिया डॉ० मैक्डूगल द्वारा उल्लिखित ऐच्छिक या आत्म-सचेत अनुकरण से मिलती-जुलती है।

(3) श्री ड्रीवर (Drever) ने अनुकरण को दो मोटे भागों में बाँटा है—

एक, अचेत अनुकरण (unconscious imitation) जिसमें व्यक्ति दूसरे के कार्यों की नकल अचेतन रूप से करता है।

दो, सचेत अनुकरण (conscious imitation) जिसमें व्यक्ति चेतन रूप से किसी आदर्श व्यक्ति का अनुकरण करता है।

अनुकरण के नियम या सिद्धान्त

(Laws of Theories of Imitation)

अनुकरण की प्रक्रिया से सम्बन्धित कुछ सामान्य विशेषताओं को विभिन्न विद्वानों ने कुछ नियमों या सिद्धान्तों के रूप में प्रस्तुत किया है। अनुकरण की वास्तविक प्रकृति को समझने के लिये कम से कम निम्नलिखित चार नियमों या सिद्धान्तों के विषय में जान लेना आवश्यक है—

1. बेगहॉट का सिद्धान्त
(Theory of Bagehot)

सर्वश्री बेगहॉट, ऐलवुड, मैक्डूगल आदि अनुकरण को एक जन्मजात प्रवृत्ति मानते हैं। श्री मैक्डूगल के विचारों को तो हम इस अध्याय के आरम्भ में ही प्रस्तुत कर चुके हैं। यहाँ हम श्री बेगहॉट के विचारों की विवेचना करेंगे। आपके मतानुसार अनुकरण करने की प्रवृत्ति मानव-प्रकृति का एक आवश्यक अंग है। यह प्रवृत्ति उसमें जन्म से ही विद्यमान रहती है। उन्होंने लिखा है, "सत्य तो यह है कि सामने जो कुछ है, उसके अनुकरण की प्रवृत्ति मानव-प्रकृति के सबसे शक्तिशाली भागों में से एक है।"[6] श्री बेगहॉट ने यह भी मत व्यक्त किया है कि आधुनिक सभ्य व्यक्तियों की अपेक्षा आदिम जनजातियों के सदस्यों में अनुकरण की प्रवृत्ति अधिक तीव्र होती थी क्योंकि उनके मूल स्वभाव (nature) पर सभ्यता का आवरण नहीं होता है। बच्चों को तो आपने जन्मजात नकलची (born mimics) या नकल उतारने वाला 'कलाकार' कहा है।

श्री बेगहॉट के मतानुसार कोई भी समाज किस रूप में विकसित हो रहा है, यह निर्भर करता है उस समाज में क्रियाशील अनुकरण की प्रक्रियाओं पर। एक समाज

विशेष की जो कुछ भी विशेषता हम देखते हैं, उस सब का कारण अनुकरण ही होता है। इस आन्तरिक प्रेरणा के कारण ही मानव के विचार, आदर्श, परम्परा, प्रथा, आचार-व्यवहार, वेशभूषा, धर्म, नैतिकता, साहित्य, ज्ञान आदि का विकास और विस्तार होता है। मनुष्य को वास्तव में दुख तभी होता है जब वह अनुकरण करने में असफल होता है क्योंकि उसके अपने उद्देश्यों तथा सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति अनुकरण के बिना नहीं हो सकती है। अनुकरण के आधार पर ही विचार, प्रथा, परम्परा, आदर्श आदि का हस्तान्तरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को होता है।

अनुकरण के एक प्रमुख नियम का उल्लेख करते हुए श्री बेगहॉट ने लिखा है कि अपने से अधिक उन्नत व सुसभ्य समूह और व्यक्ति का अनुकरण पिछड़े हुए समूह और व्यक्ति करते हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। पिछड़े हुए समाज और व्यक्ति पर उन्नत व प्रगतिशील समाज और व्यक्ति का प्रभाव सरलता से पड़ता है। इसलिये पिछड़ा हुआ समाज प्रगतिशील समाज के नियमों, परम्पराओं, विचारों आदि का अनुकरण करता है।

2 टार्ड का सिद्धान्त और अनुकरण के नियम

(Theory of Tarde and Laws of Imitation)

श्री टार्ड ने अपने सिद्धान्त को अपनी पुस्तक 'Laws of Imitation' में सविस्तार प्रस्तुत किया है। अनुकरण के सामाजिक महत्त्व से श्री टार्ड इतना अधिक प्रभावित थे कि उनका निष्कर्ष है कि वास्तव में 'समाज साकार अनुकरण है' (society is imitation)। आपने भी अनुकरण को एक जन्मजात प्रवृत्ति माना है, यद्यपि सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों की पूर्णतया अवहेलना भी नहीं किया है।

श्री टार्ड के मतानुसार, किसी भी समाज का विकास उस समाज के सदस्यों के बीच होने वाली मानसिक प्रक्रियाओं या अन्त:क्रियाओं के फलस्वरूप ही होता है। इन प्रक्रियाओं के तीन रूप होते हैं—पुनरावृत्ति (repetition), विरोध (opposition) और अनुकूलन (adaptation)। श्री टार्ड के अनुसार इन तीनों प्रक्रियाओं का सहारा लेकर न केवल समाजशास्त्रीय, बल्कि सम्पूर्ण संसार से सम्बन्धित समस्त घटनाओं की व्याख्या की जा सकती है। इन प्रक्रियाओं में से प्रत्येक के तीन स्वरूप हैं—भौतिक स्वरूप (physical form), प्राणीशास्त्रीय स्वरूप (biological form) तथा सामाजिक स्वरूप (social form)। यहाँ केवल पुनरावृत्ति से सम्बन्धित इन तीन स्वरूपों का उल्लेख ही पर्याप्त है। उपर्युक्त आधार पर पुनरावृत्ति के तीन स्वरूप हैं—भौतिक पुनरावृत्ति, प्राणीशास्त्रीय पुनरावृत्ति तथा सामाजिक पुनरावृत्ति। वायु के माध्यम से प्रतिध्वनि का होना भौतिक पुनरावृत्ति है; वंशानुसंक्रमण की प्रक्रिया द्वारा सन्तान में माता-पिता के शारीरिक व मानसिक गुणों का लौट आना प्राणीशास्त्री पुनरावृत्ति है, और एक के व्यवहार को दूसरे के द्वारा बहुत कुछ उसी रूप में दोहराया जाना सामाजिक पुनरावृत्ति या अनुकरण है। उसी प्रकार विरोध (opposition) का सामाजिक स्वरूप युद्ध, प्रतिस्पर्द्धा (competition) तथा वाद-विवाद है। सामाजिक अनुकूलन (adaptation) की स्थापना नये आविष्कारों द्वारा की जाती है। नये आविष्कारों द्वारा नये विचार और रीति-रिवाज, आदि का जन्म होता है जिससे सामाजिक प्रगति सम्भव होती है। अत: सामाजिक उन्नति का मुख्य साधन आविष्कार है। परन्तु आविष्कार तभी सम्भव होता है जबकि अनुकरण की प्रक्रिया द्वारा हमें नये विचार प्राप्त होते हैं। इस प्रकार आविष्कार अनुकरण पर ही निर्भर है। इतना ही नहीं, आविष्कार के विस्तार के लिये भी अनुकरण का ही सहारा लेना

पड़ता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक समानता व एकरूपता भी अनुकरण पर आधारित होती है। कोई विशेष व्यक्ति कुछ तथ्यों के आधार पर कुछ ऐसे कार्य को करता है जो कि उसके लिए परिस्थिति से अनुकूलन करने में तथा अपने अस्तित्व को बनाये रखने में सहायक सिद्ध होता है। और, फिर जब समाज के दूसरे लोग भी उन क्रियाओं का अनुकरण करते हैं तो समाज में एकरूपता पनपती है।

श्री टार्ड के अनुसार आविष्कार का अनुकरण दो प्रकार के सामाजिक कारणों पर आधारित होता है—

(अ) तार्किक कारण (Logical Causes)—जब कोई नया आविष्कार होता है तो उसे उसी रूप में दूसरे लोग अनुकरण करते हैं जबकि उस आविष्कार में अन्तर्निहित विचार उस समाज द्वारा मान्य विचार, मत, आदर्श आदि के विपरीत न हो। तार्किक मतभेद अनुकरण में बाधा डालता है।

(ब) अतितार्किक कारण (Extralogical Causes)—कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि आविष्कार में निहित विचार सामाजिक विचारों के अनुरूप न होने हुए भी कुछ अति-तार्किक कारणों से अनुकरण कर लिया जाता है। ये कारण तीन हैं—प्रथम कारण तो यह है कि अनुकरण अन्दर से बाहर की ओर बढ़ता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि नये विचार पहले हमारे विचारों को प्रभावित करते हैं और फिर उस प्रभाव से प्रेरित होकर हम उनका अनुकरण वास्तविक क्रिया के रूप में करते है। जैसे, पहले-पहल हम अंग्रेजों की भाषा व संस्कृति से प्रभावित हुए और बाद में उसी प्रभाव का परिणाम यह हुआ कि आज हम अनेक विषयों में अंग्रेजों की नकल करते है। द्वितीय कारण यह है कि यदि आविष्कार-कर्ता की प्रतिष्ठा दूसरों के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण होती है तब भी उस आविष्कार का अनुकरण कर लिया जाता है। अन्त में, कई बार नये विचार, वस्तु आदि का केवल इसलिये अनुकरण किया जाता है कि उनमें नवीनता का स्वाद मिलता है। नवीनता के प्रति आकर्षण ही फैशन-सम्बन्धी अनुकरण का प्रमुख कारण है।

श्री टार्ड ने अनुकरण के अन्तर्गत सुझाव, सहानुभूति आदि सभी मानसिक अन्तःक्रियाओं को सम्मिलित कर लिया है।

समालोचना—(i) यह सच है कि अनुकरण का सामाजिक जीवन में महत्त्व है, पर इसका तात्पर्य कदापि यह नहीं हो सकता कि हम सम्पूर्ण समाज को ही अनुकरण का प्रतिफल मान लें। सर्वश्री बेजहॉट तथा टार्ड दोनों ने ही यही गलती की है जो कि उनके सिद्धान्तों की प्रमुख दुर्बलता बन गयी। (ii) अनुकरण एक सामाजिक प्रक्रिया है जो सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुसार निर्धारित व परिवर्तित होती रहती है। इस कारण इसे आन्तरिक प्रवृत्ति मानने की गलती हमें कभी नहीं करनी चाहिए। पर, यही गलती सर्वश्री बेजहॉट और टार्ड ने की है। (iii) अनुकरण के अन्तर्गत सुझाव, सहानुभूति आदि को भी सम्मिलित कर लेना अस्वाभाविक है। इन तीनों को एक-दूसरे से पृथक् किया जा सकता है।

अनुकरण के नियम
(Laws of Imitation)

श्री टार्ड ने अनुकरण के कुछ नियमों का भी उल्लेख किया है जो कि निम्नलिखित है—

(i) अनुकरण ऊँचे से नीचे की ओर फैलता है (Imitation Proceeds from Higher to the Lower)—इस नियम के अनुसार जिस समूह, समुदाय, वर्ग या व्यक्ति की सामाजिक स्थिति किसी भी रूप में ऊँची होती है, उस समूह, वर्ग या व्यक्ति के व्यवहार का अनुकरण उससे निम्न समूह, वर्ग या व्यक्ति के द्वारा किया जाता है। यही कारण है कि शासक वर्ग का अनुकरण शासित वर्ग करता है, नेताओं का अनुकरण अनुयायी वर्ग करता है, सभ्य समाज का अनुकरण आदिम समाज करता है, और नगरवासियों का अनुकरण गाँव के लोग करते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि उच्चतर सामाजिक स्थिति एक आदर्श स्थिति भी होती है और 'आदर्श' की नकल सभी करना पसन्द करते हैं।

(ii) अनुकरण अन्दर से बाहर की ओर अग्रसर होता है (Imitation Proceeds from Internal to External)—यह नियम इस बात पर बल देता है कि पहले लोग दूसरों के विचारों, आदर्शों, मूल्यों एवं विश्वासों (अर्थात् आन्तरिक तत्त्वों) को अपनाते हैं और उस रूप में अनुकरण के लिये एक आवश्यक मानसिक तैयारी कर लेते हैं, उसके बाद दूसरों के बाह्य व्यवहारों का अनुकरण करते हैं। उदाहरणार्थ, पहले हम पाश्चात्य भाषा, संस्कृति आदि से प्रभावित हुए और फिर पाश्चात्य देशों के लोगों के रहन-सहन, खानपान, वेशभूषा आदि का अनुकरण करने लगे।

कुछ विद्वानों का मत है कि यह नियम वैज्ञानिक नहीं है। वास्तव में अनुकरण बाहर से अन्दर की ओर होता है। मनुष्य के विचार, भावनाएँ, आदर्श, मूल्य, प्रथा आदि बाहरी व्यवहार से अधिक रूढ़िवादी होते हैं क्योंकि आन्तरिक रुचि, मनोभाव, विचार, विश्वास आदि का सम्पर्क हमारे व्यक्तित्व के आन्तरिक पक्ष से होता है, जबकि बाह्य व्यवहार व्यक्तित्व के बाहरी पक्ष से सम्बन्धित होता है। यही कारण है कि हमारे देश में ही ऐसे बहुत से लोग मिलेंगे, जो खानपान, पोशाक, बातचीत आदि के विषय में 'पूरे साहब' हैं, पर विचार, भावना, धर्म, आदर्श आदि के मामले में पूरे भारतीय बने हुए हैं।

(iii) अनुकरण में विचारों के ढंग की अपेक्षा कार्य करने के ढंग अधिक होते हैं (Modes of Doing Persist more Obstinately than Modes of Thinking)—श्री टार्ड के अनुसार रीति रिवाज, प्रथा आदि (अर्थात् कार्य करने के ढंग विचारों की अपेक्षा अधिक स्थायी होते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि विचारों का अनुकरण व्यवहारों तथा क्रियाओं के अनुकरण की अपेक्षा कम समय तक चलता है। लोग विचारों का अनुकरण उतना नहीं करते हैं जितना कि बाहरी व्यवहारों तथा क्रियाओं का। इसका कारण भी स्पष्ट है। बाहरी व्यवहार, क्रिया आदि को बाहरी तौर पर देखा जा सकता है। इस कारण उनकी नकल उतारना भी आसान होता है, जबकि विचारों को तो मन-मस्तिष्क में अनुभव करना पड़ता है। इस कारण विचारों का अनुकरण सरल नहीं होता है।

(iv) अनुकरण रेखागणितीय अनुपात से फैलता है (Imitation Spreads in Geometrical Progression)—इस नियम से तात्पर्य केवल इतना ही है कि अनुकरण शीघ्र गति से फैलता है। एक व्यक्ति का अनुकरण एकाधिक व्यक्ति करते हैं और फिर उन एकाधिक व्यक्तियों में प्रत्येक का अनुकरण एकाधिक व्यक्ति करते हैं। इस प्रकार अनुकरण की प्रक्रिया तीव्र से तीव्रतर होती जाती है। समाज में एक

नया फैशन चल भर जाय, फिर देखिये कितनी शीघ्रता से वह सारे समाज में फैलता है। यह विस्तार केवल किसी समाज विशेष तक ही सीमित नहीं रहता है, बल्कि सम्पूर्ण विश्व में छा जाता है। यातायात व संचार के आधुनिक साधनों ने यह काम तो और भी अधिक सरल बना दिया है।

3. अनुकरण का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त
(Psychological Theory of Imitation)

एकाधिक मनोवैज्ञानिकों ने अनुकरण को एक जन्मजात अथवा पैतृक प्रवृत्ति न मानकर इसे एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के रूप में देखा है। उनके अनुसार स्नायु-मण्डल (nervous system) अनुकरण का आधार है। किसी दूसरे व्यक्ति के व्यवहार को देखने और सुनने या उसके विषय में पढ़ने के फलस्वरूप बाह्य उत्तेजना प्राप्त होने पर स्नायु-मण्डल में एक सहज-क्रिया (reflex action) होती है जो उस उत्तेजना की पुनरावृत्ति करती है। उत्तेजना की पुनरावृत्ति (repetition) ही अनुकरण की प्रक्रिया को प्रारम्भ करती है। अतः श्री हॉल्ट (Holt) के अनुसार, अनुकरण की व्याख्या सहज-चक्र के सिद्धान्त (reflex circle theory) के आधार पर सरलता से की जा सकती है। उनका कहना है कि एक व्यक्ति अपने व्यवहार या क्रिया की किसी विशेषता के द्वारा दूसरे का न केवल ध्यान आकर्षित करता है, बल्कि वह अर्थहीन से अर्थहीन इस प्रकार की उत्तेजनाएँ भी उत्पन्न कर देता है जो मानव-शरीर में पुनरावृत्ति की क्रियाओं का एक सहज-चक्र चला देती हैं। और, एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति के व्यवहार या क्रिया की पुनरावृत्ति को ही अनुकरण कहते हैं।

श्री ऑलपोर्ट (Allport) का सिद्धान्त श्री हॉल्ट के विचारों से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। आपने अनुकरण की व्याख्या अपने 'पूर्व-सशक्त सहज सिद्धान्त' (Pre-potent Reflex Theory) के आधार पर की है। उनके मतानुसार बच्चा "ध्वनि की पुनरावृत्ति अपने शरीर के अन्दर सुनने तथा बोलने के केन्द्रों में पूर्वस्थापित सम्बन्ध के कारण करता है।" इसका सहज तात्पर्य यही हुआ कि मानव-शरीर में सुनने और बोलने की इन्द्रियाँ, पहले से ही एक दूसरे से सम्बन्धित होती हैं। इस कारण बच्चा किसी व्यक्ति की बोली सुनने पर उस ध्वनि की पुनरावृत्ति स्वतः करने लगता है। और भी सरल रूप में कहा जा सकता है कि कुछ मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के कारण जब एक व्यक्ति की क्रियाओं या व्यवहार द्वारा उत्पन्न उत्तेजना दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों में भी उसी प्रकार की उत्तेजना को उत्पन्न करने में सफल होती है तो उस सामान्य उत्तेजना के प्रति दोनों की प्रतिक्रियायें भी समान ही होती हैं। यही अनुकरण है। श्री ऑलपोर्ट ने लिखा है कि अनुकरण के अनेक उदाहरण वास्तव में अनुकरण के नहीं, वरन् 'समान व्यवहार' (similar behaviour) के उदाहरण हैं। उनके ही शब्दों में, "तथाकथित अनुकरण के अनेक कार्य एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति पर प्रभाव के कारण नहीं, वरन् इस कारण होते हैं कि वे दोनों एक ही उत्तेजना के प्रति प्रतिक्रिया कर रहे होते हैं।"[9]

4. अनुकरण का सामाजिक सिद्धान्त
(Social Theory of Imitation)

इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों का कथन है कि अनुकरण वास्तव में एक सामाजिक प्रक्रिया है, यद्यपि इसमें शारीरिक-मनोवैज्ञानिक (psycho-physical) कारकों

का भी सहयोग अवश्य ही रहता है। श्री थार्नडाइक (F. L. Thorndike) ने मुर्गी के बच्चों, कुत्तो तथा बिल्लियों पर प्रयोग करके यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित कर दिया कि अनुकरण मूलप्रवृत्ति नहीं, वरन् एक सीखी हुई प्रवृत्ति या आदत है। आपके मतानुसार मनुष्य मे अनुकरण की आदत भी अन्य आदतों के समान ही उत्पन्न तथा विकसित होती है। इस विकास पर भी समाज व संस्कृति का प्रभाव निरन्तर पड़ता रहता है। उन व्यवहारों का अनुकरण अधिक किया जाता है, जिन्हे समाज को मान्यता प्राप्त है और जिन्हें अपनाने पर समाज या समूह अपनाने वाले की प्रशंसा करता या अन्य किसी रूप मे उसे पुरस्कृत करता है। इसके विपरीत उन व्यवहारों का अनुकरण बहुत कम होता है जो समाज द्वारा घृणित या तिरस्कृत समझे जाते है। पर, श्री थार्नडाइक ने यह भी लिखा है कि हँसना, चिल्लाना, दौड़ना आदि कुछ ऐसे व्यवहार भी हैं, जिनका अनुकरण सहज ढंग से होता रहता है।

श्री हॉब हाउस (Hobhouse) का कथन है कि कुछ व्यवहार ऐसे होते हैं जिन्हे करने पर व्यक्ति को समाज या समूह से पुरस्कार (reward) मिलने की आशा होती है। यह पुरस्कार प्रेरक शक्ति का काम करता है और व्यक्ति पुरस्कार को पाने के लिये ही अनुकरण करता है। इस प्रकार श्री हॉब हाउस के मतानुसार, *अनुकरण पुरस्कार की सहायता से सीखा हुआ एक व्यवहार है।* सर्वश्री जॉन डीवी (John Dewey), लॉपीयर (La Piere), कूले (Cooley), आदि अन्य विद्वानो ने भी अनुकरण को समाज मे सीखा हुआ एक व्यवहार माना है। इस सम्बन्ध मे श्री चार्ल्स बर्ड (Charles Bird) का तो निष्कर्ष यह है कि "हम अनुकरण करना सीखते है, न कि अनुकरण द्वारा सीखते हैं।[10]"

सामाजिक जीवन मे अनुकरण का महत्व
(Importance of Imitation in Social Life)

कुछ लोगों का कथन है कि अनुकरण से मौलिकता का ह्रास होता है और दासवृत्ति की वृद्धि होती है। परन्तु, वे भूल जाते हैं कि अनुकरण का सामाजिक जीवन मे इतना एक महत्त्व है, जिसकी अवहेलना किसी भी रूप से नहीं की जा सकती। निम्नलिखित विवेचन से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी—

(1) अनुकरण सीखने में सहायक होता है। एक सामाजिक प्राणी के रूप मे *अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये आवश्यक है कि हम कुछ वैयक्तिक* व सामाजिक व्यवहारों को सीख जायें। इस काम मे अनुकरण हमारी बहुत मदद करता है। आरम्भ में बच्चा अपने माता-पिता तथा परिवार के अन्य सदस्यो के व्यवहारो का अनुकरण करके अनेक ऐसी बातो को सरलता से व स्वाभाविक ढंग से सीख जाता है जो कि सामाजिक प्राणी कहलाने के लिये आवश्यक होता है। परिवार से बाहर निकल कर पड़ोस, खेल के साथी-समूह, स्कूल-कालेज आदि मे जाकर व्यक्ति निरन्तर सामाजिक व्यवहारो को अनुकरण के द्वारा सीखता रहता है। प्रथा, परम्परा, धर्म, रीति-रिवाज, आदर्श, भाषा, आदि सभी का सीखना बहुत कुछ अनुकरण पर ही निर्भर होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्यक्ति के समाजीकरण (socialization) की प्रक्रिया मे अनुकरण का अत्यधिक महत्त्व है।

(2) अनुकरण व्यक्तित्व के विकास मे अपना महत्वपूर्ण योगदान करता है। मानव का व्यक्तित्व आदतों, विचारों, भावनाओं, आदर्शों आदि का एक सगठित रूप होता है। व्यक्तित्व के इन तत्त्वो को सकलित करने में अनुकरण का योगदान वास्तव मे अनुपम ही होता है। इसीलिये श्री टी० पी० नन (T. P. Nunn) ने कहा है कि अनुकरण व्यक्तित्व के विकास की प्रथम सीढ़ी है। अनुकरण के द्वारा ही हम एक दूसरे के द्वारा अर्जित सफलता से लाभ उठा सकते है। हम दूसरे की सफलताओं (अर्थात् सफल क्रियाओं) का ही नही, अपितु विफलताओं (अर्थात् असफल क्रियाओं) का भी अनुकरण करते है, और इनसे जो अनुभव विचार आदत, आदि हम अर्जित करते हैं, वे हमारे व्यक्तित्व का आधार बन जाते है।

(3) अनुकरण सामाजिक प्रगति मे भी सहायक होता है।- अनुकरण के आधार पर आविष्कार सम्भव होता है, और प्रत्येक सामाजिक प्रगति का एक कारण बन जाता है। और भी स्पष्ट रूप में, अनुकरण के आधार पर हमे दुनियाँ के कोने-कोने से नये विचार मिलते रहते हैं जो आविष्कार में सहायक होते है। इनमें से कोई-कोई आविष्कार तो इतना महत्त्वपूर्ण होता है कि वह सामाजिक प्रगति को एक नयी दिशा प्रदान कर सकता है। अनुकरण एक अन्य रूप मे भी सामाजिक प्रगति मे सहायक होता है। अनुकरण के द्वारा अन्य समाजों के प्रगतिशील विचार, व्यवहार व आचरण अपने पूरे समाज मे फैल जाते है, और जनता को प्रगति का मार्ग दिखलाते हैं। महान् शिक्षकों, महात्माओं व नेताओं के विचारों व व आचरणो का अनुकरण भी सामाजिक प्रगति मे सहायक सिद्ध होता है।

(4) अनुकरण सामाजिक एकरूपता और संगठन को जन्म देता है। अनुकरण के द्वारा सामाजिक जीवन के उल्लेखनीय व्यवहार, विचार, आदर्श आदि समाज के अधिकतर सदस्यो मे फैल जाते हैं और इन व्यवहारों, विचारों आदि के विषय मे ये सभी सदस्य प्राय एकसमान होते हैं। सदस्यो के व्यवहार, विचार, आदर्श आदि में समानता का अर्थ होता है सामाजिक एकरूपता, जिसके आधार पर सामाजिक संगठन का पनपना और बना रहना सरल हो जाता है।

(5) अनुकरण वैयक्तिक इच्छाओं की पूर्ति मे भी सहायक होता है। इस रूप मे अनुकरण की सहायता से व्यक्ति ऐसे अनेक व्यवहारो को सीख जाता है जो उसकी वैयक्तिक इच्छाओं की पूर्ति में उसकी सहायता कर सकते है। अनेक प्रकार के खेलकूद के तरीके मिलता करने तथा उसे बनाये रखने की प्रविधि, और ऐसी ही अनेक चीजों को व्यक्ति दूसरों का अनुकरण करके ही सीखता है और अपनी इच्छाओ को तृप्त करता है।

सुझाव या संकेत

(Suggestion)

'सुझाव' शब्द से हम साधारणतया ऐसी विचार या या व्यवहार प्रणाली समझते है जो व्यक्ति इस आग्रह से प्रस्तुत करता है कि दूसरा पक्ष उसे स्वीकार कर ले। उदाहरणार्थ, यदि कोई पिता अपने बच्चे को नियमित रूप से स्कूल जाने को कहते हैं या यदि कोई शिक्षक अपने विद्यार्थियों को माता-पिता की आज्ञा पालन करने को कहते हैं, तो हम आम तौर पर उसे सुझाव ही कहेंगे। परन्तु, सामाजिक

मनोविज्ञान में इस शब्द का प्रयोग और भी निश्चित अर्थ में होता है। परन्तु, उस अर्थ को समझने से पहले, यह याद रखना आवश्यक होगा कि अनुकरण की भाँति सुझाव की प्रक्रिया में भी दो पक्षों का होना आवश्यक है—एक पक्ष जो सुझाव प्रस्तुत करता है, और दूसरा पक्ष वह जिसे सुझाव दिया जाता है, और जो सामान्यत उस सुझाव को ग्रहण या स्वीकार कर लेता है।

सुझाव की परिभाषा
(Definition of Suggestion)

सुझाव की परिभाषा एव स्वरूप के विषय में विद्वानों में एक मत नहीं है। अलग-अलग विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूप में इसके अर्थ को समझाने का प्रयत्न किया है। यह बात निम्नलिखित परिभाषाओं से और भी स्पष्ट हो जायगी—

श्री मैक्डूगल (McDougall) के अनुसार, "सुझाव सन्देश-वाहन (या सचार) की एक प्रक्रिया है, जिसके फलस्वरूप एक व्यक्ति के द्वारा व्यक्त किया हुआ प्रस्ताव उचित आधार के बिना भी दूसरों के द्वारा विश्वास के साथ स्वीकार कर लिया जाता है।"[11]

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) के शब्दों में, "सुझाव शब्दों, चित्रों या ऐसे ही किसी अन्य माध्यम द्वारा किये गये प्रतीक-सचार (symbol communications) का एक ऐसा स्वरूप है जिसका उद्देश्य उस प्रतीक को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करना होता है।"[12]

श्री थाउलस (Thoules) के मतानुसार, "अब 'सुझाव' शब्द का प्रयोग सामान्यतः राष्ट्रीय अनुनय (national persuasion) को छोड़कर अन्य किसी ऐसी प्रक्रिया के लिये किया जाता है, जिसके द्वारा विचारों की एक व्यवस्था (a system of ideas) के प्रति एक मनोवृत्ति (attitude) को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को सचारित किया जाता है।"[13]

श्री ऑलपोर्ट (Allport) ने लिखा है, "सुझाव का अर्थ किसी विश्वास अथवा क्रिया के प्रस्ताव को पूर्ण दृढ संकल्प के बिना ही स्वीकार कर लेना है।"[14]

सुझाव के अर्थ को और भी स्पष्ट रूप से समझाने के लिये उपर्युक्त परिभाषाओं की व्याख्या कर लेना आवश्यक होगा। डॉ० मैक्डूगल की परिभाषा से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने 'सुझाव' को केवल एक निष्क्रिय ग्रहण-प्रक्रिया (passive receptive process) समझा है। यह मान लिया गया है कि सुझाव ग्रहण करने वाला उसके सम्मुख प्रस्तुत प्रस्ताव की अच्छाई-बुराई के प्रति बिलकुल ही निष्क्रिय या उदासीन है। किन्तु, सुझाव केवल एक निष्क्रिय प्रक्रिया मात्र नहीं है। ऐसा नहीं होता है कि सुझाव ग्रहण करने वाला सभी अतार्किक, अवैज्ञानिक या सर्वसाधारण रूप में अस्वीकृत प्रस्तावों को भी उचित और सत्य मान लेने को बाध्य हो। ऐसा भी नहीं है कि सुझाव ग्रहण करने का अर्थ समस्त बौद्धिक या तार्किक क्षमताओं से हाथ धो बैठना हो। वास्तविकता यह है कि सुझाव की प्रक्रिया सुझाव ग्रहण करने वाले के मस्तिष्क को प्रभावित करके एक ऐसी भूमिका या पृष्ठभूमि की रचना करती है जो उसके तार्किक विश्लेषण की शक्ति को कम कर देती या दबा देती है। इसका परिणाम यह होता है, कि विरोधी विचार उसके

मन मे पनप नहीं पाता। न ही आलोचनात्मक दृष्टिकोण से प्रस्तावित विषय के सम्बन्ध में छानबीन करने को जी चाहता है। ऐसी अवस्था में सुझाव स्वीकार कर लिया जाता है। उदाहरणार्थ, कक्षा में यदि एक अध्यापक किसी एक विशेष पुस्तक की प्रशंसा कर देते हैं और उस पुस्तक को खरीद कर पढ़ने के लिये कहते हैं तो विद्यार्थी उस प्रशंसा से इस कारण प्रभावित होते हैं कि प्रशंसा करने वाले स्वयं उनके माननीय अध्यापक हैं, जो पुस्तक के गुणावगुण के विषय में अधिक जानते हैं। ये सभी बातें एक ऐसी पृष्ठभूमि की रचना करती हैं, जो विद्यार्थियों की तार्किक शक्ति को उस पुस्तक के अवगुणों से दूर हटा देती हैं और वे उस पुस्तक के गुणों को ही देखने लगते हैं और पुस्तक को खरीद कर पढ़ते हैं।

श्री किम्बल यंग ने इसीलिये अपनी परिभाषा में सुझाव को शब्दों, चित्रों आदि के माध्यम से प्रतीक० का संचार माना है, जिसका उद्देश्य उस प्रतीक को स्वीकार करने के लिये दूसरे पक्ष को प्रेरित करना होता है। इस परिभाषा से सुझाव की एक और विशेषता का पता चलता है, और वह यह कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सुझाव का एक उद्देश्य होता है, और वह यह कि सुझाव को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाय कि दूसरा पक्ष उसे स्वीकार कर ले। सुझाव की प्रक्रिया तभी सम्पूर्ण व सफल मानी जायेगी। सुझाव को ग्रहण किया जायेगा या उसका बहिष्कार' यह निर्भर करता है उत्तेजना तथा आन्तरिक परिस्थितियों पर। इसीलिये यदि एक व्यक्ति के उद्वेगो (responses) को भड़का कर उसे उत्तेजित कर दिया गया है तो उसमें सुझाव ग्रहण करने की तत्परता अवश्य ही अधिक होगी। इस प्रकार संक्षेप में, श्री यंग के अनुसार सुझाव तार्किक विश्लेषण-शक्ति को कम कर देने, समालोचना करने के संयम को दबा देने तथा तत्काल ही किसी इच्छित प्रत्युत्तर (response) पाने या क्रिया करवाने का एक कौशल या साधन है।

सर्वश्री बॉउसस तथा ऑलपोर्ट की परिभाषाओं से भी यह स्पष्ट है कि सुझाव स्वयं कोई मूलप्रवृत्ति नहीं है। यह तो मूलप्रवृत्ति को दिशा दिखलाने वाली, उसे जगा देने वाली तथा उसे क्रियाशील बनाने वाली प्रक्रिया है। अगर यह मूल-प्रवृत्ति होती तो इसे बाहरी तौर पर एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को संचारित करने को कोई प्रश्न ही नही उठता। साथ ही, एक जाति के सभी सदस्यों में यह समान होती। पर, ऐसा नही होता। भारतवर्ष के लोग जिन विषयों से सम्बन्धित सुझावों को अधिक ग्रहण करते हैं, अमेरिका के लोग उन्ही को व्यर्थ का विषय समझ सकते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि परिस्थिति मे परिवर्तन के साथ-साथ एक व्यक्ति की सुझाव ग्रहण करने की क्षमता में परिवर्तन होता जाता है। अतः सुझाव जन्मजात प्रक्रिया नहीं है।

इस सम्बन्ध में दो शब्द सुझाव-ग्रहणशीलता (suggestibility) के बारे में भी कह देना आवश्यक होगा। सुझाव व सुझाव-ग्रहणशीलता एक ही मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के दो पक्ष हैं—सुझाव स्वयं प्रक्रिया का द्योतक है, जबकि सुझाव-ग्रहणशीलता सुझाव को अपनाने की क्षमता या मात्रा की ओर निर्देश करती है। जिस सीमा या मात्रा तक एक व्यक्ति एक सुझाव विशेष को स्वीकार करने के लिये मानसिक तौर पर तत्पर है, वह उस व्यक्ति की सुझाव-ग्रहणशीलता है। यह सुझाव-ग्रहणशीलता प्रत्येक व्यक्ति में समान नहीं होती—किसी में अधिक तो किसी मे कम होती है। साथ ही, एकाधिक आन्तरिक एवं बाहरी दशाओं के अनुसार इस सुझाव-ग्रहणशीलता मे कमी या वृद्धि भी हो सकती है, अथवा की जा सकती है।

अब हम इसकी बाह्य तथा आन्तरिक दशाओं या अवस्थाओं की विवेचना करेंगे, जिसमें सुझाव-ग्रहणशीलता में वृद्धि हो सकती है।

सुझाव को प्रभावपूर्ण बनाने के लिये आवश्यक दशाएँ

(Essential Conditions for Effective Suggestions)

कुछ ऐसी दशाएँ व परिस्थितियाँ भी होती हैं जो सुझाव को प्रभावपूर्ण बनाने में सहायक सिद्ध होती हैं जिनमें सुझाव ग्रहण करने वाले पक्ष की सुझाव-ग्रहणशीलता बढ़ जाती है। इन परिस्थितियों को हम मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—बाह्य परिस्थितियाँ और आन्तरिक परिस्थितियाँ। इनमें से प्रत्येक के अनेक उपविभाग हैं। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी साफ हो जायेगी।

1. बाह्य परिस्थितियाँ

(External Conditions)

सुझाव की प्रक्रिया में, जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, दो पक्ष होते हैं—प्रथम पक्ष सुझाव देने वाला, और दूसरा सुझाव ग्रहण करने वाला। बाह्य परिस्थितियाँ मुख्यतः सुझाव देने वाले से तथा सुझाव जिन बाहरी परिस्थितियों में दिया जा रहा है या ग्रहण किया जा रहा है, उनसे सम्बन्धित होती हैं। ये दशाएँ या परिस्थितियाँ बाह्य इस अर्थ में हैं कि वे बाहर से सुझाव ग्रहण करने वाले को प्रभावित करती हैं, जिसके फलस्वरूप उसकी तार्किक शक्ति उस समय के लिये दब जाती है और सुझाव देने वाले की स्वार्थ-सिद्धि हो जाती है। बाहरी तौर पर सुझाव की सफलता निम्नलिखित दशाओं या परिस्थितियों पर निर्भर करती है—

(1) **बाह्य पर्यावरण** (External Environment)—प्रकाश, अँधेरा, रंग, सजावट, तथा व्यक्ति के चारों ओर की अन्य वस्तुएँ इस प्रकार की मानसिक स्थिति को उत्पन्न कर सकती हैं, जिससे व्यक्ति की सुझाव-ग्रहणशीलता बढ़ जाय और सुझाव का उद्देश्य सफल हो। यही कारण है कि जिस दिन कोई नया चित्र रिलीज होता है, उस दिन सिनेमा-हॉल के सामने खूब रोशनी व सजावट की जाती है, सिनेमा अभिनेता व अभिनेत्रियों के बड़े-बड़े चित्र लगाये जाते हैं और अखबारों में खूब बढ़ा-चढ़ा कर विज्ञापन दिये जाते हैं। इन सबका उद्देश्य जनता को चकाचौंध कर देना और उनकी मानसिक स्थिति को इस प्रकार प्रभावित करना है कि वे उस चित्र को एक 'अवश्य दर्शनीय' चित्र मान लें और समित्र व सपरिवार उसे देखने को आयें। इसी प्रकार, यदि मकान में आग लग गयी है, और आग की लपट बार-बार एक व्यक्ति को छूने लगती है तो यह अग्निमय परिस्थिति व्यक्ति की मानसिक स्थिति को इतना अधिक प्रभावित कर सकती है कि उस समय अगर कोई उसे सौ फुट ऊपर से कूद पड़ने को कहे तो आग में फँसा वह व्यक्ति वैसा ही कर बैठेगा। आपने देखा होगा कि दर्शकों की सुझाव-ग्रहणशीलता को बढ़ाने के लिए ही जादूगर रंगमंच को एक अजीब ढंग से सजाते हैं, विभिन्न रोशनी का प्रयोग करते हैं और नर-कंकाल से लेकर जादुई छड़ी तक को दर्शक के सामने प्रस्तुत करते हैं। इन सब का उद्देश्य एक रहस्यमय तथा उत्सुकता को उभाड़ने वाले वातावरण की सृष्टि करना तथा दर्शकों को प्रभावित करना होता है। इससे सुझाव ग्रहणशीलता बढ़ती है।

(ii) विश्वासपूर्ण स्वर (Confident Tone)—सुझाव देने वाला जितने विश्वासपूर्ण स्वर मे आत्मबल पर भरोसा रखते हुए सुझाव देगा, दूसरे लोग उतनी ही शीघ्रता से उसे ग्रहण कर लेंगे। विश्वासपूर्ण स्वर दूसरे पक्ष को तत्काल ही प्रभावित करता है, क्योंकि वह स्वर ही उसे यह विश्वास दिला देता है कि जो कुछ भी कहा जा रहा है, वह सब सच है, उचित है, अनुभवसिद्ध और इसीलिए खरा है। पर, यदि सुझाव देने वाले के स्वयं का ही स्वर डगमगा गया तो उसी के साथ सुझाव ग्रहण करने वाले का विश्वास भी डगमगा जाएगा।

(iii) पुनरावृत्ति (Repetition)—एक बात को अगर बार-बार दोहराया जाता है तो लोग उसे सच मानकर स्वीकार कर लेते हैं। इसका कारण यह है कि लोग यह सोचने लगते हैं कि जिस बात को इतनी बार दृढ़ता व विश्वासपूर्ण ढंग से दोहराया जा रहा है, वह झूठी नहीं हो सकती। श्री हिटलर का कथन था कि एक झूठ को भी अगर सौ बार दोहराया जाय तो वह सच प्रतीत होगा। यही कारण है कि व्यापार-सम्बन्धी विज्ञापनों को बार-बार दोहराया जाता है। राजनैतिक प्रचार, चाहे वह अन्तर्देशीय हो या अन्तर्राष्ट्रीय मे भी पुनरावृत्ति के सिद्धान्त को अपनाया जाता है। चीन और पाकिस्तान दुनिया की निगाहों में भारत के शान्ति-प्रस्तावों व सिद्धान्तों को खोखला प्रमाणित करने के लिये झूठे आरोपों का प्रचार लगातार ही करते रहते है, जिससे दुनिया उन्हे सच ही मान ले। परन्तु, स्मरण रहे कि पुनरावृत्ति की भी एक सीमा होती है। आवश्यकता से अधिक पुनरावृत्ति भी सुझाव के लिये हानिकारक सिद्ध होती है, क्योंकि अत्यधिक दोहराने से उस बात या प्रस्ताव से लोगों की मानसिक स्थिति का इतना अधिक मेल हो जाता है कि उसका कोई प्रभाव मस्तिष्क पर नहीं पड़ता। लोग उसे एक पुरानी घिसी-पिटी चीज समझने लगते हैं।

(iv) सुझाव देने वाले की प्रतिष्ठा (Prestige of the Suggestor)—सुझाव देने वाले की प्रतिष्ठा, सुझाव ग्रहण करने वालों की निगाहों मे, जितनी ऊँची होगी, उतनी ही शीघ्रता से उसका सुझाव ग्रहण कर लिया जायेगा। इसका कारण भी स्पष्ट है। प्रतिष्ठित व्यक्ति आदर्श व्यक्ति भी होते है, और उस रूप में उन पर लोगों का विश्वास भी पर्याप्त मात्रा में होता है। इसीलिये वे जो कुछ कहते हैं, उसे दूसरे लोग उचित व सच मान लेते और ग्रहण कर लेते हैं। नेहरू जी के सुझाव के आधार पर हजारों लोग कांग्रेस को ही वोट देते थे। व्यापार-सम्बन्धी विज्ञापन में भी देखा जाता है कि उच्च स्तर के व अत्यधिक लोकप्रिय अभिनेता व अभिनेत्रियों के प्रशंसा-वाक्यों को उनके चित्रसहित छापा जाता है, जिससे उन अभिनेत्रियों को आदर्श मानने वाले व्यक्तियों के मन में वस्तु-विशेष के गुणों के सम्बन्ध में कोई शंका न रह जाय और वे उसे खूब खरीदें। सुझाव देने वाली कोई बेजानदार वस्तु भी हो सकती है। उदाहरणार्थ, ताजमहल की अपूर्व सुन्दरता सारे संसार मे प्रसिद्ध है, इस लिए उसको देखने वालों में से अधिकतर लोग उसकी निर्माण-कला की सुन्दरता तथा अन्य बारीकियों को बिना समझे हुए भी उसकी प्रशंसा करने लगते है। इसका कारण यह है कि ताजमहल को देखने से पूर्व ही उनके मन मे उसकी प्रतिष्ठा विद्यमान रहती है।

(v) संकट (Crisis)—किसी भी प्रकार का संकट, विशेषकर आकस्मिक संकट व्यक्ति को इतना ज्यादा घबड़ा देता है कि उसके लिए तर्क शक्ति को काम मे लाना असम्भव-सा हो जाता है। इसीलिये उस समय जो भी सुझाव दिया जाता है, उसे वह तत्परता से मान लेता है। माता, पिता, पुत्र अथवा अन्य किसी प्रियजन की

मृत्यु अथवा कठिन बीमारी व दुर्घटना; बाढ़, भूकम्प, युद्ध; अपने बैंक का फेल हो जाना या आकस्मात् नौकरी से अलग कर दिया जाना, आदि संकट के ही उदाहरण हैं, जो व्यक्ति को व्याकुल कर देते हैं और सोचने समझने की शक्ति को उससे छीन लेते हैं। अतः उसकी सुझाव-ग्रहणशीलता बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ, अचानक एक अनजान व्यक्ति घर पर आये और एक स्त्री से कहे कि उसके पति एकाएक दुर्घटनाग्रस्त हो गये हैं और उसे अस्पताल मे बुलाया है। तो इस समाचार को सुनते ही पत्नी इतनी व्याकुल हो उठेगी कि उसमे तर्क करने की इतनी शक्ति भी नही रह जाएगी कि वह यह पूछे कि वह व्यक्ति कौन है, दुर्घटना का समाचार सच है या झूठ, एवं अनजान व्यक्ति के साथ अकेले घर से निकल जाना उचित होगा या नही, और उस अनजाने व्यक्ति के साथ जाने से कोई नई विपदा तो नहीं आ पड़ेगी, इत्यादि। इनमे से किसी भी विषय मे बिना सोचे-समझे वह स्त्री अनजान व्यक्ति के सुझाव के अनुसार घर छोड़कर उसके साथ चल देगी। अत. स्पष्ट है कि सकट सुझाव-ग्रहणशीलता मे वृद्धि करता है।

(vi) जनमत (Public Opinion)—जनमत भी व्यक्ति की सुझाव-ग्रहणशीलता को बढ़ा देता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। जनमत जनता का मत होता है, अर्थात् जनमत में जन-शक्ति या सामूहिक इच्छा निहित होती है, जो व्यक्ति पर एक बाध्यतामूलक प्रभाव डालती है। श्री दुर्खीम (Durkheim) का कहना है कि सामूहिक इच्छा या चेतना के सामने व्यक्तिगत इच्छा या चेतना को झुकना पड़ता है। एक भारतीय उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। भारतीय ग्रामीण परम्परा के अनुसार "पंच ही परमेश्वर है" यह धारणा इसी बात की द्योतक है कि पंचायत के सभी पंच एकसाथ मिल जो राय देते हैं, उनके उस मत को टाला नहीं जा सकता। इसीलिये पहले गाँव के लोग पंचायत के सुझाव को तत्परता से स्वीकार कर लेते थे, क्योंकि उस सुझाव के पीछे गाँव के बड़े-बूढ़ों का जो मत व इच्छा छिपी होती थी, उसे अस्वीकार करने की शक्ति व्यक्ति सामान्यतः अपने में नहीं पाता था।

आन्तरिक परिस्थितियाँ

(Internal Conditions)

व्यक्ति की सुझावग्रहणशीलता न केवल बाहरी परिस्थितियों के कारण बढ़ जाती है, बल्कि कुछ आन्तरिक दशाएँ भी इस प्रक्रिया मे सहायक होती हैं या हो सकती हैं। स्वयं सुझाव ग्रहण करने वाले व्यक्ति के स्वभाव, उसकी उस समय की मानसिक व शारीरिक अवस्था, आयु, लिंग आदि से सम्बन्धित दशाओं को ही हम आन्तरिक परिस्थितियाँ कहते हैं, जो उस व्यक्ति को अन्दर से प्रभावित करती और उसको सुझाव ग्रहण करने के लिये तैयार करती रहती हैं। ये आन्तरिक दशाएँ निम्नलिखित हैं—

(क) शारीरिक कष्ट (Physical Disturbance)—भूख, बीमारी, थकान, चोट इत्यादि शारीरिक व मानसिक कष्ट व्यक्ति की तर्क-शक्ति को शिथिल कर देते हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। शारीरिक कष्ट होने की स्थिति में व्यक्ति का सारा ध्यान कष्ट पर और उसे दूर करने के उपायों पर केन्द्रित हो जाता है। साथ ही वह कुछ परेशान-सा रहता है। ऐसी स्थिति में यदि कोई व्यक्ति उसके सामने कोई सुझाव प्रस्तुत करता है, विशेषकर यदि वह सुझाव उस कष्ट को दूर

करने से सम्बन्धित हुआ तो उसे कष्ट झेलने वाला व्यक्ति फौरन स्वीकार कर लेता है।

(ख) आयु (Age)—आयु के अनुसार भी सुझाव-ग्रहणशीलता घटती या बढ़ती रहती है। व्यक्ति आयु के अनुसार अपने अनुभव एवं विवेक की वृद्धि करता है। कम आयु वाला व्यक्ति कम अनुभवी एवं विवेकशील होता है। इस कारण उस पर सुझाव का प्रभाव शीघ्रता से पड़ सकता है। इसीलिये बच्चों में, असाधारण बौद्धिक योग्यता वाले बच्चों को छोड़कर, सुझाव-ग्रहणशीलता अत्यधिक होती है। पर, जैसे-जैसे वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे सुझाव-ग्रहणशीलता घटती जाती है। पर, कुछ ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं जो वयोवृद्ध हो जाने पर भी मानसिक कमजोरी के शिकार बने रहते हैं। ऐसे लोगों पर सुझाव का प्रभाव अधिक हो सकता है। कुछ मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से पता चलता है कि ५ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों में सुझाव-ग्रहणशीलता बहुत कम होती है, परन्तु इसके पश्चात् लगभग ५ या ६ वर्ष की आयु से सुझाव-ग्रहणशीलता बढ़नी आरम्भ होकर ९ या १० वर्ष की आयु तक बराबर बढ़ती जाती है। पर, इस आयु के बाद सुझाव-ग्रहणशीलता धीरे-धीरे कम होने लगती है।

(ग) लिंग (Sex)—अनेक मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययन द्वारा यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा सुझाव-ग्रहणशीलता अधिक होती है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा बाहरी दुनिया के सम्पर्क में कम आना पड़ता है, जिसके फलस्वरूप अनेक विषयों में उनका ज्ञान सीमित हो सकता है। अतः, इन विषयों से सम्बन्धित सुझाव को वे अपनी अज्ञानता के कारण स्वीकार कर लेती हैं। साथ ही स्त्रियाँ ध. , परम्परा, प्रथा आदि को अधिक मानने वाली होती हैं। इस कारण जिस सुझाव में धर्म, परम्परा आदि का पुट रहता है, उसे भी स्त्रियाँ शीघ्रता से स्वीकार कर लेती हैं। पर, वास्तव में स्त्री एवं पुरुष की सुझाव-ग्रहणशीलता में उतना अधिक अन्तर नहीं होता है जितना कि लोग सामान्यतः सोचते हैं।

(घ) बौद्धिक योग्यता (Intelligence)—कुछ लोगों का विश्वास है कि व्यक्ति में बौद्धिक योग्यता जितनी अधिक होगी, उसमें सुझाव-ग्रहणशीलता उतनी ही कम होगी। इसके विपरीत, कम बौद्धिक योग्यता वाले व्यक्तियों में सुझाव-ग्रहणशीलता अधिक होती है। परन्तु, वास्तव में इस सिद्धान्त को वैज्ञानिक तौर पर प्रमाणित नहीं किया जा सकता। बौद्धिक योग्यता या अयोग्यता ही नहीं, बल्कि अन्य अनेक परिस्थितियाँ भी ऐसी हो सकती हैं जो व्यक्ति की सुझाव-ग्रहणशीलता को प्रभावित करें। उदाहरणार्थ, यह देखा गया है कि भीड़ के सदस्य के रूप में व्यक्ति की सुझाव-ग्रहणशीलता आप से आप बढ़ जाती है, चाहे उसमें बौद्धिक योग्यता की मात्रा कम या अधिक क्यों न हो। सर्वश्री एवलिंग तथा हारग्रेव्स ने बौद्धिक योग्यता और सुझाव-ग्रहणशीलता के बीच सम्बन्ध देखने का प्रयास किया, और अनेक परीक्षणों के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन दोनों का सहसम्बन्ध (correlation) शून्य (zero) ही है।

(ङ) अज्ञानता (Ignorance)—जिस विषय के सम्बन्ध में सुझाव दिया जा रहा है, उसके बारे में यदि व्यक्ति अनजान है, या कुछ नहीं जानता है, तो भी उसमें सुझाव-ग्रहणशीलता अधिक होगी। इसका कारण भी स्पष्ट है। एक विषय के

सम्बन्ध में ज्ञान का अभाव व्यक्ति की तार्किक शक्ति पर पर्दा डाल देता है, और वह सुझाव को बिना किसी छानबीन के स्वीकार कर लेता है।

(च) मस्तिष्क की अप्राकृतिक अवस्थायें (Abnormal States of the Mind)—जिसे सुझाव दिया जा रहा है, यदि उसके मस्तिष्क की अवस्था स्वाभाविक नहीं है तो भी उसमें सुझाव-ग्रहणशीलता अधिक होगी, क्योंकि मस्तिष्क की अप्राकृतिक अवस्थाओं के कारण तार्किक शक्ति घट जाती है। यह अप्राकृतिक अवस्थायें मानसिक बीमारियाँ, जैसे मिर्गी रोग या वातोन्माद (hysteria), चित्त-विकृतियाँ (neurosis), मनोविकृतियाँ (psychosis) आदि के कारण, मदिरा एवं अन्य मादक वस्तुओं के प्रभाव के कारण और सम्मोहन (hypnotism) के वश में रहने के कारण उत्पन्न हो सकती हैं। इनमें से किसी भी अवस्था में रहने वाले व्यक्ति में सुझाव-ग्रहणशीलता अवश्य ही अधिक होगी। थके हुए आदमी भी सुझाव को शीघ्रता से स्वीकार कर लेते हैं।

(छ) अनुकूल सुझाव (Favourable Suggestion)—यदि कोई सुझाव ग्रहण करने वाले व्यक्ति की भावनाओं, विचारों, मूल्य, आदर्श एवं परम्परा के अनुकूल है तो उसे वह व्यक्ति सरलता से ग्रहण कर सकता है, क्योंकि उस सुझाव को ग्रहण करने में उस व्यक्ति को अपने आन्तरिक विरोधों का सामना नहीं करना पड़ता; इसलिये वह सुझाव को स्वीकार करते हुए मानसिक सन्तोष का अनुभव करता है। यदि किसी कट्टर हिन्दू को एक विशेष मन्दिर में जाकर पूजा करने तथा अपने लिए सन्तान की प्राप्ति के हेतु प्रार्थना करने का सुझाव दिया जाय तो वह उसे फौरन मान लेगा। इसी प्रकार कोई भी पूँजीपति धन-संचय के नये उपायों का सुझाव पाने पर उनको अपनाने को झट तैयार हो जायेगा।

सुझाव के विभिन्न स्वरूप

(Different Forms of Suggestion)

सुझाव की प्रकृति के आधार पर उसके निम्नलिखित स्वरूपों का उल्लेख किया जा सकता है—

(अ) प्रत्यक्ष सुझाव (Direct Suggestion)—इस प्रकार के सुझाव में सुझाव-उद्देश्य को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दिया जाता है, और उसी के अनुसार दूसरों से एक विशेष प्रकार का व्यवहार करने का आग्रह किया जाता है। उदाहरणार्थ, व्यापारिक विज्ञापनों में किसी वस्तु-विशेष को खरीदने का सुझाव प्रत्यक्षतः प्रस्तुत किया जाता है। इसी प्रकार चुनाव के समय जब कांग्रेसी नेतागण 'गाय और बछड़ा' को वोट देने का ही सुझाव देते हैं तो वह भी प्रत्यक्ष सुझाव ही होता है।

(ब) अप्रत्यक्ष सुझाव (Indirect Suggestion)—अप्रत्यक्ष सुझाव वह सुझाव है जिसमें सुझाव के उद्देश्य को स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं किया जाता, बल्कि एक ऐसी भूमिका बाँधी जाती है कि लोग सुझाव को ग्रहण कर लें और उद्देश्य की पूर्ति हो जाय। उदाहरणार्थ, यदि शिक्षक यह चाहते हैं कि विद्यार्थीगण एक विशेष पुस्तक को ही खरीदें, तो वे सीधे तौर पर पुस्तक को खरीदने की बात न कह कर उस पुस्तक की व उसके लेखक की प्रशंसा जब-तब कर सकते हैं, उसी पुस्तक से विद्यार्थियों को नोट लिखा सकते हैं, या परीक्षा में अच्छे नम्बर लाने के लिये उस पुस्तक में उल्लिखित कुछ विशेष कथनों को याद रखना कितना जरूरी है, यह बात विद्यार्थियों

को बार-बार याद दिला सकते हैं। ये सब अप्रत्यक्ष सुझाव के ही तरीके हैं, जिनकी सहायता से उद्देश्य को घुमा-फिरा कर दूसरे पक्ष के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है।

(स) सकारात्मक सुझाव (Positive Suggestion)—सकारात्मक सुझाव वह सुझाव है जो किसी कार्य को अच्छा कह कर उसे करने के लिये दूसरों को प्रेरित करता है। उदाहरणार्थ, यदि पिता अपने पुत्र से यह कह रहे हैं कि नियमित रूप से कक्षा में जाकर लेक्चर सुनना परीक्षा में अच्छे नम्बरों से पास होने के लिये जरूरी है तो यह एक सकारात्मक सुझाव हुआ।

(द) नकारात्मक सुझाव (Negative Suggestion)—नकारात्मक सुझाव किसी कार्य को बुरा कहकर दूसरों को उसे न करने के लिये प्रेरित करता है। उदाहरणार्थ, नगरपालिका यह सुझाव दे सकती है कि गन्दगी से रोग फैलता है; इसलिये अपने दरवाजों के सामने रास्ते पर कूड़ा मत फेंकिये, अथवा कटे हुए और खुले रक्खे हुए फलों को मत खाइये, इत्यादि। ये सारे नकारात्मक सुझाव हैं।

सुझाव का वर्गीकरण
(Classification of Suggestion)

(i) विचारात्मक सुझाव (Ideomotor Suggestion)—यह सुझाव मस्तिष्क की ज्ञान-स्नायुओं में आरम्भ होता है और साथ ही साथ सुझाव ग्रहण करने वाला व्यक्ति इसे अचेतन रूप में ही ग्रहण करता है। यह बहुत कुछ विचार-चालक अनुकरण से मिलता-जुलता है। विचार या भावना के द्वारा ही इस प्रकार का सुझाव एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक संचारित होता है। उदाहरणार्थ, हम प्राय: देखते हैं कि संगीत-सम्मेलन के समझदार श्रोतागण तबलची के साथ-साथ कुर्सी के हत्थों पर या स्वयं अपने पैरों से ताल देने लगते हैं, या नर्तकी के नृत्य के साथ-साथ अपने पैर पटपटाने लगते हैं।

(ii) प्रतिष्ठा-सुझाव (Prestige Suggestion)—प्रतिष्ठा-सुझाव उस सुझाव को कहते हैं जो किसी प्रतिष्ठित या सम्मानित व्यक्ति के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। चूँकि ऐसे व्यक्तियों के प्रति हमारे मन में श्रद्धा-भक्ति रहती है, इस कारण उनके सुझाव को हम तत्परता से मान लेते है। उदाहरणार्थ, यदि कोई सुझाव श्री स्वर्णसिंह एक कांग्रेसी को देते हैं, तो वह प्रतिष्ठा-सुझाव ही होगा, और उसका प्रभाव उस कांग्रेसी पर अवश्य ही पड़ेगा। व्यापारिक विज्ञापनों में भी इस प्रकार के सुझाव का सहारा लिया जाता है। उदाहरणार्थ, लक्स साबुन कम्पनी के संचालक किसी लोकप्रिय चित्र-नायिका के शब्दों को सचित्र छाप कर साबुन का विज्ञापन इस प्रकार प्रकाशित करते हैं कि माला सिन्हा से सुनिये एक रहस्य की बात—"रंग-रूप के लिये मेरा मनपसन्द साबुन—लक्स।"

(iii) आत्म-सुझाव (Auto-Suggestion)—इस प्रकार के सुझाव में व्यक्ति स्वयं अपने आपको सुझाव देता है, अर्थात् इसमें व्यक्ति की आत्म-चेतना या "मन" ही सुझाव देने वाला होता है। उदाहरणार्थ, अनेक दिनों तक लापरवाही बरतने के बाद विद्यार्थी अपने आप को सुझाव दे सकता है—"अब परीक्षा बहुत पास है, लापरवाही छोड़ो और जुट जाओ पढ़ाई में, क्योंकि पास तुम्हें होना ही है।" यही आत्म-सुझाव है।

(iv) सामूहिक सुझाव (Mass Suggestion)—जो सुझाव किसी मानव-समूह से प्राप्त होता है, उसे सामूहिक सुझाव कहते हैं। इसमें व्यक्ति अनुभव करता है कि वह कार्य जो समूह कर रहा है या करने को कह रहा है, उसको भी करना चाहिए। अर्थात्, व्यक्ति पर समूह का समग्र रूप में प्रभाव या दबाव पड़ता है, और इसीलिये व्यक्ति को समूह के सुझाव को स्वीकार करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, कानून का आदर करने वाला एक व्यक्ति भी जब भीड़ में होता है तो वह भी कानून-विरोधी व्यवहार, भीड़ के निर्देशानुसार, कर बैठता है।

(v) विरोधी सुझाव (Contra Suggestion)—इस प्रकार के सुझाव में व्यक्ति को जो निर्देश दिया जाता है, वह उसका उल्टा ही करता है। उदाहरणार्थ, किसी बच्चे से आप कहिये कि बेटा, किताब मत छूना, तो वह उसे छूने को ही छटपटायेगा। कहा जाता है कि विरोधी सुझाव की ग्रहणशीलता स्त्रियों में अत्यधिक होती है। यदि आपको कोई बात सारे मोहल्ले में फैलानी है तो आप उसे गोपनीय कहकर किसी स्त्री से कह दीजिये, और फिर बार-बार यह आग्रह कीजिये कि उस बात को वह अपने तक ही रक्खे, किसी दूसरे से न कहे। बस, फिर तो कुछ घण्टों के बाद ही आप यह पायेंगे कि वह बात मोहल्ले में सब को मालूम हो गयी है। यह स्त्रियों की विरोधी सुझाव-ग्रहणशीलता का ही चमत्कार है।

सामाजिक जीवन में सुझाव का महत्त्व
(Role of Suggestion in Social Life)

1. सुझाव सामाजिक एकता को उत्पन्न करता है—इसका कारण भी स्पष्ट है। सुझाव के द्वारा, विशेष कर सामूहिक संकेत के द्वारा, सभी लोग समूह द्वारा मान्य व्यवहारों की बात करते हैं, जिससे सामाजिक समानता व एकता पनपती है। सामूहिक संकेत या सुझाव हमें प्रथा, परम्परा, धर्म, आदर्श, सामाजिक मूल्य आदि के माध्यम से मिलता रहता है, जो हमें एकता के सूत्र में बाँध देते हैं। इतना ही नहीं, ये सामूहिक सुझाव पिता से पुत्र और पुत्र से उसके पुत्र को मिलता रहता है। फलस्वरूप समाज की सांस्कृतिक निरन्तरता बनी रहती है।

2. सुझाव सामाजिक नियंत्रण का एक साधन है—हम उन कामों को करने या न करने का प्रयत्न करते हैं जिनके बारे में हमें श्रेष्ठ जनों से सुझाव मिलता रहता है। समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति, नेतागण, समाज-सुधारक, धर्मपरायण व्यक्ति आदि अपने सुझावों द्वारा निरन्तर लोगों के व्यवहारों को नियन्त्रित करते रहते हैं और उनसे उसी प्रकार के व्यवहारों को करवाते हैं जो समाज के हित में हों। वे उन कार्यों से उन्हें दूर रखते हैं जो सामाजिक स्वार्थ के विपरीत हैं। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था का बना रहना सरल हो जाता है।

3 सुझाव का व्यक्ति के समाजीकरण (socialization) में महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है—सुझाव के माध्यम से बच्चे अपने माता, पिता, भाई, बहन, अध्यापक आदि से अनेक मानवोचित क्रियाओं व व्यवहारों को ग्रहण कर लेते हैं। यदि बच्चे को ठीक समय पर ठीक निर्देश सुझाव के रूप में मिलता रहा तो बच्चा सदा सही रास्ते पर ही आगे बढ़ता रहता है, नहीं तो उसके लिये बिगड़ जाना कोई बड़ी बात नहीं होती। अनेक बच्चे बाल-अपराधी केवल इसलिये बन जाते हैं कि उन्हें समाज-विरोधी सुझाव किसी व्यक्ति, समूह, या साथी से मिलता रहा है।

4. शिक्षा के क्षेत्र में भी सुझाव का अत्यधिक महत्व होता है—सुझाव के माध्यम से विद्यार्थी, विशेष कर कम उम्र के विद्यार्थी बहुत कुछ सीखते हैं, क्योंकि उनके पास विवेक-शक्ति की कमी होती है। स्कूलों में अध्यापकों का आचरण, कथा, मानचित्र, आदर्श-कथन, प्रार्थना आदि ऐसा वातावरण उत्पन्न कर देते हैं कि विद्यार्थियों की सुझाव-ग्रहणशीलता बढ़ जाती है और वे सरलतापूर्वक अनेक विषयों में धीरे-धीरे ज्ञान प्राप्त करते रहते हैं। इसलिये शिक्षकों को चाहिए कि वे बालकों के समक्ष अपने उदार व आदर्शपूर्ण आचरण ही प्रस्तुत करें, अपने क्रोध और वाणी पर संयम रक्खें तथा बालकों को मूर्ख, गधा, नालायक और बुद्धू के विशेषणों से विभूषित न करें, नहीं तो यह डर रहेगा कि बालक अपने सम्बन्ध में इन सुझावों को सच मान बैठें और अपने भविष्य के सम्बन्ध में निराशा के अन्धकार में डूब जायें।

5 युद्ध-काल में भी सुझाव लाभकारी हो सकता है—सुझाव के द्वारा जवानों का हौसला बुलन्द रक्खा जा सकता है। बड़े-बड़े नेता या विशेषज्ञ अपने सुझाव के द्वारा युद्ध में विजय प्राप्त करने के उपायों को प्रस्तुत कर सकते हैं। इतना ही नहीं, सुझाव के द्वारा ही यह सम्भव हो सकता है कि हम युद्ध-काल में आम जनता के बीच आतंक (panic) न फैलने दें। युद्ध की सफलता केवल उनके हौसले पर ही निर्भर नहीं होती जो कि मोर्चे पर लड़ते हैं, बल्कि उन पर भी निर्भर रहती है जो नगरों व गाँवों में रहते और जवानों व युद्ध के लिये आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। सुझाव के द्वारा इन दोनों को ही क्रियाशील रक्खा जा सकता है।

6. सुझाव व्यापार और वाणिज्य की प्रगति में भी सहायक सिद्ध हो सकता है—व्यापार और वाणिज्य की प्रगति प्रचार व अधिक माँग पर निर्भर करती है। विज्ञापनों की सहायता से सुझाव प्रस्तुत कर के प्रचार का कार्य किया जा सकता है, जिससे लोग एक वस्तु विशेष को अधिक पसन्द करने लगें और उसकी माँग बढ़ जाये।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामाजिक जीवन में सुझाव का अत्यधिक महत्व है। श्री सिडिस (Sidis) ने उचित ही लिखा है कि "मनुष्य निःसंदेह ही एक सामाजिक प्राणी है, पर वह सामाजिक इसीलिए है कि वह सुझाव-ग्रहणशील भी है।"[15]

सहानुभूति

(Sympathy)

सहानुभूति क्या है ?

(What is Sympathy)

सामाजिक जीवन का आधार सहानुभूति है। पशु-जगत् में भी इसकी अभिव्यक्ति कितने ही रूपों में होती है। वास्तव में सहानुभूति जीवन की कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति है। प्रत्येक प्राणी में कुछ कोमल भावनायें पनप जाती हैं जिनके आधार पर वह दूसरों की भावना की अनुभूति स्वयं अपने में करने लगता है। किसी का करुण क्रन्दन हृदय को आर्द्र कर देता है, और किसी का दुःख मन में एक टीस उत्पन्न करता है। यही सहानुभूति है।

'सहानुभूति' शब्द का प्रयोग हम रोज की बोलचाल में करते हैं, और वह इस अर्थ में कि दूसरे का कष्ट देख कर हम भी कष्ट का अनुभव करते हैं, या दूसरे के

दु:ख में हम दु:खी होते हैं। इस प्रकार दूसरों के दुःख या कष्ट के प्रति दया, समभाव और कोमल आवेगों या उद्वेगों को अभिव्यक्त करना ही सहानुभूति है। परन्तु, मनोविज्ञान में इस शब्द का प्रयोग और भी व्यापक अर्थ में होता है। "व्यापक रूप से सहानुभूति का अर्थ समान भावना का संचार है।" हो सकता है कि यह 'समान भाव' केवल दया या कोमल भाव न होकर क्रोध, घृणा, द्वेष, आदि हो। उदाहरणार्थ, एक बन्दर को छेड़कर देखिये, चारों ओर से दूसरे बन्दर क्रोध से लाल होकर आप पर झपटेंगे। आप के प्रति प्रदर्शित यह क्रोध उस बन्दर के प्रति अन्य बन्दरों की सहानुभूति है। इसी प्रकार अपने मित्र के शत्रु के प्रति अपनी घृणा व्यक्त करके आप उसके प्रति सहानुभूतिशील हो सकते हैं। इन दोनों ही उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि जो व्यक्ति सहानुभूति प्रकट कर रहा है, उसमें वही समान भाव होना चाहिये, जो उस व्यक्ति में है जिसके प्रति सहानुभूति की जा रही है। प्रथम उदाहरण में उस बन्दर के मन में आप के प्रति क्रोध है, जिसको आपने छेड़ा है, और वही क्रोध की भावना उन दूसरे बन्दरों में भी संचारित हो गयी है, जो आप पर पहले बन्दर के प्रति अपना सहानुभूति प्रकट करने के स्थान से झपटते हैं। दूसरे उदाहरण में भी आप व आप के मित्र दोनों के मन में शत्रु के प्रति समान भाव—घृणा है। इसीलिये सहानुभूति का अर्थ समान भावना का संचार है। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी।

सहानुभूति की परिभाषा
(Definition of Sympathy)

डॉ० मैक्डूगल (McDougall) के अनुसार, "साधारण शब्दों में सहानुभूति एक प्रकार की कोमलता है जो, जिस व्यक्ति के साथ सहानुभूति की जाती है, उसके साथ होती है।…… ……दूसरे के दुःख में दुःखी होना या दूसरे किसी व्यक्ति या प्राणी में एक विशेष भावना या उद्वेग को देखकर अपने में भी उसी तरह की भावना या उद्वेग का अनुभव करना ही सहानुभूति है।'[16]

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि **डॉ०** मैक्डूगल (McDougall) के मतानुसार, किसी उद्वेग विशेष को अपनी जाति के सदस्य में उत्पन्न देखकर देखने वाले में भी वही उद्वेग जागृत हो जाता है। इसी के आधार पर **डॉ० मैक्डूगल** ने "*उद्वेग के सहानुभूतिपूर्ण आगमन के नियम*" (Law of Sympathetic Induction of Emotion) को प्रतिपादित किया है।[17] यह नियम पशु-जगत् पर विशेष रूप से लागू होता है। कोई भी जानवर जब भयभीत या क्रुद्ध होकर आवाज करता है तो उसकी जाति के जितने भी जानवर सुनते हैं, वे सभी उसी प्रकार की आवाज को सहानुभूतिपूर्वक दोहराते हैं। डॉ० मैक्डूगल के आलोचकों का कहना है कि उद्वेग के सहानुभूति पूर्ण आगमन के नियम को पशु-जगत् पर लागू किया जा सकता है, पर मानव-समाज के लिये तो यह नियम अटूट नहीं है। बच्चे को डरा हुआ देखकर हममें भी डर की भावना उत्पन्न न होगी, अपितु उस पर दया या हँसी आयेगी। हो सकता है कि एक ही वस्तु को देखकर कुछ लोग डर जायें, कुछ लोगों में जिज्ञासा की भावना उत्पन्न हो, और कुछ लोग उसे कोई महत्त्व ही न दें। समान उद्वेग की अनुभूति केवल इस कारण नहीं होती कि हम अन्य व्यक्तियों में उस उद्वेग को जागृत होते देखते हैं, बल्कि वास्तव में दो या अधिक व्यक्ति जब अपने को एक-समान परिस्थिति में पाते हैं तो उनमें समान उद्वेग के जागृत होने की अधिक सम्भावना होती है। उदाहरणार्थ, यदि किसी मोहल्ले में हैजा फैल जाय तो वहाँ के अधिकांश लोगों के मन में, समान परिस्थिति होने के कारण, डर की भावना उत्पन्न हो जायगी।

डॉ० ड्रीवर (Drever) ने भी बहुत कुछ वही गलती की है जो डॉ० मैकडूगल ने। डॉ० ड्रीवर के अनुसार, "दूसरों के भावों तथा उद्वेगों के स्वाभाविक अभिव्यक्तिपूर्ण चिह्नों को देखकर ही उसी प्रकार के भावों और उद्वेगों के अपने में अनुभव करने की प्रवृत्ति को सहानुभूति कहते हैं।"[18]

सहानुभूति के सबसे साधारण रूप यह है कि किसी दूसरे व्यक्ति को एक विशेष परिस्थिति में, एक विशेष प्रकार के उद्वेग के बीच पाकर या देख कर यदि हम भी अपनी कल्पना व पूर्वअनुभव के आधार पर अपने को उसी परिस्थिति में स्थापित करने में सफल होते हैं तो हम भी वैसा ही अनुभव करने लगते हैं जैसा कि दूसरा कर रहा है। यदि हमें कभी ऊँचे स्थान से गिरने के फलस्वरूप होने वाले कष्टों का पूर्वअनुभव है, और यदि फिर कभी हम किसी दूसरे व्यक्ति को छत से गिरते हुए देखते हैं तो हम अपनी कल्पना व पूर्वअनुभव के सहारे फौरन अपने को उस व्यक्ति की परिस्थिति में पाते हैं और वास्तव में उस कष्ट का अनुमान लगा सकते हैं जो कि उस व्यक्ति को होगा। यही सहानुभूति है। जो व्यक्ति अपने को दूसरे की परिस्थिति में जितना अधिक सफलतापूर्वक घुलामिला सकेगा, दूसरे के लिये उतनी ही अधिक सहानुभूति उसके मन में जागृत होगी इसीलिये श्री कूले (Coolhy) ने उचित ही लिखा है कि "सहानुभूति दूसरे के स्थान या परिस्थिति पर अपने को समझने की तथा उस परिस्थिति में जैसा वह अनुभव कर रहा है, वैसा ही अनुभव करने की क्षमता है।"

सहानुभूति को जागृत करने की आवश्यक शर्तें
(Essential Conditions for Arousing Sympathy)

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सहानुभूति कोई मूलप्रवृत्ति नहीं है। इसका आधार व्यक्ति का अपना अनुभव, ज्ञान, कल्पना आदि ही है। श्री आलपोर्ट (Allport) ने सहानुभूति को जागृत करने वाले निम्नलिखित आवश्यक तत्वों का उल्लेख किया है—

1. भावनाओं का पूर्वअनुभव—श्री आलपोर्ट के मतानुसार किसी व्यक्ति की भावना से हम तभी सहानुभूति रख सकते हैं जब हमने स्वतन्त्र रूप से उस भावना को पहले भी कभी अनुभव किया हो। उस अनुभव की छाप हममें जितनी गहरी होगी, सहानुभूति की मात्रा भी अनुपात से अधिक होगी। भावनाओं की अभिव्यक्ति विशेष शब्दों, रोने, चिल्लाने तथा शारीरिक व चेहरे की मुद्राओं द्वारा होती है। उदाहरणार्थ, यदि हम किसी को रोते देखते हैं तो हम फौरन समझ जाते हैं कि वह दुःखी है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति की दर्दभरी आवाज में चिल्लाना शारीरिक कष्टों को अभिव्यक्त करता है। जब हम विभिन्न भावनाओं की अभिव्यक्तियों के ये रूप देखते हैं तो हमको अपने पूर्वअनुभव के आधार पर अपनी भावनायें याद आ जाती हैं, और हमारे अन्दर भी वही भावनायें उभर उठती हैं जो इस समय दूसरे व्यक्ति में हैं। अपनी इन भावनाओं को हम रोकर, हँसकर, या अन्य किसी शारीरिक या चेहरे की मुद्रा द्वारा व्यक्त करते हैं। यही सहानुभूति है। अतः स्पष्ट है कि सहानुभूति तब तक जागृत नहीं हो सकती जब तक कि कुछ विशिष्ट भावनाओं का कोई पूर्वअनुभव हमें न हो। यही कारण है कि बहुत छोटे बच्चों में सहानुभूति की अभिव्यक्ति देखने को नहीं मिलती।

2. वर्तमान परिस्थिति की प्रकृति का ज्ञान—पूर्वअनुभव के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि हमको उस परिस्थिति का ज्ञान हो जिसमें वह व्यक्ति

है जिसके प्रति हमें सहानुभूति प्रकट करनी है। उदाहरण के लिये, यदि हम किसी व्यक्ति को रोते हुए देखते हैं और हमें यह पता नहीं है कि वह क्यों रो रहा है तो उसके प्रति हमें उतनी हमदर्दी नहीं होती जितनी कि तब, जब हमें यह पता चल जाय कि वह रो इसलिये रहा है क्योंकि उसके पिता का देहान्त हो गया है। इसलिये सहानुभूति को जागृत करने के लिये वर्तमान परिस्थिति की प्रकृति का ज्ञान आवश्यक है। साथ ही, हमें यदि यह पता चल जाय कि एक विशेष परिस्थिति में व्यक्ति उस प्रकार की भावनाओं या उद्वेग को अभिव्यक्त नहीं कर रहा है, जिस प्रकार कि उस परिस्थिति में उसे वास्तव में करना चाहिए, तो भी हममें समान भावना या सहानुभूति जागृत नहीं होगी। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति अपने पिता या पुत्र की मृत्यु के बाद भी निर्लज्ज की तरह हँसता नजर आता है तो उसके प्रति हमारे मन में कोई सहानुभूति जागृत नहीं होगी।

(3) कल्पना-शक्ति—सहानुभूति उतनी ही शीघ्रता से जागृत हो सकती है जितनी शीघ्रता से एक व्यक्ति दूसरे की परिस्थिति और भावनाओं के सम्बन्ध में कल्पना करने की तत्परता रखेगा। वास्तव में कल्पना के द्वारा ही एक व्यक्ति अपने को दूसरे व्यक्ति की स्थिति में रखता है, और उसके समान भावनाओं का अनुभव करता है। किसी के साथ सहानुभूति करने का अर्थ है उसकी स्थिति, भावना, विचार आदि के साथ अपने को घुलामिला देना, और, यह काम, कल्पना-शक्ति के बिना सम्भव नहीं है।

(4) परिस्थिति में रुचि की समानता—सहानुभूति को जागृत करने के लिए यह भी आवश्यक है कि हमारी रुचि उस स्थिति या परिस्थिति में हो, जिसमें कि दूसरा पक्ष इस समय है। जब तक किसी परिस्थिति विशेष के प्रति दो व्यक्तियों की रुचि समान न होगी, तब तक उन्हें एक-दूसरे से सहानुभूति नहीं होगी। उदाहरणार्थ, यदि एक व्यक्ति को बच्चों में कोई रुचि नहीं है तो वह उस व्यक्ति के प्रति सहानुभूतिशील नहीं हो सकता है जिसके बच्चे की मृत्यु हो गई है। पर, यदि उसे बच्चों से प्यार है तो वह बच्चे की मृत्यु पर पिता की वियोग-व्यथा का सहज ही अनुमान लगा लेगा। इसलिये उसे उस पिता से सहानुभूति होगी।

सहानुभूति के प्रकार

(Kinds of Sympathy)

सहानुभूति दो प्रकार की होती है। वे प्रकार निम्न हैं—

(अ) सक्रिय सहानुभूति (Active Sympathy)—सक्रिय सहानुभूति वह सहानुभूति है जिसके आवेग में आकर हम दूसरे पक्ष के दुःख, दर्द या कष्ट को अनुभव करने के साथ-साथ उसे हलका करने के लिये भी क्रियात्मक रूप से प्रयत्नशील होते हैं। उदाहरणार्थ, यदि एक भिखारी की दयनीय दशा के प्रति सहानुभूतिशील रहने के साथ-साथ उसे हम कुछ भीख भी दे देते हैं तो उसे सक्रिय सहानुभूति कहेंगे। इसी प्रकार यदि किसी घायल व्यक्ति के शारीरिक कष्टों का अनुभव करते हुए हम उसे अस्पताल तक ले जाकर उसकी चिकित्सा की व्यवस्था करते हैं तो उसे भी सक्रिय सहानुभूति कहेंगे। बचपन में बच्चा हर प्रकार से लाचार होता है। माँ और पिता के दिल में बच्चे की इस लाचार हालत के प्रति केवल सहानुभूति ही नहीं होती, अपितु वे उस बच्चे को पाल-पोस कर अपने पैरों पर खड़ा करने के लिये भी निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। यह भी सक्रिय सहानुभूति का ही एक उदाहरण है।

(ब) निष्क्रिय सहानुभूति (Passive Sympathy)—यह सहानुभूति क्रिया-रहित एवं केवल भावनाओं की सहानुभूति है। दूसरे के दुःख में दुःखी होना, दूसरे के कष्ट को देखकर स्वयं भी कष्ट का अनुभव करना या दूसरा जिस उद्वेगात्मक स्थिति में है, उसी प्रकार की स्थिति में अपने को ले जाना, आदि निष्क्रिय सहानुभूति के ही उदाहरण हैं। निष्क्रिय सहानुभूति भावप्रधान तथा मौखिक होती है और सक्रिय प्रयत्न का कोई भी तत्त्व इसमें नहीं होता। जब हम किसी व्यक्ति के दुःख को देखकर केवल मौखिक रूप में उद्वेगों को प्रकट करते हैं और सक्रिय रूप से उस दुःख को दूर करने का कोई प्रयत्न नहीं करते तो उसे निष्क्रिय सहानुभूति कहेंगे। इस प्रकार की सहानुभूति भी दो प्रकार की होती है—प्रथम तो परेशानी डर या कष्ट के प्रति सहानुभूति (sympathy with distress, fear and pain); और दूसरी आनन्द तथा प्रसन्नता के प्रति सहानुभूति (sympathy with pleasure and joy)। ये दोनों प्रकार की सहानुभूतियाँ विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों में विभिन्न मात्राओं में पाई जाती हैं। इस कारण इस प्रकार के वर्गीकरण का अर्थ केवल कुछ वैयक्तिक विशेषताओं के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित करता है। उदाहरणार्थ, कुछ लोग इस प्रकार की कोमल भावनाओं वाले तथा उद्वेगशील होते हैं कि वे दूसरों की परेशानी, डर या कष्ट के प्रति तुरन्त सहानुभूतिशील हो जाते हैं। इसके विपरीत कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो हमारी प्रसन्नता के साथ तो खुद भी प्रसन्न होते हैं, पर दुःखी जन के दुःख का अनुभव नहीं कर सकते।

सामाजिक जीवन में सहानुभूति का महत्व

(Role of Sympathy in Social Life)

1. सहानुभूति सामाजिक एकता और संगठन का आधार है—सहानुभूति का सम्बन्ध हमारे जीवन के भावात्मक पक्ष से होता है। यह हमारे मन-मस्तिष्क से सम्बन्धित होता है। इस कारण सहानुभूति के माध्यम से हम दूसरों को बहुत जल्दी अपने प्रति आकर्षित कर सकते हैं। वास्तव में सहानुभूति वह अस्त्र है, जिसकी सहायता से शत्रु पर भी पल भर में विजय प्राप्त की जा सकती है। अतः स्पष्ट है कि सहानुभूति मानव-जीवन का वह आधार है, जिस पर सामाजिक एकता की प्रथम नींव रखी जाती है। पशु-समाज के लिये तो इसका महत्त्व और भी अधिक है। डॉ० मैक्डूगल का कथन है कि "सहानुभूति वह सूत्र है जो पशु-समाजों को एक बन्धन में बाँधे रखता है, समूह के सब सदस्यों के व्यवहार में एकरूपता उत्पन्न करता है और उनको सामाजिक जीवन के कुछ मूल लाभ, उनमें बुद्धि का अभाव होने पर भी, प्रदान करता है।"[19]

2. सहानुभूति मित्रता की जननी है—वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय आधार पर जो बन्धुत्व पनपता है, उसकी एक प्रमुख प्रेरक शक्ति सहानुभूति है। दूसरों के दुःख में दुःखी होना या दूसरों के दर्द को बाँट लेना, एक ऐसा सामाजिक गुण है जो कि पराये को भी अपना बना देता है। सहानुभूति करने वाला व्यक्ति या राष्ट्र पल भर में ही उस व्यक्ति या राष्ट्र का मित्र हो जाता है, जिसके साथ वह सहानुभूति कर रहा है। इस प्रकार वैयक्तिक मित्रता ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता भी सहानुभूति के सहारे पनपती है, जिसके फलस्वरूप विश्व-शान्ति की सम्भावना अधिक बढ़ जाती है।

3. **सहानुभूति समाज में उपकारी कार्यों की आधारशिला है**—उपकारी सेवायें सहानुभूति के कारण होती हैं। दुःखी जनों के प्रति सहानुभूति के कारण ही लोग धर्मार्थ औषधालय, अनाथ-आश्रम, अन्धे-गूंगे-बहरों के लिये स्कूल तथा आश्रम खोलते हैं। अगर सहानुभूति का नाम ही दुनिया से मिट जाय तो व्यक्ति अपने को संसार में वास्तव में बहुत अकेला और बहुत असहाय समझने लगे और जीवन का समस्त आनन्द ही उसके लिये समाप्त हो जाय। इस अर्थ में सहानुभूति जीवित रहने की प्रेरक शक्ति है। इतना ही नहीं, सहानुभूति मानव को सहनशील बनने तथा क्षमा प्रदान करने का प्रोत्साहन देती है, साथ ही बौद्धिक सहयोग की भावना भी पनपती है।

4. **शिक्षा के क्षेत्र में भी सहानुभूति का अपना महत्त्व होता है**— प्रमुख शिक्षाशास्त्रियों का कहना है कि अध्यापक की विद्यार्थी के प्रति सहानुभूतिशीलता विद्यार्थी को शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहित करती है। अध्यापक जिस उत्साह से कक्षा में पढ़ाते हैं, वह विद्यार्थी को भी उत्साहित करता है; अर्थात् अध्यापक का उत्साह विद्यार्थियों में भी उत्साह का संचार कर देता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सहानुभूति, कोई मूलप्रवृत्ति न होते हुए भी, अनेक सामाजिक सद्गुणों का विकास करने तथा समाज में सहयोग, संगठन व एकता को पनपाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देती है। यदि किसी दिन मानव का विश्व-शान्ति और विश्व-बन्धुत्व का सपना पूरा होगा तो वह अन्तर्राष्ट्रीय सहानुभूति के आधार पर ही सम्भव होगा।

REFERENCES

1. "Imitation may be taken to mean copying of the behaviour of other irrespective of whether the imitator has become acquainted with this behaviour through direct observation, through being told about it, or in more advanced societies through reading about it."—*R. Linton.*
2. "Imitation is a reaction for which the stimulus is the perception of another's similar reactions."—*R.H. Thouless, General and Social Psychology,* 1951, p. 251.
3. "Imitation is applicable only to the imitation or copying by one individual of the actions, the bodily movements, of another."—*William McDougall, op cit.*, p. 88.
4. "Imitation, is self-conscious assumption of another's acts or roles." G.H. Mead, Quoted by K. Young, *A Handbook of Social Psychology,* (Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1957), p. 295.
5. "Imitation means the reproduction or duplication of the behaviour of others."—*S.G. Hulyalkar and Others, Outlines of Social Psychology,* Kitab Mahal, Allahabad, 1956), p. 69.
6. McDougall, *op cit.*, p. 88.
7. McDougall, *op. cit.*, pp. 88-91.
8. "The truth is that the propensity of man to imitate what is before him is one of the strongest parts of his nature."—*W. Bagehot*

9. "Many acts of alleged imitation are due not to the effect of one individual upon the other, but to the fact that all are reacting to the same stimulus."—*Allport.*
10. "We learn to imitate rather than learn by imitation."—*Charles Bird, Social Psychology,* 1940, p. 250.
11. "Suggestion is a process of communication resulting in the acceptance with conviction of the communicated proposition in the absence of logically adequate grounds for its acceptance."—*William McDougall, op. cit.*, p. 68.
12. "Suggestion may be defined as a form of symbolic communication—words, pictures, or some similar device—aimed at inducing acceptance."—*Kimball Young, Hand Book of Social Psychology,* (Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1955), pp. 52-53.
13. "The word 'suggestion' is now commonly used for the process by which an attitude towards a system of ideals is communicated from one person to another by a process other than that of rational persuance."—*R.H. Thoules.* General and Social Psychology, (University Tutorial Press, London, 1957), p. 247.
14. "Suggestion involves the acceptance of a proposition for belief or action in the absence of complete self- determination."—*Allport.*
15. "Man is a social animal no doubt, but he is social because he is suggestible."—*Sidis.*
16. "The word 'Sympathy', as popularly used, generally implies a tender regard for the person with whom we are said to sympathise......(It is) a suffering with, the experiencing of any feeling or emotion when and because we observe in other persons or creatures the expression of that feeling or emotion."—*McDougall, op cit.*, pp. 78-79.
17. "*Ibid.*," p. 79.
18. "The tendency to experience the feelings and emotions of others immediately on perceiving the natural expressive signs of these feelings and emotions."—*Drever.*
19. "Sympathy......is the cement that binds animal societies together, renders the actions of all members of a group harmonious, and allows them to reap some of the prime advantages of social life in spite of lack of intelligence."—*William McDougall, op cit.*, pp. 79-80.

अध्याय 7

अनुभूति और संवेग
[FEELING AND EMOTION]

"अनुभूति संवेग का निचोड़ है ।" —"Dr. Sharma

अनुभूति
(Feeling)

मनुष्य के जीवन में अनुभूतियों का उल्लेखनीय महत्व है । अनुभूतियाँ हमारी क्रियाओं को प्रोत्साहित या हतोत्साहित करने में महत्वपूर्ण योगदान करती हैं, क्योंकि जिन क्रियाओं से हमें सुखद अनुभूतियाँ होती हैं, उनको हम बार-बार दोहराना चाहते हैं, पर जिन क्रियाओं से हमें दुःखद अनुभूतियाँ होती हैं, उनसे हम जी चुराते हैं, उनसे दूर रहना चाहते हैं । इस प्रकार मानवीय अनुभूतियों को मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जा सकता है—एक तो दुःखद अनुभूतियाँ और दूसरी सुखद अनुभूतियाँ । इन दो प्रकार की अनुभूतियों की सहायता से मानव-व्यवहार की व्याख्या सुखवादी सिद्धान्त (Hedonism) के अन्तर्गत की जाती है । यद्यपि यह सच नहीं है कि समस्त मानव-व्यवहार सुखद व दुःखद अनुभूतियों द्वारा ही नियन्त्रित व संचालित होता है, फिर भी क्रिया की गहराई के निर्धारण में इनके महत्व को बिलकुल अस्वीकार नहीं किया जा सकता । डॉ० मैक्डूगल ने लिखा है कि सुखद अनुभूतियाँ क्रिया की अवधि को विस्तृत करती हैं, जबकि दुःखद अनुभूतियाँ उसे संक्षिप्त कर देती हैं ।[1] निस्सन्देह यह मानव-व्यवहार की अत्यधिक सरल और अपूर्ण व्याख्या है । मानव-व्यवहार इतना सरल व सीधा नहीं है कि उसकी सम्पूर्ण व्याख्या केवल सुख या दुःख की अनुभूति के आधार पर सम्भव हो सके । वास्तव में सुख या दुःख की अनुभूति तो हमें क्रिया के परिणामस्वरूप ही होती है । अतः अनुभूतियाँ क्रिया का कारण नहीं, परिणाम हैं । *साधारणतया मनुष्य विशिष्ट अनुभूति को नहीं वस्तु को चाहता है ।* भूखे व्यक्ति को भोजन चाहिए, न कि भोजन के बाद मिलने वाली सुखानुभूति । उसी प्रकार यदि सुख और दुःख के बीच किसी एक को चुनना है, तो भी यह जरूरी नहीं कि हर अवस्था में व्यक्ति सुख को ही चुने । ऐसा देखा गया है कि परोपकार और आत्मत्याग की भावना से प्रेरित होकर लोग दुःख को भी हँसते-हँसते गले लगा लेते हैं । हाल के पाकिस्तानी आक्रमण के समय भारतीय जवानों ने यही किया था, क्योंकि देशरक्षा की समस्या ने एक ऐसी परिस्थिति को जन्म दिया था, जिसमें यही स्वाभाविक था । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनुष्य के जीवन में अनुभूतियों के महत्व को स्वीकार करते हुए भी इन्हें मानव-व्यवहार का एक मात्र संचालक मान लेने की गलती हमें नहीं करनी चाहिए ।

अनुभूति का अर्थ व प्रकृति
(Meaning and Nature of Feeling)

अनुभूति किसी वस्तु, परिस्थिति या क्रिया के सम्बन्ध में एक व्यक्ति का

अपना आन्तरिक भाव है। अत स्पष्ट है कि अनुभूति एक भावात्मक व सक्रिय मानसिक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया व्यक्तिगत होती है, अर्थात् एक वस्तु या क्रिया विभिन्न व्यक्तियों में अलग-अलग अनुभूतियों को उत्पन्न कर सकती है। साथ ही, इस मानसिक प्रक्रिया के, मोटे तौर पर, दो पहलू होते हैं—सुखद और दुःखद। ये दोनों ही भावनात्मक मानसिक प्रक्रिया होने के द्योतक हैं। अत. यह भी स्मरणीय है कि भावात्मक मानसिक प्रक्रिया होने के कारण अनुभूति मानव के मानसिक जीवन के अन्य दो पक्ष—ज्ञानात्मक व क्रियात्मक प्रक्रियाओं से भिन्न है। पर, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अनुभूति कोई निष्क्रिय मानसिक प्रक्रिया है, क्योंकि इसमें मनुष्य सदा निष्क्रिय न रहकर सक्रिय भी हो सकता है, पर उसका सक्रिय होना अनुभूतियों की गहराई व परिस्थिति-विशेष पर निर्भर होता है। वैसे सामान्यत अनुभूतियों की गहराई कम ही होती है क्योंकि वे अत्यन्त चचल और क्षणिक होती हैं।

वास्तव में एक विशेष परिस्थिति, वस्तु या क्रिया हमारे स्नायु-मण्डल पर एक विशेष प्रकार का प्रभाव डालती है, जिसकी प्रतिक्रियास्वरूप हम सुख का अनुभव करते हैं या दुःख का, अथवा वह अनुभव हमारे लिये रुचिकर होता है या अरुचिकर। यह नहीं हो सकता कि हम सुख और दुःख दोनों का अनुभव करें या कोई चीज हमारे लिये रुचिकर हो और साथ ही अरुचिकर भी। साराश यह कि एक समय में एक ही प्रकार की अनुभूति हो सकती है। यद्यपि कुछ विद्वानों के मतानुसार एक ही समय में दो विरोधी अनुभूतियाँ भी सम्भव हैं, फिर भी इसे प्रमाणित करना अत्यन्त कठिन है। सामान्य रूप से जिन परिस्थितियों, वस्तुओं या क्रियाओं से व्यक्ति की इच्छाओं की सन्तुष्टि हो जाती है, उन परिस्थितियों, वस्तुओं या क्रियाओं से उसे सुखद अनुभूति होती है, और जिनसे इच्छाओं की सन्तुष्टि नहीं होती, उनसे दुःखद अनुभूति होती है। कभी-कभी इन अनुभूतियों का शारीरिक सुख या कष्ट से कोई सम्बन्ध नहीं होता। माँ को अपने बच्चे के हितार्थ ऐसे कितने ही कार्य करने पड़ते हैं जिनमें उसे अपार शारीरिक कष्ट होता है, पर उन कार्यों को करने से माँ को सुखद अनुभूति ही होती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अनुभूति एक व्यक्ति का अपना निजी आन्तरिक भाव है, न कि बाहरी सफलता या विफलता। इसीलिये सुख और दुःख की अनुभूति का सम्बन्ध बाहरी कारकों से उतना नहीं है, जितना आन्तरिक सन्तोष और असन्तोष से। यही कारण है कि कुछ लोग धनी होते हुए भी दुःखी रहते हैं जबकि दूसरा एक व्यक्ति रूखा-सूखा खाकर भी चैन की वंशी बजाता है, सुख की नींद सोता है और सन्तोष से दिन बिताता है। अनुभूतियों का रहस्य वास्तव में गहन व सूक्ष्म वैज्ञानिक अध्ययन की अपेक्षा करता है।

अनुभूति की सापेक्षता
(Relativity of Feeling)

अनुभूति की प्रकृति के सम्बन्ध में एक बात और स्मरणीय है कि प्रत्येक अनुभूति सापेक्ष (relative) होती है। और भी स्पष्ट रूप से अनुभूति को परिस्थिति, वस्तु, क्रिया और व्यक्ति विशेष के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। एक परिस्थिति हमें दुःखद अनुभूति प्रदान करती है तो दूसरी परिस्थिति में हमें सुखद अनुभूति होती है। कोई अति प्रियजन अगर घर आ जाय तो हम खुशी से उछल उठते हैं, पर ऐसे भी कुछ लोग हो सकते हैं, जिन्हें देखते ही हमारा दिल खट्टा हो जाता है। इसी प्रकार एक ही चीज भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के

लिये अलग-अलग अनुभूति को उत्पन्न कर सकती है। राम के लिये बंगाली रसगुल्ला सुख का सागर है, जबकि श्याम के लिये वही रसगुल्ला गरल के समान हो सकता है। श्याम राम के लिये सुख का सन्देश लाने वाला हो सकता है, पर वही राम, श्याम के लिये दुःख का भण्डार हो सकता है, क्योंकि राम के प्रति उन दोनों का मनोभाव समान नहीं है। इसी प्रकार एक क्रिया-विशेष को ही लीजिये। प्रिय-जनों को पत्र लिखना मेरे लिये एक सुखद अनुभूति है, जबकि राम के लिये पत्र लिखना एक कष्टदायक कर्त्तव्य हो सकता है। अनुभूति की मात्रा में भी इसी प्रकार का भेद हो सकता है। राम के साहचर्य में हमें सुखद अनुभूति होती है, पर श्याम के साहचर्य में हमें उससे अधिक आनन्द आता है और घनश्याम के साहचर्य में तो मुझे स्वर्गीय सुख का ही आभास होता है। अपने बीवी-बच्चों के लिये त्याग करके पिता जी को सुखद अनुभूति होती है, पर अपनी मातृभूमि के लिये सब कुछ निछावर कर देने में उन्हे उससे कहीं अधिक सुख मिलता है। इस प्रकार अधिक व्यापक सुखों के सामने तुच्छ सुख फीके पड़ जाते हैं, और बड़े-बड़े दुःखों को झेलने वाले व्यक्ति को छोटे-मोटे दुःखों की बात याद तक नहीं आती। अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक अनुभूति सापेक्ष होती है।

अनुभूति की विशेषतायें

(Characteristics of Feeling)

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम अनुभूति की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं—

1. अनुभूति एक व्यक्ति का अपना आन्तरिक भाग है, जिसका कि सम्बन्ध मनुष्य के मानसिक जीवन के भावात्मक पहलू से होता है।

2. अनुभूति एक भावात्मक व सक्रिय मानसिक प्रक्रिया है। अनुभूति भावात्मक इस अर्थ में है कि यह हमारे भावनाओं से सम्बन्धित है। यह सक्रिय इसलिये है कि अनुभूति की प्रतिक्रिया हमारे सम्पूर्ण शरीर में होती है। उसी प्रकार अनुभूति मानसिक प्रक्रिया इस अर्थ में है कि इसका उद्भव व अस्तित्व मस्तिष्क या और भी विस्तृत रूप में स्नायु-मण्डल (nervous system) पर आधारित है।

3. अनुभूति व्यक्तिगत होती है, अर्थात् एक ही परिस्थिति, वस्तु या क्रिया भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में अलग-अलग अनुभूतियाँ उत्पन्न कर सकती है। मूलप्रवृत्तियों की भाँति अनुभूतियाँ भी एक जाति के सभी सदस्यों में समान नहीं होती। अनुभूतियों में व्यक्तिगत भिन्नता देखने को मिलती है, क्योंकि अनुभूतियाँ आत्मगत होती हैं।

4. एक समय में एक ही प्रकार की अनुभूति हो सकती है। दो विरोधी अनुभूतियों के एकसाथ उपस्थित रहने की सम्भावना सभान नहीं होती, यद्यपि कुछ विद्वान् इस प्रकार की उपस्थिति को भी स्वीकार करते हैं।

5. अनुभूति व्यक्ति के आन्तरिक जगत् की परिचायिका है। इसीलिये बाहरी सफलता और विफलता के साथ उतना घनिष्ठ सम्बन्ध अनुभूतियों का नहीं होता, जितना कि आन्तरिक संतोष और असंतोष के साथ।

6. प्रत्येक अनुभूति सापेक्ष होती है, क्योंकि एक ही प्रकार की परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति या क्रिया विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों को उत्पन्न कर सकती है।

अनुभूति से सम्बन्धित सिद्धान्त

(Theories Relating to Feelings)

(अ) दैहिक सिद्धान्त (Physiological Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर के लिये लाभदायक अनुभव सुखद अनुभूति और हानिकारक अनुभव दुःखद अनुभूति उत्पन्न करता है। उसी प्रकार ऐसी क्रियाएँ जिनको करने के लिये अत्यधिक शारीरिक श्रम की आवश्यकता होती है, दुःखद अनुभूति को तथा औसतन श्रम वाली क्रियाएँ सुखद अनुभूति को जन्म देती हैं। दूसरे शब्दों में, जिन क्रियाओं का स्नायु-मण्डल पर अस्वस्थ दबाव पड़ता है, उनसे दुःखद अनुभूति उत्पन्न होती है, जबकि स्वस्थ दबाव डालने वाली क्रियाओं से सुखद अनुभूतियों का जन्म होता है।

इस सिद्धान्त को सन्तोषजनक नहीं माना जाता। इसका प्रमुख कारण यह है कि इस सिद्धान्त में अनुभूतियों के उद्भव में स्नायु-मण्डल पर अत्यधिक जोर दिया गया है। वास्तव में, अनुभूति स्नायु-मण्डल की दशा पर उतनी अधिक निर्भर नहीं होती, जितना कि क्रिया की सफलता या विफलता से प्राप्त होने वाले सन्तोष-असन्तोष पर।

(ब) प्रगति-बाधा सिद्धान्त (Furtherance--Hindrance Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार जब कोई शारीरिक क्रिया बिना किसी बाधा के अपने लक्ष्य की ओर बराबर आगे ही आगे बढ़ती चली जाती है तो सुखानुभूति होती है, और यदि वह क्रिया बीच में ही बाधाग्रस्त हो जाती है तो दुःखानुभूति होती है। उदाहरणार्थ, यदि एक विद्यार्थी को बिना किसी वर्ष फेल किये एम० ए० की डिग्री मिल जाती है तो उसे सुखानुभूति होती है, पर अगर वह प्रथम या द्वितीय वर्ष की परीक्षा में फेल हो जाता है तो उसे दुःखानुभूति होती है। इसी सिद्धान्त की एक और व्याख्या श्री स्ट्राउड (Stroud) द्वारा प्रस्तुत की गयी है। उनके अनुसार मानसिक प्रक्रियाओं की सफलता से सुखद अनुभूति और असफलता से दुःखद अनुभूति होती है।

सामान्य रूप से प्रगति-बाधा सिद्धान्त के ठीक होते हुए भी सभी परिस्थितियों में इसे लागू नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, यदि देहली जाने के लिये घर से निकलने पर स्टेशन पर पहुँचते-पहुँचते गाड़ी छूट गयी। उसी समय यह भी पता चला कि कुछ ही दूर जाकर गाड़ी उलट गई है। ऐसी स्थिति में यात्रा में बाधा उत्पन्न होने पर भी सुखद अनुभूति ही होगी।

(स) विकासवादी सिद्धान्त- (Evolutionary Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति के विकास के साथ-साथ यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ वस्तुयें और दशायें लाभदायक और कुछ घातक हैं। लाभप्रद वस्तुओं से सुखद और हानिकारक से दुःखद अनुभूति होती है। ये वस्तुएँ मनुष्य के विकास के साथ-साथ बदलती भी रहती हैं। उदाहरणार्थ, एक खास छोटे बच्चे के लिये दूध तो लाभदायक हो सकता है, पर यदि उसे दाल-चावल खिला दिया जाय तो वह हानिकारक ही सिद्ध होगा। पर, थोड़ा बड़ा हो जाने पर वही दाल-चावल लाभदायक हो जायेगा जिसके खाने से सुखद अनुभूति होगी।

वास्तव में उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों में कुछ न कुछ कमी है, और इसीलिये उनमें से किसी के आधार पर अनुभूति की पूर्ण व्याख्या सम्भव नहीं है। सच तो यह है कि अनुभूति इतनी अधिक चंचल एवं क्षणिक और साथ ही आत्मगत या व्यक्तिगत होती है कि उसे किसी एक निश्चित सिद्धान्त के अन्तर्गत सीमित नहीं किया जा सकता।

संवेग या उद्वेग

(Emotion)

संवेग या उद्वेग, हमारे जीवन का एक आवश्यक अंग-सा प्रतीत होता है। हम सब प्रतिदिन कितने ही कार्य संवेग के दबाव में आकर करते हैं। भय, घृणा, क्रोध, करुणा, वात्सल्य, प्रेम आदि संवेग के ही उदाहरण हैं। यह हमें मानसिक रूप में ही नहीं, अपितु शारीरिक रूप में भी निरन्तर प्रभावित करता रहता है। देश पर हँसते-हँसते प्राणों की बलि चढ़ा देने या जान हथेली पर रखकर युद्ध के मैदान में शत्रु का सामना करते अथवा समस्त बाधाओं को तुच्छ समझ कर अपनी प्रेयसी को जीवन-साथी के रूप में पाने के लिये प्रयत्नशील रहने में मनुष्य की बुद्धि अथवा विचारों से नहीं, अपितु संवेगों से ही प्रेरणा प्राप्त होती है। यदि क्रोध एक आदमी को शैतान बना सकता है, तो करुणा उसी को करुणामय के महान् स्तर पर भी ले जाती है। पर, *इस सम्बन्ध में और कुछ विवेचना करने से पूर्व यह जान लेना* आवश्यक होगा कि संवेग का वास्तविक अर्थ क्या है?

संवेग का अर्थ
(Meaning of Emotion)

संवेग अंग्रेजी शब्द Emotion का हिन्दी रूपान्तर है। Emotion शब्द लैटिन भाषा के Emovere शब्द से लिया गया है, जिसका अर्थ है हिला देना या उत्तेजित कर देना। संवेग में अन्तर्निहित शक्ति इसी अर्थ की परिचायिका है। संवेग भी मनुष्य को हिला देता है, उसे उत्तेजित कर देता है। क्रोध से काँपते हुए व्यक्ति को या प्रेम से विह्वल प्रेमी को यदि आपने कभी देखा होगा तो इस सत्य को आप स्वयं ही समझ रहे होंगे कि संवेग वास्तव में व्यक्ति को झकझोर देता है। परन्तु, संवेग के इस भावात्मक प्रभाव का उल्लेख मात्र कर देने से ही संवेग के अर्थ का स्पष्टीकरण नहीं हो जाता। हमें इसके अर्थ को दूसरे रूप में भी समझना होगा।

प्रो० पी० टी० यंग (Prof. P. T. Young) के अनुसार, "संवेग समग्र रूप में एक व्यक्ति की अत्यधिक अक्षुब्धावस्था है, जिसकी उत्पत्ति मनोवैज्ञानिक कारणों से होती है, तथा जिसके अन्तर्गत व्यवहार, सचेत अनुभव तथा आभ्यन्तरीय क्रियाशीलता सम्मिलित होती है।"[2]

श्री वुडवर्थ (Woodworth) ने लिखा है कि "संवेग शरीर की आन्दोलित या उत्तेजित दशा है, यह अनुभूति की क्षुब्ध दशा है। यह मांसपेशियों तथा ग्रंथियों से सम्बन्धित एक अस्त-व्यस्त क्रिया है। प्रत्येक संवेग एक अनुभूति होती है और साथ ही एक चालक शक्ति भी।"[3]

श्री थाउलस (Thouless) के शब्दों में, 'संवेग साधारणतया एक व्यक्ति की उस परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया होती है, जिसमें वह अपने को पाता है, जैसे आने वाले संकट के प्रति भय, अपनी हानि के प्रति क्रोध आदि।"[4]

सामान्य रूप में हम यह कह सकते हैं कि संवेग वह जटिल व सबल मानसिक प्रतिक्रिया है जो व्यक्ति को बहुधा इस सीमा तक उत्तेजित व आन्दोलित कर देती है कि व्यक्ति एक विशेष प्रकार की क्रिया या व्यवहार करने की एक प्रभावशील प्रेरणा का अनुभव करता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं का आलोचनात्मक विश्लेषण
(Critical Analysis of Above Definitions)

श्री यंग की परिभाषा से ऐसा लगता है जैसे कि संवेग एक विघटनात्मक (disorganizational) प्रक्रिया है, जिसके प्रभाव में आकर व्यक्ति का व्यक्तित्व अस्त-व्यस्त हो जाता है। परन्तु, वास्तव में यह धारणा गलत है। यह सच है कि भय, क्रोध आदि कुछ संवेग ऐसे हैं जिनका अस्वस्थ प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है, परन्तु ऐसे एकाधिक संवेग, जैसे करुणा, वात्सल्य, प्रेम आदि भी हैं जो कि चरित्र के सद्गुणों के ही परिचायक हैं। अतः यह सोचना गलत होगा कि संवेग समग्र रूप में एक व्यक्ति की अत्यधिक अव्यवस्था है।'

साथ ही, संवेग को केवल मात्र एक अनुभूति मान लेना भी अनुचित होगा। सच है कि प्रत्येक संवेग के साथ किसी न किसी अनुभूति का संयोग रहता है, इसीलिये श्री टिचनर (Titchner) आदि कई मनोवैज्ञानिकों ने संवेग का एक अधिक जटिल अनुभूति' कह कर परिभाषित किया है। श्री वुडवर्थ ने भी लिखा है कि 'प्रत्येक संवेग एक अनुभूति है।' पर, वास्तव में ऐसा नहीं है। अनुभूति एक सरल व निर्बल प्रक्रिया है, जबकि संवेग जटिल और सबल प्रक्रिया बिना संवेग के अनभूति हो सकती है, पर संवेग अनुभूति के बिना सम्भव नहीं। फिर भी संवेग केवल अनुभूति नहीं है, उसमें अन्य मानसिक प्रक्रियाएँ भी सम्मिलित हैं, जिनके फलस्वरूप व्यक्ति का सम्पूर्ण शरीर एक उत्तेजित अवस्था में होता है। शायद इसीलिये श्री वुडवर्थ (Woodworth) ने संवेग को सावयव या शरीर की उत्तेजित अवस्था (stirred up state of organism) कहा है। पर, स्मरण रहे कि *सभी उत्तेजित अवस्थाएँ संवेग का ही बोध नहीं कराती।* ऐड्रिनन (adrenine) आदि रसायनों के प्रयोग से व्यक्ति में अत्यधिक उत्तेजना उत्पन्न की जा सकती है, पर उसे संवेग नहीं कहा जा सकता। मादक द्रव्यों के सेवन से भी व्यक्ति उत्तजित हो उठता है, पर वह किसी संवेग के प्रभाव में है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए लेखक ने, जैसा कि उसकी उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है, अनुभूति को एक जटिल व सबल मानसिक प्रतिक्रिया माना है। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप व्यक्ति बहुधा (सदैव नहीं), अपने में एक उत्तेजना का अनुभव करता है, जो उस व्यक्ति के लिये एक विशेष प्रकार के व्यवहार में प्रभावशील प्रेरणा का काम करती है।

संवेग की विशेषतायें
(Characteristics of Emotion)

प्रोफेसर पी० टी० यंग (P. T. Young) ने संवेग की निम्नलिखित पाँच विशेषताओं का उल्लेख किया है—

1. यह सम्पूर्ण व्यक्ति को समग्र रूप में (as a whole) प्रभावित करता है।

2. यह व्यक्ति को सामान्यता से दूर ले जाता है।

3. इससे एक विशेष प्रकार के व्यवहार की उत्पत्ति होती है।

4. इससे उस व्यवहार की चेतन अनुभूति होती है।

5. इसमें आभ्यतरीय कार्य या अन्तरावयव (viscera) की क्रियायें भी होती हैं।

उपर्युक्त पाँच विशेषताओं के अतिरिक्त संवेग की कुछ सामान्य विशेषताओं का भी उल्लेख किया जा सकता है--

(क) संवेग एक मानसिक प्रतिक्रिया है, जिसकी उत्पत्ति किसी परिस्थिति, वस्तु, व्यक्ति या घटना के स्मरण, कल्पना या प्रत्यक्षीकरण से होती है—जैसे शत्रु को देख कर क्रोध उत्पन्न होता है।

(ख) संवेग एक सक्रिय मानसिक अवस्था या प्रक्रिया है, जिसमें हमें बाह्य परिस्थिति का ज्ञान होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि संवेगों की उत्पत्ति केवल आन्तरिक कारणों से ही नहीं हो सकती। केवल स्नायु-मण्डल (nervous system) तथा विभिन्न ग्रन्थियों में परिवर्तन या प्रतिक्रिया होने से ही कोई व्यक्ति क्रोधित या भयभीत नहीं हो जाता। वास्तव में वह कोधित तब होगा जब वह यह देखेगा कि उसकी प्रिय वस्तु को कोई नष्ट कर रहा है, या पुत्र उससे जबान लड़ा रहा है, इत्यादि। अर्थात्, किसी बाह्य परिस्थिति का प्रत्यक्ष बोध (perception) होने से उसकी जो प्रतिक्रिया स्नायु-मण्डल तथा ग्रन्थियों पर होती है, उसके फलस्वरूप संवेग की उत्पत्ति होती है। संक्षेप में, संवेग की उत्पत्ति के लिये स्थिति का प्रत्यक्ष बोध आवश्यक है। यह बोध केवल आँखों से देखकर ही नहीं, स्मृति या कल्पना से भी हो सकता है।

(ग) संवेग की उत्पत्ति के लिये स्थिति का प्रत्यक्ष बोध ही तब तक पर्याप्त नहीं है जब तक कि उस स्थिति को समझने की क्षमता भी व्यक्ति में न हो। स्थिति को अपने पूर्वअनुभव, शिक्षा, ज्ञान या जैसा कि डॉ॰ मैक्डूगल का कथन है, मूल-प्रवृत्ति के आधार पर समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति को अपने पिछले अनुभव अथवा किसी अन्य प्रकार से इस बात का ज्ञान न हो कि शेर एक भयानक, हिंस्र पशु होता है, तो शेर का प्रत्यक्ष बोध होने पर, अर्थात् शेर को देख कर भी वह भयभीत नहीं होगा।

(घ) *उद्वेग या संवेग का प्रभाव आन्तरिक एवं बाह्य, दोनों प्रकार की* क्रियाओं पर पड़ता है। यही कारण है कि उद्वेग की स्थिति में स्नायु-मण्डल तथा बिना नली वाली ग्रन्थियों में उत्तेजना की सृष्टि होती है। जैसे, क्रोध अथवा भय के साथ-साथ व्यक्ति के हृदय की धड़कनें बढ़ जाती हैं और रक्त-प्रवाह तीव्र हो जाता है। इसी प्रकार संवेग बाह्य क्रियाओं को भी उत्तेजित करने की शक्ति *रखता है, जैसे क्रोध में एक व्यक्ति चिल्लाकर बोलता और हाथ-पैर ज़ोर-ज़ोर से* पटकता है।

(ङ) संवेग की एक और उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें शारीरिक क्रियाओं का कोई निश्चित क्रम नहीं रहता। इसका कारण भी स्पष्ट है। चूंकि

संवेग में उत्तेजना या जोश का बहुधा आधिक्य रहता है, इस कारण उस जोश के प्रवाह में व्यक्ति किस प्रकार का कार्य कर बैठेगा, इसका कुछ भी निश्चय नहीं रहता। क्रोध में आकर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को चपत मारेगा या चाकू—कुछ कहा नहीं जा सकता। प्रेम में पागल व्यक्ति आत्महत्या भी कर सकता है और आत्मत्याग भी।

अनुभूति एवं संवेग में अन्तर

(Distinction between Feeling and Emotion)

अनुभूति एवं संवेग का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। प्रत्येक संवेग के साथ किसी न किसी अनुभूति का संयोग रहता है। बिना अनुभूति के संवेग सम्भव नहीं। इन दोनों का सम्बन्ध मस्तिष्क से है और दोनों में सुख और दुःख दोनों भाव पाये जाते हैं। सुख, दुःख, भय, क्रोध, प्रेम और उल्लास आदि को अनुभूति भी माना जाता है और संवेग भी। पर, इन दोनों में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी कुछ मौलिक अन्तर है—

1. अनुभूति एक सहज प्रक्रिया है, जब कि संवेग एक अधिक जटिल प्रक्रिया है। "अनुभूति सुख-दुःख की सरल इन्द्रियजनित वेदना है। वह संवेदना (sensation)से उत्पन्न होती है।"उदाहरणार्थ, व्यक्ति को मिठाई खाने से सुख की अनुभूति होती है या काँटा चुभ जाने पर दुःख की अनुभूति होती है। अतः स्पष्ट है कि अनुभूति सरल प्रक्रिया है। इसके विपरीत संवेग एक अधिक जटिल प्रक्रिया है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति स्थिति के प्रत्यक्ष बोध (देखकर या स्मृति या कल्पना)से होती है। शत्रु को देखकर हमें क्रोध आता है, प्रियजन से मिलने की कल्पना मात्र से हम हर्ष से भर उठते हैं और स्वर्गीय माँ की स्मृति हमे शोकाकुल कर देती है। अतः स्पष्ट है कि संवेग अनुभूति की भाँति सरल नहीं होता है।

2. संवेग अनुभूति से अधिक व्यापक है। इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए डॉ० शर्मा ने लिखा है—"अनुभूति संवेग का निचोड़ है। वह संवेग का अंश है। संवेग में अनुभूति तो होती है, परन्तु उसके अतिरिक्त कुछ और भी होता है।...... संवेग में शरीर की कुछ ग्रन्थियाँ विशेष रस का स्राव करती हैं। अनुभूति में इस प्रकार का स्राव नहीं होता। संवेग की अपेक्षा अनुभूति से अधिक सीमित स्नायविक उद्दीपन (neural excitement) होता है। संवेग में किसी विशेष दिशा में क्रियाशील होने की प्रवृत्ति भी आ जाती है।"

3. संवेग में उत्तेजना का आधिक्य होता है जबकि अनुभूति में नहीं। संवेग पूरे शरीर में उथल-पुथल मचा सकता है—यहाँ तक कि कभी-कभी व्यक्ति समस्त नियम व निषेध की सीमा पार करके इस प्रकार का व्यवहार करने लगता है, जिसकी आशा कभी भी उससे नहीं की जाती। इसका अर्थ यह नहीं है कि संवेग सदा प्रलय मचा देने वाला ही होता है। उत्तेजना शान्त प्रकृति की भी हो सकती है। उदाहरणार्थ, हर्ष से हम उछल-कूद कर ताली बजा या नाच सकते हैं और हर्ष की अभिव्यक्ति हमारे खिले हुए चेहरे और मुस्कान के माध्यम से भी हो सकती है। पर, अनुभूति कभी भी संवेग के समान उत्तेजनापूर्ण नहीं होती।

संवेग के कुछ उदाहरण
(Some Examples of Emotion)

संवेगो को मोटे तौर पर दो भागों मे बाँटा जा सकता है—सरल संवेग और जटिल संवेग। भय, क्रोध, आश्चर्य, हर्ष, शोक आदि सरल संवेग के उदाहरण हैं, जबकि घृणा, प्रेम आदि जटिल संवेग के। जैसा कि हम अध्याय ६ मे लिख चुके हैं, डॉ० मैक्डूगल (McDougall) के अनुसार, प्रत्येक मूलप्रवृत्ति का अपना सहवर्ती या साथी एक विशिष्ट संवेग होता है। पर, आज यह स्वीकार किया जाता है कि बिना मूलप्रवृत्ति के भी संवेग सम्भव है। संवेग के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(i) भय (fear) का उद्वेग डॉ० मैक्डूगल के मतानुसार, पलायन (escape) की मूलप्रवृत्ति से सम्बन्धित है। किसी आकस्मिक, अपरिचित और खतरनाक घटना, परिस्थिति, वस्तु अथवा प्राणी के बोध से भय उत्पन्न हो सकता है। एकाएक घर मे आग लग जाते देख कर, पटाखे का धमाका सुनकर, किसी हिंस्र पशु को देख कर या किसी डाकू को बन्दूक ताने खड़ा देख कर हमारे अन्दर भय उत्पन्न हो सकता है। भय की हालत मे हृदय की गति का तीव्र हो जाना, शरीर का कांपना, चेहरा पीला पड़ जाना, चिल्लाना या बेहोश हो जाना, आदि विविध शारीरिक क्रियायें हो सकती हैं।

(ii) क्रोध (anger) का संवेग डॉ० मैक्डूगल के मतानुसार, युयुत्सा (pugnacity) या लड़ने की मूलप्रवृत्ति से सम्बन्धित है। क्रोध बाधक वस्तु या प्राणी पर किया जाता है, अर्थात् जो वस्तु या प्राणी हमारी किसी इच्छा, उद्देश्य, मत, आत्मसम्मान आदि मे बाधक सिद्ध होता है, उसी पर हमे क्रोध आता है। यदि किसी इच्छा या उद्देश्य की प्राप्ति मे हम स्वयं ही बाधक होते हैं तो हमें अपने-आप पर भी क्रोध आता है। क्रोध की अवस्था में मुट्ठी बांधना, दाँत पीसना, भौंहें चढ़ाना, चिल्लाना, मारना या पीटना, कांपना आदि शारीरिक क्रियायें देखने को मिलती हैं।

(iii) हर्ष (joy) का संवेग इच्छित वस्तु या प्राणी को देखने या पा लेने से या जीवन के अन्य लक्ष्यों तक सफलतापूर्वक पहुँच जाने से होता है। सीना फूल जाना, चेहरा खिल उठना, मुस्काना और हँसना, कूदना, नाचना, ताली बजाना आदि हर्ष की ही शारीरिक अभिव्यक्तियाँ हैं।

(iv) शोक (grief) हर्ष की विपरीत अवस्था है। इच्छित वस्तु या प्राणी को न पाने या सदा के लिये खो बैठने तथा जीवन के लक्ष्यों तक पहुँचने में असफल होने से शोक होता है। चेहरा उतर जाना, आँखों से आँसू बहना, रोना-पीटना या मूर्च्छित हो जाना शोक की अभिव्यक्तियाँ हैं।

(v) घृणा (hate) एक जटिल संवेग है। डॉ० मैक्डूगल ने इसे मिश्रित संवेग (compound emotion) कहा है। उनके अनुसार घृणा में क्रोध, भय और विरक्ति सम्मिलित हैं।[5] उदाहरणार्थ, हम अपने मोहल्ले के गुंडे-बदमाशो से घृणा करते हैं, पर साथ ही उनकी हरकतो पर हमे क्रोध आता है, और हम विरक्त भी होते हैं। पर, चूँकि वे गुन्डे-बदमाश हैं, इस कारण उनसे डर भी लगता है।

(vi) प्रेम (love) एक महान् व जटिल संवेग है। इसमे दया, सहानुभूति, ममता, वात्सल्य और काम (sex) का मिश्रण होता है। डॉ० मैक्डूगल ने प्रेम को

काम-प्रवृत्ति (sex instinct) का संवेग माना है। प्रेम के अनेक स्थायी तथा महान् स्वरूप हो सकते हैं, जैसे शिशु के प्रति माँ का प्रेम, एक व्यक्ति का अपने मातृभूमि के प्रति प्रगाढ़ प्रेम, आदि। साधारणतया प्रेम में स्वार्थ और परार्थ दोनों ही होते हैं। एकदम निःस्वार्थ प्रेम बहुत कम देखने को मिलता है, पर जिस व्यक्ति में इसका विकास होता है, वह महान् बन जाता है। प्रेम-व्यवहार में चुम्बन, आलिंगन, संभोग आदि भी सम्मिलित होते हैं।

संवेग में शारीरिक परिवर्तन
(Physiological Changes or Reactions in Emotion)

संवेगात्मक अवस्था में शरीर अपनी स्वाभाविक अवस्था में नहीं रहता, किसी *न किसी प्रकार का शारीरिक परिवर्तन अवश्य ही हो जाता है। यह* परिवर्तन आन्तरिक भी हो सकता है और बाह्य भी। इनमें से प्रत्येक की व्याख्या हम यहाँ संक्षेप में करेंगे।

(अ) बाह्य शारीरिक परिवर्तन—संवेगात्मक अवस्था में बाहरी तौर पर इतने स्पष्ट परिवर्तन हो जाते हैं कि उन्हें देखकर यह बताया जा सकता है कि व्यक्ति विशेष में कौन-सा संवेग क्रियाशील है। बाह्य परिवर्तनों में चेहरे तथा स्वर की अभिव्यक्ति तथा शरीर के आसन (posture) में परिवर्तन उल्लेखनीय हैं। क्रोध में चेहरा तमतमाना, भौंहें चढ़ जाना, आँखें लाल हो उठना आदि **चेहरे की अभिव्यक्तियाँ** (facial expressions) हैं। इसी प्रकार हर्ष में चेहरा खिल जाना, चेहरे पर हँसी और मुस्कान दिखाई देना, आँखों में चमक आ जाना, चेहरे की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। इसी तरह क्रोध में गरजना, भय से चीख उठना, शोक में हिचकियाँ बँध जाना, प्रेम में गदगद् स्वर में बोलना, आदि **स्वर-अभिव्यक्तियाँ** (vocal expressions) हैं। संवेगात्मक अवस्था में शरीर के आसन में भी परिवर्तन हो जाता है। भय से भागना क्रोध के मारे इधर-उधर टहलना, शोक में हाथ-पैर पटकना, हर्ष में उछलना-कूदना, नाचना या ताली बजाना संवेग की **आसनिक अभिव्यक्तियाँ** (postural expressions) हैं।

(ब) आन्तरिक शारीरिक परिवर्तन—संवेगात्मक अवस्था में केवल बाह्य ही नहीं आन्तरिक शारीरिक परिवर्तन भी हो जाते हैं। इन परिवर्तनों में हृद्गति (heart beat) में परिवर्तन, रक्त-चाप (blood pressure) में परिवर्तन, श्वास-गति तथा मस्तिष्क-तरंगों (brain waves) में परिवर्तन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भय से हृदय की गति तीव्र हो जाती है। यही बात शोक और हर्ष की अवस्था में भी होती है। पर, शोक की अवस्था में हृदय की गति कम भी हो सकती है। शोक में श्वास भी धीमी पड़ जाती है। प्रेम-संवेग में साँस की गति बढ़ जाती है, और भय में धीमी पड़ जाती है। क्रोध, प्रेम आदि संवेगों में मनुष्य के उत्तेजित रहने के कारण रक्त-चाप में वृद्धि हो जाती है तथा भय में रक्त-चाप कम हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि विभिन्न संवेगात्मक अवस्था में अलग-अलग आन्तरिक शारीरिक परिवर्तन हो जाते हैं।

व्यक्ति के व्यवहार में संवेग का महत्व
(Role of Emotion in Individual Behaviour)

व्यक्ति के व्यवहार निर्धारण व संचालन में संवेग का महत्त्व भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता, यद्यपि इन संवेगों को ही सब कुछ मान लेने की गलती हमें

नहीं करनी चाहिए। संवेग–मनुष्य को अनेक कार्यों को करने की प्रेरणा देता है। जीवन में मस्तिष्क तथा हृदय में सदा विरोध रहा है, और ये संवेग मस्तिष्क से अधिक हृदय से सम्बन्धित होते हैं। संवेगों के कारण ही व्यक्ति में सहानुभूति, दया, प्रेम, आदि के भाव अंकुरित होते हैं। देश, जाति, धर्म और प्रेम के नाम पर मिटने की भावना संवेग का ही परिणाम है। कला, साहित्य, संगीत, आदि हमारे जीवन के संवेगात्मक पक्ष की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। संवेगहीन जीवन नीरस और अनाकर्षक प्रतीत होता है।

इस सत्य को सभी स्वीकार करते हैं कि संवेगात्मक अवस्था में शक्ति-संचालन की मात्रा (mobilization) बढ़ जाती है। भय की दशा में कभी-कभी हम खतरे से बचने के लिये ऐसे साहसिक कार्य कर बैठते हैं और खतरे से बच निकलते हैं कि हमें भी स्वयं अपनी शक्ति पर आश्चर्य होता है। इसी तरह प्रेम की संवेगावस्था में भी व्यक्ति अपने प्रेम-पात्र के लिये महान् से महान् त्याग कर बैठता है।

परन्तु, संवेग हमें इन्सान से हैवान भी बना सकता है। क्रोध की दशा में व्यक्ति अनुचित काम कर बैठता है, यहाँ तक कि दूसरों की हत्या तक कर डालता है। इसी प्रकार काम-वासना की संवेगावस्था में भी मनुष्य पशु-स्तर से भी नीचे गिर जाता है। अतः स्पष्ट है कि संवेग हितकर भी हो सकता है और अहितकर भी। यह व्यक्ति में सद्गुण पनपाने का भी आधार बन सकता है, और दुर्गुण को भी जन्म दे सकता है।

संवेग और संस्कृति
(Emotion and Culture)

संवेग पर किसी भी समाज के सांस्कृतिक प्रतिमान का गहरा प्रभाव पड़ता है। इसका तात्पर्य यह है कि संस्कृति अपने धर्म, प्रथाओं, परम्पराओं, सामाजिक नियमों, और आदर्शों आदि के द्वारा संवेग की अभिव्यक्ति को एक विशिष्ट दिशा प्रदान करती है। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही आध्यात्मिकता (spiritualism) पर अत्यधिक बल दिया जाता रहा है। स्वधर्म का पालन सब का पवित्र कर्तव्य है। पर, इस कर्तव्य का पालन काम, क्रोध, लोभ आदि पर नियंत्रण पाये बिना सम्भव नहीं है। यह शिक्षा हर हिन्दू को बचपन से ही दी जाती है। इस कारण क्रोध, काम आदि की इस समाज में निन्दा होती है और इस रूप में इन संवेगों को दबाने का प्रयत्न किया जाता है। दूसरी ओर दया, करुणा, ममता, त्याग, प्रेम आदि पर बल दिया जाता है और इन गुणों की सराहना की जाती है। अतः लोग इन गुणों को अपने व्यक्तित्व में अधिक संयुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। यही कारण है कि त्याग के जो महान् उदाहरण भारतवर्ष में देखने को मिले हैं, वे कहीं भी और नहीं। राजा हरिश्चन्द्र का जन्म भारतीय संस्कृति में ही सम्भव था। इसी प्रकार दूसरी संस्कृतियों के भी उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं—अमेरिका के रेड-इण्डियन अपनी शान्तिप्रिय एवं धैर्यपूर्ण प्रकृति के लिये प्रसिद्ध हैं। इसके विपरीत अफ्रीका के नीग्रो तथा उत्तर-पूर्वी सीमान्त प्रदेश के पठान छोटी-छोटी बातों पर क्रोधित तथा उत्तेजित हो जाने के लिये विख्यात हैं, क्योंकि उनके समाज में शान्त व शिष्ट प्रकृति वाले व्यक्ति को निकम्मा तथा कायर माना जाता है।

संस्कृति यह भी निश्चित करती है कि किस अवसर पर किस प्रकार का संवेग अभिव्यक्त किया जाय। भारतवर्ष में बूढ़े माता-पिता की मृत्यु हो जाने पर शोक प्रकट किया जाता है, जबकि एस्कीमो समाज में बूढ़े माता-पिता की मृत्यु हर्ष का विषय है: और यदि एक निश्चित आयु के बाद भी उनकी मृत्यु नहीं होती है तो

उन्हें मार डालना पुत्र का पवित्र कर्तव्य हो जाता है। भारतवर्ष मे प्रेम-व्यवहार, जैसे चुम्बन, आलिंगन सार्वजनिक स्थान पर पड़ता व शिष्टाचार के विरुद्ध है, परन्तु पाश्चात्य देशों मे प्रियजनों से विदा होते समय परस्पर चुम्बन रेलवे स्टेशन आदि सार्वजनिक स्थान पर भी आपत्तिजनक नही है, अपितु सामान्य शिष्टाचार के अन्तर्गत आता है। इसी प्रकार प्रियजन की मृत्यु पर शोक प्रगट करने के तरीके भी अलग-अलग समाजों मे भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। अंग्रेज हाथ मे काला पट्टा बाँध कर शोक प्रगट करते हैं पर हिन्दुओं में यह रीति नहीं है। अतः स्पष्ट है कि संस्कृति का प्रभाव संवेग की अभिव्यक्ति के रूप पर भी पड़ता है।

थी सं ण्डिस का मत है कि भावनाओं की अभिव्यक्ति पूर्ण रूप से समाज से ही सीखी हुई एक अभिव्यक्ति है। उनके मतानुसार भावनाओं की अभिव्यक्ति का कोई प्राणी शास्त्रीय या वंशानुगत आधार नहीं होता। यह तो पूर्ण रूप से सामाजिक परम्परा के माध्यम से एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित होता रहता है। इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि सस्कृति संवेगो की अभिव्यक्ति को एक विशिष्ट दिशा व स्वरूप प्रदान कर सकती है, पर यह नही हो सकता कि वह सवेगों को बिलकुल ही नष्ट कर दे। हम कदापि एक ऐसे समाज या सास्कृतिक समूह का उल्लेख नहीं कर सकते, जिसके एक भी सदस्य मे भय, क्रोध, हर्ष, शोक, घृणा, प्रेम आदि संवेग का **दर्शन न हो सके। ये तो सभी सांस्कृतिक समूह के सभी सदस्यों में पाये जाते हैं, भेद केवल इन संवेगों को अभिव्यक्त** करने के अवसरों तथा तरीकों में ही होता है।

REFERENCES

1. "William McDougall, An introduction to Social Psychology, (Methuen and Co. Ltd, London, 1960), p 37.
2. "Emotion is an acute disturbance of the individual as a whole, psychological in origin, involving behaviour "conscious experience and visceral functioning."—*P.T. Young*, Emotions in Men and Animals, 1955, p. 7.
3. "Each emotion is a feeling, and each is at the same time a mortor-set."—*Woodworth*, Psychology, 1949, p 344.
4. "An emotion is generally the response of a person to the situation in which he finds himself fear to his own danger, anger to his own injury, and so on."—*R.H. Thouless*, Geneal and Social Psychology, p. 76
5. ".....the word 'hate' is commonly applied to a complex emotion compounded of anger and fear and disgust........"—*William Mc-Dougall, op. cit.*, p. 106.

मानव-व्यवहार में विवेक तथा संकल्प

[REASON AND WILL IN HUMAN BEHAVIOUR]

"विवेक रास्ता दिखलाता है और संकल्प उस रास्ते पर चलने के लिए आवश्यक शक्ति का संगठन करता है।" —Dr. Choubey.

मानव के सामाजिक व्यवहार के वास्तविक आधारों को ढूँढने के लिये विद्वानो ने अनेक प्रकार के प्रयत्न किये हैं। पिछले कुछ अध्यायो मे हमें इसका कुछ आभास मिला है। हमने यह देखा कि किस प्रकार मूलप्रवृत्तियाँ तथा अन्य प्रेरणाएँ व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित ही नही करती, अपितु उसे सामाजिक जीवन व्यतीत करने के लिये भी प्रेरित करती हैं। ये मूलप्रवृत्तियाँ और जैविक प्रेरणाएँ जन्मजात होती हैं और उस रूप में ये मानव-समाज के सभी सदस्यो मे सामान्य (common) या समान रूप से होती हैं। अगर सामाजिक जीवन के आधार के रूप में इन्हीं मूल-प्रवृत्तियो और प्रेरणाओ को सब कुछ मान लिया जाय तो यह भी आशा करना अनुचित न होगा कि सभी व्यक्तियों का सामाजिक जीवन एक समान ही होगा, क्योकि इनके आधार—मूलप्रवृत्तियाँ व प्रेरणाएँ भी एक-सी ही होगी। पर, वास्तव में ऐसा नही है। प्रत्येक समाज की अपनी कुछ अलग विशिष्टतायें होती हैं और उन विशिष्टताओ के आधार पर समाज को दूसरे से पृथक् किया जा सकता है। अत. स्पष्ट है कि इस पृथक्ता या विभिन्नता का कारक केवल मूलप्रवृत्तियाँ और जैविक प्रेरणाएँ ही नही, और कुछ भी होता है। विद्वानो का कथन है कि इस पृथक्ता या विशिष्टता के विकास मे बुद्धि, विवेक तथा संकल्प का बहुत सहयोग होता है। विवेक और संकल्प के इस महत्त्व को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम पहले इन दोनों की प्रकृति व अर्थ को समझ लें।

विवेक का अर्थ
(Meaning of Reason)

विवेक का शाब्दिक अर्थ है 'भली-बुरी वस्तु का ज्ञान' या 'अच्छा-बुरा, उचित-अनुचित पहचानने की शक्ति'। इसी शाब्दिक अर्थ के आधार पर ही डॉ० चौबे ने विवेक की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है—"अपनी अनुभूतियो के आधार पर व्यक्ति एक विशेष शक्ति प्राप्त करता है। इस शक्ति से ही विवेक का बोध होता है। विवेक से व्यक्ति के उस सर्वव्यापी सिद्धान्त और आदर्श का आभास मिलता है, जिसकी सहायता से वह उचित और अनुचित, नैतिक और अनैतिक का निर्णय करता है। अर्थात्, हम कह सकते हैं कि व्यक्ति का विवेक जौहरी की उस कसौटी के समान है, जिसकी सहायता से वह अच्छी और बुरी धातु को पहचानता है।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विवेक मन की वह शक्ति है जो व्यक्ति को उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक या अच्छे-बुरे के भेद को समता प्रदान करती है। दूसरे शब्दों में, विवेक उचित-अनुचित या अच्छे-बुरे के भेद को पहचानने की एक आन्तरिक शक्ति है। परन्तु, 'आन्तरिक शक्ति' का तात्पर्य यह नहीं है कि विवेक कोई जैविकीय या जन्मजात (biological or innate) प्रवृत्ति है, जिसका कोई भी सम्बन्ध बाहरी दुनिया से नहीं है। विवेक एक सामाजिक गुण है, इसी कारण सामाजिक सांस्कृतिक परिस्थितियों का प्रभाव इसके विकास पर पड़ता ही है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि विवेक का कोई भी सम्बन्ध संवेदना से नहीं है। पर, यह विचार गलत है। वास्तव में इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने लिखा है, "ज्ञान के आरम्भ से ही संवेदना (sense) और विचार अभिन्न रूप से घुले-मिले रहे हैं—यहाँ तक कि जानने का कम से कम विकसित रूप भी अनिवार्यतः भेद करने, तुलना करने और परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य होता है।"[1] श्री गिन्सबर्ग ने आगे और लिखा है कि वास्तव में हमको कोई ऐसी चीज मिलती ही नहीं जो केवल दी हुई हो, और जिस पर विचार न हुआ हो। भेद करने (discrimination) और सम्बद्ध करने (correlation) की शक्ति के विस्तार से ही ज्ञान में प्रगति होती है। सामान्य सिद्धान्तों का मूल्य केवल वहीं तक है, जहाँ तक वे संवेदना की सामग्री को परस्पर सम्बन्धित करते हैं। लेकिन संवेदना और विचार के तत्त्व एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं। सामग्री (data) और उसको स्पष्ट करने वाले सिद्धान्तों के विषय में हम चर्चा करते अवश्य हैं, लेकिन सामग्री दी हुई नहीं होती, उसमें आरम्भ से ही विचार और विवेक के तत्त्व मौजूद रहते हैं। दूसरी ओर, विचार का अपने आप कोई अर्थ या मूल्य नहीं होता; अगर होता है तो तभी जब वह प्राप्त सामग्री को सम्बद्ध करता है। "विचार के बिना संवेदना अन्धी है और संवेदना के बिना विचार रिक्त है।"[2]

विवेक के अर्थ को स्पष्ट करते हुए श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने लिखा है, "संवेदना (sense) वह है जो हमें अनुभव की सामग्री देती है; दूसरी ओर विचार या विवेक वह शक्ति है जो स्वयं अपने अस्तित्व या प्रगति से प्राप्त सिद्धान्तों के सन्दर्भ में अनुभव की सामग्री की तुलना एवं उसका विश्लेषण करती है।"[3]

विवेक आवेगों का दास है

(Reason is the Slave of Passions)

कुछ विद्वानों का मत है कि मनुष्य के मानसिक जीवन के ज्ञानात्मक क्षेत्र में संवेदनाओं की अपेक्षा बुद्धि और विवेक का स्थान प्रमुख है, जबकि क्रियात्मक क्षेत्र में संकल्प (will) की अपेक्षा संवेगों का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है। दूसरे शब्दों में, जो विद्वान् बुद्धिवाद (intellectualism) के सिद्धान्त में आस्था रखते हैं, उनका मत है कि हमारा ज्ञान और आचरण हमारे जीवन के अविवेकात्मक बुद्धि आदि तत्त्वों के परिणाम हैं, न कि तर्क के। हमारा ज्ञान और विश्वास तो बुद्धि द्वारा निर्धारित होता ही है, साथ ही हमारा आचरण भी इसी बुद्धि के द्वारा निश्चित होता है।

आधुनिक मनोविज्ञान में हमको इस बुद्धिवाद (intellectualism) के विरुद्ध एक तीव्र प्रतिक्रिया दिखाई देती है। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बुद्धि की अपेक्षा संवेगों, आवेगों, इच्छाओं, भावनाओं, प्रेरणाओं आदि को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक बुद्धि को गौण मानते हैं। इन विद्वानों का मत है कि मानव व्यवहार और ज्ञान का आधार विवेक (reason) नहीं है। मनुष्य के व्यवहार को मूलप्रवृत्तियों और आवेगों से बल मिलता है, विचार और तर्क से नहीं। विचार तथा विवेक का इसको शक्ति प्रदान करने में कोई हाथ नहीं रहता। इतना अवश्य है कि आवेगों तथा मूलप्रवृत्तियों द्वारा निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के साधनों को खोजने का कार्य विचार और विवेक के द्वारा ही होता है।

बुद्धिवाद के विरुद्ध उपर्युक्त प्रतिक्रिया कोई नयी प्रतिक्रिया नहीं है। सर्वश्री रिबट और ह्यूम आदि प्राचीन लेखकों ने भी मानव-व्यवहार में बुद्धि का स्थान गौण ही माना है। श्री रिबट (Ribot) का कथन है—"मनुष्य के आचरण की

आधारशिलाएँ मूलप्रवृत्तियाँ, प्रेरणाएँ, इच्छाएँ, अनुभूतियाँ और संवेग ही हैं, इनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं।"[4] इसी प्रकार श्री ह्यूम (Hume) ने तो इससे भी बहुत पहले कहा था, "विवेक आवेगों का दास है, और ऐसा ही होना भी चाहिए, सेवा करने और आज्ञा पालन करने के अतिरिक्त इसका कोई भी दूसरा काम कभी भी नहीं हो सकता।"[5] आवेग (passion) से श्री ह्यूम का तात्पर्य ऐसी सभी आवेगात्मक प्रवृत्तियों से था, जैसे अभिलाषा (appetite), इच्छा आदि। इसके विपरीत विवेक (reason) से उनका तात्पर्य उस शक्ति से था, जो हमारे विचारों और प्रवृत्तियों का मिलान और व्यवस्था करती है, और इसलिये व्यवहार को प्रेरित करने की सामर्थ्य नहीं रखती, अर्थात् विवेक में कोई प्रेरक शक्ति नहीं होती।

श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने लिखा है कि जो लेखक उपर्युक्त मत का समर्थन करते हैं और सकल्प व विवेक के महत्त्व का विरोध करते हैं, वे यह स्पष्ट रूप से नहीं बताते कि उनका विवेक व संकल्प से क्या मतलब है? ऐसा प्रतीत होता है कि वे 'विवेक' को आधार-वाक्यों (premises) से निष्कर्ष निकालने वाली, एक तरह की सूक्ष्म शक्ति मानते हैं। अर्थात् 'विवेक' करने और निष्कर्ष निकालने की एक अमूर्त्त एवं सूक्ष्म शक्ति है। इसके विपरीत सकल्प से उनका तात्पर्य एक अजीब (unique) तथा निगूढ़ शक्ति से है, जो आचरण का निर्धारण उन सिद्धान्तों के द्वारा करती है जो संवेगों और मूलप्रवृत्तियों के सिद्धान्तों से सर्वथा भिन्न हैं।[6] श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने लिखा है कि यदि विवेक और सकल्प के सम्बन्ध में यह विचार ठीक है तो इन दोनों तत्त्वों के विरुद्ध आवेगों (passions) के कार्य को महत्त्व देने की प्रवृत्ति भी शायद उचित ही है; लेकिन यह समझना कठिन नहीं है कि इस 'बुद्धिवाद' के विरोधी 'वाद' के विरुद्ध भी उसी प्रकार की आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं, जिस तरह कि स्वयं बुद्धिवाद के विरुद्ध। इन दोनों दलों की ओर से अपने मत की पुष्टि और दूसरे मत के विरोध में जो तर्क दिये जाते हैं, उनमें मुख्यतः दो प्रकार की भ्रान्तियाँ (fallacies) या दोष हैं—(i) अनुभव के तत्त्व से तर्क के तत्त्व को पृथक् करने की भ्रान्ति; और (ii) व्यक्तित्व को अलग-अलग इकाइयों में विभाजित करने व आत्म-चेतन (self-conscious) व्यक्तित्व को एक पूर्ण इकाई न मानने की भ्रान्ति।[7]

विवेक आवेगों का दास है या नहीं और यदि है तो किस सीमा तक, इसे समझने के लिये उपर्युक्त दोनों भ्रान्तियों के सम्बन्ध में अलग-अलग विवेचन कर लेना उचित होगा।

(1) ऊपरी तौर पर यदि देखा जाय तो ऐसा प्रतीत होना स्वाभाविक ही है कि हमें जो जानकारी संवेदनाओं (sensations) अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा प्राप्त होती है, वह निश्चय ही उस ज्ञान से पृथक् होगी, जो हमें बुद्धि द्वारा तर्क व तुलना करने पर प्राप्त होती है। अतः संवेदना (sense) और विचार एक दूसरे से बिल्कुल अलग एवं अपरिमित मालूम होते हैं। जैसा कि हम पहले ही लिख चुके हैं, संवेदना (sense) वह है जो हमें अनुभव की सामग्री (data of experience) देती है; दूसरी ओर विचार या विवेक वह शक्ति है, जो स्वयं अपने अस्तित्व या प्रकृति से प्राप्त सिद्धान्तों के सन्दर्भ में अनुभव की सामग्री की तुलना व उसका विश्लेषण करता है। पर विवेक को ये सिद्धान्त कैसे प्राप्त होते हैं, इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर वे विद्वान् नहीं दे पाते, जो संवेदना और विचार या विवेक को दूसरे से बिल-

कुल भिन्न मानते हैं। पर वास्तव में संवेदना (sense) और विचार या विवेक में जो भेद है, वह प्रकार का नही, केवल मात्रा का है। मनुष्य के ज्ञान का यदि हम विश्लेषण करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि आरम्भिक ज्ञान तक में संवेदनाओं और विवेक में परस्पर सहयोग व अभिन्न सम्बन्ध रहता है। यदि हम अपने प्रत्यक्ष ज्ञान का विश्लेषण करें तो हमें मालूम होगा कि ज्ञान का कोई भी अंश ऐसा नही होता, जो हमें केवल इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है, और जिसके सम्बन्ध में हमें कुछ भी सोचना-समझना न पड़ता हो। अनुभव के बिना ज्ञान की प्राप्ति हो ही नही सकती। "किसी भी बाह्य उत्तेजना (external stimulus) के मिलने पर हमे संवेदना होती है। यह संवेदना ज्ञान की संज्ञा तभी पाती है जब हम अपने पुराने अनुभवों के आधार पर तुलना, समानता व विचार की क्रिया द्वारा इस संवेदना का निश्चित चित्र अंकित करके उस चित्र को उपयुक्त अर्थ पहना देते है। उदाहरणार्थ, बालक दूध की शीशी देखता है तो शीशी की उत्तेजना मिलते ही उसे संवेदना प्राप्त होती है। परन्तु बालक केवल प्रतिभा के आधार पर ही शीशी को उपयुक्त अर्थ नही दे पाता। अपने अनुभव के आधार पर वह इस प्रतिमा की अन्य शीशियो की प्रतिमा से तुलना करता है और विवेक की सहायता से इस निर्णय पर पहुँचता है कि यह दूध की शीशी है और यह भी उसी के लिये है। जब बालक निश्चित रूप से अपनी दूध की शीशी जानने में समर्थ हो जाता है, तभी उसकी संवेदनाजन्य प्रतिभा ज्ञान की संज्ञा पा सकती है। अत: प्रारम्भिक ज्ञान में भी संवेदनाओं और विचार व बुद्धि का समावेश रहता है।"

इस सम्बन्ध मे यह भी उल्लेखनीय है कि अनुभव का विकास भी शून्य में नहीं होता। विचार और विवेक की सहायता से ही हम अपने अनुभव को क्रमशः परिमार्जित करते हैं। विचार और विवेक हमें निरन्तर इस भाँति निर्देशित करते रहते हैं कि हमारे लिये अनुभव को एकत्रित करना सरल होता है। पर, जब हमारा अनुभव सुस्थिर हो जाता है तो विचार व विवेक को वह इस प्रकार की शक्ति प्रदान करता है, जिसके आधार पर उनके लिये यह सम्भव होता है कि वे विभिन्न वस्तुओं की तुलना, विश्लेषण व सहसम्बन्धो को स्पष्ट कर सकें, उचित और अनुचित में भेद को जान सकें। अत: स्पष्ट है कि विवेक तथा अनुभव दोनो को ही एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। यदि अनुभव मे विवेक का पुट न हो तो वह अन्धे व्यक्ति की भाँति गलत रास्ते पर चला जाये, अर्थात् विवेकहीन कार्य करे। इसी प्रकार यदि विवेक मे अनुभव का पुट हो तो वह कभी सार्थक रूप प्राप्त ही न कर सके, क्योंकि अनुभव जिन वास्तविकताओं के साथ विवेक का परिचय करता है, उस परिचय से अनुभव की अनुपस्थिति में विवेक को वंचित ही रहना होता है। इसलिये श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने लिखा है कि "विवेकशून्य अनुभव अन्धा और अनुभवविहीन विवेक रिक्त होता है।"

जिस प्रकार विवेक और अनुभव को पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार संकल्प को आवेग से अलग नही किया जा सकता है। भावशून्य संकल्प की कल्पना ही नही की जा सकती। श्री गिन्सबर्ग ने लिखा है—"एक ओर मनुष्य में सबसे सरल आवेग भी आत्मचेतना (self-consciousness) के वर्तमान होने के कारण परिवर्तित हो जाता है और इसलिये वह केवल आवेग ही नहीं रह जाता। दूसरी ओर इच्छा-शक्ति कोई असाधारण अथवा सीधी-सादी क्रिया नहीं, अपितु एक नियम अथवा प्रवृत्ति है, जो अनेक आवेगों और इच्छाओ मे व्याप्त रहती है और उनको निर्देशित

तथा एकता प्रदान करती रहती है। वास्तव में इच्छा-शक्ति का रूप ही आवेगों, अभिलाषाओं तथा अनुभूतियों से बन पाता है।"[8]

दूसरी भ्रान्ति पहली भ्रान्ति से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। इस भ्रान्तिपूर्ण विचार के अनुसार मनुष्य के व्यक्तित्व को विभिन्न इकाइयों का सन्तुलन माना जाता है। यह भी माना जाता है कि इनमें से प्रत्येक इकाई की अपनी शक्ति की मात्रा अलग-अलग है। अतः बुद्धि, संकल्प, विवेक, आवेग आदि सभी स्वतन्त्र इकाइयाँ मानी जाती हैं, जो व्यक्तित्व को बाहर से प्रभावित करने वाली शक्तियाँ हैं। वास्तव में चेतन व्यक्तित्व को भिन्न-भिन्न सर्वथा असम्बन्धित विभागों में बाँटना नहीं है, बल्कि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के विभिन्न प्रकार मात्र हैं। व्यक्तित्व अनेक रूप ग्रहण कर सकता है और अपने को अनेक प्रकार से व्यक्त कर सकता है—कभी आवेग के रूप में, तो कभी इच्छा के रूप में; लेकिन वह हमेशा ही एक सम्पूर्ण व्यक्ति बना रहता है, न कि इकाइयों में बँटा रहता है। अतएव संवेगात्मक, आवेगात्मक एवं संकल्पात्मक क्रियाओं का शक्ति-स्रोत भिन्न-भिन्न नहीं, अपितु एक ही है, अर्थात् "मनुष्य का व्यक्तित्व" इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनमें आपस में संघर्ष और विरोध भी होता है, लेकिन यह संघर्ष 'आत्म' या व्यक्तित्व के अन्दर ही होता है, 'आत्म' और किसी बाहरी चीज के मध्य नहीं। दूसरे शब्दों में, जैसा कि गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने लिखा है, जीवन में सामंजस्य का अभाव इस तथ्य के कारण नहीं होता कि 'विवेक' नाम की चीज, 'आवेग' नाम की चीजों से हार खा जाती हैं; बल्कि इस तथ्य के कारण होता है कि 'आत्म' को आवेगों के एकीकरण या संगठन की उस मात्रा की प्राप्ति नहीं होती, जिसकी प्राप्ति करना उनके अन्दर काम करने वाले विवेकात्मक आवेग का कार्य है। इसी विचार को एक दूसरे वैज्ञानिक ने इस प्रकार समझाया है—"विक्षिप्त व्यक्तित्व का विकास भी इस कारण नहीं होता कि विवेक की इकाई पर अन्य संवेगों, आवेगों व प्रेरणाओं की इकाइयाँ प्रभावित हो जाती हैं, और इस कारण व्यक्तित्व में विक्षिप्तता आती है। विक्षिप्तता का कारण यही है कि 'आत्म', संवेगों की अनुरूपता, और उनके संगठन की सीमा उस स्थिति तक नहीं पहुँच सकी है, जहाँ विवेकात्मक भाव स्वयं इस संगठन का निर्माण कर लेते हैं। 'विवेक' और 'संकल्प' प्रेरणाओं या आवेगों से पृथक् शक्तियाँ नहीं हैं। यह वे मानसिक नियम मात्र हैं जो उनके भीतर और उन्हीं के द्वारा कार्यान्वित होते हैं। विवेक और इच्छाएँ मिलकर यह प्रयत्न करती हैं कि व्यक्ति की क्रियात्मक शक्ति के प्रवाह को निर्धारित दिशा की ओर उन्मुख रक्खें। यही स्पष्ट दिशाएँ अन्त में व्यक्ति का उद्देश्य बन जाती हैं।"

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि विवेक को आवेगों (passions) का दास मान लेना उचित न होगा। आवेगों के महत्त्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता, पर उनको मानव-व्यवहार के निर्धारण में सब कुछ मान लेना भी उचित न होगा। व्यक्ति का व्यवहार केवल जन्मजात् प्रवृत्तियों, प्रेरणाओं और आवेगों द्वारा ही नहीं; बुद्धि, विवेक और संकल्प द्वारा भी निर्धारित होता है; और, ये सभी तत्त्व सम्पूर्ण व्यक्तित्व में इस भाँति घुले-मिले रहते हैं कि इनमें से एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि जन्मजात् गुण, बुद्धि, विचार और विवेक आदि सामाजिक गुणों से इतना अधिक ढँक जाते हैं कि उनके (जन्मजात् गुणों के) मूल रूप को ढूँढ निकालना कठिन हो जाता है। व्यक्ति संस्कृति व सभ्यता के स्तर पर जितना ऊँचा उठता रहता है, जन्मजात् प्रवृत्तियों व आवेगों में उतना ही परिवर्तन व परिमार्जन होता जाता है। किसी भी वैज्ञानिक विश्लेषण में इस

सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी कारण श्री गिन्सबर्ग ने लिखा है कि आवेग और अनुभूतियाँ संकल्प के कार्य के नीचे रहती हैं, लेकिन इन आवेगों और अनुभूतियों को परस्पर मिलाने या इन्हे सगठित करने तथा इन्हें एक खास रास्ते पर ले जाने का काम विचार, विवेक और आदर्श करते हैं, व्यापक लक्ष्यों का निर्माण करने वाली शक्ति करती है।

विवेक और सकल्प के महत्त्व को और भी स्पष्ट रूप में समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम सकल्प के अर्थ को भी भली-भांति समझ लें।

संकल्प का अर्थ
(Meaning of Will)

डॉ० चौबे के अनुसार "संकल्प सम्पूर्ण व्यक्तित्व की गत्यात्मक शक्ति की ओर सकेत करता है। यह हमारे प्रमुख चरित्र और रुचियो पर प्रकाश डालता है। ......व्यक्ति का संकल्प हमें उसके व्यक्तित्व के एकीकरण (integration) का आभास देता है।......संकल्प से एक प्रकार की इच्छा का भी बोध होता है, और यह इच्छा व्यक्ति में तब तक विद्यमान रहती है जब तक कि इच्छित ध्येय की प्राप्ति नहीं हो जाती।"

श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने लिखा है—"अब यह माना जाने लगा है कि संकल्प केवल मन की अभिलाषा (conation) का एक उत्कृष्ट रूप ही समझा जा सकता है। यह रूप मन या मस्तिष्क के क्रियात्मक पक्ष (active aspect of mind) के निम्न रूपों पर आधारित होता है और उनको अपने अन्दर समाविष्ट करता है। इस मन की अभिलाषा का विकास, ज्ञान के क्षेत्र में, विकास के साथ-साथ चलता है।"[9]

श्री गिन्सबर्ग ने लिखा है कि "सकल्प विलक्षण अथवा सरल क्रिया नहीं, है, बल्कि एक प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति आवेगों और इच्छाओं के अन्दर व्याप्त होती है, उनको एक दिशा देती है और यथार्थ मे आवेगों, इच्छाओ और अनुभूतियो पर ही उसका रूप निर्भर करता है।"[10] "संकल्प द्वारा किये गये कार्य को किसी नवीन व अद्वितीय मानसिक शक्ति का कार्य नहीं समझना चाहिये, बल्कि एक ऐसा कार्य मानना चाहिए जो हमारे स्वभाव की किसी गहराई मे जड़ जमाये हुए एक विशाल संगठन से आता है; रुचियों के किसी अपेक्षाकृत स्थायी संगठन से आता है। ये स्थायी रुचियाँ ही मनुष्य के व्यक्तित्व की स्थायी प्रकृति का निर्माण करती हैं।"[11]

संकल्प के सम्बन्ध मे कुछ विद्वानों के मन में यह शंका उत्पन्न होती है कि क्षणिक आवेगों पर विजय पाने के लिए जिस चालक शक्ति की जरूरत होती है, वह संकल्प को कहाँ से प्राप्त होती है? यह सशय उसी अवस्था में उत्पन्न हो सकता है जबकि संकल्प को सूक्ष्म और अमूर्त मान लिया जाय। वास्तव में संकल्प मन की ऐसी कल्पना अथवा ऐसा अमूर्त्त विचार नहीं है जिसमें क्रियात्मक शक्ति का अभाव हो। यह मनुष्य की सम्पूर्ण क्रियात्मक प्रकृति का पूर्ण समन्वय या एकता है। संक्षेप में, प्रकृति सक्रिय करने की शक्ति से शून्य एक विचार मात्र नहीं है, बल्कि हमारे समग्र चेष्टात्मक या क्रियात्मक स्वभाव का समन्वित रूप, या एकता है। यह अनिवार्यतः एक संगठनकारी तत्त्व है, सामंजस्य की दिशा में किया जाने वाला ऐसा प्रयास है, जो क्रियात्मक और भावात्मक रुचियों के जटिल सगठनो के बीच और उनके द्वारा क्रियाशील रहता है। इसकी शक्ति ही हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व की

शक्ति है। इसलिए संकल्प के अन्दर चेष्टा या क्रिया और ज्ञान बहुत ही घनिष्ठ रूप से गुँथे रहते हैं।

वैयक्तिक व सामाजिक व्यवहार में विवेक और संकल्प के कार्य
(Role of Reason and Will in Individnal and Social Behaviour)

वैयक्तिक व सामाजिक व्यवहार में विवेक और संकल्प के कार्य व महत्त्व को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। इसी महत्त्व की चर्चा करते हुए श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने लिखा है कि हम कह सकते हैं कि विवेक के व्यावहारिक पहलू 'संकल्प' का कार्य लक्ष्यों के लिये साधन ढूँढने से ही पूरा नहीं हो जाता। इसका कार्य है आवेगों को विशाल और संगतिपूर्ण लक्ष्यों के अधीन करके उनमें एकता कायम करना। इस प्रकार संकल्प मार्ग दिखाने और संगठन करने का महत्वपूर्ण कार्य करता है। हम इसको विकास और संगठन करने वाले तत्त्व के रूप में और सामंजस्य के प्रयास के रूप में देख सकते हैं। मानसिक विकास के प्रारम्भ की अवस्थाओं में जो एकीकरण होता है, वह बहुत थोड़ा और सीमित होता है। शायद सामान्य नियन्त्रण की दिशा में सहज प्रवृत्तियाँ पहला कदम हैं; लेकिन उनका संगठन बहुत ही अपूर्ण होता है। विवेक सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से तब दिखाई देता है, जब हम प्रयोजन और आत्म चेतन के स्तर पर पहुँचते हैं। यह ज्ञान और व्यवहार दोनों को एकता की ओर ले जाने का आवेग है। सिद्धान्त की दुनिया में विवेक अनुभव के अलग-अलग तत्वों को जोड़ने का और किसी एकता प्रदान करने वाले सिद्धान्त में उनका आधार खोज निकालने का प्रयास करता है। व्यवहार की दुनिया में विवेक जीवन को एक सामंजस्यपूर्ण रूप देने का प्रयास करता है।[12] फिर भी, यह सोचना गलत है कि विवेक कुछ बहुत ही ऊँचे या लोकोत्तर सिद्धान्तों को लेकर चलता है और उनको अनुभव द्वारा प्राप्त सामग्री पर जबर्दस्ती लादता है। वह इन सिद्धान्तों का मूल्य वहीं तक आँकता है, जहाँ तक वे अनुभव की सामग्री में पैदा होते हैं और उसको सार्थक बनाते हैं। इसी प्रकार विवेक का व्यावहारिक पहलू 'संकल्प' भी कोई ऐसी चीज नहीं है, जो आवेगों का संघर्ष होने पर बीच-बचाव करे, और स्वयं अपने अन्दर में प्राप्त होने वाले लोकोत्तर सिद्धान्तों के आधार पर आदेश दे। इसके विपरीत, संकल्प अनिवार्यतः ऐसे सिद्धान्तों और लक्ष्यों की रोशनी में आवेगों के एक ऐसे एकीकरण का नाम है जो हमारे व्यक्तित्व की गहराई में पनपते हैं।[13] इसीलिये जो लोग विवेक और संकल्प के विरुद्ध तर्क करते हैं, वे उन्हें कुछ लोकोत्तर बनाकर देखते हैं। पर, वास्तव में ऐसा नहीं है। विवेक और संकल्प दोनों ही लोकोत्तर नहीं, अपितु व्यावहारिक स्तर की 'शक्तियाँ' हैं, और वे व्यक्तिगत व सामाजिक व्यवहार में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं। समाज में मनुष्य ने एकता और संगठन की जिस मात्रा को प्राप्त किया है, वह अब भी बहुत थोड़ी है। फलतः जिस चीज की हमें जरूरत है, वह है विवेक की कम मात्रा नहीं, अपितु अधिक मात्रा; और व्यक्ति और समाज के सामंजस्यपूर्ण विकास के हेतुओं की अधिक जानकारी।[14]

विवेक तथा संकल्प के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ० चौबे ने लिखा है, "विवेक व्यक्ति में संयम लाता है और संवेगों को शोधित करके उन्हें व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बना देता है। वस्तुतः व्यक्तित्व के निर्माण में विवेक का बहुत बड़ा हाथ होता है। विवेक की भाँति संकल्प भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का एक प्रधान अंग होता है। संकल्प के ही आधार पर व्यक्ति विषम से विषम समस्याओं का सफलतापूर्वक सामना कर सकता है, और संकल्प किसी गलत रास्ते पर न चला जाय, इसकी देखभाल विवेक करता है। विवेक रास्ता दिखलाता है और संकल्प उस रास्ते पर

चलने के लिये आवश्यक शक्ति का संगठन करता है। यदि हम विवेक से काम करना छोड़ दें तो समाज का विघटन हो जाय। समाज का स्थायित्व और सुख विवेक पर ही आधारित होता है। समाज के उद्देश्य और मान्यतायें विवेक द्वारा ही निर्धारित की जाती हैं। अच्छे सामाजिक व्यवहार विवेक द्वारा ही सम्भव होते हैं।......धार्मिक नेता "धर्म खतरे में है" का नारा लगाकर जनता को उद्वेलित करते हैं। इस प्रकार के आन्दोलन तर्क पर आधारित न होकर सवेगो द्वारा नियंत्रित होते हैं। अतः बहुधा इनका फल भयानक होता है। जो सामाजिक आन्दोलन 'विवेक' के सहारे चलते हैं, उनसे समाज में एकत्व की भावना का विकास होता है और उन्ही से नयी सामाजिक मान्यतायें भी पनपती हैं। गुरु नानक, राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती, महात्मा गान्धी, आदि महापुरुष विवेक पर ही आधारित सामाजिक आन्दोलन चलाने वालों के उदाहरण हैं। अतः उन्होने नये सामाजिक उद्देश्यो और मान्यताओं का विकास किया। अकेला विवेक कुछ नही कर सकता, यदि उसके साथ संकल्प-शक्ति न जुडी हो। विवेक तो केवल रास्ता दिखाता है। उस रास्ते पर अग्रसर होने का कार्य संकल्प की सहायता से किया जाता है। अतः विवेक और संकल्प वैसे कि एक गाड़ी के दो पहिए हैं।

इस सम्बन्ध मे श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने जो विचार प्रस्तुत किया है, उसका भी उल्लेख किया जा सकता है। उनके अनुसार सामाजिक जीवन को एक सूत्र में बाँधने का कार्य सामाजिक सिद्धान्त भी करते है, जब वे तर्क और संकल्प पर आधारित होते हैं। निश्चय ही कुछ सामाजिक सिद्धान्त जनता की प्रचलित सवेगात्मक प्रेरणाओं या आवेगात्मक प्रवृत्तियों की धुंधली छायाएँ मात्र होते है; और कुछ दूसरे सिद्धान्त हमारी प्रबल सवेगात्मक प्रवृत्तियों की विवेकमय व्याख्या (rationalization) मात्र है, जिनके सच्चे स्वरूप को अस्पष्ट तरीके से समझा गया है।[15] फिर भी, ये सिद्धान्त व्यक्ति को परिस्थिति की चुनौती स्वीकार करके उस पर विजय पाने में सहायता करते हैं। ये सामाजिक सवेगो की विवेकमय व्याख्या करके, सामाजिक जीवन मे सामंजस्य, अनुरूपता और सफलता का संचार करते हैं।

श्री गिन्सबर्ग ने आगे लिखा है—"इसके विपरीत कुछ सामाजिक सिद्धान्त वास्तव में पथ-प्रदर्शन करने वाले और अत्यन्त प्रभावपूर्ण प्रतीत होते है; और वह इस रूप में कि ये आपस मे मेल न रखने वाले आवेगो और विचारो के उन अस्त-व्यस्त समूहों को एक क्रमिक और निश्चित रूप दे देते हैं, जो संगठनकारी क्रिया के अभाव में प्रभावहीन और निरर्थक ही बने रहते हैं।"[16] दूसरे शब्दों में, यदि सगठनकारी विचारों के आधार पर इन सिद्धान्तो का विकास न होता और यदि इन सिद्धान्तो को सामाजिक विवेक का बल न मिलता तो उनमें अन्तर्निहित आवेग और विचार शक्तिहीन ही बने रहते; और समय की प्रगति के साथ-साथ कदम से कदम मिलाकर चलने मे असमर्थ होने के कारण धीरे-धीरे नष्ट भी हो जाते। परन्तु, जब इन्ही सामाजिक सिद्धान्तों को विवेक का आधार प्राप्त हो जाता है तो उनमे समस्त विश्व को प्रभावित करने की शक्ति आ जाती है। प्रजातन्त्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि के सिद्धान्त इसी प्रकार के हैं, और इन्होने विश्व के प्रत्येक राष्ट्र व नागरिक को बहुत अधिक प्रभावित किया है। सिद्धान्त ही नही, कभी-कभी तो विवेकपूर्ण उच्च आदर्श पर आधारित एक नारा तक जनता के आवेगों का इतना सफल प्रतिनिधित्व करता है कि उसमें जनता को बहुत बड़े पैमाने पर आन्दोलित करने की प्रबल शक्ति पैदा हो जाती है। उदाहरणार्थ, "विद्यार्थी समाज एक हो", "संसार के श्रमिकों एक हो।"

"आराम हराम है", "जय जवान, जय किसान", "युद्ध की समाप्ति के लिये युद्ध" आदि नारों में केवल थोड़े से शब्दों द्वारा बहुत-सी भावनाओं, विचारों तथा आवेगों को व्यक्त कर दिया गया है; और, चूंकि इनका आधार विवेक है, इस कारण इनमें जनता को हिला देने की शक्ति भी है।[17]

समाज बहुत-कुछ सामाजिक संस्थाओं पर आधारित होता है। प्रत्येक सामाजिक संस्था का एक उद्देश्य होता है। साथ ही, सामाजिक संस्थाएँ मनुष्य की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति का एक साधन भी होती है। पर इन आवश्यकताओं की सफल पूर्ति तब तक सम्भव नहीं है, जब तक कि संस्था अपने उद्देश्यों को विवेक की कसौटी पर कस न ले। पर, केवल विवेकपूर्ण उद्देश्यों को निश्चित कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, जब तक कि उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये संस्था के सदस्यों में संकल्प-शक्ति की प्रचुरता न हो। विवेक उचित मार्ग-निर्देशक का कार्य करता है, जबकि संकल्प उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये आवश्यक प्रयासों को क्रियात्मक शक्ति देता है। विवेक मार्ग-निर्देशक है, जबकि संकल्प वह शक्ति है जो कि उस मार्ग पर चलने का पक्का इरादा व्यक्ति में उत्पन्न करती है। विवेक और संकल्प की संयुक्त शक्ति किसी भी अन्य मानवीय शक्ति से बढ़कर होती है। इन दोनों का मेल जब-जब होता है, तब-तब नवीन जागरण, नवीनतम उद्देश्य और अभिनव क्रिया-शक्ति का पथ प्रशस्त होता है। यह मेल सचमुच दुर्लभ है, पर असम्भव नहीं।

REFERENCES

1. "From the very beginning of knowledge, sense and thought are inseparably inter-twined. Even the most rudimentary act of awareness is essentially an act of discriminating, comparing and correlating."—*Morris Ginsburg, The Psychology of Society,* p. 35.
2. "Sense without thought is blind, and thought without sense is empty."—*Ibid.*, p. 36.
3. "Sense is that which gives us the data of experience, thought or reason on the other hand is a faculty of comparing and manipulating such data, in the light of principles that it derives from its own being or nature."—*Ibid.*, p 35
4. "What is fundamental in character is the instincts, tendencies, impulses, desires and feelings, these and nothing else."—*Ribot*, Quoted by Morris Ginsberg, *Ibid.*, p. 34.
5. "Reason is and ought to be the slave of passions and can never pretend to any other office than to serve and obey."—*Hume, Ibid.*, p. 34.
6. *Ibid*, Hindu Edition, p. 65.
7. *Ibid.*, p 66.

8. 'On the one hand', in man, even the simplest impulse is modified profoundly by the presence of self-consciousness, and is never a bare impulse. On the other hand, volition is not a unique and simple activity, but a principle or tendency permeating a body of impulses and desires and giving them unity of direction and actually consists of, or owes its form to impulses, desires and feeling."—*Morris Ginsberg, Ibid.*, pp. 36-37.
9. "It is, I think coming to be recognized that will can only be understood as a higher form of conation, which rests on and includes the lower forms, and that development in the sphere of conation goes on pari passu with developments in the sphere of cognition "—*Morris Ginsberg, op. cit.*, p 37.
10. *Ibid.*, p. 38.
11. "It follows that an act of will is not to be conceived as due to a new and unique factor, but an act that issue from some deep rooted and massive system of our nature, from a relatively stable system of interests that forms, so to speak, the permanent bent of ones personality or self."—*M. Ginsberg, Ibid.*, p. 39.
12. "In the world of theory reason tries to connect the isolated elements of experience and to discover their grounds in some unifying principle. In the sphere of practice, reason seeks to form life into a harmonious whole."—*M. Ginsberg, Ibid.*, p. 41.
13. Morris Ginsberg, op. cit., Hindi edition, p. 75.
14. "It follows that what is wanted is not less but more reason, more knowledge of the conditions harmonious developments for the individual and society."—*M. Ginsberg*, op. cit., p. 42.
15. M. Ginsberg, op. cit., Hindi edition, p. 76.
16. *Ibid.*, p. 76.
17. *Ibid.*, p. 76.

प्रेरणा
[MOTIVATION]

"प्रेरणा व्यक्ति की आन्तरिक अवस्था है जो उसे क्रियाओं के लिए प्रोत्साहित करती है।"
—Kimball Young

श्री टालकॉट पारसन्स (Talcott Parson's) के मतानुसार किसी भी सामाजिक क्रिया के तीन आधार होते हैं प्रथम—कर्त्ता (actor), द्वितीय परिस्थिति (situation), और तृतीय प्रेरणा (motivation)। क्रिया करने वाला कोई व्यक्ति होता है, परन्तु इस कर्त्ता की किसी क्रिया का रूप, स्वरूप या प्रकृति उसकी वास्तविक परिस्थिति पर निर्भर करेगी। कर्त्ता शून्य में क्रिया नहीं करता, क्रिया तो एक वास्तविक परिस्थिति में ही घटित होती है। इसलिये परिस्थिति आवश्यक है। फिर भी केवल परिस्थिति ही क्रिया को उत्पन्न नहीं कर सकती, जब तक कि कर्त्ता मनःशारीरिक (psychophysical) रूप में या अपने अन्दर से उस कार्य को करने की एक 'चालक शक्ति' का अनुभव न करे जो उसके अन्दर प्रयासों को जागृत करे और उन प्रयासों को निश्चित लक्ष्य की ओर तब तक निर्देशित करती रहे जब तक कि उद्देश्य की पूर्ति न हो जाय। व्यक्ति में प्रयासों को जागृत करने तथा एक निश्चित लक्ष्य की ओर उन प्रयासों को संचालित करने वाली मनःशारीरिक चालक शक्ति को ही प्रेरणा कहते हैं। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति किसी दफ्तर में काम करते हुए भी उच्च शिक्षा के लिये कॉलेज में दाखिला लेता है, हर प्रकार की असुविधा झेलता है, कड़ी मेहनत करता है और पैसा भी खर्च करता है क्योंकि जीवन में और तरक्की करने की अभिलाषा उसके अन्दर प्रेरणा का कार्य करती है और उसे उसके जीवन के लक्ष्य की ओर निरन्तर ढकेलती है। जीवन में उन्नति करने की अभिलाषा उसके अन्दर जिन प्रयासों को जागृत करती है, उसी के बल पर कोई असुविधा भी उसके लिये असुविधा नहीं होती, कोई कष्ट उसके लिये बड़ा कष्ट नहीं होता और किसी प्रकार की मेहनत उसके लिये असहनीय नहीं होती। इन बाधाओं को टाल कर वह लक्ष्य की ओर बढ़ता जाता है, क्योंकि अन्दर की चालक शक्ति या प्रेरणा निरन्तर उसके साथ होती है। वह प्रेरणा तो उसी दिन शान्त होगी जिस दिन वह विश्वविद्यालय की अन्तिम डिग्री प्राप्त कर लेगा और जीवन में उन्नति की सीढ़ी पर ऊपर चढ़ना आरम्भ कर देगा। कभी-कभी देखा जाता है कि एक वर्ष पढ़ने के बाद असुविधाओं के कारण हिम्मत हार कर व्यक्ति पढ़ना छोड़ देता है। यह स्थिति इसी बात की द्योतक है कि उसमें प्रेरणा का अभाव हो गया है, उसके अन्दर की चालक शक्ति निस्तेज हो गयी है। यदि ऐसा न होता तो निश्चित लक्ष्य की ओर उसके प्रयासों का संचालन रुक न जाता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रेरणा व्यक्ति की वह आन्तरिक स्थिति या 'चालक शक्ति' है जो व्यक्ति को निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति न होने तक क्रिया के लिये प्रेरित करती रहती है। प्रेरणाएँ व्यक्ति के अन्दर प्रयासों को जन्म देने वाली तथा उन प्रयासों को लक्ष्य की ओर निरन्तर संचालित करने वाली होती हैं।

प्रेरणा का अर्थ व परिभाषा
(Meaning and Definition of Motivation)

'प्रेरणा' का शाब्दिक अर्थ अत्यन्त व्यापक है। शाब्दिक अर्थ के अनुसार प्रेरणा का तात्पर्य है 'उत्तेजना देना' या 'दबाव डालना'। इस अर्थ में जो कुछ भी व्यक्ति को कार्य करने के लिये उत्तेजित करती है या उस पर दबाव डालती है वह प्रेरणा है। और भी संक्षेप में किसी भी उत्तेजक (stimulus) को प्रेरणा कहा जा सकता है। यह उत्तेजक कोई बाहरी चीज भी हो सकती है और आन्तरिक भी। दूसरे शब्दों में कोई भी बाहरी या आन्तरिक उत्तेजक जो व्यक्ति पर कार्य करने के लिये दबाव डालता है, प्रेरणा है। अत: प्रेरणा का शाब्दिक अर्थ अत्यधिक व्यापक है। मनोवैज्ञानिक अर्थ इतना विस्तृत नहीं है। मनोवैज्ञानिक अर्थ में प्रेरणा से हमारा तात्पर्य उन आन्तरिक उत्तेजकों से होता है, जिनके प्रतिक्रियास्वरूप व्यक्ति कोई व्यवहार करता है। उदाहरणार्थ, प्यास (thirst) एक ऐसी आन्तरिक उत्तेजना है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति पानी पीने के लिए प्रेरित होता है। पर, यदि पानी बरसने लगे और हम अपना छाता खोल लें तो वर्षा को, जिसने कि छाता खोलने की क्रिया को प्रेरित किया, एक प्रेरणा नहीं कहेंगे, क्योंकि यह बाहरी उत्तेजक है।

सर्वश्री शैफ़र, गिलमर तथा शोयन (Shaffer, Gilmer and Schoen) ने लिखा है, "प्रेरक क्रिया करवाने की एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसका सूत्रपात प्रणोदन (drive) द्वारा होता है, तथा जो अनुकूलन (adjustment) द्वारा प्राप्त हो जाती है।"

स्पष्ट है कि उपर्युक्त विद्वानों ने प्रेरणा को एक मन:शारीरिक (psycho-physical) दशा या अवस्था माना है। इस अवस्था की उत्पत्ति उस समय होती है। जब भौतिक-रासायनिक परिवर्तन के फलस्वरूप मनुष्य की मानसिक स्थिति में भी परिवर्तन होता है और वह अपने अन्दर एक तनाव (tension) और बेचैनी या असन्तुलन का अनुभव करता है। इसके अभाव में या इन भौतिक-रासायनिक परिवर्तन के फलस्वरूप व्यक्ति शारीरिक या मानसिक असन्तुलन का अनुभव करता है, इसे ही आवश्यकता (need) कहते हैं। आवश्यकता उत्पन्न होने पर व्यक्ति अपने अन्दर एक तनाव (tension), बेचैनी या असन्तुलन महसूस करता है। यह तनाव या असन्तुलन एक 'चालक शक्ति' बन जाता है, और वह इस अर्थ में कि किसी व्यक्ति को उस तनाव या असन्तुलन को दूर करने के लिये प्रयास करना पड़ता है। इस चालक शक्ति को प्रणोदन (drive) कहते हैं। इस प्रकार आवश्यकता से प्रणोदन की उत्पत्ति होती है और यहीं से प्रेरणा की क्रियाशीलता आरम्भ होती है। अत: हम कह सकते हैं कि प्रणोदन (drive) के फलस्वरूप व्यक्ति सन्तुलन-प्राप्ति के लिए प्रयास करता है, और उसका यह प्रयास तब तक जारी रहता है जब तक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो जाती, अर्थात् जब तक शारीरिक या मानसिक तनाव दूर होकर पुन: सन्तुलन की स्थिति में नहीं आ जाता। इस सन्तुलन की स्थिति में हमारा शारीरिक-मानसिक अनुकूलन (adjustment) सम्भव होता है। इसलिये उपर्युक्त विद्वानों ने लिखा है कि "प्रेरक (motive) क्रिया करवाने की एक ऐसी प्रवृत्ति है, जिसका आरम्भ या सूत्रपात प्रणोदन (drive) द्वारा होता है और जो अनुकूलन (adjustment) द्वारा समाप्त हो जाती है।"[1] एक उदाहरण के द्वारा इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को भली भाँति समझाया जा सकता है। भोजन जीवन की एक मूलभूत आवश्यकता है। जब शरीर को इसकी आवश्यकता होती है तो व्यक्ति अपने अन्दर कुछ परिवर्तनों का अनुभव करता है, जैसे कि पेट की दीवारें या आँतें थोड़े-थोड़े समय पर

सिकुड़ती हैं। इस अवस्था को हम भूख कहते हैं। इस प्रकार का आवश्यकता (need) भूख-प्रणोदन (drive) को जन्म देती है। भूख की अवस्था में आँतों के सिकुड़ने के कारण व्यक्ति अपने अन्दर एक तनाव का अनुभव करता है या अपने को एक मनः शारीरिक असन्तुलन की स्थिति में पाता है। अतः वह पुनः सन्तुलन की प्राप्ति के लिये प्रयास करता है। उसका यह प्रयास भोजन प्राप्ति की दिशा में होता है। यह प्रयास तब तक जारी रहता है, जब तक भोजन या खाद्य-पदार्थों को प्राप्त कर अपनी भूख मिटा नहीं लेता। भूख की तृप्ति के बाद शारीरिक-मानसिक अवस्थाओं से उसका अनुकूलन(adjustment) हो जाता है और भोजन की आवश्यकता नहीं रह जाती। अतः प्रयास भी समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रेरक वृत्ति (motive) के दो प्रमुख कार्य हैं—प्रथम तो हमारे अन्दर प्रयासों को उत्पन्न करना, और द्वितीय उन प्रयासों को निश्चित लक्ष्य की ओर उस समय तक संचालित या निर्देशित करते रहना, जब तक कि खोये हुए सन्तुलन की प्राप्ति या अनुकूलन की स्थिति उत्पन्न न हो जाय।

श्री गिलफोर्ड (Guilford) के मतानुसार, "प्रेरक ऐसी कोई विशेष आन्तरिक कारक अथवा दशा है, जो क्रिया को प्रारम्भ करने तथा बनाये रखने की ओर प्रवृत्त होती है।"[2]

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) ने प्रेरणा की प्रकृति को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है, "व्यक्ति प्रेरित (*motivated*) है, यह बात हम उस अवस्था में कहते हैं, जब एक व्यक्ति कार्य की ओर गतिशील होता है या इस प्रकार की कुछ प्रतिक्रियाओं की ओर ढकेला, खींचा या उकसाया जाता है, जो तनाव या कठिनाई को दूर कर देती हैं और सन्तुलन को पुनःस्थापित करती हैं।"[3]

श्री किम्बल यंग ने प्रेरणा को प्रणोदन (drive) से पृथक् माना है। आपके अनुसार प्रणोदन से तात्पर्य उन आवेगों या प्रवृत्तियों से है, जो बहुत कुछ प्रत्यक्ष रूप से उन प्राणीशास्त्रीय आवश्यकताओं पर आधारित है जो कि जीवन के अस्तित्व को बनाये रखने से सम्बन्धित हैं। ये आवश्यकताएँ भोजन, पानी, हवा आदि हैं। इसके विपरीत, प्रेरक (motive) शब्द का प्रयोग उन खींचा-तानियों (pushes and pulls) के लिये किया जाता है, जो सामाजिक तौर पर सीखी गई हों। अर्थात्, श्री यंग के अनुसार "प्रेरणाएँ अर्जित प्रणोदन (*drive*) हैं जो मनुष्य में समाज के सदस्य होने तथा संस्कृति में भागीदार बनने के कारण उत्पन्न होती है।"[4] इस प्रकार श्री किम्बल यंग ने केवल अर्जित प्रेरणाओं को ही स्वीकार किया है, क्योंकि उनके अनुसार प्रेरणा, चाहे वह किसी भी प्रकार की क्यों न हो, सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होती है। परन्तु, मनोवैज्ञानिक सामान्य रूप से दो प्रकार की प्रेरणाओं—जैविक या जन्मजात् (biogenic or innate) तथा सामाजिक या अर्जित (*socio-genic or acquired*) प्रेरणाओं—को मान्यता प्रदान करते हैं। इनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

श्री एवं श्रीमती शेरीफ (*Sherif* and *Sherif*) ने अपनी परिभाषा में प्राणीशास्त्रीय (जन्मजात्) और सामाजिक (अर्जित), दोनों प्रकार की ही प्रेरणाओं

को सम्मिलित किया है। इन्होंने प्रेरणा को 'आन्तरिक कारक' (internal factors) या 'आन्तरिक प्रभाव (internal influences) कहा है, जिसकी उत्पत्ति आवश्यकताओं (needs) के कारण होती है और जो क्रिया सावयव (organism) या शरीर की क्रियाशीलता से ही नहीं अपितु प्राणीशास्त्रीय इच्छाओं एवं सामाजिक तौर पर अर्जित इच्छाओं, आकांक्षाओं और रुचियों से भी सम्बन्धित होती है। श्री एवं श्रीमती शेरीफ के ही शब्दों में, "हम प्रेरणा' को एक ऐसे व्यापक शब्द के रूप में प्रयोग करेंगे, जिसके अन्तर्गत उन समस्त आन्तरिक कारकों का समावेश हो, जो विभिन्न प्रकार के उद्देश्य-संचालित (goal directed or motivated) व्यवहार को जन्म देते हैं; और जिनसे उन आन्तरिक प्रभावों का बोध हो, जो आवश्यकताओं द्वारा जागृत होते हैं, एवं सावयव (organism) की क्रियाशीलता, उन पर आधारित इच्छाओं और सामाजिक तौर पर अर्जित इच्छाओं तथा रुचियों में भी जड़ पकड़े रहते हैं।"[5]

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि प्रेरणा व्यक्ति की वह जैविक और अर्जित मनःशारीरिक प्रक्रिया या 'चालक शक्ति' है जो कि व्यक्ति को किन्हीं प्राणीशास्त्रीय व सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति न होने तक क्रिया के लिये प्रेरित करती रहती है।

इस सम्बन्ध में आवश्यकता (need), प्रणोदन (drive) और उद्दीपन (incentive) के अन्तरों को भी समझ लेना आवश्यक होगा। आवश्यकता सावयव की एक विशेष असंतुलन की स्थिति होती है, जो कि एक विशेष चीज की माँग करती है। भोजन, जल, काम आदि जीवन की मूल-भूत आवश्यकतायें हैं। इनके अभाव में शरीर का सन्तुलन बिगड़ जाता है। यह आवश्यकता एक प्रणोदन को जन्म देती है। भोजन की आवश्यकता से भूख और काम की आवश्यकता से काम-प्रणोदन (sex-drive) की उत्पत्ति होती है। वातावरण की वह वस्तु जिससे प्रणोदन की तृप्ति होती है, उद्दीपक (incentive) कहलाती है, जैसे भूख प्रणोदन है तो भोजन उद्दीपक, क्योंकि भोजन द्वारा भूख की सन्तुष्टि होती है। इसी प्रकार काम-प्रणोदन (sex-drive) का उद्दीपक है विपरीत-लिंगीय प्राणी, क्योंकि उसी से यौन सम्बन्ध स्थापित करके काम की सन्तुष्टि की जाती है। 'आवश्यकता' और प्रणोदन से व्यक्ति की आन्तरिक अवस्था का बोध होता है, जबकि उद्दीपन बाह्य पर्यावरण में उपस्थित रहता है। परन्तु, इससे भी उल्लेखनीय एक बात और है। यह आवश्यक नहीं कि उद्दीपन (incentive) की उपस्थिति में व्यक्ति क्रियाशील हो ही, परन्तु प्रेरक (motive) की उपस्थिति में व्यक्ति क्रियाशील होता ही है, जैसे अगर हमें बिलकुल भूख न हो तो अच्छा से अच्छा खाद्य-पदार्थ देखकर भी हम क्रियाशील न होंगे, अर्थात् खाने का प्रयास नहीं करेंगे। इसके विपरीत भूख रहने पर भोजन देखते ही उसे हम खाने के लिए क्रियाशील हो उठेंगे। इसलिये श्री हिलगार्ड (Hilgard) ने प्रेरणा की क्रियाशीलता को निम्न सूत्र द्वारा समझाया है—आवश्यकता—प्रणोदन—उद्दीपन। आपके अनुसार, "आवश्यकता प्रणोदन को जन्म देती है। यह प्रणोदन तीव्र तनाव की एक स्थिति होता है जिसके फलस्वरूप क्रिया और आरम्भिक व्यवहार घटित होता है। उद्दीपन बाह्य पर्यावरण में विद्यमान कोई वस्तु होता है, जो आवश्यकता की सन्तुष्टि करता है और इस प्रकार प्रणोदन ऐसी आरम्भ की गई क्रिया को पूर्णता प्रदान करता है।"[6] और भी सरल शब्दों में श्री हिलगार्ड द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त सूत्र को इस प्रकार समझाया जा सकता है—आवश्यकता (need) प्रणोदन (drive)

को जन्म देती है, जिसके फलस्वरूप एक मन.शारीरिक तनाव अथवा असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, और यह तनाव तब दूर होता है जब किसी उद्दीपन (incentive) के द्वारा इस आवश्यकता की पूर्ति कर दी जाती है या तनाव दूर कर दिया जाता है।

प्रेरणात्मक क्रिया की विशेषतायें
(Characteristic of Motivational Activity)

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि प्रेरणा द्वारा उत्तेजित व्यवहार या क्रियाओं की अपनी कुछ विशेषतायें हैं जिन्हे कि हम निम्न रूप मे प्रस्तुत कर सकते हैं—

1. शक्ति-सचालन (Energy Mobilization)—हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि प्रेरणा की मन.शारीरिक (psychophysical) दशा इसलिये कहा गया है कि प्रेरणा की क्रियाशीलता का आरम्भ शारीरिक और रासायनिक परिवर्तन से होता है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य की मानसिक स्थिति मे भी परिवर्त्तन होता है और वह एक तनाव और बेचैनी का अनुभव करता है, अर्थात् अपने को एक असंतुलन की स्थिति में पाता है। इसी को आवश्यकता कहते हैं। इसी आवश्यकता से प्रणोदन (drive) की उत्पत्ति होती है, जो व्यक्ति को उस तनाव को दूर करने या सन्तुलन की स्थिति को पुनः स्थापित करने के लिये व्यक्ति को प्रेरित या उत्तेजित करती है। इस उत्तेजना के जागृत होते ही व्यक्ति में क्रिया करने के लिये आवश्यक शक्ति की एक लहर दौड जाती है। इसी को शक्ति-सचालन कहते हैं। यह शक्ति ही व्यक्ति को तब तक निष्क्रिय नही होने देती, जब तक कि लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाय। इसी शक्ति के बल पर वह इस प्रकार का कार्य भी कभी-कभी कर बैठता है जिसकी आशा दूसरों को तो क्या, उसे स्वय भी कभी नही होती। परीक्षा में प्रथम स्थान पाने की प्रेरणा से एक विद्यार्थी इतना परिश्रम करता है कि उसे देखकर दूसरे के साथ वह भी आश्चर्य में पड़ जाता है। इसी प्रकार कामोद्दीपक प्रेरणा व्यक्ति को इतना उत्तेजित कर सकती है कि उसे समस्त सामाजिक नियमों और श्लीलता के बन्धनो को पल भर में ही तोडने मे हिचकिचाहट नही होती है।

2. निरन्तरता (Persistence)—हम पहले ही लिख चुके हैं कि प्रेरक वृत्ति (motive) न केवल हमारे अन्दर प्रयासो को उत्पन्न करती है, बल्कि उन प्रयासो को तब तक निरन्तर क्रियाशील रखती है और निश्चित लक्ष्य की ओर निर्देशित करती रहती है जब तक खोये हुए सतुलन की प्राप्ति या उद्देश्य की पूर्ति न हो जाय। कभी-कभी तो यह निरन्तरता सालों तक चलती रहती है। जीवन मे उच्च स्थिति को प्राप्त करने की प्रेरणा से प्रेरित होकर बहुधा व्यक्ति तब तक बराबर परिश्रम करता रहता है जब तक कि उसे उच्च स्थिति प्राप्त नही हो जाती।

3. परिवर्तनशीलता (Variability)—प्रेरणात्मक क्रिया पशुओं की मूलप्रवृत्यात्मक व्यवहार की भाँति यंत्रवत् क्रिया नही होती। दूसरे शब्दों में, प्रेरणात्मक क्रिया मे लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जो प्रयत्न किये जाते है, उनमे आवश्यकतानुसार परिवर्त्तन होता रहता है। प्रयासों की यह परिवर्त्तनशीलता तब तक चलती रहती है, जब तक लक्ष्य की प्राप्ति नही हो जाती। उदाहरणार्थ, जीवन मे

उच्च स्थिति को प्राप्त करने की प्रेरणा से प्रेरित व्यक्ति अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये बीसों उपाय अपनाता है। कभी वह किसी प्रतियोगिता में भाग लेता है, तो कभी किसी परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिये जमीन-आसमान एक कर देता है; कभी बड़े-बड़े नेताओं की सिफारिशों के लिये जी-जान लगा देता है तो कभी अनुभवी व्यक्तियों से राय लेने के लिये उनके घर की खाक तक छान डालता है। यह सब काम वह उस विशेष प्रेरणा से प्रेरित होकर ही करता है। वह लक्ष्य-प्राप्ति के तरीकों को तब तक बदलता रहता है जब तक कि उसे सही रास्ता नहीं मिल जाता।

4. लक्ष्य प्राप्त करने की बेचैनी (Restlessness for Achieving the End)—उपर्युक्त विशेषता से ही यह स्पष्ट है कि व्यक्ति अपने प्रयासों में निरन्तर परिवर्तन इस कारण करता रहता है कि लक्ष्य-प्राप्ति करने के लिये वह अपने अन्दर एक बेचैनी अनुभव करता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। आवश्यकता उसके अन्दर एक मनःशारीरिक तनाव (tension) को उत्पन्न कर देती है। व्यक्ति अपने को एक असन्तुलन की स्थिति में पाता है। यह असन्तुलन या तनाव उसे स्थिर या चुपचाप बैठने नहीं देता है। वह लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये बेचैन हो उठता है। उदाहरणार्थ, *प्यासा का लक्ष्य पानी है। व्यक्ति, पीने को पानी न मिलने तक, प्यास* से बराबर बेचैन रहता है। कहा जाता है कि यह बेचैनी ही उसे लक्ष्य की प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयत्नशील बनाये रखती है। दूसरे शब्दों में, प्रेरणात्मक क्रिया में निरन्तरता (persistence) की जो विशेषता पायी जाती है, वह इस बेचैनी का ही फल है।

5. अनुकूलन क्रिया को समाप्त कर देता है (Adjustment Tends to Terminate Action)—प्रेरणात्मक क्रिया की समाप्ति उस अवस्था में होती है, जब लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है, अर्थात् बेचैनी खत्म हो जाती है और सावयव का अनुकूलन अपनी मनःशारीरिक अवस्थाओं के साथ हो जाती है। सर्वश्री शैफ़र, गिलमर तथा शोयन द्वारा प्रस्तुत परिभाषा की व्याख्या करते समय हम विषय को अच्छी तरह समझा चुके हैं। यहाँ केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि प्रेरणात्मक क्रिया में जो बेचनी होती है वह किसी वांछित वस्तु को प्राप्त करने के लिये भी हो सकती है और किसी अवांछित वस्तु से दूर रहने या उससे बचते रहने के लिये भी। पर, यह बेचैनी, चाहे वह किसी भी प्रकार की क्यों न हो, तब समाप्त हो जाती है जब आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है। उदाहरणार्थ, प्यास के कारण जो बेचैनी व्यक्ति अनुभव करता है, वह पानी पी लेने के बाद समाप्त हो जाती है, क्योंकि इसके बाद शरीर को पानी की आवश्यकता नहीं रह जाती।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि प्रेरणात्मक क्रिया या व्यवहार एक विशिष्ट व्यवहार होता है, जिसके अपने कुछ लक्षण होते हैं।

प्रेरकों का वर्गीकरण
(Classification of Motives)

मानव-व्यवहार की व्याख्या मनोवैज्ञानिकों ने अलग-अलग सिद्धान्तों के आधार पर की है। इन सिद्धान्तों में सभी ने प्रेरणा के महत्व को स्वीकार किया है, परन्तु प्रेरणा के स्वरूप और प्रकार के सम्बन्ध में उनमें अत्यधिक मतभेद है। दो-चार उदाहरणों द्वारा इस सत्य की पुष्टि की जा सकती है। श्री थॉमसन (M. K. Thomson) के अनुसार प्रेरकों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(अ) प्राकृतिक (natural) और (ब) कृत्रिम (artificial)। श्री थॉमस (Thomas) ने प्रेरकों को चार वर्गों में बाँटा है—(1) सुरक्षा (security), (2) प्रतिक्रिया (response), (3) प्रतिष्ठा (recognition) और (4) नवीन अनुभव (new experiences)। श्री शैफर (Shaffer) ने भी चार प्रेरणाओं को स्वीकार किया है—(क) पुष्टिकरण (conformity), (ख) विशिष्टता (mastery) (ग) आदत (habits) और (घ) संवेग (emotions)। इसके विपरीत श्री फ्रॉयड (Freud) ने दो ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ बतलायी हैं—(अ) जीवन-प्रवृत्ति (life instinct) और (ब) मृत्यु-प्रवृत्ति (death instinct)। इसी प्रकार श्री स्टैगनर (Stagner) ने (1) संग्रह, (2) प्रभुत्व (dominance), (3) रक्षा, (4) मूल्य (value) और (5) समुदाय-आत्मीकरण (group identification) ये पाँच प्रकार की प्रेरणाओं की चर्चा की है।

परन्तु, इन विवादों से दूर प्रेरकों की उत्पत्ति के आधार पर श्री एवं श्रीमती शेरिफ (Sherif) ने प्रेरकों को दो मोटे वर्गों में विभाजित किया है—(अ) जैविक प्रेरक (biogenic motives) और (ब) सामाजिक प्रेरक (sociogenic motives) जैविक प्रेरकों को जन्मजात् या प्राथमिक या बिना सीखे हुए प्रेरक (innate, primaey or unlearned motives) भी कहते हैं। इसी प्रकार सामाजिक प्रेरकों को अर्जित, गौण या सीखे हुए प्रेरक (acquired, secondary or learned motives) भी कहा जाता है। इन दोनों प्रेरकों के विषय में अब हम चर्चा करेंगे—

जैविक या अनर्जित प्रेरक

(Biogenic or Unlearned Motives)

जैविक-प्रेरक जन्मजात्, बिना सीखे हुए तथा स्वाभाविक प्रेरक होते हैं। ये वे प्रेरक हैं जो सावयव (organism) के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये अर्थात् जीवित रहने के लिये आवश्यक हैं। इसीलिये ये प्रेरक उन आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति हैं, जिनको लेकर ही व्यक्ति संसार में उत्पन्न होता है। इसीलिये इन्हें प्राथमिक (primary) बिना सीखे हुए (unlearned) या प्राणीशास्त्रीय (biological) प्रेरक कहते हैं। परन्तु, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन प्रेरकों की क्रियाशीलता पर सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इन जन्मजात् प्रेरकों पर भी अनुभवों, सामाजिक आदर्शों, रीति-रिवाजों, और सामाजिक मूल्यों आदि का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। प्रो० शर्मा ने उचित ही लिखा है कि भूख, प्यास, नींद, काम, आदि प्रेरक जन्मजात् या अनर्जित (unlearned) केवल इसी अर्थ में कहे जा सकते हैं कि ये व्यापार स्वतःसंचालित होते हैं। परन्तु, अनुभव के विकास के साथ-साथ इन जन्मजात् प्रेरकों में भी परिमार्जन होने लगता है। कुछ तो अनुभव और कुछ सामाजिक मूल्य, आदर्श, रीति-रिवाज या व्यक्तिगत अभिरुचि के फलस्वरूप जैविक प्रेरकों में भी विशिष्टता आने लगती है। भूख लगने पर भी एक शाकाहारी मांस देखने पर क्रियाशील नहीं हो सकता तथा हर जगह बैठकर भोजन नहीं कर सकता। इसी प्रकार एक कट्टर हिन्दू उन लोगों के साथ बैठकर खाना नहीं खा सकता जिनके सम्बन्ध में जातीय निषेध (caste restrictions) है। इसी प्रकार *काम-वासना का आधार भी शारीरिक है, परन्तु इसकी सन्तुष्टि के तरीकों,* पर भी सांस्कृतिक व सामाजिक रीति-रिवाजों, आदर्शों मूल्यों तथा व्यक्तिगत अभिरुचियों का प्रभाव पड़ता है। काम-वासना की तृप्ति के लिये एक विषमलिंगी की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु प्रत्येक विषमलिंगी के साथ सम्भोग प्रत्येक व्यक्ति नहीं कर सकता।

इसके लिये अनेक सामाजिक नियमों और निषेधों का पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य है। कुछ भी हो, जन्मजात् प्रेरकों पर सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभावों को स्वीकार करते हुए उनकी विवेचना हम प्राणीशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी कर सकते हैं। इसी दृष्टि से हम कुछ जन्मजात् प्रेरकों की चर्चा यहाँ करेंगे।

1. भूख (Hunger)—भूख न केवल एक जन्मजात् प्रेरणा है, अपितु एक जैविक आवश्यकता भी, क्योंकि बिना खाना खाये हमारे लिये जीवित रहना सम्भव नहीं है। भूख में पेट गति करता है। यह गति प्रति मिनट 10 से लेकर कभी-कभी 20 या 25 प्रति मिनट तक होती है। ऐसा भोजन न मिलने पर ही होता है। जब व्यक्ति को काफी समय तक कुछ खाने को नहीं मिलता तो उसके आमाशय की दीवारों की मांसपेशियों में सिकुड़न पड़ने लगती है और यही सिकुड़न पीड़ा की अनुभूति उत्पन्न करती है। भूख इसी अनुभूति को कहते हैं। अनेक प्रकार के प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ है कि भूख का रक्त की रासायनिक दशा से बड़ा निकट सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ, रक्त में शर्करा तत्व कम कर दिये जाने से भूख की अनुभूति होती है। परन्तु, यह नहीं कहा जा सकता कि भूख शरीर की रासायनिक दशा पर ही निर्भर है। शरीर में प्रोटीन, चर्बी तथा कार्बोहाइड्रेट आदि पदार्थों की कमी हो जाने से भूख लगती है। अनेक प्रकार के प्रयोगों से यह पता चलता है कि प्राणी को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं होती है कि उसे क्या खाना चाहिये और क्या नहीं। पशु तक देख कर और सूँघकर उचित भोजन का चुनाव करते हैं और अन्य चीजों को नहीं खाते। पर, इस चुनाव में अपनी-अपनी रुचियाँ भी महत्त्वपूर्ण योगदान करती हैं। देखा गया है कि चूहे आदि पशुओं में भी खाने के सम्बन्ध में अपनी रुचि होती है। मनुष्यों में खाने के चुनाव में गन्ध, स्वाद और शक्ल का विशेष प्रभाव देखने को मिलता है। इसी प्रकार खाने पर आदतों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। भूगोलवेत्ताओं का कथन है कि जिस क्षेत्र में जो अनाज उत्पन्न होता है, उसी के अनुसार खाने की आदत पड़ जाती है। उदाहरणार्थ, बंगाल में चावल अधिक उत्पन्न होता है, इसलिये वहाँ के लोग चावल अधिक खाते हैं, जब कि उत्तर प्रदेश और पंजाब में गेहूँ का उपयोग अधिक होता है, क्योंकि यहाँ गेहूँ अधिक पैदा होता है। कुछ भी हो, जब मनुष्य भूखा होता है तो वह भोजन प्राप्त करने के लिये क्रियाशील हो उठता है। भूख बढ़ने के साथ-साथ यह क्रियाशीलता उत्तरोत्तर तीव्र होती जाती है, यहाँ तक कि लोग गैरसामाजिक या गैरकानूनी तौर पर भी भोजन को प्राप्त करने को प्रवृत्त हो जाते हैं। व्यक्ति चोरी कर सकता है या अपने शरीर को बेचकर (अर्थात् वेश्या-वृत्ति करके) भी पेट भरने को तत्पर हो जाता है। भूख मनुष्य पर अनेक प्रकार के प्रभाव डालती है। उदाहरणार्थ, भूखे व्यक्ति का कोई भी कार्य करने में मन नहीं लगता। उसका सारा ध्यान भूख पर ही चला जाता है। उस वक्त उसे भोजन चाहिए, और कुछ भी नहीं। भोजन की चिन्ता में वह उन सब कार्यों को रोक देता है, जिनको सम्पन्न करने का बौद्धिक निर्णय वह पहले ही कर चुका है। ऐसे में विद्यार्थी का पढ़ने में दिल नहीं लगता और वह श्रम से जी चुराता है; यहाँ तक कि प्रेमिका के प्रति भी उदासीन हो जाता है जिसे वह कल तक जी-जान से चाहता रहा है। श्री बोमैन (Bowman) तथा उनके साथी ने अपने प्रयोग के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि "ऐसा विरला ही व्यक्ति मिला जिसने भुखमरी के अन्त तक प्रणय क्रिया को निरन्तर बनाये रक्खा हो। प्रफुल्लित रोमांस निष्प्राण हो गये; और कुछ व्यक्तियों को तो इस बात का आश्चर्य रहा कि वे अब तक किस प्रकार एक लड़की विशेष में इतनी रुचि रखते रहे।"7

2. प्यास (Thirst)—भूख की तरह प्यास भी एक शारीरिक आवश्यकता है, और प्रेरक के रूप मे यह भूख भी अधिक शक्तिशाली होता है। आदमी कुछ दिन तक भूखा रह सकता है, परन्तु अधिक समय तक प्यासा नही रह सकता। बहुत प्यासा व्यक्ति अत्यधिक बेचैन और क्रियाशील दिखाई पड़ता है। रक्त में पानी की कमी से रालवाही ग्रन्थियो मे पानी की कमी हो जाती है, जिसके फलस्वरूप मुंह में लार का बनना कम हो जाता है, और मुंह व गला सूख जाते हैं। इसीलिये पानी अथवा कोई तरल पदार्थ लेने की अत्यधिक इच्छा दिखाई पड़ती है। इस प्रेरणा का भी समाजीकरण हो जाता है। किस प्रकार का पानी पिया जाय, किन दर्तनो का पानी पीने के लिये उपयोग किया जाय, कहाँ से पीने का पानी उपलब्ध किया जाय—इन सब बातों का निर्धारण पारिवारिक या सामाजिक नियम व परम्परा के द्वारा होता है। कट्टर हिन्दू कॉच के गिलास में पानी पीना पसन्द नहीं करते, पीतल का लोटा या गिलास उनके लिये अधिक उपर्युक्त होता है।

3. काम (Sex)—प्रजनन-ग्रन्थियो अर्थात् पुरुषों मे वृषणो से और स्त्रियों मे डिम्भाशय से स्रवित होने वाले हार्मोन या रस यौन प्रेरणा का आधार होते हैं। काम की इच्छा प्रत्येक आयु-स्तर पर सक्रिय रूप मे नही मिलती, क्योंकि मनुष्य के विकास के साथ-साथ यौन इन्द्रियाँ भी विकसित होती, और तब कही मनुष्य में काम प्रेरणाएँ क्रियाशील होती हैं। इसीलिये छोटे उम्र के बालकों मे काम की प्रेरणा उभरी हुई नही होती। युवावस्था मे यह प्रेरणा तीव्र होती है और वृद्धावस्था में फिर दुर्बल पड़ जाती है। पशुओ मे इसके सक्रिय होने की विशेष ऋतुयें होती हैं। इन ऋतुओं मे मादा नर को स्वीकार करती है। जब काम की इच्छा बलवती हो,जाती है तो पशुओं मे सक्रियता बढ़ जाती है। मनुष्य के सम्बन्ध मे भी कुछ सीमा तक यह बात सच है। पर, प्रत्येक व्यक्ति में कामेच्छा एक समान नहीं होती है। उसमें बहुत कुछ व्यक्तिगत भिन्नतायें होती हैं। पर, इससे भी बड़ी बात यह है कि मनुष्यो में कामेच्छा का समाजीकरण होता है। पशुओ की भाँति उनमे यौन सम्बन्ध अनियंत्रित नहीं होता। सभी समाजो मे यौन सम्बन्धो को नियमित (regularize) करने तथा उन पर नियंत्रण पाने के लिए अनेक नियम, प्रथायें, परम्परायें आदि होती हैं। असभ्य जनजातियों तक में विवाह सम्बन्ध और तद्द्वारा यौन सम्बन्ध स्थापित करने के लिये अनेक नियम, परम्परायें आदि होती हैं, यद्यपि कुछ जनजातियो (tribes) में विवाह सम्बन्ध के बाहर भी यौन सम्बन्ध स्थापित करने की छूट है।

उपर्युक्त विशिष्ट शारीरिक प्रेरको के अतिरिक्त होमियास्टेसिस (homeostasis), तापक्रम का नियमन (regulation of temperature), निद्रा (sleep), शरीर से मूल-मूत्र, पसीने आदि के रूप मे व्यर्थ पदार्थों को निकालने की आवश्यकता भी पशु और मनुष्यो मे पाई जाती है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी आन्तरिक प्रेरणायें भी हैं, जो सामान्य रूप से प्राणियों मे पायी जाती है। श्री वुडवर्थ (Woodworth) ने इनको संकटकालीन प्रेरक (emergency motives) कहा है। इनमे से मुख्य हैं—पलायन, युयुत्सा, प्रभुत्व प्रेरक इत्यादि। इनके विषय मे हम 'मूलप्रवृत्ति' शीर्षक अध्याय मे चर्चा कर चुके हैं। अतः, यहाँ पर उन्हें फिर से दोहराने की आवश्यकता नही है। अब हम उन प्रेरकों के सम्बन्ध मे विवेचना करेंगे जिनको व्यक्ति समाज के सदस्य होने और संस्कृति मे भागीदार होने के कारण प्राप्त करता है।

सामाजिक या अर्जित प्रेरक
(Sociogenic of Learned Motives)

सामाजिक या अर्जित प्रेरक वे प्रेरक है जिन्हे व्यक्ति वंशानुसक्रमण के द्वारा नही, बल्कि सामाजिक परम्परा के माध्यम से प्राप्त करता है। ये प्रेरक जन्म से ही व्यक्ति में विद्यमान नहीं रहते, बल्कि इन्हे तो सीखना पड़ता है। इसीलिये ये प्रेरक जैवकीय विरासत (biological heritage) का एक भाग नहीं, अपितु सामाजिक विरासत (social heritage) का एक अंग होते हैं। इनका सम्बन्ध शरीर के आन्तरिक अवस्थाओ से नहीं, बल्कि पर्यावरण (environment) के बाहरी भाग से, या संक्षेप में, बाहरी वस्तुओं से होता है। इसीलिये श्री वुडवर्थ (Woodworth) ने इन्हे वैषयिक प्रवृत्तियाँ (objectve tendencies) कहा है। व्यक्ति जब जन्म लेता है तो वह केवल एक प्राणीशास्त्रीय प्राणी होता है। पर, समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा वह धीरे-धीरे एक सामाजिक मानव मे विकसित हो जाता है। इस विकास के दौरान व्यक्ति अनेक ऐसे प्रेरको को विकसित कर लेता है, जिनके द्वारा उसकी शरीर सम्बन्धी नहीं, अपितु सामाजिक व वैयक्तिक आवश्यकताओं या लक्ष्यो की पूर्ति सम्भव होती है। इन प्रेरको को हम दो मोटे भागो में बाँट सकते हैं—(i) सामान्य सामाजिक प्रेरणायें तथा (ii) वैयक्तिक सामाजिक प्रेरणाएँ। सामान्य सामाजिक प्रेरणाओं में प्रशसा और निन्दा (praise and blame), प्रभुत्व के प्रेरक, सामूहिकता, आत्म-गौरव, संचय-प्रवृत्ति, युयुत्सा आदि उल्लेखनीय है। इसी प्रकार वैयक्तिक सामाजिक प्रेरणाओं में जीवन-लक्ष्यों, आकांक्षाओ का स्तर, रुचियों, मनोवृत्तियो, आदतों का उल्लेख किया जा सकता है। इनके विषय मे संक्षेप में विचार कर लेना उचित होगा।

सामान्य सामाजिक प्रेरणायें
(General Social Motivations)

(1) प्रशंसा और निन्दा (Praise and Blame)—प्रशसा पाने की प्रवृत्ति और निन्दा से बचने की प्रवृत्ति लगभग सभी समाजो मे मानव-व्यवहार को प्रेरित करती है। प्रत्येक समाज मे कुछ ऐसे कार्य होते हैं जिन्हे करने वाले व्यक्तियो की प्रशंसा की जाती है और साथ ही कुछ ऐसे कार्य या व्यवहार भी होते हैं जिनको समाज मान्यता प्रदान नही करता और इसलिये जो लोग उन्हें करते हैं उनकी निन्दा की जाती है। व्यक्ति उन्ही कार्यों को करने के लिये अधिक प्रेरित होता है, जिनके करने से प्रशसा मिलती है, क्योंकि औरो से प्रशसा करने मे उसे आन्तरिक सन्तोष तथा खुशी का अनुभव होता है। बचपन से ही बालक में प्रशसा पाने और निन्दा से बचने की प्रवृत्ति और समाजीकरण के दौरान धीरे-धीरे विकसित होती रहती है। बच्चा ऐसे काम करना सीखता है जिससे माता-पिता या परिवार के अन्य सदस्यो का प्यार या दुलार उसे मिलता रहे, और ऐसे कामों से बचता है जिनके करने से उसे दण्ड भोगना पड़ता है।

(2) प्रभुत्व का प्रेरक (Mastery Motive)—इसे आत्मगौरव या आत्म-स्थापन (self-assertion) का प्रेरक भी कहते हैं। दूसरों के बीच अपने को सुस्थापित करना, दूसरों पर प्रभुत्व जमाना और इस प्रकार आत्मगौरव को बढ़ाने की प्रवृत्ति मनुष्य के व्यवहार को अत्यधिक प्रेरित करती है। यही कारण है कि प्रत्येक मानव-समूह मे हमें एक या एकाधिक नेताओं के दर्शन होते हैं; नेता और नेता में, नेता और अनुयायियों (followers) तक में एक दूसरे पर प्रभुत्व

पाने के प्रयत्न निरन्तर चलते हैं। इसी प्रयत्न का परिणाम यह होता है कि आज जो व्यक्ति एक साधारण नेता है, कल वह 'महान्' नेता बन बैठता है; और, आज जो अनुयायी है, कल वह नेता के पद को प्राप्त करके प्रभुत्व के प्रेरक की सन्तुष्टि करता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक श्री एलफ्रेड एडलर ने प्रभुत्व के प्रेरक को मानव-जीवन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रेरक माना है। उनके अनुसार मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य दूसरों पर प्रभुत्व पाने या उन पर हावी होने की चेष्टा करता है। श्री डार्विन (Darwin) ने लिखा है कि समस्त प्राणियों में 'जीवित रहने के लिये संघर्ष' (struggle for existence) निरन्तर हो रहा है और इस संघर्ष में सबसे योग्य प्राणी ही विजयी होता और जीवित रहता है (only the fittest shall survive)। परन्तु, मानव-समाज में प्रभुत्व को बढ़ाने के कुछ मान्य तरीके होते हैं, उन्हीं के अनुसार व्यक्ति को अपने इस प्रेरक को सन्तुष्ट करना होता है।

(3) युयुत्सा (Pugnacity or Aggressiveness)—युयुत्सा वह प्रवृत्ति है, जो लड़ाई करने या दूसरों पर आक्रमण करने को प्रेरित करती है। डॉ० मैक्डूगल का कथन है कि यह प्रवृत्ति प्राणी में जन्म से ही विद्यमान होती है। इसी प्रवृत्ति के कारण युद्ध होता है। परन्तु, प्रयोगात्मक आधार पर यह सिद्ध हो गया है कि युयुत्सा जन्मजात् नहीं, बल्कि एक अर्जित प्रवृत्ति है। युयुत्सा की प्रवृत्ति दो कारणों से पनपती है—(अ) शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा उपस्थित होने से, तथा (ब) ऐसी शिक्षा या परिस्थिति से जो व्यक्ति को लड़ना, झगड़ना सिखाती है। स्पष्ट है कि जब व्यक्ति की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में कोई बाधा उत्पन्न होती है तो वह उन सब तत्त्वों से लड़ने लगता है जो उसकी आवश्यकता की पूर्ति में बाधा डालते हैं। इसी प्रकार लड़ना-झगड़ना हम अपने समाज या संस्कृति से भी सीखते हैं। उदाहरणार्थ, एस्किमो जाति के लोग लड़ना-झगड़ना पसन्द नहीं करते, क्योंकि उनके समाज में लड़ाई-झगड़े को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। दूसरी ओर, न्यूगाईना की मुन्डगुमोर जनजाति बहुत ही लड़ने-झगड़ने वाली होती है।

(4) सामूहिकता (Gregariousness)—इस प्रवृत्ति के सम्बन्ध में भी हम 'मूलप्रवृत्ति' शीर्षक अध्याय में लिख चुके हैं। यह प्रेरणा मनुष्यों में ही नहीं पशुओं में भी पायी जाती है। पर, इसका तात्पर्य यह नहीं कि यह कोई जन्मजात् प्रवृत्ति है। यह तो एक सामाजिक प्रेरक है। मनुष्य की अनेक सामाजिक, जैविक एवं सांस्कृतिक आवश्यकतायें होती हैं। इन सब की पूर्ति वह स्वयं अकेले नहीं कर सकता। उसे दूसरों की सेवाओं की आवश्यकता पड़ती है, उसे दूसरों के साथ सहयोग करना पड़ता है। यह तभी हो सकता है जब कि वह समूह में रहे, अर्थात् दूसरों के साथ मिलकर रहे। उसकी सामाजिक व वैयक्तिक आवश्यकतायें उसे समूह में रहने को प्रेरित करती हैं। इसी प्रवृत्ति के कारण मनुष्य सामाजिक प्राणी बन सका है। श्री अरस्तू (Aristotle) ने लिखा है कि जो आदमी दूसरों के साथ मिल कर सामान्य जीवन व्यतीत करने में असमर्थ है, वह या तो मनुष्यत्व के निम्न स्तर में है या उच्च स्तर में, अर्थात् या तो वह पशु है या भगवान। इन सब का अर्थ यही है कि व्यक्ति सामूहिकता की प्रेरक शक्ति से प्रेरित होकर सामुदायिक जीवन व्यतीत करता है। वह अकेले रहना नहीं चाहता। एक साथ रहने से सुख और दुःख दोनों में एक दूसरे से सहायता मिलती रहती है तथा आनन्द, सतोष सुरक्षा की भावना बनी रहती है। ब्राजील में एक परिवार दूसरे से अलग रहना

चाहता है। इसी प्रकार मैडागास्कर की कुछ जनजातियाँ आपस में लड़ती-झगड़ती रहती है, और एक दूसरे से अलग रहती हैं। परन्तु, इसमें भी एक बात ध्यान देने योग्य है, और वह यह कि एक जनजाति या परिवार दूसरे से अलग रहता है, पर अपनी जन-जाति या परिवार के साथ तो रहता ही है। इसी से उसमें भी सामुदायिकता की प्रवृत्ति का होना प्रमाणित होता है।

(5) संचय की प्रवृत्ति (Acquisitiveness)—यह प्रेरणा भी समाज-जनित प्रेरणा है। इसका विकास बचपन से ही आरम्भ हो जाता है। बालक उन चीजों का संग्रह करता है जो उसे आकर्षित करती है और उसे प्रसन्नता व सन्तुष्टि प्रदान करती है। परन्तु, बालक जैसे-जैसे बड़ा होता है वह यह भी सीख जाता है कि जीवन के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये, सामाजिक व वैयक्तिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये तथा सामाजिक प्रतिष्ठा के लिये किन-किन चीजों की आवश्यकता होती है। उन्हीं चीजों को वह संग्रह करने की ओर प्रवृत्त होता है। पर, किन चीजों का वास्तव में संग्रह करना उचित होगा इसका निर्देश व्यक्ति को उसके समाज या संस्कृति से ही प्राप्त होता है। किसी समाज में ज्ञान-संचय पर बल दिया जाता है, किसी में पुण्य-संचय पर, तो किसी में धन-संचय पर। परन्तु, इस प्रेरणा को जन्मजात मानना गलत होगा, क्योंकि विभिन्न समाजों व व्यक्तियों में इस प्रवृत्ति के मात्रा-भेद व प्रकार-भेद देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में परम्परागत रूप में संचय की अपेक्षा दान देने की प्रवृत्ति को अधिक महान् माना जाता है। इसीलिये इस देश में सर्वत्यागी राजा हरिश्चन्द्र का जन्म सम्भव हुआ।

(6) आत्मरक्षा (Self-preservation)—आत्मरक्षा की प्रवृत्ति सभी समाजों में मानव-व्यवहार को प्रेरित करती है। श्री फ्रॉयड (Freud) के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति सन्तान उत्पन्न करके एक प्रकार से अपने को अमर बनाना चाहता है; अपना एक अंश देकर वह अपने को जीवित रखता है। आत्मरक्षा के लिये ही वह घर बसाता है, फसल उत्पन्न करता है, और युद्ध करने को तैयार हो जाता है। परन्तु, इस प्रवृत्ति पर भी समाज व संस्कृति का प्रभाव स्पष्टतः पड़ता है। जापान में आत्महत्या अपराध नहीं मानी जाती, क्योंकि वहाँ आत्मरक्षा से अधिक महत्त्व आत्म-सम्मान को देते हैं। भारतवर्ष में भी 'मरने के लिये जिन्दा रहने की अपेक्षा जिन्दा रहने के लिये मर जाने' पर अधिक बल दिया जाता है। इस आदर्श के अनुसार केवल आत्मरक्षा के लिये ही जीना मृत्यु के समान है, और दूसरों की रक्षा करने के लिये मरना अमरत्व को पा लेना है। इसी प्रकार आत्मरक्षा की पद्धति भी अलग-अलग समाजों में भिन्न-भिन्न होती है।

व्यक्तिगत सामाजिक प्रेरणाएँ
(Personal Social Motive)

उपर्युक्त सामान्य सामाजिक प्रेरणाओं के अतिरिक्त व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की वैयक्तिक (individual) प्रेरणायें भी विकसित कर देते हैं। अर्थात्, सामाजिक प्रेरणायें वे हैं, जो कि सामान्य रूप से एक समाज विशेष के सभी सदस्यों में देखने को मिलती हैं। इसके विपरीत व्यक्तिगत प्रेरणायें व्यक्ति विशेष के निजी व्यक्तित्व का एक तत्त्व हैं। इस कारण जो वैयक्तिक सामाजिक प्रेरणा एक व्यक्ति में है, यह जरूरी नहीं कि वह दूसरे व्यक्तियों में भी देखने को मिले। व्यक्तिगत प्रेरणाओं में इसी कारण भिन्नतायें होती हैं। उदाहरणार्थ, प्रत्येक व्यक्ति की आदत, मनोवृत्ति, आकांक्षा, जीवन का लक्ष्य आदि अलग-अलग ही होते हैं। फिर भी इनका

जालसाजी, चोरी, डकैती कुछ भी कर सकता है। अतः स्पष्ट है कि व्यक्ति के व्यवहार के निर्धारण में आकांक्षा का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

3. अभिरुचियाँ (Interests)—प्रत्येक व्यक्ति की अभिरुचियाँ अलग-अलग होती हैं। यह हो नहीं सकता कि दुनिया की सभी चीजों में एक व्यक्ति की रुचि हो। उसी प्रकार दो व्यक्तियों की अभिरुचियाँ बिलकुल एक समान नहीं होती। अभिरुचि व्यक्ति के व्यवहार पर अपना प्रभाव डालती है। जिस काम में हमारी विशेष रुचि होती है उसे हम तन-मन लगा कर करते हैं, पर जिस काम में रुचि नहीं होती है, उससे हम जी चुराते हैं। अभिरुचि हमारे ध्यान को भी उस ओर आकर्षित करती है, जिस ओर हमारी रुचि होती है। किसी वस्तु के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित होने पर उससे सम्बन्धित क्रिया की गतिशीलता भी बढ़ जाती है। हम उसे जल्दी से जल्दी प्राप्त करने के लिये तत्पर हो उठते हैं। इस सम्बन्ध में श्री स्ट्रांग (Strong) ने कहा है, "अभिरुचि में सुख का भाव तथा वस्तु को प्राप्त करने एवं उसके सम्बन्ध में कुछ करने की गतिशील प्रवृत्ति निहित रहती है।"

4. मनोवृत्तियाँ (Attitudes)—भिन्न-भिन्न व्यक्तियों, वस्तुओं तथा परिस्थितियों के प्रति प्रत्येक व्यक्ति की अलग-अलग मनोवृत्ति होती है। उसी मनोवृत्ति के आधार पर वह एक व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति के विषय में विचार करता और उसका मूल्यांकन करता है। यह विचार या मूल्यांकन उसके व्यवहारों को अत्यधिक प्रभावित करता है। उदाहरणार्थ, विधवा-विवाह के प्रति एक व्यक्ति की मनोवृत्ति यदि अनुकूल है तो यह आशा की जा सकती है कि अपने अथवा अपने पुत्र या विधवा पुत्री के विवाह के विषय में उसका व्यवहार भी विधवा-विवाह के पक्ष में ही होगा। इसी प्रकार हरिजनों के प्रति व्यक्ति की मनोवृत्ति हरिजनों के साथ उसके उठने-बैठने मेल-मिलाप, खान-पान सम्बन्धी व्यवहारों को निर्धारित करेगी।

5. आदतें (Habits)—आदतें भी शक्तिशाली व्यक्तिगत प्रेरक हैं। मनुष्यों के व्यवहार के निर्धारण में आदतों के महत्व को देखकर ही इसे 'मनुष्य की दूसरी प्रकृति' (second nature of man) कहा जाता है। आदत जितनी पुरानी होती जाती है, व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करने की उसकी शक्ति भी उतनी ही बढ़ती जाती है। अगर सुबह उठकर चाय पीने की आदत पड़ गई है तो बिना चाय पिये व्यक्ति को चैन नहीं मिल सकता। इसी प्रकार जिसे गाली देने की आदत पड़ गई है, लाख कोशिश करने पर भी उसके मुँह से गाली निकल ही जाती है, यहाँ तक कि वह अपने गुरुजनों को भी गाली दे बैठता है। गलत या बुरी आदतें पड़ जाने पर उससे पहुँचने वाले नुकसान को जानते हुए भी व्यक्ति उन्हें छोड़ नहीं पाता है। पर, आदत के महत्व को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। श्री जेम्स (James) के अनुसार "आदत समाज का विराट गतिपालक चक्र एवं उसका सर्वाधिक मूल्यवान संरक्षक है ......केवल आदत ही जीवन के कठोरतम और सहानुभूतिरहित रास्तों पर चलने के लिये तैयार, लोगों को इस प्रकार रोके रखती है कि वे उन रास्तों (अर्थात् कार्यों) को छोड़ नहीं पाते। वह जाड़े भर मछुए और नाविक को समुद्र पर रखती है; वह खान के अन्दर काम करने वालों को खान के अन्धकार में भी साधे रहती है, और बर्फ़ पड़ने के तमाम महीनों में गाँववासियों को उनकी झोपड़ी और एकान्त खेत में जमाये बैठाये रखती है।"[६]

6. नशाखोरी (Drug addiction)—नशाखोरी भी एक आदत ही है और इसीलिये इसे भी एक शक्तिशाली प्रेरणा समझा जाता है। इसका कारण यह है कि

शराब, भाँग, गाँजा, चरस, अफ़ीम, बीड़ी-सिग्रेट आदि किसी भी नशे की आदत पड़ जाने के बाद व्यक्ति उसमें बुरी तरह फँस जाता है, और फिर उसके बिना उसका काम नहीं चलता। साथ ही शराब, भाँग आदि की मात्रा भी दिन-प्रतिदिन बढ़ती चली जाती है। नशे की हालत में व्यक्ति अपने मानसिक सन्तुलन को खो बैठता है और उत्तेजना में वह अनैतिक, असामाजिक और गैर-कानूनी काम, यहाँ तक कि डकैती और हत्या तक कर डालता है। नशे की वस्तु खरीदने के लिये उसके पास जब पैसा नहीं होता है तो वह चोरी करता है या अन्य अनैतिक उपायों से पैसा प्राप्त करता है। ऐसे लोग नशाखोरी के लिये जीवन की बड़ी से बड़ी वस्तु को छोड़ने को प्रस्तुत रहते हैं।

7. अचेतन प्रेरणाएँ (Unconscious Motivations)—श्री फ्रायड (Freud) ने मानव-जीवन और व्यवहार में अचेतन प्रेरणाओं के महत्व पर विशेष बल दिया है। आपके अनुसार अचेतन मन मानव-मन का एक बड़ा भाग है। इस अचेतन मन की क्रियाएँ हमसे छिपी रहकर चेतन स्तर की बहुत-सी क्रियाओं को सचालित करती है। मानव-जीवन में इसका बड़ा महत्व है, क्योंकि इसके प्रभाव के कारण व्यक्ति दैनिक जीवन के बहुत से कार्यों को अचेतन रूप से करने के लिये प्रेरित होता है। स्वप्नों, विशेषकर दिवा-स्वप्नों (day-dreams) को अचेतन मन ही सचालित करता है। पर, केवल स्वप्नों को ही नहीं, सामान्य व्यवहारों को भी अचेतन प्रेरणाएँ प्रभावित कर सकती हैं। कोई बालक कभी पानी में डूबते-डूबते बचा। यह घटना उसके मन में इतने भय का सचार कर सकती है कि जीवन में वह नदी या तालाब, के पास तक जाने में डरता है, क्योंकि पानी में डूब जाने का भय उसके अचेतन मन में रहकर उसके सामान्य कार्यों को प्रभावित करता रहता है। अचेतन मन की क्रियाशीलता के कारण ही व्यक्ति की अन्तर्दृष्टि प्रखर होती है जिसके फलस्वरूप कला, साहित्य तथा विज्ञान में नये आविष्कार सम्भव होते हैं। अचेतन मन की प्रवृत्तियाँ ही मानव को नृत्य, गीत, चित्रकारी आदि ललित-कलाओं की प्रेरणा देती हैं, क्योंकि इनके माध्यम से दमित प्रवृत्तियों को सन्तोष मिलता है।

प्रेरणा-सम्बन्धी सिद्धान्त
(Theories Relating to Motivation)

इस सम्बन्ध में प्रेरणा से सम्बन्धित कुछ सिद्धान्तों का उल्लेख कर देना आवश्यक होगा। वे निम्न हैं—

1. मनोविश्लेषण या फ्रॉयड का सिद्धान्त (Psycho-analytic or Freudian Theory)—मनोविश्लेषण-सिद्धान्तों के प्रतिपादक श्री फ्रॉयड (Freud) हैं। आपके मतानुसार मन का 7/8 भाग अचेतनावस्था में, और केवल 1/8 भाग चेतनावस्था में रहता है। इसी प्रकार मनुष्य में कुछ प्रेरणाएँ या प्रवृत्तियाँ जन्मजात होती हैं, और व्यक्ति उन्हीं के अनुसार अपनी इच्छाओं की पूर्ति करना चाहता है। पर, सामाजिक नियम आदि उसके रास्ते में बाधक बन जाते हैं और मनुष्य की अनेक इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो पाती है। फलस्वरूप मन में निराशा जागृत होती है। यह निराशा अचेतन मन में चली जाती है और फिर अवसर पाते ही चेतन मन पर छाकर व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती है। तभी व्यक्ति विचित्र व्यवहार (जिसमें पागलपन भी सम्मिलित है) करने लगता है।

श्री फ्रॉयड के विचारानुसार सम्पूर्ण मानव-व्यवहार प्रेरणाओं से प्रेरित होता है। इसी कारण किसी भी व्यक्ति के व्यवहार को तब तक समझा नहीं जा सकता, जब तक कि उसकी प्रेरणाओं का विश्लेषण न कर लिया जाय। ये प्रेरणाएँ चेतन अथवा अचेतन हो सकती हैं। प्रबल प्रेरक प्राय. पूर्ण अथवा आंशिक रूप से अचेतन होते हैं। व्यक्ति के व्यवहार पर प्रेरणात्मक शक्तियाँ (motivational forces) प्रभाव डालती हैं। इन शक्तियों मे किसी भी समय संघर्ष (conflict) हो सकता है और इसका प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पड़ता है। इन संघर्षों का निपटारा जब ठीक ढङ्ग से हो जाता है और व्यक्ति मे पाये जाने वाली विरोधी आवश्यकताओं, इच्छाओं (wishes) तथा प्रवृत्तियों के बीच सामजस्य स्थापित हो जाता है तो उसका व्यक्तित्व सुनियोजित रूप से विकसित होता है।

श्री फ्रॉयड के अनुसार दो मुख्य मूलप्रवृत्तियाँ हैं—(1) जीवन-सम्बन्धी रचनात्मक मूलप्रवृत्ति (constructive life instinct), और (2) मृत्यु-सम्बन्धी विनाशात्मक मूलप्रवृत्ति (destructive death instinct)। ये दोनो मूलप्रवृत्तियाँ मनुष्य में जन्म से ही विद्यमान होती हैं तथा साथ-साथ रहती हैं। जीवन-सम्बन्धी मूलप्रवृत्ति जाति की सुरक्षा की प्रेरणा तथा काम-सम्बन्धी प्रेरणाओं की सन्तुष्टि मे सक्रिय रहती है, तथा युद्ध, हिंसा की प्रवृत्ति आदि मृत्यु-सम्बन्धी मूलप्रवृत्ति के अन्तर्गत आ जाती है।

श्री फ्रॉयड ने मन को दो प्रकार से बाँटा है। पहले प्रकार के विभाजन के अन्तर्गत आपने मन को तीन भागो मे इस प्रकार बाँटा है—चेतन (conscious), अवचेतन (sub-conscious) एव अचेतन (unconscious)। दूसरे प्रकार के विभाजन के अन्तर्गत भी मन को तीन भागो मे इस प्रकार बाँटा गया है—अबोधात्मा या इड (Id), बोधात्मा या इगो (Ego) तथा अबोधात्मा या सुपर इगो (super ego)। श्री फ्रॉयड का कहना है कि अबोधात्मा, बोधात्मा तथा आदर्शात्मा मे संघर्ष चलता रहता है। यह संघर्ष मन के तीनों स्तर—चेतन, अवचेतन तथा अचेतन मन में चलता रहता है, न कि किसी विशेष स्तर पर। इसी कारण श्री फ्रॉयड ने इसे मन के गतिशील पक्ष (dynamic aspect) की सज्ञा दी है। इस संघर्ष के निपटारे या समाधान का सीधा प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पड़ता है। इसी के फलस्वरूप स्वयं व्यक्तित्व भी गतिशील बना रहता है, अर्थात् उसमे परिवर्तन होते रहते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि अबोधात्मा, बोधात्मा तथा आदर्शात्मा को और भी अच्छी तरह समझ लिया जाय।

(i) अबोधात्मा (Id)—अबोधात्मा व्यक्ति की सब इच्छाओं व कामनाओं को जन्म देती है। यह अपनी सन्तुष्टि चाहती है। इसी कारण वास्तविकता से यह अपना कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ती है। इसे अपनी इच्छाओं और कामनाओ के अनुसार केवल सुख चाहिए, और कुछ भी नहीं। इस कारण अबोधात्मा पूर्ण रूप से सुखवादी सिद्धान्त (pleasure principle) पर आधारित रहती है। इसे उचित या अनुचित का कोई ज्ञान नहीं रहता है। यह तो केवल व्यक्ति मे कुछ वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा जागृत कर देती है, और उसकी सन्तुष्टि के लिये व्यक्ति को इस प्रकार प्रेरित कर देती है कि व्यक्ति प्रयास करने को बाध्य हो जाता है। इच्छा की पूर्ति के सम्बन्ध में अबोधात्मा अन्धी होती है; इसीलिये जिस वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा होती है, उसके सम्बन्ध में अबोधात्मा का निर्देश होता है, "छीन लो।" वस्तु

की प्राप्ति होनी चाहिये, चाहे वह किसी भी प्रकार से हो। तर्क या नीति का लदो धात्मा के लिये कोई महत्त्व नहीं है, अर्थात् यह मन का वह स्तर है जहाँ तार्किक व नैतिक पहलू अनुपस्थित रहते हैं।

(ii) बोधात्मा (Ego)—बोधात्मा की व्याख्या भी फ्रॉयड ने 'आत्म-चेतन बुद्धि' (self-conscious intelligence) के रूप में की है। अत: स्पष्ट है कि *बोधात्मा चेतन होती है। इस कारण वह वास्तविकता से निकट रूप से बहुत संबंधित* होती है। इसका निर्णय प्रत्यक्षीकरण (perception) के आधार पर होता है। बोधात्मा का निर्देश है, "प्रत्येक इच्छा का परिणाम सोच लो; न तो पूर्णतया सुखवादी बनो और न ही पूर्णतया आदर्शवादी; इन दोनों छोरों के बीच का रास्ता अपनाओ।" अतः स्पष्ट है कि बोधात्मा, अबोधात्मा और आदर्शात्मा के बीच का स्तर है। अबोधात्मा सुखवादी सिद्धान्त, चाहे वह अनैतिक ही क्यों न हो, का प्रतिपादन करती है। इसके विपरीत, आदर्शात्मा नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती है। इस प्रकार अबोधात्मा तथा आदर्शात्मा एक-दूसरे की विरोधी हैं। अतः इनमें संघर्ष होता रहता है और व्यक्ति अपने को एक द्वन्द्वात्मक स्थिति में पाता है। बोधात्मा इस द्वन्द्व को निपटाने की चेष्टा करती है। अतः मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित करने में बोधात्मा का बहुत हाथ रहता है। अबोधात्मा द्वारा इच्छाओं के परिणाम को बोधात्मा ही सोचती है, और साथ ही उन्हें आदर्शों के साथ समझौता करवाने के लिये *वास्तविकताओं के स्तर पर ले जाती है। आवश्यकता पड़ने पर* अबोधात्मा पर नियंत्रण भी करती है। इसीलिये इसे (बोधात्मा को) 'मन का मुख्य शासक' (chief-administrator of the soul) भी कहा गया है। एक उदाहरण द्वारा दर्शाया जा सकता है कि बोधात्मा किस प्रकार अबोधात्मा और आदर्शात्मा के बीच समझौता करवाती है, और वास्तविकता को देखते हुए, आवश्यकता पड़ने पर, किस प्रकार अबोधात्मा पर नियंत्रण भी करती है। उदाहरणार्थ, अबोधात्मा ने काम-प्रवृत्ति को जागृत कर दिया और यह निर्देश दिया कि अमुक स्त्री के साथ सम्भोग करके कामेच्छा की सन्तुष्टि कर लो, इस बात की परवाह मत करो कि वह स्थान कैसा है और कौन वहाँ पर उपस्थित है। इसके विपरीत, आदर्शात्मा यह कहेगी कि ऐसा करना अनैतिक है, ऐसा मत करो। बोधात्मा इन दोनों छोरों के बीच का रास्ता अपनायेगी ताकि द्वन्द्व का निपटारा हो जाये। इसके लिये बोधात्मा इस प्रकार का सुझाव देगी कि कामेच्छा की तुष्टि ऐसे ढङ्ग से की *जाय जो समाज द्वारा स्वीकृत हो,* अर्थात् उसने अबोधात्मा की इस बात को मान लिया कि कामेच्छा की पूर्ति होनी चाहिये, पर साथ ही आदर्शात्मा के इस निर्देश की अवहेलना नहीं की जानी चाहिये कि कामेच्छा की पूर्ति का ढंग अनैतिक या असामाजिक न हो। इस प्रकार यह उन दोनों में समझौता करवाती है या उनके झगड़े का निपटारा करवाता है। यह भी हो सकता है कि जब अबोधात्मा यह निर्देश दे रही हो कि अमुक स्त्री से फौरन सम्भोग कर लो, तो *बोधात्मा उसे वास्तविकता को* बतला दे कि 'यहाँ तुम्हें व्यभिचार करते हुए कोई देख लेगा, पुलिस आ जायेगी, तुम पकड़े जाओगे और तुम्हें सजा हो जायेगी; आगे कोई नहीं है, वहाँ देखा जायेगा।' इस प्रकार अबोधात्मा को समझा कर उसकी इच्छा का बोधात्मा दमन (repression) कर देती है, और इस दमित इच्छा को अचेतन मन में भेज देती है और फिर आगे बढ़ जाती है।

(iii) आदर्शात्मा (Super-ego)—मन का यह भाग पूर्णतया नैतिक

है। यह बोधात्मा से एक स्तर और ऊँचे पर इस अर्थ में है कि यह अबोधात्मा और बोधात्मा दोनों को ही नैतिकता, आदर्श एवं धर्म के बारे में अवगत कराती है।

अबोधात्मा, बोधात्मा और आदर्शात्मा तीनों में संघर्ष चलता रहता है। मनुष्य किस प्रकार का व्यवहार करेगा, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि इस संघर्ष में कौन विजयी होगा। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति प्यासा है, वह पानी पीना चाहता है। पर, कोई नल नहीं दिखाई दे रहा है, केवल एक लेमन-सोडा की दुकान है। अबोधात्मा कहेगी, "दुकान से लेमन की बोतल उठा कर पी लो।" बोधात्मा कहेगी, "अभी नहीं, दुकानदार को चले जाने दो या फिर पैसा देकर खरीद लो।" आदर्शात्मा कहेगी, "नहीं, चोरी से लेना बुरा है। अगर जेब में पैसा नहीं है तो चुप-चाप यहाँ से चले जाओ।" अतः इन तीनों मे संघर्ष होगा और व्यक्ति दुकान से लेमन की बोतल उठा कर पियेगा या दूकानदार के चले जाने तक इन्तजार करेगा या पैसा देकर लेमन खरीद कर पियेगा। या पैसा न होने पर चोरी से लेने को अनैतिक कार्य मानकर वहाँ से चला जायगा। यह इस बात पर निर्भर करेगा कि संघर्ष मे विजय अबोधात्मा की होती है या बोधात्मा की या आदर्शात्मा की। अतः स्पष्ट है कि व्यक्ति के व्यवहार को समाज द्वारा मान्य स्तर पर लाने या उसका समाजीकरण करने में आदर्शात्मा का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। वह बोधात्मा द्वारा उत्पन्न इच्छाओं को धर्म, आदर्श, नैतिकता और सामाजिक नियमों से परिचित करवाती हैं और उन्हें सामाजिक साँचे में ढालती है। यही कारण है कि भूख लगने पर भी एक ब्राह्मण शूद्र का पकाया हुआ भोजन करने से इन्कार कर देता है या चुरा कर भोजन करने का प्रयत्न नहीं करता।

इसके अतिरिक्त बोधात्मा द्वारा वास्तविकता या बाह्य वातावरण का बोध करवाने से तथा आदर्शात्मा द्वारा सामाजिक नियमों, धर्म, आदर्श, नैतिकता आदि पर बल देने के फलस्वरूप अबोधात्मा द्वारा उत्पन्न अनेक इच्छाओं की पूर्ति मौलिक रूप में नहीं हो पाती, जिससे कि व्यक्ति के मन में निराशा (frustration) छा जाती है। यह निराशा या दबी हुई इच्छाएं अचेतन मन मे चली जाती हैं, वहाँ विद्यमान रहती हैं, और अवसर पाते ही चेतन मन मे आकर व्यक्ति के व्यवहार को, प्रभावित करती हैं। इस प्रभाव के कारण ही व्यक्ति कुछ कहता या करता है। इसी प्रभाव के कारण व्यक्ति अस्वाभाविक व्यवहार भी कर सकता है, जिसकी चरम अभिव्यक्ति उसका पागल हो जाना होता है। इसी प्रकार यह भी देखा गया है कि दबी हुई इच्छा, अवसर पाते ही इस प्रकार अचानक व्यक्ति के व्यवहार पर छा जाती है कि व्यक्ति उसी इच्छा की पूर्ति मे तत्काल ही लग जाता है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति एक स्त्री पर मोहित हो जाता है और उसमे कामेच्छा तीव्र रूप में जागृत होती है, पर बोधात्मा और आदर्शात्मा के अनुशासन के कारण वह उस इच्छा की तुष्टि नहीं कर पाता। उस अवस्था में वह दबी हुई इच्छा अचेतन मन में चली जाती और वहाँ विद्यमान रहती है। दूसरे किसी अवसर पर उसी स्त्री को एकान्त में देखकर और पाकर दबी हुई इच्छा एकदम उभर आती है और व्यक्ति पर इतना बलपूर्वक दबाव डालती है कि व्यक्ति बिना आगा-पीछा सोचे ही उस स्त्री के साथ व्यभिचार कर बैठता है, चाहे अपने इस कार्य के लिये उसे कोई भी मूल्य क्यों न चुकाना पड़े या कितना ही पछताना क्यों न पड़े।

श्री फ्रॉयड के मतानुसार मानव के समस्त व्यवहार का आधार काम-प्रेरणा (sex-motive) है, जिसे कि उसने 'लिबिडो' (libido) के नाम से पुकारा है। उनके अनुसार मनुष्य का सामाजिक व्यवहार ही नहीं, अपितु समस्त मानव-व्यवहार (जिसमें वैयक्तिक व्यवहार भी सम्मिलित है) का आधार 'लिबिडो' ही है। यहाँ तक कि स्वप्न आदि का आधार भी 'लिबिडो' है। मनुष्य की महत्त्वाकांक्षाएँ, समाज के उच्च आदर्श, मूल्य व मान्यताएँ, रुचियाँ और विचार सभी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से मानव की इसी एक प्रेरणा की सन्तुष्टि के साधन मात्र हैं। दैन्य (submission), आत्म-गौरव (self-assertion), पुत्रकामना (parental instinct) आदि जिन प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं की आवश्यकता सामाजिक जीवन में होती है, उन सभी को श्री फ्रॉयड 'लिबिडो' का ही अप्रत्यक्ष स्वरूप मानते हैं।

श्री फ्रॉयड के सिद्धान्त की विद्वानों ने कई आधार पर आलोचना की है, जिनमें से सर्वप्रमुख यह है कि आपने मौलिक या मूलप्रवृत्यात्मक शक्तियों और इच्छाओं को आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्रदान करने की गलती की है। उनके अनुसार समस्त सीखी हुई या अर्जित प्रेरणाओं का आधार जैविक है और वे केवल मौलिक इच्छाओं का परिमार्जित रूप हैं। अतः अर्जित या सामाजिक प्रेरणाओं का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व हो ही नहीं सकता। पर यह सोचना गलत है, क्योंकि अनेक व्यक्तिगत सामाजिक प्रेरणाओं का आधार वास्तव में सामाजिक शिक्षा व अनुभव ही होता है। उसी प्रकार श्री फ्रॉयड ने मन के अचेतन पहलू पर अत्यधिक जोर डालने की गलती की है। उन्होंने अचेतन प्रेरकों को इस भाँति प्रस्तुत किया है जैसे कि मानव-व्यवहार में तर्क और बुद्धि का कोई स्थान ही न हो। बुद्धिवादी मानव के व्यवहार से तर्क और बुद्धि को पूर्णतया निकाल फेंकना उसकी समस्त प्रगतियों को अस्वीकार करना होगा।

2. क्षेत्रीय मनोविज्ञान का गेस्टाल्टवादी सिद्धांत (Gestaltic Theory of Field Psychology)—इस सिद्धान्त के प्रतिपादक श्री कुर्ट लेविन (Kurt Lewin) हैं। इनके अनुसार इच्छायें एवं प्रेरणायें अनेक होती हैं। ये सब एकसाथ मिलकर व्यक्ति के चारों ओर एक घेरा-सा बनाती हैं। पर, व्यक्ति के चारों ओर एक घेरा और होता है और वह है समाज और पर्यावरण (environment) का क्षेत्रीय घेरा। इस प्रकार व्यक्ति का जीवन व व्यवहार दो घेरों (एक तो इच्छाओं, प्रेरणाओं आदि का घेरा और दूसरा समाज व पर्यावरण का घेरा) के बीच पलता है। दूसरा घेरा या क्षेत्र काफी विस्तृत होता है और उसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव प्रथम घेरे या क्षेत्र पर पड़ता है। व्यक्ति अपनी इच्छाओं, प्रेरणाओं आदि से प्रेरित होकर एक विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति करना चाहता है, पर बाहरी घेरा उस उद्देश्य की पूर्ति में रुकावटें डालता है। इन रुकावटों का सामना करने के लिये व्यक्ति अपने व्यवहार में अन्तर ले आता है और उसे एक निश्चित दिशा में मोड़ देता है। स्पष्ट है कि यह दिशा-परिवर्तन पर्यावरण और समाज के प्रभाव के कारण ही घटित होता है। दूसरे शब्दों में, इस सिद्धान्त के अनुसार मानव की इच्छाओं, कामनाओं तथा प्रेरणाओं पर समाज व पर्यावरण का प्रभाव स्पष्ट रूप में ही पड़ता है और व्यक्ति इस प्रभाव को टाल नहीं सकता है, क्योंकि वह न केवल अपनी इच्छाओं और प्रेरणाओं से, बल्कि समाज व पर्यावरण से भी घिरा हुआ है।

3. प्रकार्यात्मक स्वायत्तता का सिद्धान्त (The Theory of Functional

Autonomy)—इस सिद्धान्त के प्रतिपादक श्री जॉन डीवी (John Devey) हैं। इनके अनुसार, मानव-व्यवहार के सन्दर्भ में आदतों (habits) की दो उल्लेखनीय विशेषतायें है—प्रथम तो यह है कि ये गतिशील रहते हुए व्यक्ति के लिये कुछ कार्य (function) करती हैं, अर्थात् उसके किसी उद्देश्य की पूर्ति मे सहायक होती हैं, और, द्वितीय यह कि व्यक्ति के व्यवहार पर इनका स्वशासन रहता है, अर्थात् आदतें व्यक्ति के विचार, कल्पना एवं सीखने पर प्रभाव डालती हैं और व्यक्ति का व्यवहार बहुत कुछ उनके द्वारा नियंत्रित या शासित रहता है। पहले-पहल आदतें एक उद्देश्य की प्राप्ति के साधन के रूप मे विकसित होती हैं, पर बाद में ये साधन अर्थात् आदतें स्वयं ही उद्देश्य बन बैठती हैं और उस अवस्था मे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अर्थात् आदतों की सन्तुष्टि के लिये व्यक्ति एक विशेष प्रकार का कार्य करने को बाध्य हो जाता है। इस प्रकार आदतें व्यक्ति के व्यवहार पर शासन करती हैं, क्योंकि जब व्यक्ति को किसी चीज की आदत पड़ जाती है तो वह उस समय तक सान्त्वना नहीं पाता जब तक कि आदत कि सन्तुष्टि नहीं हो जाती।

परन्तु, इस सिद्धान्त के आधार पर सम्पूर्ण मानव-व्यवहार की व्याख्या नही हो सकती है, क्योकि मानव के व्यवहार पर केवल आदतों का ही नहीं, अन्य अनेक कारकों का भी प्रभाव पड़ता है।

निष्कर्ष (Conclusion)

मानव-व्यवहार के निर्धारण में प्रेरकों के महत्त्व को अस्वीकार नही किया जा सकता, पर उन्हें ही सब कुछ मान लेना भी उचित न होगा। सामाजिक जीवन में कोई भी प्रेरणा अपने मूल या मौलिक रूप में बनी नहीं रह सकती। उस पर सामाजिक अनुभवो, शिक्षा, परम्पराओं आदि का प्रभाव पड़ता ही है। इसीलिये ये प्रेरणायें एक समाज से दूसरे समाज मे भिन्न होती हैं, क्योकि तमाम समाजों की सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियाँ एकसमान नहीं होती। यही कारण है कि श्री किम्बल यंग ने प्रेरणाओं को सीखी हुई चालक शक्ति के रूप में देखा है, जबकि जैविक आवश्यकताओं से उत्पन्न उत्तेजना या शक्ति को प्रणोदन (drive) की संज्ञा दी है। वास्तव मे जिसे हम प्रेरक शक्ति कहते हैं, वह दूसरों से सीखी हुई भी होती है, और एक अर्थ मे उस समाज या समूह के द्वारा तैयार रूप में भी व्यक्ति को मिल सकती है। यदि व्यक्ति शिक्षकों के समूह मे रह रहा है तो उसे पढ़ने-लिखने की प्रेरणा निरन्तर मिलती रहेगी; पर यदि वह गिरहकटो के समूह मे रहने लगे तो उसे गिरहकट बनने के लिये प्रेरणा प्राप्त होती रहेगी, वहाँ रहते हुए पढ़ने-लिखने की प्रेरणा का अनुभव वह नहीं कर पायेगा। वास्तव में मानव-व्यवहार के निर्धारण मे जैविक, सामाजिक और सांस्कृतिक कारकों का इस प्रकार अन्तःक्रियात्मक सम्बन्ध व अन्तःनिर्भरता होती है कि इनमें से किसी को भी अलग करके व्यक्ति के व्यवहार की व्याख्या सम्भव नही है। श्री लॉवलोर्ड ने उचित ही लिखा है कि "सृष्टि के मानवो के अनन्त प्रकार जो-जो और जितनी तरह की इच्छायें अपने मनों में रखते हैं, उनकी स्पष्ट विवेचना के लिये न चार इच्छायें काफी हैं, न अठारह मूलप्रवृत्तियाँ, और न इनके विविध और व्यापकतम गठबन्धन।"[3]

सीखने का अर्थ
(Meaning of Learning)

'सीखने' के अन्तर्गत इतनी अधिक क्रियायें आती हैं कि उनको किसी निश्चित परिभाषा में बांधना कठिन है। फिर भी, विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इसे परिभाषित करने या इसके अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। दृष्टिकोण की यह विभिन्नता निम्नलिखित रूप में अलग-अलग विभागों में बाँट कर समझी जा सकती है—

1. सीखना व्यवहार में परिवर्तन है—श्री गिलफोर्ड (Guilford) के अनुसार, "हम इस शब्द की परिभाषा विस्तृत रूप में यह कहकर कर सकते हैं कि सीखना, व्यवहार के परिणामस्वरूप, व्यवहार में कोई न कोई परिवर्तन है।"[1] इस परिभाषा में, सीखने की प्रक्रिया में, सामाजिक अन्तःक्रियाओं पर विशेष बल दिया गया है। एक व्यक्ति के व्यवहार में दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार के कारण यदि कोई परिवर्तन होता है तो उसे हम सीखना कहते हैं। सीखने की प्रक्रिया दूसरे के व्यवहार से सम्बन्धित होती है, क्योंकि यह एक सामाजिक प्रक्रिया है। व्यक्ति शून्य में कुछ भी नहीं सीख सकता, वास्तविक सामाजिक परिस्थितियों में या अन्य जनों की दुनिया में ही रह कर उसे सब कुछ सीखना पड़ता है। कोई भी व्यक्ति एक सम्पूर्ण पृथक् सामाजिक इकाई नहीं होता, वह तो सामाजिक दुनिया की एक अविच्छिन्न कड़ी मात्र होता है, जो उसे अन्य असंख्य व्यक्तियों से जोड़ती है। इसीलिए एक व्यक्ति का व्यवहार दूसरों के व्यवहारों द्वारा प्रभावित होता है और उस प्रभाव के परिणामस्वरूप जब उस व्यक्ति के व्यवहार में कोई परिवर्तन होता है या वह कोई नया व्यवहार अर्जित करता है तो उसे 'सीखना' कहते हैं। श्री गिलफोर्ड ने अपनी परिभाषा में इसी बात को समझाने का प्रयत्न किया है।

श्री किम्बल यङ्ग (Kimball Young) के अनुसार सीखने का अर्थ व्यक्ति की प्रतिक्रिया-व्यवस्था (response system) में होने वाले परिवर्तन हैं, जो नवीन उत्तेजनाओं तथा पुरानी या नयी प्रतिक्रियाओं से जान-बूझकर या अनजाने में (अचेतन रूप में) सम्बन्धित होने से उत्पन्न होते हैं।[2] श्री किम्बल यङ्ग ने लिखा है कि सीखने का सम्बन्ध व्यक्ति की उत्तेजना-प्रतिक्रिया-व्यवस्थाओं (stimulus response systems) में होने वाले कतिपय परिवर्तनों से है। हम सीखकर इस प्रकार का व्यवहार करते हैं जैसा पहले नहीं करते थे।[3] आज हमें टाइप करना नहीं आता, पर कुछ दिनों के बाद टाइप-मशीन के प्रति हमारी प्रतिक्रिया इस तरह की हो सकती है कि हम यह अनुभव करने लगें कि हमें टाइप करना आता है। यह तो जान-बूझ कर सीखने का एक उदाहरण है। अनजाने में भी व्यक्ति प्रतिक्रिया करता, और उसके फलस्वरूप कुछ सीख जाता है। उदाहरणार्थ, बच्चा दूसरों को देखादेखी गुरुजनों को प्रणाम करता है—बिना यह जाने कि प्रणाम का क्या अर्थ है; और उसके द्वारा भी दूसरों के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित की जा सकती है। पर अनजाने में की गई इस प्रतिक्रिया से भी बच्चा गुरुजनों के प्रति श्रद्धा-प्रदर्शन का तरीका सीखता है। प्रत्येक प्रकार का सीखना पर्यावरण के साथ व्यक्ति के अनुकूलन की प्रक्रिया को सरल बनाता है। इसीलिये श्री यङ्ग ने एक दूसरे स्थान पर लिखा है—"सीखना व्यक्ति की अनुकूलन-प्रणाली में होने वाले उन परिवर्तनों को कहते हैं जो पर्यावरण में उत्पन्न उत्तेजनाओं पर निर्भर होते हैं।"[4]

(2) सीखना व्यवहार का संगठन है—श्री गैरेट (Garett) के अनुसार, "सीखना वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम प्रतिक्रियाओं को नई आदतों में सगठित करते हैं ।" इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि प्रतिक्रियाओं को नयी आदतों में सगठित करने की प्रक्रिया को ही सीखना कहते हैं। इस प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति अपने व्यवहार के बिखरे तत्वों को एक क्रमबद्ध व व्यवस्थित रूप प्रदान करता है। यह व्यवस्थित रूप ही नयी आदत के रूप में प्रकट होते हैं। श्री गिलफोर्ड (Guilford) ने लिखा है कि सीखने का अर्थ सदैव व्यवहार का संगठन है। एक साधारण उदाहरण के द्वारा इसे और भी स्पष्ट रूप से समझाया जा सकता है। यदि कोई बालक लिखना सीखना चाहता है तो उसे अक्षर-ज्ञान करना, कलम पकड़ना, अक्षर लिखना, अक्षरों को मिलाना, आदि विभिन्न क्रियाओं का सगठन करना पड़ता है। यों यह सच है कि इन क्रियाओं का सगठन वह बालक प्रथम प्रयास में ही नहीं कर पाता, और इनके लिये उसे निरन्तर प्रयत्न करते रहना पड़ता है। कुछ दिन तो वह ठीक से कलम तक नहीं पकड़ पाता; कलम पकड़ना आ जाता है तो अक्षर टेढ़े बनते हैं; और, अक्षर ठीक बन गये तो उन अक्षरों को मिलाकर एक शब्द बनाना नहीं आता, आदि। परन्तु, वह बालक लिखना सीख गया है, यह बात हम तभी कहेंगे जबकि वह इन सब अलग-अलग क्रियाओं का संगठन कर सकेगा। अतः 'सीखना' व्यवहार का सगठन है।

(3) 'सीखना' नयी क्रियाओं का पुष्टिकरण है—श्री वुडवर्थ (Woodworth) के अनुसार, "सीखने का अर्थ है कोई नया काम करना सीखना, बशर्ते कि नयी क्रिया निरन्तर बन पकडती जाय, और बाद के क्रियाकलापों में नये सिरे से प्रकट हो।"[5] इस परिभाषा को आगे और भी स्पष्ट करते हुए श्री वुडवर्थ ने लिखा है कि 'पुष्टिकरण' भी सीखने की क्रिया का एक अनिवार्य अंग है, क्योंकि सीखने की प्रक्रिया में केवल सफल प्रतिक्रियायें बच जाती हैं और असफल प्रतिक्रियायें निकल जाती हैं। उदाहरणार्थ, साइकिल सीखने की प्रक्रिया में व्यक्ति कई बार गिरता भी है, अर्थात् हैण्डिल का सन्तुलन (balance) करने में वह असफल रहता है; पर साथ ही अनेक बार वह इस सन्तुलन को बनाये रखने में सफल भी होता है, और बिना गिरे भी साइकिल चला लेता है। इस दूसरी स्थिति में सफल अनुक्रिया है, असफल अनुक्रिया नहीं; अर्थात् साइकल से गिरने वाला तत्त्व वह सीखने की प्रक्रिया से निकाल देता है और केवल उसी प्रक्रिया को बनाये रहता है जिसमें वह बिना गिरे साइकिल को सफलतापूर्वक चला सके। इसी सफल प्रक्रिया को वह अपने बाद की क्रियाओं में (अर्थात् भविष्य में वह जब-जब साइकिल चलाता है) पुनः दोहराता या प्रकट करता है। अतः सीखने की प्रक्रिया तब तक सम्पूर्ण नहीं समझी जायेगी, जब तक कि कोई नया कार्य, व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यवहार-प्रतिमान (behaviour pattern) में इस प्रकार जमकर बैठ न जाये कि बाद की क्रियाओं में वह पुनः प्रकट हो।

4. सीखना अभ्यास द्वारा व्यवहार में स्थायी परिवर्तन लाना है—श्री बर्न हर्ट (Bern Hardt) के अनुसार, "एक परिस्थिति-विशेष में किसी एक उद्देश्य की प्राप्ति करने अथवा किसी समस्या को सुलझाने के प्रयास में अभ्यास द्वारा एक व्यक्ति के कार्य में बहुत-कुछ स्थायी परिवर्तन लाये जाने को सीखना कहते हैं।"[6] श्री किम्बल यंग (Kimball Young) का भी मत है—"सामाजिक 'सीखना' कुशलताओं, तथ्यों और मूल्यों को अर्जित करने की ओर संकेत करता है; और यह कार्य दूसरे व्यक्तियों के सम्पर्क में रहकर अभ्यास के द्वारा किया जाता है।"[7]

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि अपने सम्पूर्ण पर्यावरण की विभिन्न अवस्थाओं से अनुकूलन करने के लिये एक व्यक्ति के द्वारा समाज के सदस्य के रूप में, नये व सुस्थिर व्यवहार-प्रतिमानों को अर्जित करने की प्रक्रिया को ही मानव-सीखना (human learning) कहते हैं।

सीखना और परिपक्वता
(Learning and Maturation)

श्री किम्बल यंग की उपर्युक्त परिभाषा में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि परिपक्वता (maturation) के कारण व्यवहार में होने वाले परिवर्तन को हम उस परिवर्तन से पृथक् मानते हैं जो कि सीखने के कारण होता है। परन्तु, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि परिपक्वता का कोई भी सम्बन्ध सीखने की प्रक्रिया से नहीं है। वास्तव में परिपक्वता का कुछ न कुछ हाथ सीखने मे होता ही है। बहुत छोटे बच्चे से हम यह आशा नहीं कर सकते कि वह साइकिल चलाना या टाइपराइटर पर टाइप करना सीख जायेगा। इसके लिये एक न्यूनतम परिपक्वता की आवश्यकता होगी, अर्थात् उसके हाथ-पैरों, अन्य मांसपेशियों तथा मस्तिष्क का इतना विकास हो ही जाना चाहिये कि वह सीखने की प्रक्रिया मे भाग ले सके। साथ ही, ऐसे भी, अनेक व्यवहार या क्रियायें होती हैं, जिनमें यह निश्चित करना कठिन होता है कि वे परिपक्वता का परिणाम हैं य सीखने का। वास्तविकता तो यह है कि मानव की अधिकांश क्रियाएँ परिपक्वता और सीखने की जटिल प्रक्रियाओं की पारस्परिक अन्त क्रियाओं का परिणाम होती हैं। बालक के भाषा सीखने का ही उदाहरण लीजिए। यह ठीक है कि बालक जब तक परिपक्वता की ओर एक विशेष अवस्था या आयु पर नहीं पहुँच जाता, तब तक भाषा नहीं सीख सकता। परन्तु, केवल आयु प्राप्त कर लेने से ही उसको भाषा नहीं आ जाती, बल्कि उसको भाषा सिखाई जाती है।

सीखना और परिपक्वता के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे मे एक बात और स्मरणीय है, और वह यह है कि सीढ़ी पर चढ़ना, हाथ से भोजन खाना आदि, जो क्रियायें सभी मानव-प्राणियो मे किसी विशेष आयु पर प्रकट होती हैं, ये परिपक्वता के कारण होती हैं। जो अन्य क्रियायें सभी मानव-प्राणियो में आवश्यक रूप में प्रकट नहीं होती, वे परिपक्वता की क्रिया से केवल इस सीमा तक ही प्रभावित होती हैं कि परिपक्व आयु मे वे अधिक सरलता से सीखी जा सकती हैं। इस प्रकार की क्रियाओ के उदाहरण तैरना, घोडा दौडाना, पेड़ पर चढ़ना, आदि हैं। इसीलिये बहुत-सी क्रियाओ को परिपक्वता की अवस्था आने से पहले बालक को जबरदस्ती सिखाने का प्रयास करना उचित नहीं माना जाता, क्योंकि इस प्रकार का सीखना उसके व्यक्तित्व का एक स्थायी अंग नहीं बन पाता। यही कारण है कि जिन कम आयु वाले बच्चो को माता-पिता खूब मेहनत व अभ्यास करवा कर ऊँची कक्षाओ मे भर्ती करा देते हैं, वे आगे चलकर ऊँची कक्षाओं में पढ़ाई-लिखाई में कमजोर बने रहते हैं।

मानव के सीखने में कारक
(Factors in Human Learning)

अभी तक की विवेचना से यह स्पष्ट है कि मानव की सीखने की प्रक्रिया कोई सरल प्रक्रिया नहीं है, इसीलिए इस प्रक्रिया मे एकाधिक कारकों का योगदान रहता है। इन कारकों को हम मोटे तौर पर निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

(i) मनोवैज्ञानिक कारक।
(ii) शारीरिक कारक।
(iii) भौतिक कारक।
(iv) सामाजिक कारक।

इनमें से प्रत्येक कारक के एकाधिक महाकारक होते हैं, जिनकी विवेचना एक क्रम से कर लेना उचित होगा।

सीखने में मनोवैज्ञानिक कारक
(Psychological Factors in Learning)

सीखना एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसमें मानव-व्यक्तित्व में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन इस अर्थ में होता है कि उसमें अनेक नये व्यवहार जुड़ते जाते हैं। अतः सीखने की प्रक्रिया में अनेक मनोवैज्ञानिक कारकों का योगदान रहता है। ये मनोवैज्ञानिक कारक इस प्रकार हैं–

(क) प्रणोदन (Drives)—श्री किम्बल यंग (Kimball Young) ने प्रणोदन की परिभाषा करते हुए लिखा है—"प्रणोदन एक शक्तिशाली उत्तेजना है, जो सावयव के कुछ असंतुलन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है और प्रतिक्रिया को प्रेरित करती है। कोई भी उत्तेजना (stimulus) काफी शक्तिशाली होने पर प्रणोदन हो सकती है; और उत्तेजना जितनी शक्तिशाली होगी, उसमें प्रणोदन-कार्य उतना ही होगा।"[8] जो प्रणोदन जन्म से ही मौजूद रहते हैं, उन्हें प्राथमिक या (innate) प्रणोदन कहते हैं। उदाहरणार्थ, भूख, प्यास, काम आदि जन्मजात प्रणोदन हैं। इनमें जो उत्तेजना छिपी रहती है, वह साधारणतया अन्य उत्तेजनाओं से अधिक शक्तिशाली होती है, और मानव जीवन व अस्तित्व के लिये आवश्यक कुछ आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक भी सिद्ध होती है। इसलिये इन्हें मूल या आधारभूत प्रणोदन (basic motives) भी कहा जाता है। इन प्रणोदनों पर सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है। सामाजिक निषेध (social taboos) अनेक मूल प्रणोदनों को दबाये रखता है। उदाहरणार्थ, व्यक्ति अपने काम प्रणोदन को सामाजिक शिष्टाचार व निषेधों के कारण अपनी इच्छानुसार अभिव्यक्त नहीं कर पाता। कुछ भी हो, सीखने की प्रक्रिया में इन प्रणोदनों का अत्यधिक महत्त्व है। ये व्यक्ति को एक विशेष प्रकार से व्यवहार के लिए प्रेरित करते है, क्योंकि, जैसा कि श्री हिलगार्ड ने लिखा है, "प्रणोदन आवश्यकताओं से उत्पन्न होता है, यह एक तीव्र तनाव की दशा है, और क्रिया को करने के लिये व्यक्ति को तैयार करता है।"

जन्मजात प्रणोदनों के अतिरिक्त कुछ प्रणोदन सीखे हुए या अर्जित या सामाजिक (learned or acquired or social) भी होते हैं, जैसे सामाजिक प्रतिष्ठा या स्थिति (social status), शिक्षा आदि। पर, प्रणोदन चाहे जन्मजात हो या सामाजिक, सीखने की प्रक्रिया में अपना अलग ही महत्त्व रखते हैं। उदाहरण के लिये, भूख का प्रणोदन व्यक्ति को पैसा कमाने, और उसके द्वारा भोजन प्राप्त करने के तरीकों को सीखने के लिये प्रेरित या बाध्य करता है। यदि भूख का प्रणोदन न होता तो मानव के सीखने का क्षेत्र अत्यधिक संकुचित हो जाता। उसी प्रकार सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये व्यक्ति क्या-क्या नहीं करता और क्या-क्या करना नहीं

सीखता । वास्तव में प्रणोदन व्यक्ति को नवीन परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करने के लिये बाध्य करता है, और इस अनुकूलन के प्रयत्नस्वरूप ही व्यक्ति व्यवहार के नये ढंग सीखता जाता है ।

(ख) संकेत या 'क्यू' (Cue)—सीखने की क्रिया का दूसरा महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक कारक 'संकेत' है । सर्वश्री डॉलर्ड एवं मिलर (Dollard and Miller) के अनुसार, "प्रणोदन व्यक्ति को प्रतिक्रिया करने के लिये बाध्य करता है । पर, व्यक्ति की यह प्रतिक्रिया कब, कहाँ और कैसी होगी, यह संकेतों (cues) द्वारा ही निश्चित होता है ।"[3] बहुत-कुछ यही बात श्री किम्बल यंग (Kimball Young) ने भी लिखा है. "संकेत ही यह निश्चित करते हैं कि व्यक्ति कब, कहाँ और कैसी प्रतिक्रिया करेगा ।"[10] एक उदाहरण के द्वारा संकेत के इन कार्यों को भली-भाँति समझाया जा सकता है । किसी भी प्रणोदन से अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाओं की उत्पत्ति हो सकती है । उदाहरणार्थ, प्यास लगने पर व्यक्ति नल का पानी पी सकता है, या कुएँ से पानी निकालकर प्यास बुझा सकता है, या बर्फ चूस सकता है, या फिर लेमन या 'कोकाकोला' की बोतल खरीद कर पी सकता है । परन्तु, प्यास बुझाने के लिये वह व्यक्ति वास्तव मे क्या करेगा, यह निर्भर करेगा संकेत के निर्देश पर । अर्थात्, संकेत परिस्थिति के अनुसार व्यक्ति को यह निर्देश देगा कि प्यास बुझाने के लिये उपर्युक्त प्रतिक्रियाओं मे से व्यक्ति कौन-सी प्रतिक्रिया कब और कहाँ करे । दो शब्दों मे हम कह सकते हैं कि संकेत वह प्रक्रिया है, जो हमारी प्रतिक्रियाओं की दिशा, स्वरूप व समय निर्धारित करती है ।

कभी-कभी संकेत चालकों का भी कार्य करते हैं । उदाहरणार्थ, किसी पुरुष की कामेच्छा किसी भी स्त्री को बहुत ही नग्न ढग से कपड़े पहने हुए देखकर भड़क सकती है । इसी प्रकार जब हम किसी मिठाई की दुकान में अच्छी-अच्छी मिठाइयों को सजा हुआ देखते हैं तो संकेत हमे, भूख न रहने पर भी, कुछ मनपसन्द मिठाइयाँ खरीद कर खाने के लिये निर्देशित या प्रेरित कर सकता है । अतः स्पष्ट है कि संकेत हमको कुछ ऐसे विशिष्ट प्रकार के व्यवहारों को करने को प्रेरित कर सकता है जो साधारणतया प्रणोदनों पर निर्भर होते हैं । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रणोदनों की भाँति संकेत भी सीखने की प्रक्रिया मे महत्त्वपूर्ण है । इसका कारण भी स्पष्ट है । किसी चीज को सीखने के लिये यह आवश्यक है कि विभिन्न प्रतिक्रियाओं (responses) को एक निश्चित ढग से, परिस्थितियों को ध्यान मे रखते हुए, निर्देशित किया जाय । यह काम संकेत करता है ।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि प्रणोदन (drive) तथा संकेत (cue), दोनों ही उत्तेजनाओं (stimulus) से उत्पन्न होते हैं । इसलिये इन दोनों मे अनेक समानतायें पायी जाती हैं । संकेत विभिन्न उत्तेजनाओं में से, समय व परिस्थिति के अनुसार, एक उत्तेजना को चुन लेता है और उसी के प्रति प्रतिक्रिया (response) करने के लिये व्यक्ति को प्रेरित करता है । इसलिये सीखने की प्रक्रिया मे इसका महत्त्व है । उचित समय या परिस्थिति मे उचित प्रतिक्रिया न करने पर व्यक्ति कुछ भी सीख नहीं सकता । उदाहरणार्थ, 'टब' में पानी भरा देखकर, उसके अन्दर कूद कर, हाथ-पैर पटकने से कोई व्यक्ति तैरना सीख नहीं सकता । तैरना सीखने के लिये तो आवश्यक होगा कि वह पानी में, अर्थात् किसी तालाब या नदी में उतर कर कुछ प्रतिक्रियाएँ करे । एक दूसरे उदाहरण द्वारा भी सीखने की प्रक्रिया मे प्रणोदन तथा संकेत के महत्त्व को हम इस प्रकार समझा सकते हैं—मान लीजिये एक व्यक्ति टाइप

करना सीखना चाहता है। तो, जब तक उसमें टाइप सीखने की इच्छा है और वह इच्छा इतनी प्रबल नहीं है कि वह व्यक्ति को किसी कार्य के लिये प्रेरित कर सके, तब तक हम उसे उत्तेजना (stimulus) कहेंगे। पर, जब यह उत्तेजना (stimulus) इतनी प्रभावशाली हो जायेगी कि वह उस व्यक्ति को उस उत्तेजना से सम्बन्धित इच्छा की पूर्ति के लिये कुछ प्रयास करने को बाध्य करे, तो हम उसे प्रणोदन (drive) कहेंगे। अर्थात्, जो उत्तेजना व्यक्ति को एक विशिष्ट व्यवहार या क्रिया करने को प्रेरित करने की शक्ति रखती है, उसे प्रणोदन कहते हैं। इस प्रकार कोई भी उत्तेजना प्रणोदन बन सकती है, यदि वह इतनी अधिक शक्तिशाली हो कि व्यक्ति क्रिया करने को बाध्य हो जाय। पर, केवल प्रणोदन के जागृत हो जाने से ही व्यक्ति के लिये टाइप सीखना सम्भव नहीं होगा, जब तक कि संकेत उसे इस बात का निर्देश न देगा कि उसे उस प्रणोदन की सन्तुष्टि के लिये, अर्थात् टाइप करना सीखने के लिये, क्या करना चाहिए। इसके लिये तो वह किसी टाइप राइटिंग-कोचिंग स्कूल में भर्ती हो जायगा या किसी दोस्त के घर जाकर उसकी मशीन पर सीखेगा, या खुद एक टाइप-राइटिंग मशीन खरीद लेगा। इस प्रकार संकेत टाइप-राइटिंग सीखने के प्रणोदन को एक दिशा व स्वरूप प्रदान करेगा; और इसी के आधार पर सीखने का लक्ष्य पूरा होगा।

(ग) प्रतिक्रिया (Response)—श्री हल (Hull) के अनुसार प्रतिक्रिया सीखने का तीसरा स्तर है। प्रणोदन (drive) का काम संकेत के बिना नहीं चल सकता, क्योंकि संकेत (cue) ही प्रणोदन की दिशा व स्वरूप निश्चित करता है। संकेत के निर्देशानुसार ही प्रणोदन एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया (response) को जन्म देता है। इन प्रतिक्रियाओं की सफलता पर ही व्यक्ति का सीखना बहुत-कुछ निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, अक्षरों के प्रति बच्चे की प्रतिक्रिया यदि उपयुक्त नहीं है, तो उसके लिये पढ़ना-सीखना कठिन ही होगा। आरम्भ में जब बच्चे को किसी तरह का कोई भी पूर्व-ज्ञान या पूर्व-अनुभव नहीं होता, वह संकेत (cue) को ठीक से ग्रहण नहीं कर पाता। इसीलिये विभिन्न वस्तुओं या परिस्थितियों के प्रति उसकी प्रतिक्रियाएँ भी क्रमबद्ध व संगठित नहीं होतीं। वह कभी कुछ करता है तो कभी कुछ। पर, धीरे-धीरे बुद्धि व अनुभव के विकास के साथ-साथ उसकी संकेत (cue) ग्रहण करने की शक्ति बढ़ती जाती है; और उसी के अनुसार उसकी प्रतिक्रियाओं को भी सही दिशा मिल जाती है। इस प्रकार सीखने की गति भी बढ़ जाती है। यही कारण है कि छोटे बच्चों की तुलना में बड़े बच्चे अधिक जल्दी सीखते हैं, क्योंकि वे उचित परिस्थिति में सही प्रतिक्रिया करना जानते हैं। अतः स्पष्ट है कि सीखने में प्रतिक्रियाओं का बड़ा महत्त्व है। यदि प्रतिक्रिया सही है तो सीखना भी हमारे लिये सरल हो जाता है।

(घ) पुष्टिकरण (Reinforcement)—हम यह लिख चुके हैं कि श्री वुडवर्थ (Wodworth) के अनुसार सीखना कोई नया कार्य करना ही है, बशर्ते कि नयी क्रिया पुष्टिकृत (reinforced) हो, और बाद की क्रियाओं में पुन: प्रकट होती हो। एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिये की गई प्रतिक्रियाओं में जो सफल प्रतिक्रियाएँ होती हैं, उन्हें तो व्यक्ति ग्रहण कर लेता है, और जो असफल प्रतिक्रियाएँ होती हैं, उन्हें त्याग देता है। सफल प्रतिक्रियाओं को ग्रहण करने का कारण यही है कि उनसे उस व्यक्ति को कुछ लाभ हो रहा है। इसी लाभ से प्रेरित होकर वह सफल प्रतिक्रियाओं को बार-बार दोहराता है। फलस्वरूप वह नये व्यवहार सीख जाता है। इस प्रकार सफल प्रतिक्रियाओं को बार-बार दोहराने से क्रिया में जो स्थिरता

पनपती है, उसे ही 'पुष्टिकरण' कहते हैं। वास्तव में पुष्टिकरण (reinforcement) श्री थार्नडाइक द्वारा प्रतिपादित 'प्रभाव के नियम' (law of effect) का ही दूसरा नाम है। श्री हल (Hull) का मत है कि सीखने के लिये किसी प्रतिक्रिया की केवल पुनरावृत्ति ही पर्याप्त नहीं है, वरन् उसके साथ-साथ आनन्द, सुख अथवा सन्तुष्टि का अनुभव भी आवश्यक है। अर्थात्, जो प्रतिक्रिया किसी उद्देश्य की दिशा में सफल होती है, उसमें हमें आन्तरिक सन्तोष प्राप्त होता है और उसे हम अपने अन्दर स्थायी बना लेते हैं। इसके विपरीत, असफल प्रतिक्रियाओं से चूँकि हमें आन्तरिक दुःख, कष्ट या असन्तोष प्राप्त होता है, इसलिए उन्हें हम त्याग देते हैं।

(ड) सामान्यीकरण व विभेदीकरण (Generalisation and Differentiation)—सीखने की प्रक्रिया में इन दोनों के महत्त्व की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। मनुष्य को जब कभी एक ही प्रकार के अनेक अनुभव होते हैं, तो वह उनमें से सामान्य तत्त्वों को छाँट कर, उन्हीं के आधार पर एक सामान्य नियम बना लेता है; और यह नियम उसके सीखने की प्रक्रिया में बहुत ही अधिक सहायक सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ, यदि एक विद्यार्थी अपने किसी शिक्षक के व्यवहार या पढ़ाने की पद्धति सीखना चाहता है तो वह प्रतिदिन उस शिक्षक का पढ़ाना देखता है। इस प्रकार उसे रोज पढ़ाने की पद्धति के सम्बन्ध में अनेक अनुभव होते हैं। फिर, इन्हीं सब अनुभवों के सामान्य विषयों को एकसाथ मिला कर वह पढ़ने की पद्धति के सम्बन्ध में एक सामान्य निष्कर्ष निकाल लेता है। इसी प्रकार विभिन्न शिक्षकों के पढ़ाने के ढंगों की तुलना भी कर सकता है; और, इस तुलना से निकला निष्कर्ष उसके सीखने की प्रक्रिया में मदद भी कर सकता है। विभेदीकरण और सामान्यीकरण की प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं।

सीखने में शारीरिक कारक
(Physiological Factors in Learning)

यह कहना शायद पूर्णतया सच नहीं है कि सीखना केवल एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। वास्तव में इसे मनोशारीरिक (psycho-physical) प्रक्रिया कहना ही अधिक उचित होगा। इसका तात्पर्य यही है कि सीखने की प्रक्रिया में मनोवैज्ञानिक कारकों के अतिरिक्त कुछ शारीरिक कारक भी महत्त्वपूर्ण होते हैं। ये कारक निम्नलिखित हैं—

(1) अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ (Endocrine Glands)—हम यह जानते हैं कि हमारी सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक क्रियायें तीन प्रकार के कोषों या इन्द्रियों से संचालित होती हैं—ज्ञानेन्द्रियाँ, स्नायु-मण्डल तथा कर्मेन्द्रियाँ। कर्मेन्द्रियों के अन्तर्गत मांसपेशियाँ (muscles) तथा ग्रन्थियाँ आती हैं। ग्रन्थियाँ (glands) भी दो प्रकार की होती हैं—नलीयुक्त (duct) ग्रन्थियाँ, और नलीरहित व अन्त.स्रावी (ductless or endo) ग्रन्थियाँ। अन्त.स्रावी ग्रन्थियों से जो स्राव निकलता है, वह शरीर से बाहर निकलने की नलियों के अभाव में खून मे मिलकर सम्पूर्ण शरीर मे फैल जाता है, और शारीरिक क्रियाओं को प्रभावित करता है। जब तक यह स्राव सन्तुलित मात्रा में होता रहता है, तब तक व्यक्ति का व्यवहार और सीखने की प्रक्रिया भी सन्तुलित ही बनी रहती है। पर, जब यह स्राव बहुत कम या बहुत अधिक मात्रा में होने लगता है, तो उसका प्रभाव व्यक्ति की प्रेरणाओं, प्रणोदनों, प्रतिक्रियाओं, बुद्धि, स्वभाव (temperament) आदि पर भी पड़ता है, जिसके फलस्वरूप सीखने की प्रक्रिया भी बाधित या विघटित हो जाती है। उदाहरणार्थ, जिस व्यक्ति में बचपन से ही कण्ठ-ग्रन्थि (thyroid gland) समुचित रूप से क्रियाशील नहीं रहती, उसका मानसिक (चिन्तन, स्मरण, कल्पना आदि) और शारीरिक विकास पूर्ण रूप से नहीं हो पाता। इसका प्रभाव सीखने की प्रक्रिया पर पड़ता है। अगले अध्याय मे हम इस विषय में और भी विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

(2) केन्द्रीय स्नायु-मण्डल (Central Nervous System)—केन्द्रीय स्नायु-मण्डल के दो भाग हैं—सुषुम्ना (spinal cord) और मस्तिष्क (brain)। जिन व्यक्तियों के सावयव (organism) में इन दोनो का समुचित विकास नही होता, उनके लिये सरल से सरल व्यवहार को भी सीखना अत्यधिक कठिन हो जाता है। केन्द्रीय स्नायु-मण्डल मे हजारो स्नायुकोष होते हैं, जिनकी सहायता से यह अपने भीतर आने वाली और बाहर जाने वाली प्रतिक्रियाओं के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। इसी की क्रियाशीलता का परिणाम है कि हम नये विचारो को प्राप्त करते हैं, विभिन्न अनुभवो को अपने मे सुस्थिर बनाते हैं, विभिन्न विषयों पर चिन्तन (thinking) करते हैं, अनुभवों को स्मरण कर सकते हैं, तथा क्रियाओं को करने मे बुद्धि का प्रयोग कर सकते हैं। शायद यह समझाने की आवश्यकता नहीं कि इन सब का प्रभाव व्यक्ति के सीखने की प्रक्रिया पर स्पष्टतः पड़ता है। केन्द्रीय स्नायु-मण्डल सभी मानसिक प्रक्रियाओं का संचालन करता है, और सीखने की प्रक्रिया मे निरन्तर सहयोग करता रहता है।

(3) रोग (Diseases)—रोग चाहे शारीरिक हो या मानसिक, सीखने की प्रक्रिया मे बाधक सिद्ध होता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। रोग के कारण व्यक्ति शारीरिक और मानसिक रूप में दुर्बल हो जाता है, जिसके कारण उसमें ग्रहणशीलता

की क्षमता कम हो जाती है, और साथ ही कोई चीज सीखने के लिये आवश्यक अभ्यास (practice) करने का उत्साह भी उसमे नहीं रह जाता है। इस प्रकार रोग सीखने में बाधक कारक है, जबकि अच्छा स्वास्थ्य सीखने में सहायक कारक है।

(4) आयु (Age)—आयु भी सीखने मे एक महत्त्वपूर्ण कारक है। सामान्यतः प्रत्येक क्रिया को प्रत्येक आयु मे सीखा नही जा सकता। पाँच साल के बच्चे से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह रेडियो की मरम्मत करना या हवाई जहाज चलाना सीख जायेगा। इसका कारण यह है कि अधिकांश कार्यों को सीखने के लिये एक निश्चित परिपक्वता की आवश्यकता होती है, और यह परिपक्वता एक विशेष आयु पर ही आती है।

(5) लिंग-भेद (Sex Differences)—सीखने की प्रक्रिया पर लिंग-भेद का अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। फिर भी यह स्वीकार किया जाता है कि स्वाभाविक तौर पर स्त्री और पुरुष मे शरीर, स्वभाव, रुचि आदि में कुछ अन्तर होता है, जिसके कारण कुछ कार्यों को स्त्रियाँ और अन्य कार्यों को पुरुष सरलता से सीख जाते हैं। सिलाई बुनाई, कढाई, खाना पकाना, ललित कलायें आदि स्त्रियाँ आसानी से सीख लेती हैं, जबकि गणित व विज्ञान से सम्बन्धित क्रियाओं, मशीन का काम, और कठोर परिश्रम व शारीरिक दृढता के ऐसे ही अन्य काम पुरुष सीखते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जिन कामों को स्त्रियाँ करती हैं, उन्हें पुरुष सीख ही नहीं सकते या जिन कार्यो को पुरुष करते हैं, उन्हें स्त्रियाँ सीख ही नही सकतीं। न ही इसका तात्पर्य यह है कि पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो की बुद्धि कम होती है। ये सब गलत धारणायें हैं। इन्हे त्याग कर हमें केवल इतना याद रखना है कि कुछ कार्यों को स्त्रियाँ और कुछ कार्यों को पुरुष अपने-अपने विशेष गुणों के कारण सरलता से सीख लेते हैं।

(6) थकान (Fatigue)—थकान एक शारीरिक अवस्था है, जो मनुष्य के सीखने की क्षमता को बहुत कम कर देती है। थकान की अवस्था में शरीर और मस्तिष्क, दोनों ही एक तनाव की स्थिति में होते हैं, इसलिये वे किसी भी प्रतिक्रिया या उत्तेजना को अनुकूल रूप से (favourably) ग्रहण नही कर पाते। परिणाम यह होता है कि व्यक्ति थकान की अवस्था मे या तो कुछ सीखता ही नही, या जो कुछ सीखता है, उसे शीघ्र ही भूल जाता है। थकान की अवस्था के उचित निर्णय के बिना प्रयत्नों की दृढता एवं सीखने के लिये आवश्यक अन्य कारकों पर कुप्रभाव पड़ता है। इसीलिये थकान सीखने मे एक बाधक कारक है।

(7) ओषधियों और नशीली वस्तुओं के कारण शारीरिक परिवर्तन (Physical Changes due to Drugs and Intoxicants)—नशीली वस्तुओं के प्रयोग से जो मनोशारीरिक परिवर्तन होता है, उसका अत्यन्त बुरा प्रभाव सीखने की प्रक्रिया पर पड़ता है। शराब, गाँजा, भाँग, अफ़ीम आदि सीखने में बाधक कारक हैं। उदाहरणार्थ, शराब के अत्यधिक प्रयोग से मस्तिष्क के तन्तु ढीले पड़ जाते हैं, और व्यक्ति उस स्वाभाविक मानसिक स्थिति मे नही रहता, जिसमे सीखने की प्रक्रिया क्रियाशील हो सकती है। इसी प्रकार ओषधियो का प्रभाव भी सीखने पर पड़ता है। कुछ ऐसी ओषधियाँ हैं, जो उत्तेजना प्रदान करती हैं, जबकि अन्य कुछ ओषधियाँ चपलता घटाने वाली (depressants) होती हैं। उदाहरणार्थ, कैफीन (caffein) व्यक्ति को शुरू-शुरू मे उत्तेजना प्रदान करती है, पर बाद में रक्त-संचार, श्वास-संचालन तथा स्नायु-मण्डल की चपलता मे कमी ले आती है। इसी प्रकार

यदि ब्रोमाइड्स (bromides) का उपयोग किया जाय तो व्यक्ति को कला-कौशल से सम्बन्धित बातें सीखने में बाधा पड़ती है। लोग कहते हैं कि बीड़ी, सिगरेट, कॉफी (coffee) आदि पीने से उन्हें एक नयी ताजगी व स्फूर्ति प्राप्त होती है और वे नये उत्साह से नये व्यवहार को सीखने में तत्पर होते हैं। कम मात्रा में इन चीजों का प्रयोग करने पर यो सकता है कि सीखने की प्रक्रिया में कुछ सहायता प्राप्त हो, पर इन चीजों का अत्यधिक उपभोग सदैव ही हानिकारक सिद्ध होगा।

सीखने में भौतिक कारक
(Physical Factors in Learning)

मनुष्य एक भौतिक पर्यावरण में निवास करता और सीखता है। अतः सीखने की प्रक्रिया में अनेक भौतिक कारक भी अपना-अपना योगदान करते हैं। उदाहरणार्थ, हवा की शुद्धता या अशुद्धता, तापक्रम का कम या अधिक होना, प्रकाश की मात्रा, नमी की मात्रा, धूप का प्रबन्ध आदि अनेक भौतिक या प्राकृतिक दशाओं का प्रभाव सीखने पर पड़ता है। श्री हन्टिंगटन (Huntington) के मतानुसार अत्यधिक गर्मी या अत्यधिक ठण्डक सीखने में बाधक कारक हैं, जबकि समशीतोष्ण जलवायु सीखने में सहायक कारक है। उनके अनुसार अधिक गर्मी या अधिक सर्दी में व्यक्ति परेशान हो जाता है, और किसी काम में मन लगा नहीं पाता। इसके विपरीत, शारीरिक या मानसिक, दोनों प्रकार के कार्य बसन्त ऋतु में सबसे अधिक और उत्तम हो सकते हैं। व्यक्ति किसी भी काम में मन लगा सकता है, और सीखने के लिये आवश्यक अभ्यास कर सकता है। श्री हन्टिंगटन का मत है कि जलवायु स्वास्थ्य निश्चित करती है, और स्वास्थ्य शारीरिक व मानसिक कुशलता निश्चित करता है; और, इस कुशलता का प्रभाव सीखने की प्रक्रिया पर पड़ता है।

सीखने में सामाजिक कारक
(Social Factors in Learning)

मनुष्य एक भौतिक पर्यावरण में ही नहीं, अपितु एक सामाजिक पर्यावरण में भी रहता व पलता है। अतः सामाजिक कारकों का प्रभाव भी सामाजिक प्राणी—मनुष्य—के सीखने की प्रक्रिया पर पड़ता है। इन सामाजिक कारकों की विवेचना हम इस प्रकार कर सकते है—

(अ) सामाजिक प्रोत्साहन (Social Encouragement)—समाज से मिलने वाले प्रोत्साहन का व्यक्ति के सीखने पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। यह सामाजिक प्रोत्साहन व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों से प्राप्त हो सकता है या सीखने के सम्बन्ध में समाज से उसे आवश्यक सुविधा भी मिल सकती है। कहा जाता है कि अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति कार्य करने की गति तथा कुशलता, दोनों को ही प्रभावित करती है। कुछ परीक्षणों में देखा गया है कि दर्शकों तथा सहकर्मियों (spectators and co-workers) की उपस्थिति ने कार्य की गति तथा गुण में वृद्धि की। पर, कुछ अन्य परीक्षणों में निष्कर्ष कुछ विपरीत ही निकला। पर, सामान्यतः यह देखा गया कि दूसरे लोगों को कुछ सीखने का प्रयास करते देखकर एक व्यक्ति अपने अन्दर भी उसी प्रकार का प्रयास करने की प्रेरणा का अनुभव करता है। श्री किम्बल यंग (Kimball Young) का मत है कि जिन समाजों में सहयोग पर अधिक बल दिया जाता है, उनमें अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति कार्यकुशलता तथा कार्य करने की गति में वृद्धि करती है, तथा जिन समाजों में वैयक्तिक कार्यों (indivi-

dual actions) को अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है, उनमें अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति का कार्यक्षमता तथा कार्य की गति पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

सीखने की प्रक्रिया में सामाजिक प्रोत्साहन सामाजिक सुविधाओं के रूप में भी व्यक्ति को मिल सकता है। ऐसे अनेक कार्य होते हैं, जिन्हें व्यक्ति सामाजिक सुविधाओं के कारण सीखता है। उदाहरणार्थ, उस समुदाय के लोग अधिक लिखना-पढ़ना सीखते हैं, जहाँ स्कूल-कॉलेज हैं तथा पढ़ाई-लिखाई से सम्बन्धित अन्य सुविधायें अधिक उपलब्ध हैं। यही कारण है कि गाँवों की अपेक्षा नगरों के लोग अधिक पढ़ना-लिखना सीखते हैं।

(ब) प्रशंसा तथा निन्दा (Praise and Blame)—प्रशंसा सीखने में सहायक कारक है जबकि निन्दा बाधक कारक। प्रशंसा प्राप्त होने पर व्यक्ति को एक क्रिया के दोहराने और उसका पुष्टिकरण करने मे प्रोत्साहन मिलता है। बच्चों के अच्छे कार्यों की प्रशंसा होनी है तो वे विभिन्न व्यवहारों को शीघ्रता से सीख लेते हैं। प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि वह जो कुछ भी कर रहा है, उसके लिये उसे दूसरों से स्वीकृति या पुरस्कार मिले। सामाजिक पुरस्कार व स्वीकृति उसे प्रशंसा के रूप में मिलती है। इससे उसमें नया उत्साह भर जाता है और वह एक कार्य-विशेष का अभ्यास अच्छी तरह कर सकने की शक्ति अपने में पाता है। इसके विपरीत जिन कार्यों को करने से अन्य व्यक्तियों द्वारा उसकी निन्दा होती है, उनको व्यक्ति त्याग देने की ही बात सोचता है।

दूसरे शब्दों में, समाज निन्दा के द्वारा व्यक्ति को उन कार्यों को सीखने मे हतोत्साहित करने का प्रयत्न करता है, जो समाज के दृष्टिकोण से अच्छे अथवा उचित कार्य नहीं हैं। वास्तव मे कोई भी सामाजिक प्राणी अर्थात् मनुष्य अपने आप में पूर्ण (self-sufficient) नहीं होता। उसे अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। अतः उन दूसरे लोगो की पसन्द या नापसन्द का ध्यान प्रत्येक व्यक्ति को रखना पड़ता है। परिवार के सदस्य के रूप में भी बच्चा शीघ्र ही यह समझने लगता है कि यदि वह अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करना चाहता है तो उसे परिवार के अन्य लोगों—विशेषकर माता व पिता—की प्रशंसा का पात्र बनना पड़ेगा, अर्थात् उसे वे कार्य करने पड़ेंगे, जिनकी अन्य लोग प्रशंसा करें, तथा उन कार्यों से बचना होगा जो दूसरे पसन्द नहीं करते। इसी भावना से प्रेरित होकर बच्चा वे बातें बड़े उत्साह के साथ सीखता है, जिनसे उसे प्रशंसा मिलने की आशा होती है।

(स) अनुकरण (Imitation)—सर्वश्री ड्रिवर (Drever) तथा मैक्डूगल (McDougall) ने बालकों के सीखने में 'अनुकरण' को आधार माना है। उनका कथन है कि अनुकरण के प्रभाव में बालक अनेक प्रकार के ज्ञानों से अनजान रह जाता है। वास्तव में अनुकरण सीखने की प्रक्रिया को संक्षिप्त कर देता है, क्योंकि अनुकरण की सहायता से किसी व्यक्ति को कोई कार्य करते देखकर, वैसा ही कार्य तुरन्त शीघ्र सीख लेना सरल होता है। इससे समय की बहुत बचत होती है, क्योंकि हम समस्त असफल प्रतिक्रियाओं से बच जाते हैं, और दूसरे व्यक्तियों की सफल प्रतिक्रियाओं को देख-सुनकर नकल कर लेते हैं। इससे एक लाभ और होता है, और वह यह कि अनुकरण द्वारा सीखने में गलतियों की सम्भावना कम हो जाती है, क्योंकि

जिसकी हम नकल करते हैं, उस व्यक्ति से हमें एक क्रिया-विशेष का एक बना-बनाया स्वरूप (ready made form) प्राप्त हो जाता है। अनुकरण करने वाला व्यक्ति उस स्वरूप को तुरन्त, सरलता से ग्रहण कर सकता है। यही कारण है कि बच्चे अपने माता-पिता के अनेक व्यवहारों का अनुकरण अत्यधिक तत्परता से कर लेते हैं। माता या पिता को पूजा करते देखकर वे भी वैसी ही मुद्रा बनाकर बैठ जाते हैं, तथा वैसी ही क्रियायें, बिना समझे-बूझे, करने लगते हैं। इसी प्रकार माँ को खाना पकाते या नन्हे-मुन्ने को खिलाते-सुलाते देखकर घर की अन्य लड़कियाँ भी ऐसा करना सीख जाती हैं। परिवार के अन्य लोगों को बोलते देखकर बच्चा भी भाषा आसानी से सीख जाता है। जिस बच्चे में अनुकरण करने की क्षमता जितनी अधिक होती है, वह उतनी ही सरलता से विभिन्न सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्रियायें सीखता है।

(ब) सुझाव (Suggestion)—सीखने की प्रक्रिया में सुझाव का भी बड़ा महत्त्व होता है। यदि ठीक ढंग से प्रस्तुत किया जाय तो सुझाव का प्रभाव व्यक्ति पर बहुत अधिक होता है—विशेषकर यदि वह सुझाव किसी प्रतिष्ठित या आदर्श व्यक्ति से प्राप्त हो। इसलिये बच्चे अपने माता, पिता, शिक्षक आदि के सुझावों के आधार पर *अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवहारों या क्रियाओं को सीखने के लिये प्रयत्नशील* रहते हैं। परन्तु, स्मरण रहे कि सुझाव ग्रहण करने की क्षमता प्रत्येक व्यक्ति में समान नहीं होती है। इस कारण सीखने की प्रक्रिया में सुझाव प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से प्रभावित नहीं कर पाता। फिर भी, अच्छे-बुरे का भेद करना, या उपयुक्त-अनुपयुक्त, धार्मिक-अधार्मिक, नैतिक-अनैतिक कार्यों के बीच अन्तर करना, व्यक्ति दूसरों से प्राप्त सुझावों के आधार पर ही सीखता है। परम्पराएँ, रीति-रिवाज, समाज के अन्य नियम आदि व्यक्ति को पग-पग पर सुझाव देते रहते हैं, जिनकी सहायता से व्यक्ति के लिये अनेक प्रकार के व्यवहारों को सीखना सहज हो जाता है।

(य) प्रतिस्पर्धा (Competition)—प्रतिस्पर्धा भी सीखने का एक महत्त्वपूर्ण प्रेरक है। विभिन्न परीक्षणों से यह पता चलता है कि जहाँ-कहीं भी किसी सामाजिक व्यवहार को सीखने में प्रतिस्पर्धापूर्ण परिस्थिति उत्पन्न कर दी गयी, वहाँ सीखना अच्छे ढंग से हुआ। उदाहरणार्थ, स्कूल की वार्षिक खेलकूद-प्रतियोगिता में भाग लेने और उसमें सफलता प्राप्त करने की इच्छा अनेक बालकों को साल भर विभिन्न प्रकार के खेलकूद को सीखने को प्रेरित करती है। इसी प्रकार प्रतिस्पर्धामूलक विभागीय परीक्षाएँ (competitive departmental examinations) उस विभाग में काम करने वाले कर्मचारियों को अपने-अपने विभाग के सम्बन्ध में अनेक नयी आदतों को सीखने की प्रेरणा देती हैं। यह आर्थिक प्रतिस्पर्धा का ही परिणाम है कि आर्थिक क्षेत्र में हम व्यापार और वाणिज्य से सम्बन्धित अनेक बातों को हर आये दिन सीखते रहते हैं। वास्तविकता यह है कि प्रतिस्पर्धा एक ऐसी संवेगात्मक परिस्थिति को उत्पन्न कर देती है, जिसमें उस परिस्थिति से सम्बन्धित हर व्यक्ति दूसरों की तुलना में एक उद्देश्य की प्राप्ति की दौड़ में आगे निकल जाना चाहता है। इसीलिये वह नये-नये व्यवहारों या तरीकों को सीखकर उस प्रतिस्पर्धा में सफल होने के सपने देखता है।

(र) सहयोग (Co-operation)—सहयोग का भी अत्यधिक प्रभाव व्यक्ति के सीखने की प्रक्रिया पर पड़ता है। इस प्रभाव की सबसे सरल व्याख्या यह है कि ऐसे

अनेक व्यवहार होते हैं जिन्हे व्यक्ति तब तक सीख नही सकता जब तक उन्हे कोई दूसरा व्यक्ति न सिखाये। उदाहरणार्थ, हम यह आशा नही कर सकते कि कॉलेज की प्रयोगशाला मे जितने प्रयोग (experiments) होते हैं, उन्हे विद्यार्थी आप से आप सीख लेगा, जब तक कि उसे शिक्षक का सहयोग प्राप्त न होगा। परिवार में माता-पिता तथा अन्य सदस्यो के निरन्तर सहयोग के कारण ही बालक अनेक सामाजिक व्यवहारो को सीखता चलता है। यह सहयोग प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो ही तरह के हो सकते हैं। जब माँ बच्चे का हाथ पकड़ कर उसे चलना या लिखना सिखाती है तो उसे 'प्रत्यक्ष सहयोग' कहते हैं; और जब गृहिणी किसी पुस्तक को पढ़कर कोई खास पकवान बनाना सीखती है, तो उसे 'अप्रत्यक्ष सहयोग' कहते हैं, क्योंकि इसमे सीखने की प्रक्रिया मे सहयोग करने वाला व्यक्ति प्रत्यक्षत उपस्थित रहकर सहयोग नही देता। पर, सहयोग प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष, इसका प्रभाव व्यक्ति के सीखने की प्रक्रिया पर अवश्य ही बहुत अधिक पड़ता है। दूसरे का सहयोग व्यक्ति को सीखने के लिये प्रेरित करता है, क्योंकि उसे यह विश्वास हो जाता है कि सीखने के कार्य मे वह बिलकुल असहाय और अकेला नही है, आवश्यकतानुसार उसे दूसरो से सहायता और सहयोग मिलता ही रहेगा।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम कह सकते हैं कि मानव का सीखना वास्तव मे एक जटिल प्रक्रिया है, और उसमे सहयोग देने वाले कारक भी एकाधिक हैं। व्यक्ति का सीखना किसी एक कारक के कारण घटित नही होता। सामान्यत. सीखने की सम्पूर्ण प्रक्रिया मे एक से अधिक कारको का योगदान रहता है। इन कारको के अन्त.क्रियात्मक प्रभावो के कारण ही व्यक्ति कुछ सीखता है, या कुछ सीख सकता है।

सीखने की विधियाँ

(Methods of Learning)

मानव के सीखने के कारको की उपर्युक्त विवेचना से ही यह आभास होता है कि जिस प्रकार सीखने के कारक एक नही अनेक हैं, उसी प्रकार सीखने की विधि भी एक नही एकाधिक ही होनी चाहिए। इसका कारण भी स्पष्ट है। मानव के सीखने का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत एव जटिल है। मानव एक सामान्य शब्द को उच्चारण करने से लेकर जटिल से जटिल मशीनो पर काम करना तक सीखता है। इस सभी सीखने को किसी एक यन्त्रवत् विधि (mechanical method) के अन्तर्गत रखकर परिभाषित नही किया जा सकता। साथ ही, विभिन्न प्रकार के व्यवहारो को सीखने के प्रति प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिक्रिया (response) भी एकसमान नही होती। इसलिये भी एक विधि के आधार पर सभी व्यक्तियों को सभी व्यवहार सिखाया नहीं जा सकता। यही कारण है कि एक व्यक्ति कुछ क्रियाओं को एक विधि से सीखता है, तो दूसरा व्यक्ति उन्ही क्रियाओं को किसी दूसरी विधि से। अत. सीखने की विभिन्न विधियों की चर्चा यहाँ कर लेना उचित होगा। ये विधियाँ मुख्यत. पाँच हैं —(1) अनुकरण से सीखना, (2) प्रतिबद्ध प्रतिक्रियाओं (conditioined response) द्वारा सीखना, (3) प्रयत्न और भूल (trial and error) से सीखना, (4) अन्तर्दृष्टि से सीखना, तथा (५) प्रतीकात्मक (symbolic) ढग से सीखना। इन विधियो के विषय में अब हम अलग-अलग चर्चा करेंगे।

(1) अनुकरण से सीखना

(Learning by Imitation)

सीखने की प्रक्रिया में अनुकरण के महत्व की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। अनुकरण से व्यक्ति सरलता से सीखता है। इसमें सीखने वाला अन्य व्यक्ति (जिसके व्यवहार को उसे सीखना है) की क्रियाओं को अच्छी तरह ध्यान से देखता है, और फिर स्वयं उस व्यवहार की नकल उतारने का प्रयत्न करता है। हो सकता है कि प्रथम प्रयत्न में ही वह सम्पूर्ण व्यवहार की नकल ठीक-ठीक उतार न पाये, पर प्रयत्न जारी रखकर वह इस कार्य में सफल होता है। यह अनुकरण अचेतन रूप में भी हो सकता है, और जानबूझ कर या प्रयोजनमूलक (purposive) रूप में भी। माता-पिता या परिवार के अन्य सदस्यों को बोलते देखकर बच्चा धीरे-धीरे आपसे आप बोलने की विधि का अनुकरण करता रहता है, और बोलना सीख जाता है। इसी प्रकार बड़ों की देखा-देखी बालक गाली देना सीख जाता है। यह सब अचेतन अनुकरण से सीखना है। इसके विपरीत जब कोई व्यक्ति एक टाइपिस्ट (typist) बनने के उद्देश्य से जानबूझ कर या सचेत रूप से अपने टाइप-मास्टर की क्रियाओं का अनुकरण करता है, तो उसे हम 'प्रयोजनमूलक अनुकरण' से सीखना कहते हैं। पर अनुकरण, चाहे वह किसी प्रकार का हो, सीखने का एक बहुत सरल व सीधा तरीका है। जैसे, शिक्षक किसी कार्य को करके दिखा देता है तो विद्यार्थी के लिये उस क्रिया की नकल करके उसे सीखने में बहुत देर नहीं लगती। साथ ही इससे भूल की सम्भावना भी बहुत कम हो जाती है। नृत्य, संगीत, खेल आदि में शिक्षक क्रिया का प्रदर्शन (demonstration) करते हैं, और विद्यार्थी उनका अनुकरण करके जल्द ही सीख जाते हैं।

(2) प्रतिबद्ध प्रतिक्रिया द्वारा सीखना

(Learning by Conditioned Response)

प्रतिबद्ध प्रतिक्रिया भी सीखने की एक अति उत्तम विधि है। इस विधि में व्यक्ति एक काल्पनिक या कृत्रिम परिस्थिति या उत्तेजक के प्रति प्रतिक्रिया (response) करता है, और उससे प्राप्त अनुभव के आधार पर क्रिया-विशेष को सीख जाता है। इस विधि को समझने के लिये सन् १९०० में प्रसिद्ध रूसी शरीरशास्त्री श्री पैवलोव (Pavlov) द्वारा कुत्ते पर किये गये प्रयोग के विषय में जान लेना आवश्यक होगा। आपने भोजन को देखने पर कुत्ते के मुँह से लार बहने की प्राकृतिक प्रतिक्रिया को घण्टी बजने के कृत्रिम उत्तेजक (artificial stimulus) से सम्बन्धित कर दिया। आपने कुत्ते को खाना देने से पहले सात दिन तक घण्टी बजाई और फिर खाना दिया। इसके बाद आपने केवल घण्टी बजाई पर भोजन नहीं दिया, और प्रतिक्रिया को देखा। यह देखा गया कि उस अवस्था में भी लार बहने की प्रतिक्रिया हुई। इससे यह निष्कर्ष निकला कि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हम किसी काल्पनिक या कृतिम उत्तेजक के प्रति स्वतः ही प्रतिक्रिया कर बैठते हैं, चाहे उस प्रतिक्रिया का कोई तर्कयुक्त आधार हो या न हो। इसी प्रकार की प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप हम अनेक प्रकार की अतार्किक (non-rational) क्रियायें, अन्ध-विश्वास,

कुसंस्कार आदि को सीख जाते हैं। बचपन में हमारी बहुत-सी प्रतिक्रियाएँ किसी विशेष वस्तु या परिस्थिति से प्रतिबद्ध या सम्बन्धित हो जाती हैं, और बड़े होने पर भी उनके प्रभाव से हम अपने को विमुक्त नहीं कर पाते। यदि बचपन में एक व्यक्ति को किसी कुत्ते ने काट लिया है, और उससे उसे अत्यधिक कष्ट हुआ है, तो हो सकता है कि बड़े होने पर भी कुत्तों के प्रति उसका डर बना रहे। इसका कारण यही है कि अपने पूर्व अनुभव या प्रतिक्रिया के आधार पर वह सभी कुत्तों से डरना सीख गया है। लेखक का एक तीन वर्षीय भानजा 'मोण्टू' अपने मामा के पास ही पला है, और उसे मामा से अत्यधिक लगाव है। मामा के प्रति उसके इस लगाव की प्रतिक्रिया इतनी सजीव है कि घर पर जो भी बाहर का आदमी आता है, उससे मोण्टू नाम पूछता है; और, नाम बताने पर उस नाम के साथ 'मामा' शब्द को जोड़कर उस अनजाने व्यक्ति के साथ उतना ही घनिष्ठ हो जाता है जितना कि अपने मामा के साथ है—वह उसकी गोद में चला जाता है, उसको 'बैलून' खरीद देने को कहता है, और उसके चले जाने के समय 'टा-टा' कहकर उसे विदा देता है। इससे यह स्पष्ट है कि मोण्टू की ये सब प्रतिक्रियायें उसके मामा के प्रति की जाने वाली प्रतिक्रियाओं का ही प्रतिबद्ध या सम्बन्धित रूप । अतः स्पष्ट है कि प्रतिबद्ध प्रतिक्रिया द्वारा व्यक्ति का सीखना सरल हो जाता है।

(3) प्रयत्न और भूल से सीखना

(Learning by Trial and Error)

व्यक्ति अनेक व्यवहार या बातें स्वयं बार-बार प्रयत्न तथा गलतियाँ करके सीखता है। एक गणित का विद्यार्थी जब किसी प्रश्न को समझ नहीं पाता, तो वह उसे अलग-अलग तरीके से करने की कोशिश करता है। आरम्भ के अनेक तरीके गलत सिद्ध होते हैं, पर अन्त तक वह उस सवाल का सही हल निकाल ही लेता है, और उस सम्बन्ध में कुछ सीख जाता है। यही प्रयत्न और भूल से सीखने की विधि है। यह एक पुरानी कहावत है कि हम अपनी गलतियों से सीखते हैं। ऐसा इस प्रकार सम्भव होता है, क्योंकि प्रत्येक गलती या भूल व्यक्ति के अनुभवों में वृद्धि करती है; और, अनुभव में वृद्धि होने के कारण गलतियों की संख्या कम होती जाती है—यहाँ तक कि अन्त में गलती बिल्कुल नहीं होती, अर्थात् सही रास्ता या हल हमें मिल जाता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि प्रयत्न बराबर जारी रहे, और, प्रयत्न तभी निरन्तर बना रह सकता है जबकि एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यक्ति इतना अधिक प्रेरित (motivated) हो गया हो कि जब तक उद्देश्य की प्राप्ति न हो तब तक वह चैन न ले, अर्थात् इस विधि में प्रेरक को अत्यधिक प्रभावशील होना चाहिए तथा लक्ष्य (goal) को बिल्कुल स्पष्ट होना चाहिए। साथ ही इसमें लक्ष्य या समस्या इतनी जटिल होती है कि उसका हल सरलता से सम्भव नहीं होता। वुडवर्थ (Woodworth) के अनुसार प्रयत्न और भूल विधि में आवश्यक तत्त्व इस प्रकार हैं—(अ) किसी लक्ष्य तक पहुँचने की तत्परता होना; (ब) लक्ष्य तक पहुँचने का कोई स्पष्ट मार्ग न दिखाई देना; (स) परिस्थितियों का अनुसन्धान करना, सम्भव मार्गों को खोजना और उनको आजमाना, एक मार्ग में रुकावट होने पर पीछे हटना, और दूसरे मार्ग की ओर बढ़ना; और (द) अन्त में सही मार्ग पा लेना और लक्ष्य तक पहुँच जाना। मानव अनेक क्रियाओं को इसी विधि से सीखता है।

(4) अन्तर्दृष्टि से सीखना
(Learning through Insight)

कभी-कभी व्यक्ति-मस्तिष्क में किसी समस्या का हल बिना किसी निरन्तर प्रयत्न के ही अचानक प्रकट हो जाता है। इसी को हम 'अन्तर्दृष्टि से सीखना' कहते हैं। यदि हल बार-बार तथा बहुत देर तक निरन्तर प्रयत्न करने के बाद प्राप्त होता है, तो उसे हम प्रयत्न और भूल की विधि कहते हैं। पर, यदि समस्या का हल एकाएक समझ में आ जाता है, तो उसे अन्तर्दृष्टि या सूझ-विधि कहा जाता है। जर्मन गेस्टाल्टवादी (Gestaltist) मनोवैज्ञानिक श्री कोहलर (Kohler) का मत है कि मनुष्य अनेक क्रियाओं को अन्तर्दृष्टि-विधि से भी सीखता है। आपने चिम्पांजियों पर प्रयोग करके इस सत्य को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। सुल्तान नामक एक चिम्पांजी के पिंजड़े से कुछ दूर केले रख दिये गये, और सुल्तान को दो ऐसी छड़ियाँ दे दी गईं, जिनके दो सिरे एक दूसरे में फिट हो सकते थे। सुल्तान काफी समय तक प्रयत्न और भूल-विधि द्वारा केला खींचने का प्रयत्न करता रहा, और अन्त में थक कर, प्रयास छोड़कर, हाथ की छड़ियों से खेलने लगा। इसी बीच वह छड़ियों के सिरों को एक-दूसरे से मिलाता भी रहा। एकाएक सुल्तान को एक उपाय सूझा। उसने छोटी छड़ी को बड़ी छड़ी के छेद में फिट कर दिया और उनकी सहायता से एक केला खींच लिया; और फिर दूसरा केला; और तीसरा केला भी, जैसा कि अपनी सूझ की सफलता को आजमा रहा हो। ठीक इसी प्रकार एकाएक सूझ के आधार पर व्यक्ति भी अनेक नयी बातें सीख जाता है। इस विधि में शरीर की अपेक्षा मस्तिष्क का सहयोग अधिक प्राप्त होता है। साथ ही, अन्तर्दृष्टि का बौद्धिक स्तर से सम्बन्ध होता है। इसीलिये पशु से मनुष्य में, एक मूढ़ से बुद्धिमान् व्यक्ति में, अधिक अन्तर्दृष्टि होती है। उसी प्रकार अन्तर्दृष्टि का आयु से भी सम्बन्ध होता है। बालकों की अपेक्षा प्रौढ़ों में सूझ अधिक होती है। अनुभव के आधार पर भी अन्तर्दृष्टि प्रखर हो सकती है। कुछ भी हो, इस विधि में व्यक्ति किसी समस्या का हल एकाएक ही ढूंढ लेता है। पर, इसका तात्पर्य यह नहीं कि किसी अलौकिक या जादुई शक्ति की क्रियाशीलता से ऐसा सम्भव होता है। वास्तव में, प्रतिक्रियाओं के दौरान व्यक्ति के मस्तिष्क में विचार-विशेष की एक लहर-सी उत्पन्न होती है जो व्यक्ति को लक्ष्य की प्राप्ति का सही मार्ग सुझाती है। इसी को हम सूझ या अन्तर्दृष्टि कहते हैं।

(5) प्रतीकात्मक सीखना
(Symbolic Learning)

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) के अनुसार "प्रतीकात्मक सीखना सबसे जटिल तथा सर्वश्रेष्ठ प्रकार का सीखना है, जिसमें प्रतीकों को तार्किक ढंग से विश्लेषित किया जाता है।..........इस प्रकार का सीखना प्रथमत., हमारी मानसिक क्रियाओं पर निर्भर होता है, जो हमें बुद्धिमत्तापूर्वक निर्णय करने, चुनाव करने, विचारों एवं प्रत्ययों (concepts) का निर्माण करने तथा तर्क करने का सामर्थ्य प्रदान करता है। दूसरे, इस प्रकार का सीखना व्यक्ति की अपनी संस्कृति के स्तर पर

निर्भर करता है।"[11] इस कथन का तात्पर्य यह है कि हम कभी-कभी प्रतीकों को मस्तिष्क में तर्क तथा युक्ति द्वारा सम्बन्धित करके समस्या का हल निकाल लेते हैं। पर, चूँकि प्रतीक (symbol) स्वयं एक सांस्कृतिक तत्त्व हैं, इस कारण सांस्कृतिक परिस्थितियों का प्रभाव भी इस प्रकार के सीखने पर पड़ता है। अतः स्पष्ट है कि अन्तर्दृष्टि की भाँति तर्क-शक्ति भी कोई दैवी या रहस्यमयी शक्ति नहीं है। इसका जन्म-स्थान भी व्यक्ति का अपना मस्तिष्क है, जिसकी सहायता से व्यक्ति कल्पना करता है, तर्क करता है, विचार करता है, और अन्त में एक निर्णय लेता है। यह निर्णय हमारे लिये सीखने की एक विधि बन जाती है, क्योंकि इसके द्वारा हम कल्पना तथा विचारों को एक प्रतीक का रूप देते हैं। प्रतीक के द्वारा सीखना इसकी प्रकृति के कारण ही सम्भव होता है। श्री यंग ने लिखा है, "प्रतीक एक उत्तेजना है, जो मौखिक, चित्रमय या भौतिक हो सकती है, तथा जो किसी वस्तु, परिस्थिति या सम्बन्ध का स्थान ग्रहण करती, संकेत करती या प्रतिनिधित्व करती है।"[12] इसी से यह स्पष्ट है कि सीखने की प्रक्रिया में इन प्रतीकों का अत्यधिक महत्त्व होता है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति ऐसी संस्कृति मे पल रहा है, जहाँ बहादुरों की पूजा की जाती है। अतः व्यक्ति के मस्तिष्क मे पहले से ही बहादुर व्यक्तियों के प्रति एक सम्मान की भावना होती है। वही व्यक्ति जब कुछ बहादुरों की मूर्ति या चित्र देखता है तो उसमें उत्तेजना की सृष्टि होती है, और वह उन व्यवहारों को सीखने को तत्पर होता है, जो उसे बहादुर बना सकते है। बच्चों को चित्रों की सहायता से विभिन्न प्रकार की वस्तुओं, पशुओं आदि मे भेद करना सिखाया जाता है। प्रतीकों की सहायता से ही वे अच्छे-बुरे में अन्तर करना, उचित-अनुचित मे भेद करना आदि सीख जाते हैं। इसीलिये आजकल शिक्षण-प्रणाली मे प्रतीकात्मक विधि पर अत्यधिक बल दिया जाता है।

(७) सक्रिय तथा निष्क्रिय सीखना
(Active and Passive Learning)

सीखना सक्रिय भी हो सकता है और निष्क्रिय भी। सीखना एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपना अनुकूलन अपने पर्यावरण से करने में सफल होता है। यह अनुकूलन चेतन अथवा अचेतन, दोनों रूप मे हो सकता है। जब व्यक्ति चेतन रूप मे किसी परिस्थिति के साथ अनुकूलन करना सीखता है, तो हम उसे सक्रिय सीखना (active learning) कहते हैं। जैसे जब व्यक्ति तैरना सीखता है, टाइप करना सीखता है, माता-पिता के पैर छूकर उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करना सीखता है, कोई खेल खेलना सीखता है, या ऐसी ही अन्य असंख्य क्रियाओं को सचेत रूप में सीखता है तो उसे हम सक्रिय सीखना कहते हैं। इसके विपरीत जब सीखने की प्रक्रिया अचेतन रूप से होती है, अर्थात् जब व्यक्ति को यह चेतना नहीं होती कि वह कुछ सीख रहा है और इसके साथ ही अपने पर्यावरण के साथ अनुकूलन कर रहा है, तो उसे हम निष्क्रिय सीखना कहते हैं। उदाहरणार्थ, जब एक व्यक्ति किसी चमड़े के कारखाने में काम करने के लिये पहले-पहल जाता है तो वह वहाँ की बदबू से परेशान हो जाता है। पर, वहाँ रोज काम करने के लिये आते-जाते वह उस बदबू मे भी रहना सीख जाता है, अर्थात् उस दुर्गन्धपूर्ण पर्यावरण के साथ अपना अनुकूलन करना सीख जाता है। पर, यह अनुकूलन कब और कैसे हुआ, इसके सम्बन्ध में वह न तो सचेत होता है और न ही कोई सचेत प्रयत्न करता है। इसी प्रकार तीव्र प्रकाश अथवा ध्वनि का अभ्यस्त हो जाना भी निष्क्रिय सीखना है।

इस प्रकार के सीखने में उत्तेजना (stimulus) एवं उसके प्रति प्रतिक्रियाएँ अचेतन रूप में होती रहती हैं, पर इसका प्रभाव हमारे सचेतन या सक्रिय सीखने पर भी पड़ सकता है; और पड़ता भी है। इसका कारण यह है कि अचेतन रूप से जो उत्तेजनायें हमें प्राप्त होती हैं, वे हमारे मस्तिष्क के अचेतन स्तर (unconscious level) पर पड़ी रहती हैं, और अवसर मिलते ही चेतन स्तर पर छा कर हमारी चेतन क्रियाओं को प्रभावित करती हैं। वास्तव में मानव का अधिकांश सीखना सचेतन या सक्रिय सीखना ही होता है, परन्तु उसमें अचेतन प्रक्रियाओं का कुछ न कुछ तत्त्व अवश्य ही सम्मिलित रहता है। सक्रिय तथा निष्क्रिय सीखने में भेद करते समय इस तथ्य को भूलना उचित न होगा।

सीखने के सिद्धान्त

(Theories of Learning)

मनुष्य किस प्रकार सीखता है और उस सीखने की प्रक्रिया में कौन-कौन से कारक व अन्य प्रक्रियाएँ क्रियाशील रहती हैं, इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने विचार अलग-अलग ढंग से प्रस्तुत किये हैं। इन विचारों ने ही अलग-अलग सिद्धान्तों का रूप ग्रहण किया है। हम यहाँ उनमें से तीन प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे। वे हैं—

थार्नडाइक का सिद्धान्त

(Theory of Thorndike)

श्री थार्नडाइक ने अपना सिद्धान्त सबसे पहले सन् 1898 ई० में प्रकाशित अपनी प्रख्यात पुस्तक (Animal Psychology) में प्रस्तुत किया। इसी का विस्तृत रूप सन् 1913 ई० में प्रकाशित (Educational Psychology) में देखने को मिलता है। आपके सिद्धान्त को निम्नलिखित तीन नियमों की सहायता से समझा जा सकता है—

(i) **तैयारी का नियम** (Law of Readiness)—यह नियम उन परिस्थितियों का वर्णन करता है, जिनमें व्यक्ति कुछ सीखने के लिये अपने को तैयार करता है। सीखने वाले को उसके पिछले अनुभवों की याद दिलाना; नयी बातों को समझने के लिये उसको मानसिक तौर पर तैयार करना; उसकी रुचि को सीखी जाने वाली क्रिया की ओर मोड़ना और सीखने के योग्य वातावरण तैयार करना, आदि सब आरम्भिक तैयारी में आता है। इन सब तैयारियों में व्यक्ति में स्वाभाविक रूप से सीखने की इच्छा उत्पन्न होती है, और वह अपने मन-मस्तिष्क को विषय की ओर मोड़ता व उस पर केन्द्रित करता है। इस प्रकार व्यक्ति जब मन-मस्तिष्क से सीखने के लिये तैयार हो जाता है, तो विषय के प्रति उसकी प्रतिक्रिया सन्तोषजनक ही होती है।

(ii) **अभ्यास का नियम** (Law of Exercise)—आरम्भिक तैयारियों के बाद व्यक्ति सीखने के लिये प्रतिक्रिया करता है। पर, एक-दो बार प्रतिक्रिया करने से ही सीखना सुदृढ़ व सुस्थिर नहीं होता, जब तक कि क्रिया को बार-बार दोहराया न जाय या उसका अभ्यास न किया जाय। टाइप-राइटिंग सीखने वाले व्यक्ति को आपने देखा होगा कि वह रोज स्कूल में जाकर अभ्यास करता रहता है, जिसके फलस्वरूप धीरे-धीरे अपने उद्देश्य को प्राप्त कर लेता है, अर्थात टाइप करना सीख

जाता है। इस प्रकार अभ्यास का नियम सीखने की प्रक्रिया के बार-बार दोहराने या अभ्यास करने पर बल देता है। एक ही क्रिया को बार-बार दोहराने से हमारी मासपेशियों को अथवा मस्तिष्क के नाडी-तन्तुओं को उस क्रिया को करने की आदत पड जाती है, और आवश्यकता पडने पर भविष्य में वह फिर सरलता से हमारे व्यवहार मे प्रकट होती है। थार्नडाइक का कथन है कि अगर क्रिया करने वाले को उसके प्रयास का पुरस्कार मिल जाता है, तो दोहराने की क्रिया आपसे आप बढ़ जाती है।

(iii) **प्रभाव का नियम** (Law of Effect)—इसका तात्पर्य सीखने के प्रभाव या परिणाम से है। सीखने की क्रिया के परिणामस्वरूप व्यक्ति को सफलता मिलती है या असफलता, इसका प्रभाव उसके सीखने की प्रक्रिया पर पडता है। यदि सफलता मिलती है तो व्यक्ति को सन्तोष होता है, और वह सन्तोष उसे क्रिया को बार-बार अभ्यास करने को प्रेरित करता है। इसके विपरीत, असफलता व्यक्ति मे असन्तोष या निराशा की भावना भरती है, और वह एक काम को फिर दुबारा करने के लिये अपने मे उत्साह की कमी पाने लगता है। इसीलिये कहा गया है कि सफलता सफल सीखने की प्रक्रिया की कुजी है। कहावत भी है कि सफलता के समान सफल कुछ नही होता (Nothing succeeds like success)।

इवान पैवलोव का सिद्धान्त
(Theory of Ivan Pavlov)

रूसी मनोवैज्ञानिक श्री पैवलोव (Pavlov) ने अपने सिद्धान्त में स्थानापन्नता (substitution) को महत्त्वपूर्ण माना है। आपके मतानुसार सीखने की प्रक्रिया मे बाह्य प्रतिक्रियाओ के अतिरिक्त स्थानापन्न उत्तेजनायें (substitute stimuli) तथा स्थानापन्न प्रतिक्रियाये (substitute reactions) भी आपस मे सम्बन्धित हो जाती हैं। डॉ० शर्मा ने दो उदाहरणो द्वारा इस प्रकार के सम्बन्ध को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है—"पति के आने का समय होने पर पत्नी को सडक पर बजने वाली साइकिल की घण्टी की हर आवाज के साथ पति के आने की आहट मिलती है। बटुआ बायीं जेब में रहता है, पर आपका हाथ सदा दाहिनी जेब मे आता है, क्योकि बटुआ उससे इतनी बार निकाला गया है कि उसके निकाले जाने और दायीं जेब मे हाथ डाले जाने की क्रियायें जुड़-सी गयी हैं।" ऐसा भी देखा जाता है कि व्यक्ति के नैतिक सामाजिक, सास्कृतिक आदर्श आदि उसकी शारीरिक आवश्यकताओं तथा प्रेरणाओ का स्थान ग्रहण कर लेते हैं, जिसके फलस्वरूप वे भी व्यक्ति के व्यवहार को उतना ही प्रभावित तथा प्रेरित करने लगते हैं, जितनी कि जन्मजात प्रेरणायें। उदाहरणार्थ; राष्ट्रीयता की प्रेरणा हमें इतना अधिक प्रभावित करती है कि हम अपने राष्ट्र के लिये अपने प्राण तक की बलि चढ़ाने को तैयार हो जाते हैं।

हल का सिद्धान्त
(Theory of Hull)

सीखने के उपर्युक्त सिद्धान्तों को हर दृष्टि से अपने आप मे पूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनमें उन कारकों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है, जिनका योगदान सीखने की प्रक्रिया में होता है। इसीलिये श्री क्लार्क हल (Clark Hull) ने अपने सिद्धान्त में उन कारकों पर विशेष बल दिया है, जो सीखने की क्रिया में महत्व

रखते हैं। दूसरे शब्दों में, हल का सिद्धान्त सीखने के कुछ महत्वपूर्ण तत्त्वों पर प्रकाश डालता है। वे तत्त्व हैं—प्रणोदन (drives); संकेत (cue); प्रतिक्रिया (response); तथा पुष्टिकरण (reinforcement)। प्रणोदन वह शक्तिशाली उत्तेजना है जो प्रतिक्रिया करने को प्रेरित करती है। पर, व्यक्ति की प्रतिक्रिया कब, कहाँ और किस प्रकार की होगी, यह संकेतों (cues) द्वारा ही निश्चित होता है। दूसरे शब्दों में, संकेत प्रणोदन की दिशा व स्वरूप को निश्चित करता है। संकेत के निर्देशानुसार ही प्रणोदन एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया (response) को जन्म देता है, जिससे सीखने का कार्य सरल हो जाता है। पर, जब तक प्रतिक्रिया को बार-बार दोहराया नहीं जाता, और वह हमारे व्यवहार-प्रतिमान (behaviour pattern) का एक स्थायी अंग नहीं बन जाता, तब तक सीखने की प्रक्रिया सम्पूर्ण नहीं कहीं जाती। इसी अन्तिम चरण को भी हल ने 'पुष्टिकरण' कहा है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि मानव का सीखना एक जटिल प्रक्रिया है, जिसमें अनेक मनोवैज्ञानिक, शारीरिक, प्राकृतिक तथा सामाजिक कारण अपना-अपना योगदान करते हैं। पर, स्मरण रहे कि यह सम्पूर्ण प्रक्रिया समाज की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर ही क्रियाशील रहती है। एक परिस्थिति-विशेष के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया किस प्रकार की होगी, यह केवल व्यक्ति की जैविक विशेषताओं पर ही नहीं, सांस्कृतिक तत्त्वों पर भी निर्भर करता है। भारतवर्ष में ब्राह्मण-परिवार का लड़का हरिजनों को अस्पृश्य समझना सीख जाता है; पर, अमेरिका का कोई लड़का यह बात नहीं सीखता, क्योंकि हरिजनों को अस्पृश्य समझना वहाँ की संस्कृति का अंग नहीं है। यही बात अन्य प्रकार के सीखने के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अतः सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों का पूर्ण प्रभाव मानव के सीखने पर पड़ता है। किसी भी वैज्ञानिक विवेचना के समय इस सत्य को अस्वीकार करना उचित न होगा।

REFERENCES

1. "We may define the term very broadly in saying that learning is any change in behaviour resulting from behaviour."—*J.P. Guilford*, General Psychology, 1965, p. 343.
2. "Learing may be defined as a change in response system brought about by deliberate or unconscious linkage or association of new stimuli and old or new responses."—*Kimball Young*, Personality and Problems of Adjustment, (Routledge and Kegan Paul Ltd., London), 1952, p. 70.
3. "Learning has to do with certain changes in the stimulus- response systems of individual. It consists in doing things differently than we did them before."—*Ibid.*, p. 7.
4. "......learning consists of changes in the individual's adjustive system that do depend on stimuli arising in the environment."—*Kimball Young*.
5. "Learning consists in doing something new provided the new activity is reinforced and reappears in later activities."—*R.S. Woodworth*, Psychology (Methuen and Co. Ltd., London), 1949, p. 522.

6. "Learning is defined as 'the more of less permanent modification of an individual's activity in a given situation, due to practice in attempt to achieve some goal or solve some problems."—*Bern Hardt*, Practical Psychology, p. 259.

7. "Social learning refers to the acquisition of skills, facts, and values which comes about as a result of practice in our contact with other persons."—*Kimball Young*, Handbook of Social Psychology, (Routledge and Kegan Paul Ltd., London 1957, p 34).

8. "......a drive is a strong stimulus resulting from some disequilibrium in the organism which impels it to respond or react. If strong enough any stimulus may become a drive, and the stronger the stimulus, the more drive function it has."—*Kimball Young, Ibid.*, p. 38.

9 "The drive impels a person to respond, cues determine when he will respond, where he will respond, and which response he will make."—*Dollard and Miller*, Pesonality and Psychotherapy, p 32.

10 "The cue determines when, where and which response an individual will make."—*Ibid*, p. 39

11. "The most complex or highest form of learning is the symbolic, which involves the manipulation in reasoned or logical fashion,.....This type of learning depends, first, upon the cerebral-process, which makes possible intelligence judgment, choices, formation of ideas or concepts, and reasoning and, second, upon the level of culture to which the individual is exposed "—*Kimball Young*, op cit., p 180

12. "....a symbol is a stimulus—largely verbal, pictorial or material—which stands in place of, or suggests, or represents some object, situation, or relationship, by reason of some association of the two in experience "—*Kimball Young, Ibid.*, p 92.

व्यक्ति और समाज

[INDIVIDUAL AND SOCIETY]

"व्यक्ति और समाज के बीच का सम्बन्ध एकतरफा सम्बन्ध नहीं है, इसमें से किसी को भी समझने के लिए दोनों ही आवश्यक हैं।"

—MacIver and Page.

व्यक्ति के जीवन का विश्लेषण करने पर हमें दो प्रमुख आधारों का पता चलता है—एक तो प्राणीशास्त्रीय आधार; और दूसरा, सामाजिक आधार (जिसमें सांस्कृतिक विरासत भी सम्मिलित है)। इसीलिये यह कहा जाता है कि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। 'सामाजिक' शब्द से व्यक्ति के सामाजिक आधार का, तथा 'प्राणी' शब्द से उसके प्राणीशास्त्रीय आधार का आभास होता है। सच तो यह है कि व्यक्ति को अपने माता-पिता से वंशानुसंक्रमण (heredity) के द्वारा शारीरिक तथा मानसिक विशेषतायें प्राप्त होती हैं, परन्तु इन विशेषताओं का वास्तविक विकास समाज या सामाजिक परिस्थितियों में ही होता है। इस अर्थ में व्यक्ति के सामाजिक जीवन का आधार समाज ही है, क्योंकि प्राणीशास्त्रीय गुण वर्तमान रहने पर भी यदि व्यक्ति को समाज का साहचर्य या सम्पर्क प्राप्त नहीं होता, तो उसमें सामाजिक लक्षणों का विकास नहीं हो पाता। उसी प्रकार केवल 'समाज' भी जादुई चमत्कार से सामाजिक प्राणी का सृजन तब तक नहीं कर सकता, जब तक उसे प्राणीशास्त्रीय प्राणी के रूप में 'व्यक्ति' उपलब्ध न हो। अतः, स्पष्ट है कि व्यक्ति तथा समाज में *एक अविच्छिन्न सम्बन्ध है, जिसे कोई भी सामाजिक वैज्ञानिक अस्वीकार नहीं कर सकता।* पर, इस सम्बन्ध में और कुछ जानने-समझने से पहले यह जान लेना उचित होगा कि 'समाज' किसे कहते हैं।

समाज क्या है ?
(What is.Society)

रोज की बोलचाल में समाज का अर्थ है व्यक्तियों का समूह। परन्तु, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समाज की परिभाषा कुछ भिन्न तरह से की जाती है। श्री गिडिंग्स के शब्दों में, "समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का योग है, जिसमें सहयोग देने वाले व्यक्ति आपस में, एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हैं।"[1] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि व्यक्ति समाज का एक आवश्यक अंग है, क्योंकि *व्यक्तियों के सहयोग से ही समाज का निर्माण होता है। व्यक्ति अपना सम्बन्ध दूसरे* व्यक्तियों से स्थापित करता है, और इस प्रकार व्यक्ति परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित हो जाता है। यह सम्बन्धित रूप ही 'समाज' कहलाता है। अतः, व्यक्ति और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ होता है।

सर्वश्री मैकाइवर तथा पेज (MacIver and Page) के मतानुसार, "समाज रीति-रिवाजों और कार्य-प्रणालियों की, अधिकार और पारस्परिक सहयोग की, अनेक समूहों और भागों की, मानव-व्यवहार के नियंत्रणों और स्वाधीनताओं की व्यवस्था है। समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है।"[2]

उपर्युक्त विद्वानों के अनुसार, समाज सम्बन्धों का जाल है और इस जाल की अभिव्यक्ति हमें नाना प्रकार से देखने को मिलती है। उदाहरणार्थ, समाज में जो सामाजिक सम्बन्ध पाये जाते हैं, वे अधिकारों, सहयोगों, कार्य-प्रणालियों आदि के रूप में अपने को प्रकट कर सकते हैं। सर्वश्री मैकाइवर तथा पेज ने इन्हीं स्वरूपों को समाज की विशेषताएँ माना है। ऐसा कोई भी समाज नहीं होता, जिसके अपने रीति-रिवाज न हों। रीति-रिवाज (usages) सामाजिक या व्यक्तिगत जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित होते हैं—जैसे, खाने-पीने, बातचीत करने, मिलने-मिलाने शादी-विवाह आदि से सम्बन्धित विभिन्न रीति-रिवाज प्रत्येक समाज में पाये जाते हैं। ये सब रीतियाँ अर्थहीन नहीं होतीं, बल्कि सामाजिक जीवन के आवश्यक अंगों के रूप में समाज में बनी रहती हैं, तथा व्यक्ति के व्यवहारों को निर्देशित करती हैं। उसी प्रकार समाज के सदस्यों की अनेक सामान्य आवश्यकतायें होती हैं। इसलिये प्रत्येक समाज में इन आवश्यकताओं की पूर्ति के कुछ सर्वमान्य तरीके या कार्य-प्रणालियाँ (procedures) होती हैं, जिन्हें 'संस्था' कहा जाता है। इन कार्य-प्रणालियों के होने से सामाजिक संगठन और सुव्यवस्था बनी रहती है, क्योंकि व्यक्ति को यह पता होता है कि किसी विशेष अवसर पर उसे किस प्रकार से कार्य करना चाहिए। पर, यदि प्रत्येक व्यक्ति, समिति, समूह आदि को मनमाने ढंग से अपने स्वार्थों की पूर्ति करने की छूट दे दी जाय, तो सामाजिक संरचना (structure) तथा व्यवस्था एक दिन न चले। इसीलिये हर समाज में कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं, जिनके हाथ में शक्ति या अधिकार (authority) होता है, जिसके आधार पर वे दूसरों के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखते हैं। पर, केवल अधिकार से समाज-व्यवस्था तब तक कायम नहीं रह सकती जब तक कि सदस्यों में पारस्परिक सहयोग (mutual aid) की भावना न हो। व्यक्ति के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति इसी सहयोग के आधार पर ही सम्भव होती है। साथ ही, सहयोग देने वाले व्यक्ति एक दूसरे के निकट आ जाते हैं और उनमें अपना एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह सम्बन्ध ही समाज का निर्माण करता है। परन्तु, इस प्रकार जो समाज बनता है, वह कोई अखण्ड व्यवस्था नहीं होता, अपितु उसमें अनेक विभाग और उपविभाग पाये जाते हैं—जैसे, समुदाय, राज्य, परिवार, आर्थिक संगठन आदि। ये सब सामाजिक विभाग (social divisions) व्यक्ति के व्यवहार को संचालित व नियंत्रित करते हैं। पर, अगर इन सब विभागों को मनमाने ढंग से काम करने का अधिकार दे दिया जाय, तो भी सामाजिक व्यवस्था चल नहीं सकती। अतः, प्रत्येक समाज में मानवीय व्यवहार पर नियन्त्रण (control of human behaviour) करने की व्यवस्था होती है। रीति, प्रथा, परम्परा, धर्म, कानून आदि नियंत्रण के विभिन्न सामाजिक साधन हैं। मगर, केवल नियंत्रण से ही कोई सामाजिक व्यवस्था स्थिर नहीं रह सकती, क्योंकि यदि लोगों के ऊपर केवल दबाव ही डालते जायें, तो एक समय अवश्य ही ऐसा आ जायेगा, जब लोग उस दबाव या नियंत्रण के विरुद्ध आवाज उठायेंगे और सम्पूर्ण नियंत्रण के साधनों को चकनाचूर कर देंगे। इसीलिये, नियंत्रण के साथ-साथ समाज के सदस्यों को कुछ स्वतन्त्रता (liberty) भी दी जाती है, ताकि उन्हें अपने अधिकारों का भी ज्ञान हो।

समाज की उपर्युक्त विशेषताओं से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति को मानव बनाने का बहुत बड़ा श्रेय समाज को ही है। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी।

व्यक्ति को सामाजिक प्राणी बनाने (समाजीकरण) में समाज का महत्व
(Role of Society in Making the Man a Social being)

हम ऊपर ही लिख चुके हैं कि प्रत्येक समाज में खानपान, बातचीत, विवाह, शिक्षा आदि से सम्बन्धित अनेक रीति-रिवाज होते हैं। इसी प्रकार समाज में सामाजिक व्यवस्था और संगठन को बनाये रखने के लिये कार्य-प्रणालियाँ और काम करने के निश्चित तरीके होते हैं। समाज के एक सदस्य के रूप में व्यक्ति का सम्पर्क इन रीति-रिवाजों तथा कार्य-प्रणालियों के साथ स्थापित हो जाता है, और उसके व्यवहार में ये सब रीति-रिवाज आदि धीरे-धीरे जड़ पकड़ने लगते हैं। उसके सामाजिक प्राणी बनाने में यह प्रक्रिया महत्वपूर्ण सिद्ध होती है, क्योंकि इसके द्वारा व्यक्ति को बने-बनाये व्यवहार-प्रतिमान (behaviour patterns) प्राप्त होते जाते हैं। ये रीति-रिवाज, कार्य-प्रणालियाँ आदि समाज द्वारा अपनाई व परखी हुई होती हैं, इस कारण इनको स्वीकार कर लेने पर व्यक्ति को समाज के साथ अनुकूलन करने में सरलता होती है। स्पष्ट है कि समाज के अन्य लोग भी उन्हीं रीति-रिवाजों व कार्य-प्रणालियों के अनुसार कार्य करते रहते हैं।

इसी प्रकार समाज में (राज्य का राजा, परिवार में पिता और कालेज में प्रिंसिपल साहब) कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जिनके हाथ में शक्ति या अधिकार होता है, जिसके आधार पर वे व्यक्ति के व्यवहार को एक निश्चित दिशा में निर्देशित तथा नियंत्रित करते हैं। पर, यह निर्देशन तथा नियंत्रण का कार्य भी समाज द्वारा स्वीकृत विधियों से ही होता है। *अतः स्पष्ट है कि व्यक्ति के व्यवहार को उचित दिशा में संचालित करने का उत्तरदायित्व समाज अपने ऊपर ही लेता है और परिवार, पड़ोस, पुलिस, राज्य आदि के द्वारा इस उत्तरदायित्व को निभाता है।* पर, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समाज सभी व्यक्तियों को सही रास्ते पर परिचालित करने में सफल होता है। प्रत्येक समाज में अनेक ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो गलत रास्ते पर चले जाते हैं या बिगड़ जाते हैं। पर, इनकी संख्या उन लोगों की संख्या से कम ही होती है, जो समाज द्वारा बतलाये गये रास्ते पर चलते हैं या सामाजिक रीति-रिवाजों, कार्य-प्रणालियों, कानूनों, आदि को स्वीकार करते हैं।

वंशानुसंक्रमण द्वारा बच्चे को अपने माता-पिता से जो शरीर और शारीरिक व मानसिक विशेषताएँ प्राप्त होती हैं, उन्हें तो केवल कच्चा माल समझिये। वास्तविक कि व्यक्तित्व को बनाना या बिगाड़ना तो स्वयं समाज का ही कार्य है। दूसरे शब्दों में, माता-पिता से प्राप्त कच्चे माल से वास्तविक व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिये समाज की सहायता परमावश्यक है। समाज यह काम, अपनी विभिन्न संस्थाओं और समितियों—जैसे परिवार, खेल के साथी-समूह, पड़ोस, स्कूल, विवाह आदि—के द्वारा करता है। समाजीकरण की प्रक्रिया में, अर्थात् एक प्राणीशास्त्रीय प्राणी को एक सामाजिक प्राणी के रूप में बदलने में इन संस्थाओं और समितियों का क्या योगदान रहता है, इसकी विवेचना हम अगले अध्याय में विस्तारपूर्वक करेंगे।

यहाँ केवल इतना बता देना उचित होगा कि प्रत्येक समाज व उसकी संस्थाओं एवं समितियों का स्वरूप या प्रकृति एकसमान नहीं होती। इस कारण प्रत्येक समाज में समाजीकरण की प्रक्रिया एक-सी नहीं होती। अर्थात् व्यक्ति को प्रभावित करने वाले तत्व या शक्तियाँ प्रत्येक समाज में अलग-अलग होती हैं। यही कारण

है कि अमेरिका के परिवार में पलने वाला बच्चा जिन रीति-रिवाज, विचार, आदर्श, मूल्य आदि को अपने व्यक्तित्व में सम्मिलित करता है, उस प्रकार के रीति-रिवाज, विचार, आदर्श आदि भारतीय परिवार में पलने वाले बच्चे में देखने को नहीं मिलते हैं। अपने परिवार से जो विचार, स्थायीभाव (sentiments), आदर्श आदि बच्चा प्राप्त करता है, वे उसके व्यक्तित्व के आवश्यक अंग बन जाते हैं। उदाहरणार्थ, यदि बच्चा बचपन से ही अपने परिवार में वीर पुरुषों की गाथाएँ सुनेगा, उनकी अमर कथाओं से परिचित होगा, उनके आत्म-त्याग के उज्ज्वल दृष्टान्तों को जानेगा तो निश्चय ही उसमें वीरोचित गुणों का विकास होगा, आत्म-त्याग की भावना पनपेगी; और वह उच्च आदर्शों को सामने रखकर जीवन के पथ पर बढ़ेगा। अतः स्पष्ट है कि समाज वह विशिष्ट आधार है जो व्यक्ति को सदा सहारा देता तथा उसे प्रभावित करता रहता है। इस दृष्टि से भी हम कह सकते हैं कि समाज और व्यक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ होता है।

समाज की प्रगति व्यक्ति की प्रगति का एक आधार बन जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि समाज सभ्यता व संस्कृति के जिस स्तर पर होता है, मानव का जीवन या व्यक्तित्व भी उसी स्तर तक प्रगति कर सकता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई समाज कृषि-स्तर पर है तो उसके सदस्यों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे मशीनों से सम्बन्धित क्रियायें करना जानते होंगे। उनकी आर्थिक क्रियाओं का क्षेत्र तो कृषि से सम्बन्धित कार्यों तक ही सीमित रहेगा। उसी प्रकार यदि किसी समाज में स्कूल, कॉलेज आदि नहीं हैं तो उस समाज के सदस्यों के लिये यह सम्भव नहीं होगा कि वे अधिक पढ़-लिख जायें। इसके विपरीत जिस समाज में पढ़ने-लिखने की विशेष सुविधाएँ हैं, उसमें लोगों का बौद्धिक विकास सरलता से होगा।

समाज के सम्पर्क में आने से ही व्यक्ति छोटी-मोटी बातों से लेकर बड़ी से बड़ी बातें तक सीखता है। खाने-पीने का ढंग, बोलना-चालना, पूजन-आराधन का ढंग, सहयोग और सद्भावना, अनुकरण आदि सभी कुछ व्यक्ति समाज से ही सीखता है। समाज के साथ अन्तःक्रियात्मक सम्बन्ध होने के कारण ही व्यक्ति आदर्श बनता है, पढ़ना-लिखना सीखता है, ज्ञान प्राप्त करता है, मकान बनाता और उसमें रहना जान जाता है, और मशीनों तक को अपने नियन्त्रण में रखना सीखता है। अगर वह समाज का सदस्य नहीं है तो यह सब कुछ भी वह प्राप्त नहीं कर पाता है, और मानव कहलाने के योग्य नहीं रह जाता। इस बात की सत्यता निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जायेगी।

मानव-समाज से पृथक् मनुष्य
(Man Isolated from Human Society)

समाज और व्यक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध कितना घनिष्ठ होता है, इस बात का प्रमाण समाज से पृथक् व्यक्तियों के कुछ उदाहरणों से और भी स्पष्ट हो जायेगा।

1. कमला एवं अमला—सन् 1920 में पादरी जे० सिंह को दो बच्चे एक भेड़िये की मांद में मिले। इनमें से एक की आयु लगभग दो वर्ष और दूसरे की प्रायः आठ वर्ष थी। पहले बच्चे की तो कुछ माह बाद ही मृत्यु हो गई, परन्तु बड़ी लड़की कमला जीवित रही। चूंकि कमला बचपन से ही मानव-समाज से दूर रही, इस कारण उसमें कोई भी सामाजिक गुण विकसित नहीं हुआ। वह चारों हाथ-पैरों से

चलती, भेड़िये के समान गुर्राती, और मनुष्यों को देखकर डरती। वह न तो मानव प्राणी की भाँति बोल पाती, न खा पाती, और न अन्य कोई व्यवहार कर पाती। वह दिन में बेजान-सी पड़ी रहती, और रात के समय घूमती। वह कच्चा मांस खाती और भेड़ियों की तरह दूध पीती। पर, जब श्रीमती सिंह ने कमला का पालन-पोषण आरम्भ किया, तब कहीं वह धीरे-धीरे कुछ बोलना, कपड़े पहनना, भोजन करना आदि सीखने पर आई; और, आसपास के लोगों विशेषकर श्रीमती सिंह के प्रति उसका लगाव बढ़ने लगा। अतः स्पष्ट है कि मानव-समाज से दूर रहकर मनुष्य मानव की भाँति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता।

2. कैस्पर हॉउजर—सन् 1828 में न्यूरेमबर्ग के रास्ते पर एक 17 वर्ष का युवक बिलकुल जंगली जानवरों की भाँति घूमता हुआ पाया गया। ऐसा लगा कि उसे भी बचपन में जंगली जानवर उठा ले गये थे, और इतने दिनों तक वह (जिसका नाम कैस्पर हॉउजर (Kasper Hauser) रक्खा गया था) इन्हीं जानवरों के समाज में रहा। फलस्वरूप उसमें मानवोचित गुण का नाम तक न था। वह न तो मनुष्यों की तरह चल सकता था, और न ही उसके मस्तिष्क का जरा भी विकास हुआ था। वह केवल कुछ अर्थहीन शब्द गिड़गिड़ा सकता था। इसका कारण यही था कि उसे मानव-समाज के सम्पर्क में रहने का मौका ही नहीं मिला था। मानव-जीवन से दूर हट जाने के कारण मानवोचित गुण भी कैस्पर हॉउजर के व्यक्तित्व से दूर चले गये।

3. अवेराान का जंगली लड़का—फ्रांस के आवीरों (Aveyron) जंगल में एक लड़का मिला। वह बिलकुल जंगली था, और दूसरों को काटता और डराता था। जानवरों की तरह खाता था और चारों हाथ-पैर से चलता था। उसे बोलना बिलकुल नहीं आता था, वह केवल जानवरों की तरह कुछ आवाजें निकाल सकता था। इसीलिये फ्रांस के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक श्री पीनेल (Pinel) ने उस लड़के को एक जड़बुद्धि वाला जीव मानकर छोड़ दिया, क्योंकि वह ग्यारह वर्ष का होते हुए भी बुद्धि से एक वर्ष के बालक से भी गया-बीता था। पर, श्री इटार्ड (Itard) ने उसे पालने का काम अपने ऊपर लिया, क्योंकि उनका विश्वास था कि यदि वह जड़बुद्धि होता तो जंगल में जीवित नहीं रह सकता था। उन्होंने उसका नाम विक्टर (Victor) रक्खा। विक्टर धीरे-धीरे कपड़ा पहनना, चलना, नहाना आदि कुछ व्यवहार सीख गया। गर्मी-सर्दी में भेद करने लगा; और अन्य बातें भी समझने लगा। पर, बोलना वह सीख न सका। वह बोलने के स्थान पर इशारा या संकेत का प्रयोग करता। जैसे, यदि वह दूध चाहता तो दूध का बर्तन आगे बढ़ा देता। विक्टर के विषय में श्री इटार्ड ने लिखा है, "विक्टर पहले एक जंगली प्राणी था। पर बाद को उसने सीख लिया कि मानव-समाज में किस प्रकार रहना चाहिए, यहाँ तक कि उसने यह भी सीखा कि अपनी कुछ साधारण आवश्यकताओं को किस प्रकार लिखित भाषा में व्यक्त करे। परन्तु, योग्यता में वह अपनी उम्र के अन्य बालकों के बराबर के स्तर पर कभी नहीं पहुँच सका। बचपन में मानव-समाज के अभाव ने बालक में इतनी रुकावट या पिछड़ापन पैदा कर दिया कि इतने अधिक प्रयत्नों के बावजूद भी फल इतना कम प्राप्त हुआ।"[3]

4. अन्ना—अन्ना एक अवैध बालिका थी। सामाजिक निन्दा और असम्मान से बचने के लिये अन्ना की माँ ने उसे समस्त सामाजिक सम्पर्क से दूर एक कमरे में बन्द करके रखा और खाना-पानी देने के अतिरिक्त उसके साथ और कोई सम्बन्ध नहीं

रखा। अन्ना कमरे में इधर-उधर चक्कर न काटे, इसके लिये माँ उसे एक कुर्सी से बाँध कर रखती। पर, सन् 1938 में जबकि वह पाँच वर्ष की थी, अन्ना का उस स्थिति से उद्धार किया गया। उस समय उसका शरीर केवल हड्डियों का एक ढाँचा मात्र था। वह न तो कुछ बोल सकती थी और न ही चल सकती थी। फिर, अन्ना को एक अस्पताल में रक्खा गया। वहाँ उसकी चिकित्सा हुई और उसकी हालत कुछ सुधरने लगी। बाद को उसे पिछड़े हुए बच्चों के एक स्कूल में रखकर उसमें सामाजिक गुणों को विकसित करने का प्रयत्न किया गया। धीरे-धीरे उसने सीखना शुरू किया और चार वर्षों के प्रयत्न के बाद अन्ना इशारे समझने लगी, रंग पहचानने लगी, और चित्रों में भेद करने लगी। साथ ही कुछ शब्द बोलने भी लगी।

5. **ईजाबेल**—अन्ना की भाँति ईजाबेल भी एक अवैध लड़की थी। वह प्राय 7 वर्ष की आयु मे, सन् 1938 मे मिली। उसे भी मानव-समाज के सम्पर्क से जन्मावधि पृथक् रक्खा गया था। उसकी माँ गूँगी और बहरी थी। परिवार मे और कोई नहीं था। फलस्वरूप ईजावेल बोलना न सीख सकी। वह आदमियो को देखकर पशुओं के समान डरती थी। यद्यपि उसकी आयु 7 वर्ष की थी तो भी वह हर मामले में नवजात शिशु की भाँति ही थी। पर, मानव-समाज के सम्पर्क में आने के बाद उसके व्यवहार मे कुछ-कुछ परिवर्तन होने लगे। कई महीनों के प्रयत्नों के बाद वह बोलने भी लगी। फिर, प्रगति कुछ तेजी से हुई। सात महीने बाद ईजावेल 1500 से 2000 के बीच शब्द जान गयी, और आसपास के लोगों से प्रश्न भी करने लगी। उसकी प्रगति को देखकर उसे एक पब्लिक स्कूल मे पढ़ने के लिये भर्ती कर दिया गया। उसने सत्रह वर्ष की आयु मे छठी कक्षा पास कर लिया।

उपर्युक्त उदाहरणो से यह स्पष्ट है कि मानव-समाज से पृथक् व्यक्ति पशु के समान होता है। यह समाज ही है जो हमें मानव बनाता है। श्री गिटलर (Gitler) ने लिखा है—"मानव एक प्राणीशास्त्रीय प्राणी के रूप में पैदा होता है, और उसमें सामाजिक-सांस्कृतिक प्रकृति को विकसित करने की क्षमता होती है। निम्न श्रेणी के पशुओं के विपरीत मनुष्य आवश्यक प्राणीशास्त्रीय आधारों सहित जन्म लेता है—इन आधारों में होता है विस्तृत मस्तिष्क, जटिल स्नायु-मण्डल, भाषा के विकास के लिये सावयवी यंत्र (organic apparatus), संवेदना का उच्च स्तर, आदि। ये क्षमताएँ उसे सामाजिक या सांस्कृतिक प्राणी बनने में सहायता देती हैं। फिर भी, मनुष्य की ये प्राणीशास्त्रीय विशेषतायें इस बात की गारण्टी नहीं हैं कि उसमें सामाजिक और सांस्कृतिक गुणों का विकास होगा ही। वे आवश्यक शर्तें या अवस्थाएँ हैं, परन्तु वे अपने आप में पर्याप्त नहीं हैं। सामाजिक प्राणी बनने के लिये मनुष्य को आदतों, विश्वासों, ज्ञान, मनोवृत्तियों और अधिसावयवी विशेषताओं (super-organic characteristics) जैसे स्थायीभावों को अर्जित करना पड़ता है। ये अधि-सावयवी विशेषताएँ उन दूसरे लोगों के सम्पर्क में आने से विकसित होती हैं, जिनमें ये विशेषतायें पहले से होती हैं।"* श्री गिटलर ने यह भी लिखा है कि मनुष्य का अधिकतर व्यवहार जिसे हम सामाजिक व्यवहार कहते हैं, सीखने से ही आता है; और तभी आता है, जब मनुष्य अन्य सामाजिक प्राणियों के साथ आदान-प्रदान करता है, उनके सम्पर्क में आता है। मानव सामाजिक प्राणी इसीलिये तो है कि वह दूसरों के साथ रहता है, और समूह या समाज का सदस्य होता है।

व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध से सम्बन्धित सिद्धान्त
(Theories Regarding Relationship between Individual and Society)

इस सत्य को सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं कि मनुष्य या व्यक्ति और समाज के बीच अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु, इस सम्बन्ध की वास्तविक प्रकृति क्या है, इस विषय में इन्हीं विद्वानों में मतभेद है और इन मतभेदों का प्रमाण उनके द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों से मिलता है। इन सिद्धान्तों में निम्नलिखित दो परस्पर-विरोधी सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त
(Social Contract Theory)

सर्वश्री हॉब्स (Hobbes), लॉक (Locke) और रूसो (Rousseau) इस सिद्धान्त के तीन प्रमुख प्रवर्तक हैं। इन लेखकों ने मानव-इतिहास को दो कालों में विभाजित किया है। इनमें से पहले युग को प्रकृति की अवस्था (state of nature) का काल माना है, और दूसरे को समझौते के बाद का, जिसमें नागरिक, समाज तथा राज्य का जन्म हुआ। प्रकृति की अवस्था एवं व्यक्ति के व्यवहार पर नियन्त्रण करने के लिये न तो कोई नियम था और न ही कोई कानून। हर व्यक्ति अपनी इच्छानुसार काम करता था। किसी पर भी मानव-निर्मित नियमों की किसी तरह की कोई रोकथाम नहीं थी। व्यक्ति अपने को केवल उन्हीं नियमों के अधीन मानता था जो उसकी समझ से, प्रकृति ने उसके लिये बनाये थे। यह परिस्थिति न केवल असुविधाजनक थी, बल्कि असहनीय भी थी। इसीलिये, इससे छुटकारा पाने के लिये लोगों ने एक सामाजिक समझौते के द्वारा समाज का निर्माण किया। इस समझौते के परिणामस्वरूप मनुष्य की प्राकृतिक स्वतन्त्रता एवं अधिकारों का पूरा अथवा आंशिक लोप हो गया, और उसके स्थान पर उसे समाज या राज्य का संरक्षण (protection) प्राप्त हो गया। इस प्रकार प्राकृतिक नियमों का स्थान मानव-निर्मित कानूनों या सामाजिक नियमों ने ले लिया और प्राकृतिक अधिकारों के बदले हर व्यक्ति ने अपने आपको सामाजिक नियंत्रण व अधिकारों से घिरा हुआ पाया। इस प्रकार इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों के अनुसार समाज व सामाजिक जीवन एक कृत्रिम रचना है। समाज की रचना स्वयं मनुष्य ने की है, अर्थात् समाज और मनुष्य, दो पृथक् वस्तुएँ हैं, और इनके बीच, जो कुछ भी सम्बन्ध है, वह केवल एक ठेकेदारी-बन्दोबस्त है। अत. समाज से पृथक् होकर भी व्यक्ति का अस्तित्व सम्भव है, जैसा कि सामाजिक समझौते के पूर्व की स्थिति में था। अतः व्यक्ति ही सब कुछ है; समाज गौण है, क्योंकि उसे व्यक्तियों ने बनाया है।

(1) श्री हॉब्स (Hobbes) के अनुसार, मनुष्य एक निपट स्वार्थी प्राणी है। वह असामाजिक (unsocial) है और अन्य मनुष्यों के बीच किसी प्रकार के आनन्द का अनुभव नहीं करता है। श्री हॉब्स ने जीवन की सर्वोच्च भावनाओं तक को स्वार्थपूर्ण बताया है। आप माता के प्यार को स्वार्थपूर्ण मानते हैं, त्याग को भविष्य में स्वार्थसिद्धि का साधन समझते हैं; और धर्मभीरुता को अदृश्य शक्तियों के प्रति भय की भावना की अभिव्यक्ति कहते हैं। उनके अनुसार मनुष्य के सभी कार्यों को प्रेरणा देने वाले प्रमुख उद्देश्य दो हैं—स्वार्थ तथा भय। मनुष्य जो कुछ करता है, अपने स्वार्थ के कारण; और, जो कुछ नहीं करता, वह भय के कारण। इस

प्रकार मनुष्य के व्यवहारों या क्रियाओं को संचालित तथा नियंत्रित करने में समाज का कोई भी हाथ नहीं होता। जहाँ तक शारीरिक और मानसिक शक्तियों का सम्बन्ध है, श्री हॉब्स के मतानुसार, आरम्भ में सभी मनुष्य बराबर होते हैं। इसका प्रमाण यह है कि संसार में कोई भी अपने को किसी दूसरे व्यक्ति से किसी बात में कम नहीं समझता।

श्री हॉब्स के विचारों की आलोचना—आपकी आधारभूत मान्यता यह थी कि प्रकृति की अवस्था में मनुष्य के समस्त कार्यों को स्वार्थ की प्रवृत्ति से प्रेरणा मिलती थी। श्री हॉब्स ने मनुष्य को सभी सामाजिक गुणों से विहीन माना है। पर, आगे चल कर आपने इन्हीं मनुष्यों को समाज तथा राज्य की स्थापना करने वाला बताया है। पर, हर तरह स्वार्थी मानव के लिए समझौता करना कैसे सम्भव हो सकता है, यह श्री हॉब्स ने नहीं समझाया। आधुनिक अनुसन्धानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य तो सामाजिक प्राणी है ही, पशुओं में भी सामाजिक जीवन तथा सहकारिता के गुण पाये जाते हैं। अतः अगर मनुष्य का उद्विकास (evolution) पशु से हुआ है, तो भी यह निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि समाज का या सामाजिक जीवन का अस्तित्व आरम्भ से ही था, न कि उसकी कृत्रिम रचना बाद को मनुष्यों के द्वारा जानबूझ कर, समझौते की शर्तों के अनुसार की गई। मानव-इतिहास के प्रारम्भ से ही *जीवन की इकाई परिवार अथवा जनजाति (tribe)* होती थी, व्यक्ति नहीं।

(2) **श्री लॉक (Locke)** की प्रकृति की अवस्था श्री हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था से पूर्णतया भिन्न है। उन्होंने लिखा है, प्रकृति की अवस्था शान्ति, सद्भावना, पारस्परिक सहयोग और आत्मरक्षा की अवस्था थी। इस अवस्था में मनुष्य असामाजिक नहीं था। वह स्वार्थपूर्ण तथा उदात्त, दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का स्वामी था। वह स्वाभाव से कलहप्रिय नहीं था। अब तो स्वयं प्रकृति के नियमों ने मनुष्य को एक ऐसा नैतिक प्राणी बना दिया है, जो अन्तरात्मा की आवाज के अनुसार कार्य करता है।

श्री लॉक के विचारों की आलोचना—यदि श्री लॉक की कल्पना के अनुसार प्रकृति की अवस्था के मनुष्य, भले और सदाचारी थे तो समाज की आवश्यकता ही क्या थी? समाज व्यक्ति के लिये जो कुछ करता है, वह श्री लॉक के अनुसार, बहुत थोड़ा है। व्यक्ति के नैतिक हित से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है, क्योंकि नैतिक हित व्यक्तिगत प्रयास का विषय माना गया है, न कि सामाजिक प्रयत्नों का। व्यक्ति के मानसिक विकास में भी समाज सहायक नहीं होता, क्योंकि श्री लॉक ने शिक्षा प्रसार को सामाजिक कर्त्तव्य के अन्तर्गत माना ही नहीं है। श्री लॉक के इन सिद्धान्तों को आधुनिक विद्वान् स्वीकार नहीं करते।

(3) **श्री रूसो (Rousseau)** ने प्रकृति की अवस्था के मनुष्य का चित्रण एक ऐसे 'आदर्श बर्बर' (noble savage) के रूप में किया है, जो स्वतन्त्र, सन्तुष्ट तथा आत्मनिर्भर था। उस समय मनुष्य पूर्णतया सुखी था, और उसके हृदय में प्रेम तथा सहानुभूति की उच्च भावनायें थीं। अर्थात्, समाज के बिना भी इन गुणों का विकास सम्भव है, यह श्री रूसो का विश्वास था। पर, प्रकृति की अवस्था का सुख ऐसा आदर्श था कि उसका चिरस्थायी होना असम्भव था। अतएव शीघ्र ही सभी प्रकार के पाप तथा भ्रष्टाचार सामने आये और इस अवस्था से मुक्ति पाने के लिये मनुष्यों ने पारस्परिक सहमति के आधार पर समाज की स्थापना की। श्री रूसो

(Rousseau) ने लिखा है, "मनुष्य जन्मतः स्वतन्त्र है, पर हर जगह श्रृंखलाबद्ध है। जो व्यक्ति अपने आपको दूसरों का स्वामी समझता है, वह वास्तव में उन दूसरे लोगों से भी अधिक गुलाम है।"[5] इसका कारण यह है कि सामाजिक समझौते के बाद राजा को भी समाज की सामान्य इच्छा (general will) के अधीन ही रहना पड़ता है। यही बात अन्य सदस्यों के विषय में भी कही जा सकती है। प्रत्येक व्यक्ति ने समझौते के अनुसार समाज की सामान्य इच्छा के अधीन रहना स्वीकार किया, और इसी के परिणामस्वरूप हर व्यक्ति समाज का एक अविभाज्य अंग बन गया। इस प्रकार एक नये संगठन का प्रादुर्भाव हुआ, जिसकी अपनी अलग सत्ता तथा अपनी अलग इच्छा थी। इस सगठन को 'सामाजिक सगठन' या 'राज्य' कहा जाता है। श्री रूसो के अनुसार सामाजिक समझौता व्यक्तियों के निजी अथवा व्यक्तिगत स्वरूप, के बीच हुआ था। अ, ब, स इत्यादि नामक व्यक्तियों ने अपने सारे अधिकार अ+ब+स इत्यादि की सामूहिक सम्पूर्णता 'द' को दे दी। इसमें घाटा किसी को नहीं हुआ, सभी लाभ में रहे, क्योंकि इस समझौते से 'प्रत्येक' को 'सबकी' सम्मिलित सेवा प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हो गया। साथ ही, इससे सभी व्यक्ति समान हो गये, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति ने अपना सम्पूर्ण स्वत्व, अपने सारे अधिकार, समाज को दे दिये। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपना व्यक्तित्व खो बैठा और सब समान हो गये। परन्तु, इसका अर्थ यह नहीं है कि इस प्रकार अपना स्वत्व खोकर व्यक्ति ने अपनी स्वतन्त्रता भी खो दी। हर व्यक्ति ने अपने स्वत्व या अधिकार का त्याग सामूहिक सम्पूर्णता के पक्ष में किया। इसका अर्थ यह हुआ कि उसने अपने आपको किसी भी व्यक्ति-विशेष के हाथों में नहीं दिया। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों पर वही अधिकार मिला, जिसका उसने स्वयं त्याग किया, अर्थात् जो हानि हुई, उसी के बराबर प्राप्ति भी हुई। फिर, जो कुछ शेष बचा, उसकी रक्षा की शक्ति बढ़ गई।

समालोचना—श्री रूसो के अनुसार सामाजिक समझौता व्यक्ति और समाज के बीच हुआ। परन्तु, साथ ही आप यह भी कहते हैं कि समाज समझौते का ही परिणाम है। इस प्रकार आपके सिद्धान्त में विरोधाभास (contradiction) दीखता है। फिर, उनके अनुसार जब प्रत्येक व्यक्ति ने अपने सारे अधिकार समाज को दे दिये, तो वह समाज का गुलाम बन गया। पर, वास्तव में व्यक्ति समाज का गुलाम ही नहीं, स्वामी भी बना।

सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की सामान्य आलोचना (General Criticism of Social Contract Theory)—(1) इस सिद्धान्त के समर्थकों के इस मत से आज कोई भी विद्वान् सहमत नहीं है कि समाज एक कृत्रिम रचना है। इस विचार के पक्ष में कोई भी ठोस प्रमाण नहीं मिलता। साथ ही साथ ऐसे किसी समझौते का कोई ऐतिहासिक उल्लेख नहीं है, जिसके आधार पर समाज का निर्माण किया गया हो। न ही यही इस बात की चर्चा है कि इस समझौते को बाद वाली या उत्तरकालीन पीढ़ियों ने कब और क्यों स्वीकार किया।

(2) यह सिद्धान्त यह मानता है कि मानवसमाज से बाहर रहकर भी या समाज के अस्तित्व के पहले भी, मनुष्य, मनुष्य ही था, और रह भी सकता है। परन्तु यह विचार भी गलत है। आधुनिक मानवशास्त्रियों (anthropologists) ने मानव-अस्तित्व के इतिहास का गहन अध्ययन करके यह निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दिया है कि समझौता-सिद्धान्त के प्रवर्तकों ने जिस प्रकार की प्रकृति की अवस्था (state of nature) का वर्णन किया है, उस प्रकार की किसी अवस्था का मानव-समाज में

कभी कोई अस्तित्व नहीं रहा है। यह वास्तव में कोरी कल्पना है। ऐसा समय कभी था ही नहीं, जब व्यक्ति सामाजिक संस्थाओं के बिना अकेले जीवन निर्वाह करता रहा हो। प्रारम्भिक समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह नहीं था, जिनके अपने पारस्परिक सम्बन्ध, अपने रीति-रिवाज एवं अपनी परम्परायें न रही हों। साथ ही, अतिप्राचीन समाज की भी इकाई व्यक्ति नहीं, अपितु परिवार, गोत्र, आदि थे; और उस समय भी व्यक्ति पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं था, बल्कि परिवार, गोत्र आदि के नियमों में जकड़ा हुआ था, और इन्हीं नियमों, रीति-रिवाजों, पारस्परिक सहयोगों आदि के कारण ही व्यक्ति मानव बन सका, अपने को पशु-जगत् से अलग कर सका। अतः, समाज का सदस्य बनकर ही व्यक्ति ने मानव-गुणों का विकास किया, समाज से बाहर रहकर नहीं। सर्वश्री मैकाइवर तथा पेज (MacIver and Page) ने लिखा है कि इस सिद्धान्त को हम तभी सच कह सकते हैं जबकि हम यह मान लें कि व्यक्ति और समाज का अस्तित्व अलग-अलग है। पर वास्तव में इन दोनों में से किसी के पहले या बाद में होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। समाज और व्यक्ति आरम्भ से ही एक-दूसरे के साथ रहे हैं। व्यक्ति का अस्तित्व समाज के बिना, और समाज का अस्तित्व व्यक्ति के बिना असम्भव है।

(३) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त कहता है कि समाज के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध ठेकेदारी-बन्दोबस्त जैसा है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। व्यक्ति और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध इससे कहीं अधिक आन्तरिक और घनिष्ठ है। इस सम्बन्ध में श्री बर्क (Burke) की उक्ति बहुत समीचीन है। उन्होंने लिखा है, "यदि समाज या राज्य को एक प्रकार की साझेदारी (या समझौता) ही मान लिया जाये, तो भी यह एक ऐसी साझेदारी नहीं है जैसी कि मिर्च या कहवा के व्यापार में होती है, जिसे इच्छानुसार समाप्त किया जा सकता हो। यह साझेदारी तो सभी विज्ञानों और सम्पूर्ण कलाओं में, समस्त गुणों एवं सारी पूर्णता में साझेदारी है। चूंकि ऐसी साझेदारी का परिणाम एक-दो पीढ़ियों में प्राप्त नहीं किया जा सकता, इस कारण यह साझेदारी (या समझौता) उनके बीच है जो जीवित हैं; उनके बीच है जो मर चुके हैं; और उनके बीच भी है जो आगे जन्म लेंगे।"[6]

सावयवी सिद्धान्त

(The Organismic Theory)

यह सिद्धान्त सामाजिक समझौते के सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है। समझौता सिद्धान्त व्यक्ति को ही सब कुछ मानता है; और यह कहता है कि समाज से पृथक् व्यक्ति की सत्ता सम्भव है। इसके विपरीत सावयवी सिद्धान्त समाज को ही सब कुछ मानता है, और इस बात का समर्थन करता है कि समाज से भिन्न व्यक्ति का पृथक् अस्तित्व हो ही नहीं सकता। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज एक शरीर की भाँति है। शरीर की रचना अनेक कोष्ठों (cells) को मिलाकर होती है; और उसमें (शरीर में) हाथ, पैर, नाक, सिर, पेट, आँख, मुँह आदि अनेक अंग होते हैं। परन्तु इन अंगों का कोई भी पृथक् अस्तित्व शरीर से अलग नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, हाथ तब तक हाथ है और हाथ का काम करता है जब तक शरीर से जुड़ा है। हाथ को शरीर से काट कर अलग करके जमीन पर रख दीजिए, हाथ कभी भी हाथ नहीं रह सकता, और न ही हाथ का कोई काम कर सकता है। बिलकुल यही बात व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में भी सच है। अनेक व्यक्तियों को ही समाज बनना है; एक-एक मिलाकर व्यक्ति समाज-रूपी शरीर का एक-एक कोष

या कोष्ठ (cell) है। पर, समाज में रहते हुए उसका कोई भी पृथक् अस्तित्व नहीं होता। व्यक्ति तभी तक मानव है, जब तक वह समाज के साथ संयुक्त है।

श्री हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने इस सिद्धान्त को सविस्तार प्रस्तुत करते हुए शरीर और समाज के बीच अनेक समानताओं का उल्लेख किया है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग—कार्यों का विभाजन होते हुए भी—एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं, उसी प्रकार समाज के सदस्य—श्रम-विभाजन होते हुए भी—अन्तःनिर्भर होते हैं। जिस प्रकार मुख, पेट, आँतों आदि के द्वारा सम्पूर्ण शरीर का पोषण होता है, उसी प्रकार कृषि और उद्योग-व्यवस्था द्वारा समाज का पालन-पोषण होता है। जिस प्रकार सर्वत्र बिछे हुए नस-नाड़ियों के जाल के द्वारा शरीर में रक्त-सचालन होता है, उसी प्रकार समाज में रेल, सड़कों, डाक व तार-प्रणाली जैसे यातायात और संचार के साधनों के द्वारा समाज की वितरण-व्यवस्था कायम रहती है। जिस प्रकार मस्तिष्क शरीर में सभी क्रियाओं को नियमित (regulate) करता है, उसी प्रकार समाज में सरकार नियमन व नियंत्रण का कार्य करती है। संक्षेप में, इस सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति केवल एक इकाई के रूप में कार्य करता है, और उसका समाज से पृथक कोई भी अस्तित्व न तो है और न ही हो सकता है।

समालोचना—इस सिद्धान्त के अनुसार समाज की तुलना मे व्यक्ति कुछ भी नहीं है, उसका अपना कोई भी अस्तित्व नहीं है। समाज ही सब कुछ है, और वही सब कुछ कर सकता है। परन्तु, इस सिद्धान्त के प्रवर्तक यह भूल जाते हैं कि मनुष्य एक चेतनशील प्राणी है, उसका अपना विचार, मस्तिष्क आदि भी होता है। शरीर के कोष्ठ एक-दूसरे के साथ इस तरह पूर्णतया घुलमिल जाते हैं कि उन्हें सम्पूर्ण से पृथक् नही किया जा सकता। पर, व्यक्ति समाज के साथ घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित होते हुए भी उसके साथ इतना अधिक घुलमिल नहीं जाता है कि अपना पृथक् अस्तित्व तक खो बैठे। समाज का प्रभाव उसकी क्रियाओं पर अवश्य ही पड़ता है; पर, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्ति अपनी अक्ल से कभी काम ही नहीं लेता, स्वतंत्र रूप से न तो कुछ सोचता है और न ही विचारता है। यह धारणा गलत है। वह समाज से अभिन्न रूप में जुड़ा हुआ है और अनेक पीढ़ियों के अनुभवों से लाभ उठाता है, फिर भी समाज के प्रति उसका अपना भी कुछ अनुदान होता है। वह समाज के द्वारा अपनी क्रियाओं को निर्देशित तथा संचालित करता है, पर वह स्वयं अपनी बुद्धि और विवेक से भी काम लेता है। अतः व्यक्ति का समाज के साथ वैसा सम्बन्ध नहीं है जैसा कि कोष्ठ का शरीर के साथ होता है। इसीलिये सर्वश्री मैकाइवर तथा पेज (MacIver and Page) ने लिखा है, "यह कहना गलत है कि हमारा सम्बन्ध समाज से उसी प्रकार का है जिस प्रकार का पत्तियों का पेड़ से या कोष्ठों का शरीर से। वास्तव मे समाज का तब तक कोई अर्थ नहीं होता, जब तक कि स्वयं व्यक्ति वास्तविक रूप मे विद्यमान न हो। सावयवी सिद्धान्त मे साहित्यिक या सुझावशील उपयोगिता (literary and suggestive utility) कितनी ही क्यों न हो, फिर भी सामाजिक जीवन के आधारभूत सम्बन्धों या समाज व व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या के रूप मे इस सिद्धान्त को हमें अपनी विचारधारा मे स्थान नहीं देना चाहिए। इसका कारण यह है कि सावयवी सिद्धान्त, व्यक्तिवादी सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की भाँति, समाज व व्यक्ति के बीच के सम्बन्ध के एक पक्ष को अस्वीकार करता है।"

समाज तथा व्यक्ति का वास्तविक सम्बन्ध
(The Actual Relationship between Individual and Society)

यह सच है कि व्यक्ति अपने सामाजिक गुणों को तब तक विकसित नहीं कर सकता है, जब तक कि वह समाज का सदस्य न बने। कैस्पर हॉउजर, कमला आदि की उपयुक्त जीवनियों से यह बात स्पष्टतः प्रमाणित है। इन दोनों का प्रारम्भिक जीवन जंगली जानवरों के समाज में बीता था। इसलिये इनके व्यक्तित्व में मानव-गुण एक भी नहीं था। वे न मनुष्य की तरह चल पाते थे, न बोल पाते थे, और न ही खा-पी सकते थे। मानव-समाज से दूर रहने के फलस्वरूप मानव-गुण भी उनसे दूर हो गये। अतः स्पष्ट है कि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है; और वह इसी अर्थ में कि मानव-स्वभाव (human nature) के निर्माण के लिये जो कच्चा माल एक व्यक्ति को अपने माता-पिता से वंशानुसंक्रमण (heredity) से प्राप्त होता है, उससे वास्तविक सामाजिक स्वभाव या यों सामाजिक प्राणी का निर्माण समाज में ही होता है। एक ओर समाज व्यक्ति को वह अवसर व पर्यावरण प्रदान करता है, जिसमें मानव स्वभाव व व्यक्तित्व का निर्माण व विकास सम्भव हो; और, समाज ही व्यक्ति के व्यवहार, विश्वास तथा आचार को प्रभावित, नियमित और नियंत्रित करता है। सर्वश्री मैकाइवर तथा पेज (MacIver and Page) ने उचित ही लिखा है कि "मनुष्य में मानव-प्रकृति का विकास केवल तभी होता है, जब वह सामाजिक मनुष्य होता है, जब वह उन अनेक मनुष्यों में से एक होता है जो एक सामान्य जीवन में भागीदार बनते हैं।"[7]

परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि समाज ही सब कुछ है। जिस प्रकार समाज के बिना व्यक्ति का अस्तित्व सम्भव नहीं है, उसी प्रकार व्यक्ति के बिना समाज का अस्तित्व भी असम्भव है। व्यक्ति को निकालकर समाज की कल्पना कदापि नहीं की जा सकती। ये मनुष्य की ही आशाएँ, इच्छायें और आवश्यकतायें हैं; ये उसी की कल्पनायें, स्वप्न, सहयोग और संघर्ष हैं, जो सामाजिक सम्बन्ध या समाज का निर्माण करते हैं। इनके बिना समाज का अस्तित्व ही सम्भव नहीं। व्यक्ति इन्हीं इच्छाओं, आवश्यकताओं आदि के आधार पर एक-दूसरे से अन्तःक्रिया करते हैं, और उनके बीच सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होता है। इन्हीं सम्बन्धों के फलस्वरूप समाज का विकास होता है, उसका अस्तित्व सम्भव होता है। अतः स्पष्ट है कि समाज और मनुष्य के सम्बन्ध अन्योन्याश्रित हैं, और एक के बिना दूसरा अर्थहीन है।

समाज व व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में सर्वश्री मैकाइवर तथा पेज (MacIver and Page) का निष्कर्ष इस प्रकार है—"व्यक्ति का सम्बन्ध समाज से उस प्रकार का नहीं है, जैसा कि शरीर के साथ कोष्ठों (cells) का। क्रिया, अनुभूति, कार्य, उद्देश्य का एक मात्र केन्द्र—जिसे हम जानते हैं—स्वयं व्यक्ति है इसी प्रकार एक मात्र समाज—जिससे हम लोग परिचित हैं—वही समाज है, जिसमें ये व्यक्ति—समय व स्थान के अनुसार—उन्हीं पारस्परिक सम्बन्धों के द्वारा आपस में सम्बद्ध या बँधे हुए हैं, जिन्हें वे (व्यक्ति) स्वयं ही जन्म देते या विरासत में पाते हैं। एक मात्र अनुभव—जिसे हम जानते हैं—व्यक्तियों का ही अनुभव है। व्यक्तियों के सबधों, स्वार्थों, अभिलाषाओं तथा डरों (fears) के ही संदर्भ में हम समाज के किसी कार्य या लक्ष्य का निर्धारण कर सकते हैं। इसके विपरीत, चूँकि व्यक्ति समाज का एक अंग है, केवल इसीलिये व्यक्तियों के अपने स्वार्थ हैं, अपनी

भिलाषाएँ हैं, अपने लक्ष्य हैं। केवल समाज मे ही मानव-प्रकृति का विकास हो कता है। व्यक्ति तथा समाज के बीच का सम्बन्ध एकतरफा सम्बन्ध नही है, इनमें किसी को भी समझने के लिये दोनों आवश्यक है।"[8]

REFERENCES

1. "Society is the union itself, the organization, the sum of formal relations, in which asociating individuals are bound together."—*Giddings*.
2. "Society is a system of usages and procedures, of authority and mutual aid, of many groupings and divisions, of controls of human behaviour and of liberties......it is the webs of social relationships."—*MacIver and Page*, Society, (Macmillan and Co., London), 1953, p. 5.
3. "From a wild savage Victor learnt how to live in human society and even to express some of his simplest wants in written language ; but he never equalled the ability of other boys of his age. The lack of human society in early childhood had retarded the boy so much that it took a gigantic effort to produce so little." Itard, 'The Wild Boy Of Aveyron, 1932, p. 63
4. "J.B. Gittler, 'Social Dynamics', p. 21.
5. "Man is born free and everywhere he is in chains. One who believes himself, the master of the rest is only more of a slave than they."—*Rousseau*.
6. "Even if the State or society is a partnership, it is not a partnership in pepper or coffee which can be dissolved at will, but it is a partnership in all science and in all art, all virtue and all perfection. As the results of such partnership cannot be achieved in one generation or two, it is a partnership between those who are living, between those who are dead and between those who are yet to be born."—*Burke*.
7. ".....human nature develops in man only when he is social man, only when he is one of many men sharing common life."—*Ibid.*, p. 45.
8. Ibid., p. 48.

समाजीकरण

[SOCIALIZATION]

"समाजीकरण का अर्थ उस प्रक्रिया से है जिससे किसी व्यक्ति को सामाजिक व्यक्ति बनाया या समाजीकृत किया जाता है।" —K. Davis.

बच्चा जब जन्म लेता है तो वह केवल रक्त, मांस हड्डी आदि का एक जीवित पुतला मात्र होता है। उस समय न तो उसमें कोई सामाजिक गुण होता है, और न ही कोई समाज-विरोधी गुण। उस समय तो वह थोड़े से प्राणीशास्त्रीय गुणों वाला एक जीवित प्राणी होता है। फिर समाज और संस्कृति के बीच पलते हुए वही धीरे-धीरे एक सामाजिक प्राणी में बदल जाता है, अर्थात् उस प्राणीशास्त्रीय प्राणी में *सामाजिक गुण या लक्षण (traits) स्पष्ट होने लगते हैं; वह अपनी सामाजिक* परंपराओं और रूढ़ियों के अनुसार व्यवहार करना सीख जाता है; और इसके द्वारा अपने को पशु-जगत् से अलग कर लेता है। इस प्रकार जिस प्रक्रिया (process) के द्वारा कोई भी प्राणीशास्त्रीय प्राणी सामाजिक प्राणी में बदल जाता है, उसे 'समाजीकरण' कहते हैं। समाजीकरण से ही व्यक्ति मनुष्य बनता है, अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक विरासत (socio-cultural heritage) का सक्रिय हिस्सेदार बनता है, और अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। संक्षेप में, समाजीकरण व्यक्ति को सामाजिक जीवन के ढंग (way of social life) को सिखाने की एक प्रक्रिया है। इस अध्याय में हम इसी प्रक्रिया का अध्ययन करेंगे; अर्थात् उन समस्त कारकों की विवेचना करेंगे, जो प्राणीशास्त्रीय प्राणी को सामाजिक प्राणी बनाने में महत्त्व रखते हैं। पर, इससे पहले 'समाजीकरण' की परिभाषाओं को जान लेना उचित होगा।

समाजीकरण की परिभाषा

(Definition of Socialization)

अलग-अलग विद्वानों ने समाजीकरण की परिभाषा अलग-अलग शब्दों में प्रस्तुत की है, यद्यपि समाजीकरण से सम्बन्धित मूल धारणा के सम्बन्ध में इनमें कोई मतभेद नहीं है। सभी ने किसी न किसी रूप में यह स्वीकार किया है कि व्यक्ति को एक सामाजिक प्राणी के रूप में विकसित करने की प्रक्रिया को ही 'समाजीकरण' कहते हैं। इसी मूल तथ्य को विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग रूपों में किस प्रकार प्रस्तुत किया है, यह निम्नलिखित परिभाषाओं से ही स्पष्ट हो जायेगा।

प्रोफेसर ग्रीन (Green) के शब्दों में—"समाजीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति का विकास इस भांति होता है कि हम उसे सामाजिक प्राणी कह सकते हैं।" इसी को दूसरे शब्दों में श्री न्यूमेयर (Neumeyer) ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"व्यक्ति के सामाजिक प्राणी के रूप में विकसित होने की प्रक्रिया को ही 'समाजीकरण' कहते हैं।"

एक दो परिभाषाओं में समाजीकरण को एक प्रक्रिया माना गया है; अर्थात्, यह परिवर्तन की एक गति है, जो निरन्तर चालू रहती है। जिस दिन बच्चा पैदा होता है, उसी दिन से समाजीकरण की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है, चाहे बच्चे को

ओर से उस प्रक्रिया के प्रति कोई प्रतिक्रिया हो या न हो। एक बार क्रियाशील हो जाने के बाद समाजीकरण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है; और कुछ विद्वानों के अनुसार जीवन के अन्तिम दिन ही समाप्त होती है। उपर्युक्त विद्वानों की परिभाषाओं से यह भी स्पष्ट है कि समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति को सामाजिक प्राणी के रूप में विकसित करती है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि व्यक्ति जन्म से ही एक सामाजिक प्राणी नहीं होता, बल्कि समाज उसे एक सामाजिक प्राणी बनाता है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक प्राणी बनने के लिये वंशानुसंक्रमण द्वारा अपने माता-पिता से प्राप्त शारीरिक व मानसिक गुण या लक्षण (traits) ही तब तक पर्याप्त नहीं हैं, जब तक कि इन गुणों या लक्षणों को समाज एक सामाजिक ढाँचे में ढाल न दे, और अन्य सामाजिक गुणों को इस भाँति विकसित न करे कि व्यक्ति को—पशु से अलग एक सामाजिक प्राणी के रूप में पहचाना जा सके। सर्वश्री ग्रीन तथा न्यूमेयर ने अपनी-अपनी परिभाषा में इसी सत्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है।

कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो समाजीकरण को सीखने की एक प्रक्रिया मानते हैं। उनके अनुसार सीखने की इस प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति सामाजिक व्यवहारों को सीखता है। जॉनसन (Johnson) के शब्दों में, "समाजीकरण एक प्रकार का सीखना है, जो सीखने वाले को सामाजिक कार्य करने के योग्य बनाता है।"[1]

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) के मतानुसार, "समाजीकरण व्यक्ति का सामाजिक और सांस्कृतिक दुनिया से परिचय कराने, उसे समाज तथा उसके विभिन्न समूहों में एक सहभागी सदस्य बनाने, तथा उस समाज के आदर्श नियमों (norms) तथा मूल्यों (values) को स्वीकार करने को प्रेरित करने वाली प्रक्रिया है।"[2] आपने आगे और लिखा है कि समाजीकरण निश्चित रूप से एक प्रकार का 'सीखना' है, न कि प्राणीशास्त्रीय विरासत (biological inheritance)। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति जनरीतियों, रूढ़ियों, कानूनों, तथा अपनी संस्कृति की अन्य विशेषताओं को, और कौशल (skills) व अन्य आवश्यक आदतों को सीखता है, और ये उसे समाज का एक क्रियाशील सदस्य बनने में मदद करती हैं। व्यक्ति अपने परिवार, पड़ोस, वर्ग तथा समुदाय के उद्देश्यों तथा मूल्यों (aims and values) के अनुरूप अपने को ढालना सीखता है। इसी प्रकार वह बाहरी समूहों के प्रति प्रतिस्पर्धामूलक व विरोधी प्रतिक्रियाओं को भी विकसित कर सकता है। संक्षेप में, श्री यंग के अनुसार समाजीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया अन्त:क्रिया या सामाजिक क्रिया के क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाती है।[3]

अतः स्पष्ट है कि श्री किम्बल यंग (Kimball Young) ने, समाजीकरण को एक प्रकार का सीखना (learning) मानते हुए भी यह स्वीकार किया है कि यह एक अन्त:क्रियात्मक प्रक्रिया या सामाजिक क्रिया है। कुछ विद्वानों ने समाजीकरण की प्रक्रिया के अन्त:क्रियात्मक पक्ष पर अत्यधिक बल दिया है। उनके अनुसार समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति को अपने समाज के अन्य सदस्यों या साथियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है; इस सम्बन्ध के फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति पर अन्य व्यक्तियों का एक अन्त:क्रियात्मक प्रभाव पड़ता है; और, यह प्रभाव व्यक्ति को समाज में प्रचलित व्यवहार-प्रतिमानों (behaviour patterns) को अपनाने या उनके साथ एकरूपता स्थापित करने को प्रेरित करता है। इसी सम्पूर्ण प्रक्रिया को 'समाजीकरण' कहते हैं। इसी दृष्टिकोण से समाजीकरण की परिभाषा करते हुए श्री फिचर (Fitcher) ने लिखा है कि "समाजीकरण एक व्यक्ति और उसके अन्य साथी व्यक्तियों के बीच पारस्परिक प्रभाव की एक प्रक्रिया है; यह एक ऐसी प्रक्रिया है,

जिसके फलस्वरूप व्यक्ति सामाजिक व्यवहार के प्रतिमानों को स्वीकार करता तथा उनके साथ अनुकूलन करता है।"[4] श्री बोगार्डस (Bogardus) ने भी लिखा है—"समाजीकरण मिल कर काम करने, सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना को विकसित करने, और दूसरों की कल्याण-सम्बन्धी आवश्यकताओं द्वारा निर्देशित होने की प्रक्रिया है।"[5] इस परिभाषा में समाजीकरण की प्रक्रिया ने सन्त.क्रियात्मक प्रभाव पर बल दिया गया है। पर, इसमें समाजीकरण के सकारात्मक (positive) पक्ष को ही उद्घाटित किया गया है, न कि नकारात्मक (negative) पक्ष को भी। यह श्री बोगार्डस की परिभाषा की एक बहुत बड़ी कमजोरी है। वास्तव में समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति केवल समाज के सद्गुणों या अच्छी बातों को ही ग्रहण नहीं करता, बल्कि बुरी बातें भी सीखता है। समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति ने समाज की शत-प्रतिशत अच्छी बातों को ही सीखा है, ऐसा उदाहरण वास्तव में ढूंढा नहीं जा सकता। इसी प्रकार शत-प्रतिशत बुरी बातों को ही सीखा गया है, यह भी कहना अवैज्ञानिक होगा। वास्तव में, समाजीकरण की प्रक्रिया में सामाजिक व्यवहार के सकारात्मक व नकारात्मक, दोनों ही पक्षों को ग्रहण करना सम्मिलित है।

समाजीकरण की प्रकृति

(Nature of Socialization)

उपर्युक्त परिभाषाओं की विवेचना से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति को जन्म के साथ माता-पिता की कुछ शारीरिक तथा मानसिक विशेषतायें व लक्षण प्राप्त होते हैं। पर, उस समय उसमें कोई भी मानवोचित या सामाजिक गुण नहीं होते। वह न बोल पाता है, न कपड़े पहन पाता है, न शिष्टाचार जानता है, और न ही उसके कोई मूल्य या आदर्श होते हैं। पर, समाज और संस्कृति के बीच पलते हुए उसमें ये सभी गुण धीरे-धीरे पनपते हैं। वह उठने-बैठने, खाने-पीने, बोलने-चालने, दूसरों के साथ बात-व्यवहार करने तथा अन्य अनेक नियम, कानून, प्रथा, परम्परा और रीति-रिवाज को व्यवहार में लाने का ढंग सीख जाता है। उसे अपने-पराये का ज्ञान होता है, वह उचित और अनुचित में भेद कर लेता है, और कर्तव्याकर्तव्य के बारे में सचेत हो जाता है। संक्षेप में, उसमें सामाजिक जीवन में हिस्सेदार बनने की क्षमता का विकास हो जाता है, और एक सामाजिक प्राणी कहलाने के लिये उसमें आवश्यक गुण व लक्षण विकसित हो जाते हैं। इस प्रकार व्यक्ति के सामाजिक व्यक्तित्व का विकास सम्भव होता है। यानी, जिस सम्पूर्ण प्रक्रिया के द्वारा प्राणीशास्त्रीय व्यक्ति इस भाँति एक सामाजिक मनुष्य में रूपान्तरित हो जाता है, उसे 'समाजीकरण की प्रक्रिया' कहते हैं।

अर्थात्, जिस प्रक्रिया के द्वारा प्राणीशास्त्रीय व्यक्ति के सामाजिक व्यक्तित्व का निर्माण और विकास होता है, उसे समाजीकरण कहते हैं।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि "सामाजिक" व्यक्तित्व से तात्पर्य केवल उन गुणों या लक्षणों (traits) का ही संगठन नहीं है, जो सामाजिक दृष्टि से हितकर या उचित हैं। समाज-विरोधी कार्य भी वैज्ञानिक अर्थ में "सामाजिक" ही हैं। अतः यदि समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, संघर्ष, आदि 'अनुचित' गुणों को अपने व्यक्तित्व में विकसित कर लेता है तो वह भी 'समाजीकरण' का ही अंग माना जायेगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि समाजीकरण की प्रक्रिया लोकप्रिय

दृष्टि से सदा सफल ही होती है, यह सोचना गलत है। यह प्रक्रिया कभी भी गलत राह ले सकती है, और उस अवस्था में विघटित व्यक्तित्व का भी विकास हो सकता है। ऐसे लोग ही समाज-विरोधी या कानून-विरोधी कार्य करते हैं और अपराधी या बाल-अपराधी या आत्महत्याकारी के नाम से अपने को परिचित करवाते हैं।

समाजीकरण की प्रकृति की चर्चा करते हुए श्री किम्बल यंग (Kimball Young) ने लिखा है कि समाजीकरण शब्द का प्रयोग तीन भिन्न, पर परस्पर सम्बन्धित अर्थ में किया जाता है—(1) विस्तृत अर्थ में इसका प्रयोग उन प्रक्रियाओं के के लिये किया जाता है, जिनके द्वारा व्यक्ति को उसके सामाजिक-सांस्कृतिक संसार से परिचित करवाया जाता है; (2) कुछ संकीर्ण अर्थ में इस शब्द का प्रयोग केवल शिशु या कम आयु के बच्चों को सामाजिक प्रशिक्षण (social training) के लिये किया जाता है। बाल-मनोविज्ञान (child psychology) के लेखों में समाजीकरण का प्रयोग बहुधा इसी अर्थ में किया जाता है; (3) इस शब्द का प्रयोग उस सामाजिक सीखने (social learning) के लिये भी होता है, जो बच्चों तथा युवकों के नैतिक प्रशिक्षण (moral training) से सम्बन्धित होता है।[6]

चूँकि अब सामाजिक विज्ञान नैतिक या आदर्शात्मक दृष्टि के तथ्यों को एकत्रित करने तथा उनका विश्लेषण करने में मान्यता प्रदान नहीं करते, इसलिये व्यक्तित्व तथा सामाजिक व्यवहार के विद्यार्थी 'समाजीकरण' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त तीसरे अर्थ में नहीं करते। इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग समाज-सुधारक, उपदेशक आदि ही करते हैं।

इस तीसरे अर्थ में 'समाजीकरण' शब्द का प्रयोग करने के सम्बन्ध में दो बातें कहे बिना समाजीकरण की प्रकृति को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। समाजीकरण को केवल नैतिक प्रशिक्षण से सम्बन्धित करना उस लोकप्रिय धारणा को ही अभिव्यक्त करता है, जिसके अनुसार समाज में केवल सन्तोषजनक सीखने के अन्तर्गत प्रेम, सहयोग, सहानुभूति आदि को ही सम्मिलित किया जा सकता है। इसके विपरीत, जिस सीखने में संघर्ष, प्रतिस्पर्धा आदि का समावेश होता है, वह अनुचित, अनैतिक या बुरा है, इसलिए उसको त्याग देना ही उचित होगा। इस दृष्टिकोण के अनुसार समाजीकरण सहयोग, सहानुभूति, पारस्परिक एकता आदि के प्रशिक्षण तक ही सीमित है; और, इसीलिये यह दृष्टिकोण समाजीकरण के अन्तर्गत संघर्ष, ईर्ष्या, विरोध आदि से सम्बन्धित प्रशिक्षण को सम्मिलित नहीं करता। पर, वास्तव में इस प्रकार के सीमित व आदर्शात्मक दृष्टिकोण का व्यक्तित्व-विज्ञान के निर्माण में कोई भी स्थान नहीं हो सकता।[7]

इसीलिये श्री किम्बल यंग (*Kimball Young*) ने उपर्युक्त तीन दृष्टिकोणों में से प्रथम को ही स्वीकार किया है। समाजीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत यदि जनरीतियों, रूढ़ियों, कानूनों, आदर्शों, मूल्यों, सामूहिक उद्देश्यों आदि का सीखना सम्मिलित है, तो इसमें प्रतिस्पर्द्धा, संघर्ष, विरोध, ईर्ष्या, घृणा आदि का सीखना भी आ जाता है। यह सीखना जीवन के अति आरम्भिक काल में आरम्भ हो जाता है, और जाने-अनजाने, सचेत व अचेत रूप में होता रहता है। विस्तृत अर्थ में, समाजीकरण सामाजिक सीखने (social learning) को वर्णन करने का एक दूसरा तरीका है, विशेषकर इस प्रकार का सीखना—जिसका सम्बन्ध आदतों, मनोवृत्तियों, विचारों और

प्रत्यक्षीकरणों के ऐसे प्रशिक्षण (learning) से है, जो व्यक्ति को उसके समाज का सहभागी सदस्य बनाने के लिये आवश्यक है।[8]

समाजीकरण की प्रक्रिया

(Process of Socialization)

किसी विद्वान् ने सच ही लिखा है कि समाजीकरण उस समस्या की ओर संकेत करता है, जो मानव-जीवन में पुरानी एवं व्यापक है—वह समस्या यह है कि बच्चों का लालन-पालन किस प्रकार हो कि वे उस समाज के पूर्ण वयस्क सदस्य बन सकें, जिससे व सम्बन्धित हैं।[9] इस समस्या के वास्तविक स्वरूप को तभी समझा जा सकता है, जब समाजीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया को एक क्रम से समझ लिया जाय।

समाजीकरण की प्रक्रिया जन्म के कुछ दिन बाद से ही आरम्भ हो जाती है। उदाहरणार्थ, जन्म के बाद से ही बच्चा अपनी मूलप्रवृत्ति के कारण भूख या प्यास लगने पर रोता है, तथा हाथ-पैर पटकता है। जब माँ उसे दूध पिला देती है तो वह चुप हो जाता है। पर, हर बार उसके रोने से ही माँ दूध नहीं पिला देती; वह एक निश्चित समय के बाद ही उसे दूध पिलाती है। माँ की इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बच्चे के व्यवहार में कुछ परिवर्तन देखने को मिलते हैं, और वह इस रूप में कि भूख लगने पर भी वह रोता नहीं है, क्योंकि वह सीख जाता है कि माँ एक निर्धारित समय पर ही उसे दूध पिलायेगी। इस प्रकार मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाओं को भी सुधारने या उनको नियन्त्रित करने का गुण बच्चे में पनपना आरम्भ हो जाता है। इसी प्रकार समाजीकरण की प्रक्रिया सर्वप्रथम परिवार से ही आरम्भ होती है, क्योंकि बच्चे का *समाज से प्रथम सम्पर्क परिवार के माध्यम से ही होता है। परिवार के सदस्य के रूप में* वह परिवार के अन्य सदस्यों से अन्त:क्रियात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है, और उनके व्यवहारों का अनुकरण (imitation) करता है। अनुकरण समाजीकरण की प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण साधन है। वह अनुकरण के आधार पर दूसरों के व्यवहार को सरलता से सीख जाता है। इतना ही नहीं, अनुकरण करते हुए जाने-अनजाने बालक परिवार के अन्य सदस्यों का पार्ट भी अदा करने (acquisition of roles) लगता है। कभी वह माँ की स्थिति में अपने को रखकर गुड्डे के साथ बिलकुल उसी *तरह का व्यवहार करता है, जिस तरह की माँ उसके साथ करती है।* कभी वह पिता की छड़ी उठाकर किसी को उसी भाँति पीटने और बड़बड़ाने लगता है, जैसे कि पिता जी को करते हुए उसने देखा है। इसी प्रकार के पार्ट (roles) अदा करते-करते अनेक व्यवहार उस बच्चे में स्थिर हो जाते हैं। साथ ही, धीरे-धीरे बच्चा अपने तथा पिता जी के बीच और अपने तथा माँ के बीच, क्या अन्तर है, यह भी समझ जाता है; और वह क्या है, इस सत्य को जान जाता है। इसी प्रकार आत्म (self) का विकास होता है, जो समाजीकरण का एक आवश्यक तत्त्व है, क्योंकि *अपने को पहचाने बिना, दूसरों के स्वरूप को पहचानना सम्भव नहीं होता।* इस प्रकार आत्मा के विकास से व्यक्ति न केवल अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध में ही, अपितु अपने और दूसरों के बीच समानता व भेद के विषय में भी जागरूक हो जाता है। इस प्रकार समाजीकरण की प्रक्रिया में पारिवारिक अन्त:क्रियाओं का महत्वपूर्ण योगदान होता है।

इसके पश्चात् बच्चा थोड़ा और बड़ा होकर घर से बाहर निकलना आरम्भ करता है, और इतर बच्चों के सम्पर्क में आता है। इन बच्चों के साथ उसे अन-

कूलन करना पड़ता है, और उसमें इस प्रकार के कुछ गुण विकसित हो जाते हैं, जिनके आधार पर दूसरे लोगों के साथ मिल कर रहना उसके लिए सम्भव हो जाता है।

इसके बाद बच्चा और कुछ बड़ा होकर अनेक वयस्कों (adults) के सम्पर्क मे आता है। ये सभी वयस्क अपने-अपने रूप में बच्चे को प्रभावित करते हैं। इन वयस्कों मे से कुछ लोगों को बालक अत्यधिक चाहने या पसन्द करने लगता है। ऐसे लोग ही उस बच्चे के आदर्श बन जाते हैं, और उनके व्यवहारों का अनुकरण बालक सचेत रूप ही करता है। इन आदर्श व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत नये विचार, आदर्श आदि बच्चे के व्यक्तित्व के भी अभिन्न अंग बन जाते हैं, और वह उन्हें अपने व्यवहार में उतारने का प्रयत्न करता है।

किशोरावस्था (adolescence) के साथ ही बच्चे के सामने अनेक नयी स्थितियाँ और समस्याएं आ खड़ी होती हैं, जिनके साथ सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक हो जाता है। किशोरावस्था में अनेक शारीरिक परिवर्तन भी होते हैं, और उन परिवर्तनों से अपना अनुकूलन करने के लिये व्यवहार के नये ढंग भी सीखने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, लड़कियाँ जब युवती बन जाती हैं तो उनमें जो शारीरिक परिवर्तन होते हैं, उनके कारण उन्हें फ्रॉक छोड़कर साड़ी पहनना आरम्भ करना होता है। उनमे लज्जाशीलता बढ़ जाती है, साथ ही नयी भावनायें भी उन्हें आ घेरती हैं। इसीलिये किशोरावस्था, समाजीकरण की प्रक्रिया की दृष्टि से, बहुत ही गम्भीर तथा कोमल परिस्थितियाँ प्रस्तुत करती है। इस अवस्था में उसे अपने से दूसरे लिंग (sex) के लोगों के प्रति पुन:अनुकूलन (readjustment) की ही आवश्यकता नही होती, बल्कि उसे अन्य आयु-वर्गों (age groups)—जैसे बच्चों, माता, पिता, वृद्धजनों—के प्रति भी नयी मनोवृत्तियाँ बनानी पड़ती हैं। उदाहरणार्थ, पहले लड़का नि:संकोच होकर अपनी माँ से लिपट जाया करता था, उन्हें प्यार कर लिया करता था। पर, किशोरावस्था के आ जाने के बाद ही उसी लड़के को ऐसा करने में संकोच होता है, और वह निस्संकोच भाव से माँ से जाकर लिपट नहीं पाता। माँ के प्रति किये जाने वाले अपने पहले के उस स्वच्छन्द व्यवहार को उसे बदलना पड़ता है। इसी प्रकार अन्य लोगों के प्रति होने वाले व्यवहार भी बदल जाते हैं। विकास की एक यही अवस्था (stage) ऐसी होती है जब समाजीकरण की अनेक असफलतायें व्यक्ति के सामने आती हैं।

इसके बाद व्यक्ति से परिवार बसाने की माँग की जाती है; और, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये व्यक्ति विवाह करता है। एक अपरिचित स्त्री से उसका परिचय होता है, या एक अपरिचित पुरुष के घर जाकर लड़की को बस जाना होता है। दोनों ही स्थितियों में अनुकूलन की समस्या सामने आती है; और, इस समस्या को हल करने के प्रयत्न मे ही व्यक्ति अनेक नये व्यवहारों व क्रियाओं को करना सीख जाता है। उदाहरणार्थ, पति या पत्नी के रूप में परिवार से सम्बन्धित उत्तरदायित्वों को सँभालना, यौन सम्बन्ध स्थापित करना, बच्चों को जन्म देना, उनका पालन-पोषण करना, विवाह द्वारा उत्पन्न नये नाते-रिश्तेदारों के प्रति अपने कर्त्तव्यों को निभाना, आदि कितने ही नये कार्य व व्यवहार व्यक्ति को करने होते हैं, या उन्हें सीखना होता है। यह सभी समाजीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है।

बच्चे हो जाने के बाद व्यक्ति में कुछ विशेष गम्भीरता आ जाती है, क्योंकि उसे माता या पिता के रूप मे अपने उत्तरदायित्वों को निभाना होता है। इसी आयु

के लगभग, इसी कारण नौकरी की चिन्ता होती है, और धर्म के प्रति कुछ न कुछ रुचि उत्पन्न हो जाती है। दफ्तर या कारखाने मे काम करने के लिए जाने से व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्ध का क्षेत्र और भी बढ़ जाता है, और उसमें कर्तव्य-परायणता, आज्ञाकारिता आदि गुण पनपने लगते हैं। उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है कि कैसे काम किया जाता है, और कैसे दूसरों से काम लिया जाता है। इसके बाद लड़के-लड़कियों का शादी-विवाह हो जाता है, तो दामाद या बहू से अनुकूलन करने या एक विशेष प्रकार के व्यवहार-प्रतिमान को पनपाने की समस्या सामने आ खड़ी होती है। जो लोग इस समस्या को उचित ढंग से सुलझा लेते हैं, वे अच्छे सास-ससुर बनने मे सफल होते हैं, वरना 'बुरे' की ही संज्ञा उन्हें मिलती है। फिर, नाती-पोते हैं और व्यक्ति अपने को एक बार फिर अपने बाल्य-काल मे लौटा ले जाता है, और उन नन्हें-मुन्नों के साथ स्वय भी बालक बन जाता है, बालक जैसा व्यवहार करने लगता है, और बालक बनकर स्वय भी बाल-जीवन का जी भर उपभोग करता है। उसकी इच्छा, अभिलाषा व स्वप्न जैसे पूरा हो जाता है—वह बाल्यकाल से आरम्भ करके फिर उसी बाल्य-जीवन में लौट आने की एक अजीब तृप्ति या संतोष का अनुभव करता है। ऐसा लगता है जैसे उसे सब कुछ मिल गया है, और अब कुछ नहीं चाहिए। इस स्थिति पर पहुँचने के बाद अक्सर समाजीकरण समाप्त हो जाता है।

समाजीकरण के साधन

(Agencies of Socialization)

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि समाजीकरण की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है, जिसमें अनेक संस्थाओं का योगदान होता है। वास्तव में चूंकि समाजीकरण सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया है, इस कारण इसकी सफलता या विफलता किसी एक कारण या संस्था पर निर्भर नहीं होती, बल्कि एकाधिक संस्थाओं पर होती है। उन संस्थाओं की विवेचना हम इस प्रकार कर सकते हैं—

1. समाजीकरण करने वाली संस्था के रूप में परिवार का महत्व (Importance of Family as a Socializing Agency)—समाजीकरण करने वाली संस्था के रूप मे परिवार का महत्व वास्तव में असाधारण है। यह कहा जाता है कि माँ के त्याग और पिता की सुरक्षा में रहते हुए बच्चा जो कुछ सीखता है, वह उसके जीवन की स्थायी पूँजी होती है। इसका कारण स्पष्ट है। परिवार एक प्राथमिक समूह है। इस कारण परिवार मे आमने-सामने का सम्बन्ध होता है, और यह सम्बन्ध अधिक स्थायी व निरन्तर चलने वाला होता है। परिवार के सदस्यों के बीच अधिक घनिष्ठता, सहयोग, स्नेह-प्यार, दुलार आदि होता है। ये सभी विशेषतायें समाजीकरण मे सहायक होती हैं।

बच्चा सबसे पहले परिवार में जन्म लेकर परिवार का सदस्य बनता है। उसका सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध अपनी माँ से होता है। माँ उसे दूध पिलाती है और तरह-तरह से उसकी रक्षा करती है। इस कार्य में माँ के साथ परिवार के अन्य सदस्य, विशेषकर पिता, भी सहायता करता है। बच्चे को नियमित रूप से खाने-पीने की, पहनने की तथा रहने की सीख मिलती है। इससे बच्चे के मन में एक सुरक्षा की भावना पनपती है। यह मानसिक सुरक्षा की भावना उसके जीवन को स्थिर तथा दृढ़ बनाती है, और आगे चलकर उसे उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायता देती है।

माँ और पिता से बच्चे की अधिकतर आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। पर, साथ ही बच्चा यह देखता है कि कुछ कार्यों को करने पर माँ या पिता उसे प्यार करते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं और कुछ अन्य कार्यों के करने से उसे दण्ड मिलता है, उसकी निन्दा की जाती है। परिवार में ही बच्चे को सर्वप्रथम यह ज्ञान होता है कि कौन-कौन से कार्य उसे करने हैं और किन-किन कार्यों से उसे बचना है। बालक ऐसे काम करना सीखता है, जिनसे उसकी माँ व परिवार के अन्य लोग उसे प्यार करें; और ऐसे कामों से बचता है, जिनके कारण उसे दण्ड भोगना पड़े। इस प्रकार परिवार में ही बच्चा समाजीकरण का प्रथम पाठ पढ़ता है।

माँ अपने बच्चे को प्यार करती है; परिवार के अन्य लोग भी उसे प्यार करते हैं। वे उसके साथ हँसते-बोलते हैं। बच्चा उनकी तरफ देखता है, उनके होठों को हिलाकर बातें करने की प्रक्रिया को बार-बार देखता है, और फिर उसी की नकल उतारने का प्रयत्न करता है। इसके फलस्वरूप वह दो-एक शब्दों का उच्चारण करना सीखता है। इस क्रम में जो त्रुटियाँ होती हैं, उन्हें परिवार के सदस्य हँसते-बोलते सुधारते रहते हैं। और, धीरे-धीरे इस तरह बोलना सीख जाता है। फिर, भाषा का अधिकारी होते ही वह अन्य सभी पशुओं से पृथक् हो जाता है; और सामाजिक प्राणी के सर्वश्रेष्ठ गुण का अधिकारी हो जाता है।

बच्चा परिवार में गुड्डे-गुड़ियों का खेल खेलता है। गुड़िया के साथ वह उसी प्रकार का व्यवहार करता है, जैसा कि माँ या पिता उसके (बच्चे के) साथ करते हैं। वह उन्हीं की तरह उन्हें सुलाता, खिलाता-पिलाता, यहाँ तक कि मारता-पीटता तक है। इन सब क्रियाओं के माध्यम से, परिवार में ही, बच्चे को दूसरों के साथ व्यवहार करने और एक विशिष्ट पद (status) के अनुसार कार्य करने की कला का ज्ञान होता है। यह एक महत्वपूर्ण सामाजिक गुण है, जो समाजीकरण की प्रक्रिया में व्यक्ति को अपने परिवार से प्राप्त होता है।

परिवार में प्रायः एक से अधिक सदस्य होते हैं। इनमें से प्रत्येक के अलग-अलग मिजाज, रुचि, व्यवहार के तरीके, भावनायें आदि होती हैं। फिर भी इनमें से प्रत्येक के साथ बच्चे को घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है, क्योंकि परिवार के एक छोटे से दायरे में उसे हरदम रहना पड़ता है। बच्चा दूसरों के साथ बोलता, खेलता और रहता है। इस प्रक्रिया के दौरान वह यह सीख जाता है कि दूसरों के साथ किस प्रकार से मिलकर रहा जाता है; दूसरों से किस प्रकार अनुकूलन किया जा सकता है। इस अनुकूलन के दौरान उसमें सहनशीलता का गुण भी पनप जाता है, क्योंकि परिवार में सबसे छोटा होने के कारण उसे दूसरों की बातों या व्यवहारों को सहना पड़ता है। दूसरों से अनुकूलन करने की क्षमता और सहनशीलता अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक गुण हैं, जिसका प्रारम्भिक विकास परिवार में ही होता है।

परिवार में बच्चा दूसरों से आयु में छोटा होता है। अतः दूसरों की उम्र का एक प्रभाव उस पर पड़ता है। इसी कारण उससे बड़े लोग जो कहते हैं, वह उसका पालन करता है। इससे बच्चे में आज्ञाकारिता का गुण पनपता है।

बच्चा परिवार में ही सर्वप्रथम यह सीखता है कि खाना किस प्रकार खाना चाहिए, दूसरों से किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, किस ढंग से कपड़ा पहनना चाहिये, और किस भगवान की पूजा या आराधना करनी चाहिये। परिवार के दूसरे सदस्य नहाने के बाद खाना खाते हैं, खाना खाने से पहले व बाद हाथों को धो लेते हैं, जूता बाहर उतार कर कमरे के अन्दर जाते हैं, माता-पिता को प्रणाम

करते हैं, परिवार में बाहर से आने वाले लोगों को नमस्ते करते हैं, तथा इसी प्रकार के अन्य असंख्य सामाजिक व्यवहार करते हैं। बच्चा रोज यह सभी कुछ देखता है, और नकल उतारने का प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न जब निरन्तर चलता है, तो विभिन्न सामाजिक क्रियाएँ व व्यवहार बच्चे के व्यक्तित्व का एक अंग बन जाते हैं। इसी प्रकार परिवार बच्चे को समाज में प्रचलित आचार-विचार, रीति-रिवाज, आदर्शों और विश्वासों के अनुसार ढालता और उससे समाज के आम नियमों का पालन करवाता है।

परिवार में बच्चा सामाजिक उत्तरदायित्व का अर्थ, क्षमा का महत्त्व और सहयोग की आवश्यकता सीखता है, और अपनी मौलिक धारणायें, आदर्श और शैली की रचना करता है। परिवार में माता-पिता, भाई-बहन आदि के प्रेम, सद्भावना, सहानुभूति, प्रीति इत्यादि से बच्चे के मानसिक विकास में बहुत मदद मिलती है। इसके अतिरिक्त परिवार ही वह आधारभूत शिक्षा-संस्था है, जहाँ बालक को नागरिकता का प्रथम पाठ पढ़ाया जाता है। परिवार में ही बच्चा दूसरों के साथ मिलकर और उनके व्यवहारों के साथ अनुकूलन करते हुए, रहने की कला सीखता है। परिवार में ही देश-प्रेम, आत्म-त्याग, कर्त्तव्य-पालन, परोपकार आदि सद्गुण बच्चे में विकसित होते हैं।

संक्षेप में, समाजीकरण की संस्था के रूप में परिवार का बड़ा महत्त्व है। इस लिए परिवार के बिना सामाजिक प्राणी का जीवन या समाजीकरण की प्रक्रिया अधूरी ही है।

(2) खेल का समूह (Play Group)—बच्चों के खेल का समूह एक महत्त्वपूर्ण प्राथमिक समूह होता है। इस कारण इसका भी समाजीकरण की प्रक्रिया में अत्यन्त प्रभावशाली स्थान होता है। बच्चा जब थोड़ा-सा बड़ा होकर घर से बाहर कदम रखता है तो उसका सम्पर्क अन्य बच्चों से होता है। वह उनके साथ खेलता है। ये बच्चे अलग-अलग परिवार के होते हैं, इस कारण उनके व्यवहार के ढंग, रीति-नीति, रुचि, मिजाज आदि भी अलग-अलग होते हैं। इन विविधताओं के बीच बच्चा खेल तो खेलता ही है, साथ ही साथ वह अनुकूलन की कला, मिलकर काम करने की आदत तथा सामाजिक सम्बन्धों को परिवार के दायरे से बाहर फैलाने का ढंग भी सीखता है। वास्तव में यह भी समाजीकरण का एक महत्वपूर्ण अंग है।

(3) शिक्षा-संस्थायें (Educational Institutions)—शिक्षा-संस्थाएँ अर्थात् स्कूल, कालेज आदि समाजीकरण की एक और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्था है। इन्हीं संस्थाओं में बच्चे की मानसिक क्षमताओं का विकास होता है, और वह अज्ञानता से ज्ञान की ओर, और अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ता है। शिक्षा-संस्थाओं में बच्चे के लिये सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने का क्षेत्र और भी विस्तृत हो जाता है। यहाँ वह अनेक प्रकार के बच्चों या लोगों के सम्पर्क में आता है, और उनसे बहुत कुछ सीखता है। विद्यालय व कालेज में ही पुस्तकों के द्वारा बच्चे को देश-विदेशों के समाज व संस्कृति से परिचित होने का अवसर मिलता है। इससे भी उसके व्यक्तित्व के विकास में काफी सहायता पहुँचती है। इतना ही नहीं, स्कूल व कालेज में बालक एकाधिक शिक्षकों के सम्पर्क में आता है। इनके उपदेश तथा जीवन आदर्श भी बालक को प्रभावित कर सकते हैं, जिनके आधार पर वह अपने जीवन का

ढाँचे का विकास निश्चित करती है या उसे ढालती है। इतना ही नहीं, व्यक्ति जिस दफ्तर, कारखाने, मिल या दूकान में काम करता है, वहाँ उसे अनेकानेक लोगों से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। अगर वह मालिक है तो उसे दूसरों से काम लेना पड़ता है, और यदि वह सामान्य कर्मचारी है तो उसे अपने मालिक के आदेशों का पालन करना पड़ता है। इस प्रकार व्यक्ति में आज्ञाकारिता, ईमानदारी या बेईमानी, सहयोग, प्रतिस्पर्धा आदि लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

5. **पड़ोसी तथा अन्य बड़े-बूढ़ों का समूह** (Neighbour and Community Group of Elders)—इसका भी महत्त्वपूर्ण योगदान समाजीकरण की प्रक्रिया में होता है। पड़ोसियों तथा अन्य बड़े-बूढ़ों के सम्पर्क में आने से व्यक्ति के सामने अनेक नये विचार आते हैं, बातचीत तथा गप्पबाजी के दौरान व्यवहार के नये ढंग उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं, तथा उसे नये आदर्शों से परिचित होने का मौका मिलता है। इनके प्रति वह चेतन या अचेतन रूप से प्रतिक्रिया (respone) करता है। फलस्वरूप उसमें न्यी आदतों का विकास होता है। इससे उसका और अधिक समाजीकरण होता है।

युवावस्था मे व्यक्ति यौन-क्षुधा (sex hunger) का अनुभव करता है तथा विपरीत लिंग के प्रति आकर्षित होता है। अतः उसे माता-पिता, भाई-बहन तथा अन्य युवक-युवतियो के प्रति अपने मनोभाव को एक उचित स्तर पर लाना पड़ता है। इस काम मे उसे परिवार, पड़ोसी, मित्र तथा शिक्षक सहायता करते हैं।

6. **जाति तथा वर्ग** (Caste and Class)—व्यक्ति के समाजीकरण मे जाति तथा वर्ग का भी महत्त्वपूर्ण योग रहता है। जाति-जन्म के आधार पर सामाजिक संस्तरण और खण्ड-विभाजन की वह गतिशील व्यवस्था है, जो खाने-पीने, विवाह, पेशा और सामाजिक सहवासों के सम्बन्ध में अनेक या कुछ प्रतिबन्धों को अपने सदस्यों पर लागू करती है। इस परिभाषा से ही स्पष्ट है कि जाति व्यक्ति के सामने कुछ नियम, निर्देश तथा प्रतिबन्ध प्रस्तुत करती है, जिन्हें उसे मानना पड़ता है, नहीं तो जाति व्यक्ति को अपने ढग से दण्ड देती है। इन नियन्त्रणों तथा नियमों का, प्रभाव व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया पर पड़ता है। श्री विलसन (Wilson) ने लिखा है कि व्यक्ति के जन्म के प्रथम दिन से लेकर मृत्यु तक उसके समस्त कार्यों पर जाति-प्रथा का नियन्त्रण रहता है। जाति का प्रभाव व्यक्ति के जीवन के समस्त सम्बन्धो और घटनाओं पर पड़ता है; इसका प्रतिबन्ध जीवन के भूत और भविष्य दोनो पर होता है। जाति यह निर्धारित करती है कि व्यक्ति को कौन-सा पेशा चुनना है, किस जाति से अपने जीवन-साथी का चुनाव करना है; अन्य जातियों के साथ सामाजिक सम्बन्ध का क्या रूप या स्वरूप चुनना है; किस जाति के हाथ का बना खाना खाना है; और किस जाति के हाथ का छुआ पानी तक नहीं पीना है। इतना ही नहीं, जाति-प्रथा विभिन्न जातियों के सदस्यों को सामाजिक और धार्मिक अयोग्यताओं तथा विशेषाधिकारों को भी निश्चित करती है। उदाहरणार्थ, हरिजनों को जाति-प्रथा यह अधिकार नहीं देती कि वे ऊँची-जाति के लोगों की तरह अपना रहन-सहन बनाये रक्खें, उनके कुएँ तथा तालाबों से पानी भरें, उनके मोहल्लों में रहें, या उनके साथ विवाह-सम्बन्ध और अन्य सामाजिक सम्बन्ध रक्खें। इन योग्यताओं का बहुत ही प्रतिकूल प्रभाव हरिजनो के व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता है। इसी प्रकार वर्ग-व्यवस्था (class system) भी व्यक्ति को एक सामाजिक स्थिति (social status)

प्रदान करती है, जिसके आधार पर वर्ग-चेतना (class consciousness) पनपती है, और व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों का दायरा निश्चित होता है।

(7) भाषा (Language)—समाजीकरण की प्रक्रिया का एक और महत्वपूर्ण साधन भाषा है। समाजीकरण का आधार सामाजिक अन्त-क्रियाएँ (social interactions) ही हैं, और भाषा की सहायता से ही ये अन्तःक्रियायें अत्यधिक सरल हो जाती हैं। वास्तव में मानव और पशुओं में जो आधारभूत भिन्नतायें हैं, उनमें एक प्रमुख अन्तर यही है कि पशुओं के पास भाषा के साधन का अभाव है, इसीलिये उनकी सामाजिक अन्त क्रियाओं का क्षेत्र बहुत अधिक सीमित है। भाषा के माध्यम से ही मनुष्य अपने विचार, संस्कृति, आदर्श, मूल्य, ज्ञान और विज्ञान को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को, तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करता है। यह हस्तान्तरण की प्रक्रिया जन्म के बाद से ही आरम्भ हो जाती है। बच्चा पहले-पहल बोल नहीं पाता, फिर भी माँ तथा परिवार के अन्य सदस्य बच्चे से बातचीत करते रहते हैं। बच्चा उनके होठ हिलाने की प्रक्रिया को ध्यान से देखता रहता है, और उन्हीं की नकल उतारने का प्रयत्न करता है। बड़ों के हाव-भाव से बच्चा शब्दों के अर्थ को भी समझने का प्रयत्न करता है। उदाहरणार्थ, माँ 'आओ' कहकर बच्चे की ओर हाथ फैलाती है, जिससे माँ के हाथ के भाव और ध्वनि संसर्ग (sound combination) बच्चे के मस्तिष्क में बैठ जाते हैं, और वह न केवल उस शब्द को बोलना सीख जाता है, बल्कि उसका अर्थ भी उसके लिये धीरे-धीरे स्पष्ट हो जाता है। इसीलिये बाद को बिना हाथ फैलाये भी यदि माँ 'आओ' कहती है तो बच्चा माँ के पास चला जाता है। विभिन्न शब्दों का अर्थ समझने से बच्चे का बौद्धिक विकास होता है। पर, भाषा को सीखना केवल एक बौद्धिक विषय ही नहीं है, यह उसके व्यक्तित्व के विकास में भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। भाषा की सहायता से बच्चे के लिये परिवार के सदस्यों तथा अन्य लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित करना सरल हो जाता है। भाषा के माध्यम से ही वह दूसरों के विचारों को ग्रहण करता और उनसे लाभ उठाता है। यह भाषा ही है जो व्यक्ति को धीरे-धीरे उन कर्त्तव्यों या कार्यों के विषय में बताती है, जो उसे करने हैं। भाषा के माध्यम से ही व्यक्ति का परिचय बृहत्तर समाज व संसार से तथा बृहत्तर जीवन से होता है। भाषा के कारण ही व्यक्ति वास्तविक अर्थ में मानव बन पाता है।

(8) विवाह संस्था (Institution of Marriage)—व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया पर विवाह-संस्था का भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। विवाह के बाद ही युवक या युवती को अपनी पत्नी या अपने पति से अनुकूलन करना पड़ता है। यह अनुकूलन की प्रक्रिया स्त्रियों के लिये अधिक कठिन होती है, क्योंकि पितृवंशीय परिवार-व्यवस्था में पत्नी को पति के घर जाकर बस जाना होता है। वह घर तथा वहाँ के सब—आचार, विचार, रहन-सहन, सास, ससुर, देवर, ननद उसके लिये नये होते हैं। इनके साथ नववधू को अपना अनुकूलन करना पड़ता है। इस अनुकूलन के दौरान उसमें अनेक नई आदतें, विचार और आदर्श पनपते हैं। उसके बाद बच्चे उत्पन्न होने पर उनके साथ भी अनुकूलन करने के लिये माता-पिता को, विशेषकर माँ को, अपने व्यवहार में अनेक परिवर्तन करने पड़ते हैं। वैवाहिक जीवन के इस स्तर पर व्यक्ति प्रेम, सहयोग, सहानुभूति तथा आत्म-त्याग की भावनाओं को फिर से व्यावहारिक रूप देता है।

प्रौढ़ावस्था में पहुँचने के बाद साधारणतया समाजीकरण की प्रक्रिया का अन्त हो जाता है, क्योंकि परिपक्वता (maturity) की अवस्था में अनुकूलनशीलता की शक्ति बहुत कमजोर पड़ जाती है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया में एकाधिक सामाजिक साधनों (social agencies) का योगदान होता है। इनमें परिवार सबसे अधिक महत्वपूर्ण संस्था है। श्री कूले (Cooley) का कथन है कि प्राथमिक समूहों में परिवार का स्थान सबसे पहले है। परिवार के घनिष्ठ, आन्तरिक तथा स्नेह-प्रीतिपूर्ण सम्बन्धों के बीच बच्चा जो कुछ भी सीखता है, उसका प्रभाव उसके जीवन में चिरस्थायी हो जाता है। यही कारण है कि परिवार को नागरिक तथा सामाजिक जीवन की आधारभूत पाठशाला कहा गया है। पर, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार ही सब कुछ है। बृहत्तर सामाजिक जीवन के लिये बृहत्तर संस्थाओं का योगदान वास्तव में महत्वपूर्ण होता है।

समाजीकरण के सिद्धान्त

(Theories of Socialization)

व्यक्ति के समाजीकरण में समाज या विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के महत्त्व को सभी स्वीकार करते हैं। परिवार सामाजिक जीवन की आधारभूत इकाई होता है, और वह समाजीकरण की प्रक्रिया में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। उसी प्रकार सुझाव, अनुकरण, सहानुभूति आदि कुछ मनोवैज्ञानिक प्रक्रियायें भी समाजीकरण में सहायक होती हैं। इनका विश्लेषण एक जटिल कार्य है। फिर भी, अनेक विद्वानों ने यह कार्य करके समाजीकरण के सम्बन्ध में अपने मत प्रस्तुत किये हैं। यहाँ हम उनमें से कुछ प्रमुख मतों या सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे।

दुर्खीम का सिद्धान्त

(Theory of Durkheim)

श्री दुर्खीम ने समाजीकरण की प्रक्रिया को अपने 'सामूहिक प्रतिनिधित्व' (collective representation) की अवधारणा के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया है। प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे विचार, ऐसी धारणायें और भावनायें होती हैं, जिन्हें समाज के अधिकतर लोग सामान्य रूप से अपनाते हैं। चूँकि ये विचार, धारणाएँ और भावनायें सबके द्वारा मान्य होती हैं, इसलिए ये सामूहिक रूप से समस्त समूह का प्रतिनिधित्व करती है। इन विचारों, धारणाओं और भावनाओं का निर्माण सामाजिक चेतना से होता है, और सामाजिक चेतना का निर्माण व्यक्तिगत चेतनाओं की अन्तर्क्रिया और उनके पारस्परिक प्रभाव के फलस्वरूप होता है। इससे जो सामूहिक विचार, धारणायें और भावनायें उत्पन्न होती हैं, उनका सम्पर्क किसी व्यक्ति विशेष के विचारों, धारणाओं और भावनाओं से नहीं होता। वे तो सम्पूर्ण सामूहिक जीवन के द्योतक होते हैं। यही कारण है कि उन्हें 'सामूहिक प्रतिनिधित्व' कहा गया है। समाजीकरण की प्रक्रिया में इन सामूहिक प्रतिनिधियों का बड़ा महत्त्व होता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। चूँकि ये सामूहिक विचार, धारणायें या भावनायें समूह के अधिकतर लोगों के द्वारा अपनायी जाती हैं, और चूँकि उनके प्रति अधिकतर सदस्यों के हृदय में आदर की भावना होती है, इस कारण इस प्रकार के विचारों

(self consciousness) महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति जब स्वयं के सम्बन्ध में चेतन होता है, तभी वह दूसरे के मनोभावों, विचारों और आदर्शों के सम्बन्ध में जागरूक हो सकता है। इस आत्म (self) का विकास कैसे होता है ? इसके उत्तर में प्रो० मीड का कथन है कि बच्चा पहले-पहल अपने तथा दूसरों के बीच अन्तर या भेद नहीं कर पाता। इसीलिये वह जब खिलौने से खेलता है तो उसे भी जानदार मान लेता है, और उसके प्रति भी वह वैसा ही व्यवहार करता है जैसा कि उसके प्रति उसके माता या पिता करते हैं। दूसरे शब्दों में, बच्चा अपने माता या पिता का पार्ट अदा करता है और खिलौनों या गुड़ियों से स्वयं अपना पार्ट (roles) अदा करवाता है। पर, एक समय ऐसा भी आता है जब बच्चा यह अनुभव करता है कि माता-पिता के व्यवहारों की प्रतिक्रिया में वह जैसा व्यवहार करता है (जैसे माँ मारती है तो बच्चा रोता है), गुड़िया उसके (बच्चे के) व्यवहारों की प्रतिक्रिया में वैसा व्यवहार नहीं करती। अतः बच्चे में धीरे-धीरे यह ज्ञान या चेतना उत्पन्न हो जाती है कि वह स्वयं माता या पिता नहीं है, न ही गुड़िया या खिलौना वह स्वयं है, अर्थात् वह इनसे कुछ अलग है, और उसका अस्तित्व इनसे पृथक् है। इसी चेतना के आधार पर बच्चा स्वयं में तथा अन्य व्यक्तियों में भेद करता है। स्वयं के सम्बन्ध में बच्चे की यह चेतना (अर्थात्, आत्म का विकास) ही अपने तथा दूसरों के प्रति उसके व्यवहार को निश्चित करता है, और वह धीरे-धीरे तरह-तरह की आदतें सीख लेता है, अर्थात् उसका समाजीकरण हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सर्वश्री दुर्खीम, कूले तथा मीड, सभी इस बात से सहमत हैं कि समाज या समाज के सदस्य व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया में महत्त्व रखते हैं। इसके दबावों, प्रभावों या विचार-भावनाओं के फलस्वरूप ही व्यक्ति अपने विचार, आदर्श तथा आदतें बनाता है। इसी बात को उपर्युक्त विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। संक्षेप में, किसी भी अवस्था में समाजीकरण की प्रक्रिया में समाज के महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता। समाज के कारण ही व्यक्ति मानव है।

REFERENCES

1. "Socialization is learning that enables the learner to perform social roks.—*H.M. Johnson*, Sociology : A Systematic Introdu.ti.n, 1961, p. 110.

2. "Socializatron......will mean the process of inducting the individual into the social and cultural world ; of making him a participant member in society and its various groups and inducing him to accept the norms and values of that society"—*Kimball Young*, "Handbook of Social Psychology, (Routledge and Kegan Paul Ltd, London), 1957, p. 89.

3. *Ibid*, p. 81.

4. "Socialization is a process of mutual influence between a person and his fellow men, a process that results in an acceptance of, and adaptation to, the partierns of social behaviour."—*Fitcher*, 'Sociology,' p 20

5. "Socialization is the process of working together, of developing group responsibility, of being guided by the welfare needs of others."—*E.S. Bogardus*, 'Sociology', p. 433.
6. "Kimball Young, 'Personality and Problems of Adjustment, (Routledge and Kegan Paul, London), 1952, p. 123.
7. "This latter view limits socialization to training in co- operation, and in sympathy and mutual inter-identification, and neglects that learning which relates to rivalry, jealousy, and struggle with one's fellows for given rewards, certainly such a limited, normative view has no place in any effort to build a science of personality." *Ibid.*, pp. 123-124.
8. "This learning begins very early in life and takes place involuntarily and non-deliberatively as well as consciously,.....In broad sense, it is another way of describing social learning, particularly those phases which have to do with training in habits, attitudes, ideas, and perceptions necessary to becoming a participating member of society."—*Kimball Young, Ibid.*, p. 124.
9. Socialization refers to a problem which is old and pervasive in human life the problem of how to rear children so that they will become adequate adult members of the society to which they belong."

व्यक्तित्व एवं 'आत्म' का विकास
[PERSONALITY AND RISE OF SELF]

"व्यक्तित्व एक मानसिक घटना है। यह न तो केवल सावयवी है और न सामाजिक हो, बल्कि दोनों के मेलजोल से इसका निर्माण होता है।"

—K. DAVIS.

सामाजिक मनोवैज्ञानिको के लिए 'व्यक्तित्व' की अवधारणा, प्रकृति तथा आधार का अध्ययन अत्यधिक महत्त्व का है। इसका कारण यह है कि व्यक्तित्व का आन्तरिक सम्बन्ध सामाजिक अन्त:क्रियाओं (social interactions) से अत्यधिक घनिष्ठ है और यह सामाजिक मनोविज्ञान का एक आधारभूत अध्ययन-विषय है। वास्तव में, व्यक्तित्व का विकास एक अन्त:क्रियात्मक प्रक्रिया (interactional process) है, और वह इस रूप में कि इसका विकास व्यक्ति के प्राकृतिक प्राणीशास्त्रीय क्षमताओं (natural biological endoument) तथा उसके सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण के बीच होने वाली अन्त:क्रियाओं के फलस्वरूप होता है। परन्तु इस सम्बन्ध में और कुछ विवेचना करने से पहले व्यक्तित्व का वास्तविक अर्थ समझना अधिक आवश्यक है।

व्यक्तित्व का साधारण अर्थ
(General Meaning of Personality)

'व्यक्तित्व' अंग्रेजी शब्द 'Pessonalty' का हिन्दी रूपान्तर है। 'Personality' शब्द लैटिन भाषा के 'persona' शब्द से बना है जिसका कि अर्थ 'नकाब' (mask) है। 'Persona' शब्द ग्रीक भाषा के 'prosopon' से लिया गया है जिसका कि अर्थ है आकृति या चेहरे का भाव। इन शब्दों के आधार पर कहा जा सकता है कि 'व्यक्तित्व' का तात्पर्य किसी व्यक्ति का वह बाह्य या बाहरी रूप है जो दूसरे व्यक्तियों के सम्मुख प्रकट होता है। दूसरे शब्दों मे, ऊपरी तौर पर हम एक व्यक्ति को 'जैसा' देखते या पाते हैं—वही उसका व्यक्तित्व है; अर्थात् व्यक्तित्व व्यक्ति का वह रूप है जो बाहरी तौर पर हमें दिखाई देता है और हमे प्रभावित करता है। इसीलिए हम लोगों को अक्सर यह कहते हुए सुनते हैं कि "राम का बड़ा रोबीला व्यक्तित्व है" या "तृप्ति की ओर कोई लड़का देखता तक नहीं है क्योंकि उसका व्यक्तित्व अच्छा नहीं है।" परन्तु व्यक्तित्व का यह वास्तविक अर्थ नहीं जैसा कि निम्नलिखित विवेचना से स्पष्ट होगा।

व्यक्तित्व का 'वास्तविक' अर्थ
(Real Meaning of Personality)

बच्चा कुछ जन्मजात लक्षणों के साथ पैदा होता है। उसे वंशानुसंक्रमण *(hereditary)* प्रक्रिया द्वारा अपने माता-पिता से शरीर का कद और ढांचा, मूल-प्रवृत्तियाँ और जन्मजात प्रेरक (innate motives) आदि प्राप्त होते हैं।

परन्तु, जन्म के समय वह बच्चा न तो सामाजिक होता है और न समाज-विरोधी, वह तो केवल असामाजिक होता है। उसकी मानसिक और शारीरिक विशेषताएँ, प्रेरणाएँ, मूलप्रवृत्तियाँ, संवेग, आदि सभी कुछ केवल मात्र कच्चे माल की भाँति होते हैं। पर, इन कच्चे मालों से समाजीकरण (socialization) की प्रक्रिया द्वारा समाज अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के आधार पर उसे एक सामाजिक प्राणी के रूप में विकसित कर देता है। संक्षेप में, एक व्यक्ति को जो कुछ भी वंशानुसंक्रमण के माध्यम से प्राप्त होता है, उसका विकास समाज व संस्कृति के लीला-क्षेत्र में ही होता है। वास्तव में जन्म के समय मानव-प्राणी उन सब गुणों से रहित होता है जिनके आधार पर उसे 'मानव' या 'सामाजिक' कहा जा सकता है। उन गुणों या विशेषताओं को तो प्राणी धीरे-धीरे अपने समाज और संस्कृति से प्राप्त करता या सीखता है। जन्म से मृत्यु तक व्यक्ति, समाज व संस्कृति में निरन्तर अन्तःक्रिया होती रहती है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य के अपने कुछ विचार, लक्षण, मनोवृत्तियाँ, आदतें, विश्वास, आदर्श आदि बन जाते हैं। शारीरिक व मानसिक विशेषताओं के अतिरिक्त व्यक्ति से सम्बन्धित इन्हीं सब सामाजिक विचारों, लक्षणों, मनोवृत्तियों, आदतों आदि के संगठित पुंज को हम उस व्यक्ति का 'व्यक्तित्व' कहते हैं।

व्यक्तित्व क्या है ?—इस सत्य को और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिये हमें प्रोफ़ेसर न्यूकॉम्ब (Newcomb) द्वारा उल्लिखित निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना होगा।—

1. प्रत्येक व्यक्तित्व में कुछ सामान्य तथा विशिष्ट कारण होते हैं (Both Common and Unique Factors in each Personality)—प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व में कुछ विलक्षणतायें या अनोखापन (uniqueness) होता है। परन्तु, इन विलक्षणताओं को एक सीमा के अन्दर ही समझना अधिक उचित होगा। यह सच है कि हर आदमी यही समझता है कि दुनिया में वही सबसे निराला है, पर इस निरालेपन के अलावा भी उसमें कुछ 'सामान्यपन' (commonness) होता है (इस सत्य को उसे भूलना नहीं चाहिए), हर समाज में व्यक्तित्व का भी एक मान (standard) होता है, और उस समाज के सदस्यों के व्यक्तित्व के अनेक पक्ष इसी मान के बहुत कुछ समरूप होते हैं। इसके अतिरिक्त समस्त व्यक्तित्व में कुछ चीजें वास्तव में सामान्य होती हैं। परन्तु, इस सामान्यता का अर्थ यह कदापि नहीं होता कि कोई भी व्यक्तित्व दूसरे किसी भी व्यक्तित्व की 'कार्बन कॉपी' या हूबहू नकल है। दो जुड़वे-भाइयों का व्यक्तित्व भी बिलकुल एक समान नहीं होता है।

2. व्यक्तित्व का सम्बन्ध विशेष रूप से व्यक्ति के सुस्थिर गुणों से होता है (Personality refers Particularly to Persistent Qualities of the Individual)—व्यक्तित्व के अन्तर्गत हम व्यक्ति के तात्कालिक गुणों को नहीं, अपितु उन गुणों को सम्मिलित करते हैं, जो बहुत कुछ स्थायी हैं, अर्थात् जो बराबर बने रहने वाले हैं। हममें से अधिकांश लोगों के विषय में भविष्यवाणी की जा सकती है; और आयु के बढ़ने के साथ-साथ यह काम विशेष रूप से, सरल हो जाता है। व्यक्तित्व का सम्बन्ध विशेषतया हमारे व्यवहार के भविष्यवाणी किये जा सकने वाले इस पहलू से होता है, या और भी यथार्थ रूप में, व्यक्तित्व का सम्बन्ध उन गुणों से होता है, जो हमारे व्यवहार के भविष्यवाणी किये जा सकने वाले पहलुओं का निर्धारण करते हैं।[2]

3. व्यक्तित्व पर्यावरण के साथ सावयव के गतिशील अनुकूलन का प्रतिनिधित्व करता है (Personality Represents a Dynamic Orientation of Organism to Environment)—व्यक्तित्व का बहुत कुछ आधार प्रेरक (motives) तथा मनोवृत्तियाँ (attitudes) हैं। व्यक्तित्व को अर्जित किया या सीखा जाता है। व्यक्तित्व कोई ऐसी चीज नहीं है, जो जन्म के समय ही मौजूद होती हो और आयु के बढ़ने के साथ-साथ प्रकट होती चली जाती हो। वास्तव में जो कुछ हम करते हैं, व्यक्तित्व उसी का परिणाम होता है। समस्याओं को सुलझाने, बाधाओं का सामना करने या उन्हें पार करने में सफल या विफल होने के दौरान हम स्वयं ही अपने व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। हम दूसरे लोगों के साथ अन्तःक्रिया करते हुए अपने को परिवर्तित करते हैं, और उसी परिवर्तन व परिवर्द्धन के दौरान हमारे प्रेरक तथा मनोवृत्तियाँ बहुत कुछ स्थिरता को प्राप्त कर लेती हैं। इन्हीं प्रेरकों तथा मनोवृत्तियों के सुस्थिर प्रतिमानों (patterns) को अर्जित करने के दौरान हम अपने व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। इसी के आधार पर शरीर का पर्यावरण के साथ अनुकूलन सम्भव होता है।

4. व्यक्तित्व सामाजिक अन्तःक्रियाओं द्वारा अत्यधिक प्रभावित होता है (Personality is Greatly Influenced by Social Interaction)—यदि हम व्यक्तित्व के समस्त सम्भावित लक्षणों (traits) की एक सूची (list) बनायें तो हम यही पायेंगे कि उनमें से प्रत्येक पर सामाजिक अन्तःक्रिया का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में पड़ा है। एक व्यक्ति मिलनसार है या शर्मीला, यह इस बात पर ही निर्भर करेगा कि उस व्यक्ति का दूसरे व्यक्तियों के साथ किस प्रकार का अन्तःक्रियात्मक सम्बन्ध है ? उसी प्रकार ईमानदार या बेईमान होने का गुण भी सामाजिक अन्तःक्रियाओं के दौरान ही पनपता है, क्योंकि यदि किसी व्यक्ति का कोई भी सम्बन्ध दूसरे व्यक्तियों के साथ नहीं है तो उसके ईमानदार या बेईमान होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

5. व्यक्तित्व सुस्थिर, गतिशील तथा सामाजिक प्रवृत्तियों के एक अनूठे संगठन का प्रतिनिधित्व करता है (Personality Represents a Unique Organization of Persistent, Dynamic, and Social Predispositions)[3]—अन्त में, सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्तित्व एक संगठित (organized) समग्रता है। व्यक्ति में दिखाई देने वाले समस्त गुणों को जोड़ देने मात्र से ही ही व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हो जाता। दो व्यक्तियों में समान गुण हो सकते हैं, परन्तु उनका व्यक्तित्व एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न भी इस कारण से हो सकता है कि विभिन्न गुणों का पारस्परिक सम्बन्ध उन दो व्यक्तियों में अलग-अलग प्रकार का है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विभिन्न गुणों का संगठन एक व्यक्ति में जिस ढंग से हुआ है, उसी के अनुसार उसके व्यक्तित्व का भी विकास होता है। चूँकि विभिन्न गुणों का संगठन सभी व्यक्तियों में एक ही प्रकार से नहीं होता है, इस कारण किसी भी दो व्यक्तियों का व्यक्तित्व बिलकुल एक-सा नहीं होता। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति में प्रेम और त्याग की भावनाएँ इस प्रकार संगठित हैं कि वह अपने परिवार से प्रेम करता तथा उसके लिए हर प्रकार का त्याग करने को तत्पर रहता है। वही प्रेम और त्याग की भावनाओं का संगठन एक दूसरे व्यक्ति में इस प्रकार का भी हो सकता है कि वह उन भावनाओं को परिवार तक ही सीमित न रखकर सारे देश में विस्तृत कर दे, और देश से इस भाँति प्रेम करे कि उसके लिए प्राणों तक की बलि देने को तैयार

सर्वदा तैयार रहे। इन दोनों व्यक्तियों में प्रेम तथा त्याग के गुण सामान्य होते हुए भी उन दोनों का व्यक्तित्व एक दूसरे से पृथक् होगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी व्यक्ति के गुणों की एक सूची बना लेने से ही उसके व्यक्तित्व को तब तक समझा नहीं जा सकता, जब तक कि उन गुणों के विशिष्ट संगठन (unique organization) को भी न समझ लिया जाय। इसी अर्थ में प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व विशिष्ट, अनोखा या अनूठा होता है। परन्तु, केवल विशिष्ट संगठन के आधार पर ही व्यक्तित्व का निर्माण तब तक नहीं होता जब तक कि उस संगठन मे बहुत कुछ स्थिरता न हो। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व सुस्थिर गुणों का एक अनूठा संगठन होता है। पर, 'सुस्थिर' का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि व्यक्तित्व मे परिवर्तन सम्भव नहीं है। वास्तव में व्यक्तित्व एक गतिशील अवधारणा (dynamic concept) है, जो सामाजिक परिस्थितियों, शिक्षा, प्रशिक्षण, समस्या आदि के आधार पर परिवर्तित होता रहता है। आज एक व्यक्ति डाकू है तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह सदा डाकू ही बना रहेगा। आज का डाकू, कल साधु भी बन सकता है। डाकू और साधु का व्यक्तित्व एक नहीं हो सकता; और, इसीलिये यह कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व एक गतिशील अवधारणा उसी प्रकार है, जिस प्रकार समाज और संस्कृति—यहाँ तक कि मूलप्रवृत्तियाँ भी—गतिशील हैं। अन्त में, इस बात को भी समझ लेना आवश्यक है कि व्यक्तित्व को सामाजिक प्रवृत्तियों (social predispositions) का ही अनोखा संगठन क्यों कहा जाता है। यह सच है कि व्यक्तित्व का एक प्राणीशास्त्रीय (biological) आधार होता है, पर कोई भी प्राणीशास्त्रीय गुण अपने मूल या मौलिक रूप मे प्रकट नहीं होता। उस पर सामाजिक कारकों का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में इस भाँति पड़ता है कि यह एक मौलिक प्राणीशास्त्रीय गुणों को व्यक्तित्व की अवधारणा के अन्तर्गत सम्मिलित किया ही नहीं जाता, जो प्राणीशास्त्रीय स्वरूप को बनाये रखने के कारण सभी व्यक्तियों में बहुत कुछ सामान्य (common) होते हैं—जैसे भूख, प्यास, नींद, आदि। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्यक्तित्व सामाजिक प्रवृत्तियों का एक सुस्थिर, गतिशील तथा विशिष्ट संगठन होता है।

अतः व्यक्तियों में दिखाई देने वाले लक्षणों (traites) की सूची न बनाकर, उन लक्षणों के संगठन के ढंग को समझ लेने से हम उन व्यक्तियों का वर्णन सम्पूर्ण सावयवों (integrated organism) के रूप में कर सकते हैं। पर, लक्षणों (traits) के संगठन को समझने के लिये केवल प्रेरकों तथा मनोवृत्तियों के संगठन का ही समझना पर्याप्त नहीं होगा। मित्र-भावना, शर्म-संकोच, ईमानदारी, गर्व, आदि सामान्य लक्षण केवल मात्र यह बताने के तरीके हैं कि लोग किस प्रकार का व्यवहार करते हैं। जब हम एक व्यक्ति का निरीक्षण करते हैं तो उसके लक्षणों को नहीं देखते, हम यह देखते हैं कि वह किस प्रकार का व्यवहार करता है। उदाहरणार्थ, ईमानदारी के गुण को देखा नहीं जा सकता, क्योंकि यह अमूर्त (abstract) है, हम तो ईमानदारी की अभिव्यक्ति को उसके व्यवहारों के माध्यम से देखते हैं। अर्थात् जो कुछ हम देखते हैं, वह है प्रेरक प्रतिमान (motive patterns)। अतः यदि हमें यह पता लगाना है कि व्यक्ति के लक्षणों का संगठन किस प्रकार का है, तो हमे यह मालूम करना होगा कि उस व्यक्ति के प्रेरकों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? यह सम्बन्ध जब सुस्थिर हो जाता है तो उससे सावयव को एक संगठित स्वरूप प्राप्त होता है। इस संगठित स्वरूप को व्यक्तित्व कहते हैं।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि व्यक्तित्व के गुणों का संगठन सभी व्यक्तियों में समान रूप से नहीं हो पाता, अर्थात् व्यक्तित्व के गुणों के संगठन की मात्रा प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग होती है। प्रत्येक प्रकार से तथा प्रत्येक अवसर पर हम परिपूर्ण संगठन की आशा नहीं कर सकते हैं, और, न संगठन की अवहेलना ही हमें इस आधार पर करनी चाहिए कि वह स्वयं दृष्टिगोचर नहीं होता। साथ ही, हमें सभी व्यक्तियों को समान रूप से संगठित पाने की आशा भी नहीं करनी चाहिए। कुछ व्यक्तित्व दूसरों की अपेक्षा अधिक संगठित होते हैं।[4]

श्री न्यूकाम्ब (Newcomb) ने आगे लिखा है कि व्यक्तित्व के संगठन को केवल अर्जित मनोवृत्तियों (acquired attitudes) के आधार पर ही नहीं समझा जा सकता। सभी व्यक्तियों के व्यवहार में सावयव (organism) तो सामान्य ही होता है।[5] इस कारण हमें केवल व्यवहार के निर्देशनात्मक संगठन (directional organization of behaviour), अर्थात् मनोवृत्तियों द्वारा निर्धारित होने वाले व्यवहारों, या पर्यावरण के साथ अनुकूलन करने के लिए किये जाने वाले व्यवहारों को ही ध्यान में नहीं रखना है, बल्कि व्यवहार के सूचक संगठन (expressive organization of behaviour), अर्थात् सावयव (organism) की विशेषताओं द्वारा निर्धारित होने वाले व्यवहारों को भी ध्यान में रखना होगा।[6] इसका तात्पर्य यह हुआ कि व्यक्ति कुछ इस प्रकार का भी व्यवहार करता है, जिसका आधार सावयवी संगठन ही होता है, यद्यपि उस पर पड़ने वाले सामाजिक प्रभावों के महत्त्व को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अर्थात्, सावयव अपने को किस रूप में अभिव्यक्त (express) करता है, यह बात भी व्यक्तित्व के निर्धारण में महत्त्व रखती है। इस प्रकार व्यक्तित्व का सुस्थिर संगठन (persistent organization of personality) सापेक्षिक रूप में स्थिर सावयव तथा पर्यावरण के प्रति अनुकूलन करने से सम्बन्धित व्यवहारों पर निर्भर करता है। इनमें से दूसरा पक्ष (पर्यावरण से अनुकूलन करने से सम्बन्धित व्यवहार), अर्थात् व्यक्तित्व संगठन के निर्देशात्मक या प्रेरणात्मक (directive or motivational) पक्ष सामाजिक मनोवैज्ञानिकों के लिये अत्यधिक रुचिकर होते हैं।[7]

व्यक्तित्व की परिभाषा
(Definition of Personality)

व्यक्तित्व की अनेक परिभाषायें हैं। इस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है। श्री ऑलपोर्ट (Allport) ने उन ५० विभिन्न तरीकों की एक सूची प्रस्तुत की है, जिसके आधार पर 'व्यक्ति' तथा 'व्यक्तित्व' शब्दों को प्रयोग में लाया गया है। कुछ लोगों ने इसे 'शारीरिक आत्म' (physical self) कह कर परिभाषित किया है; कुछ लोगों ने इसे पूर्णता का एक नैतिक आदर्श (a moral ideal of perfection) माना है; तो कुछ विचारकों ने व्यक्तित्व को आकर्षण का कलात्मक गुण (esthetic qualities of attractiveness) कहा है।[8] परन्तु, इन सभी परिभाषाओं को इस आधार पर अस्वीकार किया गया है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व ऊपरी तौर पर दीखने वाले कुछ गुणों का योग मात्र नहीं है। व्यक्तित्व तो इससे भी अधिक कुछ है, जैसा कि निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जायगा।

श्री डीवर (Dever) ने लिखा है कि मनोवैज्ञानिक और सामान्य रूप से 'व्यक्तित्व' शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है; परन्तु सबसे अधिक व्यापक और सन्तोषजनक परिभाषा के अनुसार व्यक्तित्व व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक,

नैतिक और सामाजिक गुणों का वह सुसंगठित और गतिशील संगठन है, जो अन्य व्यक्तियों के प्रति तिरय प्रति के सामाजिक जीवन के आदान-प्रदान के दौरान अपने को अभिव्यक्त करता है।[9]

श्री मन (Munn) के शब्दों में, "'व्यक्तित्व की परिभाषा एक व्यक्ति के ढाँचे, व्यवहार के तरीकों, रुचियों, मनोवृत्तियों, सामर्थ्यों, योग्यताओं और अभिरुचियों के सर्वाधिक विशिष्ट संगठन के रूप में की जा सकती है।"[10]

श्री ऑलपोर्ट (Allport) ने लिखा है, "व्यक्ति के भीतर उन मनःशारीरिक व्यवस्थाओं (psycho-physical systems) का गतिशील संगठन है, जो पर्यावरण के प्रति होने वाले उसके अपूर्व अनुकूलनों का निर्धारण करते है।"[11]

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) ने लिखा है—"अपने प्रयोजन के लिये हम व्यक्तित्व को एक व्यक्ति की आदतों, लक्षणों, मनोवृत्तियों तथा विचारों के बहुत-कुछ प्रतिमानित संग्रह (patterned body) के रूप में परिभाषित कर सकते हैं, जो बाहरी तौर पर तो कार्यों तथा स्थितियों (roles and status) के रूप में संगठित होते हैं, पर आन्तरिक रूप से प्रेरणाओं, लक्ष्यों तथा आत्म के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित होते है।"[12]

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) ने अपनी एक अन्य पुस्तक में व्यक्तित्व को कुछ दूसरे ढंग के परिभाषित किया है। उन्होंने लिखा है, "व्यक्तित्व को विचारों, मनोवृत्तियों, लक्षणों, मूल्यों, तथा प्रतिक्रियाओं (आदतों) की, बहुत-कुछ संगठित, उस समग्रता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसका निर्माण एक व्यक्ति के कार्यों तथा स्थितियों के रूप में, दूसरे के साथ एवं स्वयं अपने साथ व्यवहार करने या निपटारा करने के लिये किया जाता है।"[13]

सर्वश्री लॉपीयर तथा फार्न्सवर्थ (La Piere and Farnsworth) ने लिखा "व्यक्तित्व शब्द का वैज्ञानिक प्रयोग किसी समय-विशेष में, किसी व्यक्ति-विशेष के समाजीकरण के प्रतिफलन या परिणति को दर्शाने के लिये किया जाता है। व्यक्तित्व उन सब गुणों की 'समग्रता' है, जिन्हें व्यक्ति ने समाजीकरण के द्वारा अर्जित किया है। यह तथ्य इस बात पर बल देता है कि यह समग्रता सदैव ही कम या अधिक अनूठी ही होती है।"[14]

'व्यक्तित्व' की परिभाषा संक्षेप में करते हुए प्रिन्स मॉर्टन (Prince Morton) ने लिखा है—"समस्त प्राणीशास्त्रीय गुणों तथा अर्जित प्रवृत्तियों के सम्पूर्ण योग को ही 'व्यक्तित्व' की संज्ञा दी जाती है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं की व्याख्या
(Explanation of above Definitions)

श्री डीवर (Dever) ने अपनी परिभाषा में इस बात पर बल दिया है कि व्यक्तित्व के अन्तर्गत शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और सांस्कृतिक गुणों का समावेश होता है। व्यक्ति कुछ वंशानुगत गुणों को लेकर उत्पन्न होता है, और फिर समाज के सदस्य के रूप में, उसकी अन्तःक्रिया समाज के अन्य लोगों तथा सांस्कृतिक तत्त्वों के साथ होती रहती है। इस अन्तःक्रिया के दौरान व्यक्ति दूसरे से प्रभावित होता है, और स्वयं भी दूसरों को प्रभावित करता है। इसका परिणाम

यह होता है कि व्यक्ति के विभिन्न शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा सामाजिक गुण धीरे-धीरे संगठित होकर एक सम्पूर्णता का निर्माण करते हैं। इसी को 'व्यक्तित्व' कहते हैं। इस व्यक्तित्व की एक विशेषता यह भी होती है कि इसमें संगठन होते हुए भी यह बिलकुल अपरिवर्तनशील नहीं होता। यह एक गतिशील संगठन होता है, और, वह इस अर्थ में कि व्यक्तित्व में भी परिवर्तन व परिवर्द्धन सम्भव है। यह परिवर्तन उस अवस्था में होता है, जब व्यक्तित्व को निर्धारित करने वाले आधारों में कुछ परिवर्तन हो जाता है। संक्षेप में, श्री ड्रीवर के अनुसार, सामाजिक आदान-प्रदान के दौरान विकसित व सुस्थिर होने वाले व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा सामाजिक गुणों के गतिशील संगठन को ही 'व्यक्तित्व' कहते हैं।

श्री मन (Mann) की परिभाषा व्यक्तित्व को एक सर्वाधिक विशिष्टतापूर्ण संगठन के रूप में प्रस्तुत करती है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व में न केवल एक संगठन होता है, अपितु एक अपनी विशिष्टता भी होती है, और इसी विशिष्टता के आधार पर एक व्यक्ति के व्यक्तित्व को दूसरे व्यक्ति के व्यक्तित्व से पृथक् किया जा सकता है। अत, व्यक्तित्व की अवधारणा में विशिष्ट संगठन को एक आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह संगठन व्यक्ति की शारीरिक व मानसिक विशेषताओं, व्यवहार के तरीकों, रुचियों, मनोवृत्तियों, सामर्थ्यों, योग्यताओं और अभिरुचियों का अर्थात् संक्षेप में जन्मजात व अर्जित गुणों या लक्षणों (traits) का होना है। व्यक्ति में सम्बन्धित समस्त जन्मजात व अर्जित लक्षणों के सर्वाधिक विशिष्ट संगठन को, श्री मन के अनुसार, 'व्यक्तित्व' कहा जाता है।

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) की प्रथम परिभाषा को उन्हीं के शब्दों में अधिक स्पष्टतया समझा जा सकता है। उन्होंने लिखा है, "व्यक्तित्व के दो पक्ष होते हैं—दूसरों को प्रभावित करने वाले आचरण में सम्बन्धित कार्य एवं स्थिति, और, आन्तरिक प्रेरणा, लक्ष्यों तथा स्वयं अपने तथा दूसरों के व्यवहार को देखने के तरीकों में सम्बन्धित जीवन-संगठन या धारणा।"[15] संक्षेप में, व्यक्तित्व प्रकट क्रियाओं एवं अर्थों से सम्बन्धित होता है। अत यह स्पष्ट है कि व्यक्तित्व के अन्तर्गत कुछ बाहरी और कुछ आन्तरिक तत्त्वों का समावेश होता है। हम इन बाह्य तथा आन्तरिक तत्त्वों या लक्षणों के संगठित रूप को ही व्यक्तित्व कहते हैं।

श्री किम्बल यंग की दूसरी परिभाषा प्रथम का ही प्रतिरूप है। सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति को स्वयं अपने तथा दूसरों से सम्बन्धित अनेक प्रकार के व्यवहार करने पड़ते हैं। इतना ही नहीं, समाज के सदस्य के रूप में, समाज-व्यवस्था या संरचना में व्यक्ति का अपना एक निश्चित स्थान होता है। यह स्थान या स्थिति व्यक्ति से कुछ विशिष्ट कार्यों को करने की माँग करती है। अतः, व्यक्ति को अपने विचारों, मनोवृत्तियों, आदतों, आदि को एक संगठित रूप देने की आवश्यकता होती है। इस संगठित समग्रता को ही 'व्यक्तित्व' कहते हैं।

सर्वश्री लेपीयर तथा फार्न्सवर्थ (LaPiere and Farnsworth) ने व्यक्तित्व को समाजीकरण की उपज माना है। समाजीकरण के दौरान व्यक्ति को अपने समाज व अपनी संस्कृति से बहुत कुछ प्राप्त होता है; और, इस बहुत-कुछ की अनुभूतियाँ, सामाजिक प्रेरणाएँ, मनोवृत्तियाँ, विचार, और आदतें, आदि उस अपने समाज से ही प्राप्त होती हैं। जो कुछ भी उसे समाज व संस्कृति से समाजीकरण के दौरान

प्राप्त होता है, उसी की समग्रता को व्यक्तित्व कहते हैं। परन्तु, यह समग्रता सभी व्यक्तियों के लिये एकसमान नहीं होती। अर्थात्, एक ही प्रकार की चीजें सभी व्यक्तियों को अपने समाज व अपनी संस्कृति से प्राप्त नहीं होती। उनमे व्यक्तिगत भिन्नता अवश्य ही होती है, और इसी अर्थ में व्यक्तित्व मे व्यक्तिगत विशिष्टता होती है।

प्रिन्स मॉर्टन (Prince Morton) ने अपनी परिभाषा मे व्यक्तित्व के दो प्रमुख आधारों का वर्णन किया है—एक तो प्राणीशास्त्रीय और दूसरा अर्जित। व्यक्ति को अपने माता-पिता से कुछ शारीरिक तथा-मानसिक गुण प्राप्त हो जाते हैं। पर, इन गुणों से ही उसका काम नहीं चलता। उसे अनेक अन्य गुणो को अपने समाज से अर्जित करना पड़ता है। ये गुण उसके व्यवहार को निर्धारित करते हैं, और उसका पर्यावरण से अनुकूलन सम्भव होता है। ये सब प्राणीशास्त्रीय तथा अर्जित गुण धीरे-धीरे संगठित होकर एक समग्रता का निर्माण करते हैं, जिसे 'व्यक्तित्व' कहा जाता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि **वंशानुसंक्रमण व समाजीकरण की प्रक्रियाओं द्वारा प्राप्त व्यक्तिगत गुणों व लक्षणों की सुसंगठित और गतिशील समग्रता को 'व्यक्तित्व' कहते हैं।** वास्तव मे व्यक्तित्व विस्तृत तथा विविध अर्थवाली एक अवधारणा है (Personality is a concept of wide and varied meaning)।

व्यक्तित्व के प्रमुख निर्णायक
(Main Determinants of Personality)

आज प्राय: सभी विद्वान् इस मत से सहमत हैं कि व्यक्तित्व के तीन प्रमुख निर्णायक या आधार होते है—शरीर-रचना समाज और संस्कृति। इन तीनो आधारों की अन्त:क्रियाओं के फलस्वरूप ही व्यक्तित्व का विकास होता है।

सर्वश्री क्लुखोन, मरे आदि (Kluckhon, Murray and Schneider) ने उचित ही लिखा है कि हर मनुष्य कुछ विषयो मे (क) दूसरे सब लोगों की तरह होता है; (ख) दूसरे कुछ लोगों की तरह होता है; और (ग) दूसरे किसी भी मनुष्य की तरह नहीं होता।[16] व्यक्ति दूसरे सब लोगों की तरह उस सीमा तक होता है जिस सीमा तक उसकी प्रतिक्रियायें (responses) एक सामान्य मानवीय प्राणीशास्त्रीय विरासत या सामाजिक जीवन की सार्वभौम विशेषताओं (universal features) के द्वारा निर्धारित होती हैं। वह दूसरे कुछ लोगो की तरह इस रूप मे है कि वह एक ही प्रकार के सांस्कृतिक समूह से सम्बन्ध रखता है या समाज मे समान कार्य करता है। साथ ही, वह व्यक्ति सबसे निराला इस कारण है कि अन्य किसी भी व्यक्ति को अनुभव के ठीक उसी क्रम से गुजरना नहीं पड़ा है, जिस क्रम से कि उसे।

अत: स्पष्ट है कि व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले कारक शरीर-रचना या सावयव (organism), समाज (Society) तथा संस्कृति (culture) हैं। इस अध्याय मे हम प्रथम दो आधारो तथा अगले अध्याय मे हम तीसरे आधार की विस्तृत विवेचना करेंगे।

व्यक्तित्व का प्राणीशास्त्रीय आधार

(Organic or Biological Bases of Personality)

व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले जैवकीय या प्राणीशास्त्रीय कारकों के महत्त्व को सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक सर्वश्री मन(Munn) तथा बौरिंग (Boring) का कथन है कि जब प्राणीशास्त्रीय लक्षणों की अन्त:क्रिया व्यक्ति की सामाजिक-सांस्कृतिक दुनिया के साथ होती है, तभी व्यक्तित्व का विकास होता है। कुछ वंशानुसंक्रमणवादी लेखकों का तो यहाँ तक कहना है कि 'व्यक्तित्व के विकास में सर्वश्रेष्ठ देन प्राणीशास्त्रीय कारकों की ही होती है।' इस मत के अनुसार वकील का बेटा वकील और चोर का बेटा चोर ही होगा। यद्यपि आज इस मत को वैज्ञानिक आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता, फिर भी यह माना जाता है कि प्राणीशास्त्रीय कारकों का अपना एक महत्त्व होता है। निम्नलिखित विवेचन से यह और भी स्पष्ट हो जायेगा—

1. शारीरिक बनावट व स्वास्थ्य

(Physical Structure and Health)

आरम्भ में और आज भी साधारण जनता के मस्तिष्क में व्यक्तित्व के संबंध में जो धारणा है, वह सामान्यत: एक व्यक्ति की शारीरिक बनावट और स्वास्थ्य से ही सम्बन्धित है। जिस व्यक्ति के शरीर का डील-डौल अच्छा होता है तथा रंग-रूप आकर्षक होता है, उसके व्यक्तित्व को अच्छा कहा जाता है। इसके विपरीत, अपंगु या नाटे कद वाले व्यक्ति को, या कुरूप अथवा रोगी बने रहने वाले व्यक्ति को लोग अवहेलना या अपमानजनक दृष्टि से देखते हैं। अधिक मोटापे या दुर्बलता का शारीरिक व्यक्तित्व पर बुरा प्रभाव पड़ता है। परन्तु, शारीरिक बनावट का महत्त्व स्वयं में उतना नहीं है, जितना उसके प्रति सामाजिक प्रतिक्रिया का। अगर किसी व्यक्ति की शारीरिक बनावट अच्छी नहीं है, अथवा उसके किसी अंग में कोई दोष है तो उसे देखकर लोग हँसते हैं या घृणा से मुँह फेर लेते हैं। इस प्रतिक्रिया से उस व्यक्ति के अहम् (ego) को आघात लगता है और उसमें हीनभाव (feeling of inferiority) पनपता है। वह किसी से बोलने या उसके सामने जाने में संकोच का अनुभव करता है। यही हीनभाव चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो व्यक्ति आत्महत्या तक कर सकता है। यह भी हो सकता है कि वह अपनी इस शारीरिक कमी को किसी अन्य प्रकार से पूरा करे। वह विद्वान् बनकर, बहादुर बनकर या नेता बनकर समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। सुकरात, नैपोलियन आदि का व्यक्तित्व इसी का प्रमाण है। पर, यह भी हो सकता है कि व्यक्ति की प्रतिक्रिया रचनात्मक न होकर ध्वंसात्मक (destructive) हो, और चोर, डाकू, शराबी आदि के रूप में उसके व्यक्तित्व का विकास हो। इसका तात्पर्य यह हुआ कि व्यक्ति की शारीरिक बनावट के प्रति समाज की प्रतिक्रिया उसके व्यक्तित्व के निर्माण में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। एक दूसरे उदाहरण के द्वारा इसे और अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। मान लीजिए, एक समाज में स्त्रियों का महत्व श्रमिक के रूप में अधिक है—उस अवस्था में अच्छे डील-डौल वाली महिलाओं के प्रति समाज की प्रतिक्रिया अनुकूल होगी, और वहाँ हट्टी-कट्टी युवतियों को अपने व्यक्तित्व को "अच्छे" स्तर पर ले जाने में आसानी होगी। पर, एक ऐसा समाज (जैसे अमेरिकी समाज) भी हो सकता है, जिसमें दुबली-पतली (slim bodied)

के विकास को प्रभावित करती है। यद्यपि इस विषय में पर्यावरण का योगदान या प्रभाव अत्यधिक होता है, फिर भी स्नायु-मण्डल के महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता।

4. अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ
(Endocrine Glands)

अधिकांश मनोवैज्ञानिकों ने नलीरहित (ductless) अन्तःस्रावी ग्रन्थियों (endrocrine glands) को व्यक्तित्व की संरचना में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इन ग्रन्थियों से स्राव (secretion) होता रहता है; पर, चूंकि इस स्राव को शरीर से बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं मिलता, इस कारण वह खून में मिलकर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है, और शारीरिक क्रियाओं को प्रभावित करता है। इन नलीरहित (ductless) या अन्तःस्रावी ग्रन्थियों से निकलने वाले रासायनिक पदार्थ को हारमोन्स (hormones) कहते हैं। जब हारमोन्स सन्तुलित मात्रा में निकल कर रक्त में मिलता है, तभी व्यक्ति के जीवन या व्यक्तित्व के अनेक गुणों का सन्तुलित विकास होता है। अत्यधिक स्राव होने पर बालक या व्यक्ति अधिक जोशीला, अधिक क्रोधी, अशान्त, आदि हो जाता है, और कम स्राव होने पर बालक आलसी, सुस्त, कामचोर, दुर्बल, आदि हो जाता है। सामान्य रूप से इन ग्रन्थियों का प्रभाव शारीरिक विकास और पाचन-क्रिया पर भी पड़ता है। परन्तु, कभी-कभी ये हमारे व्यवहार को भी प्रभावित करती हैं। यहाँ हम उन अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की विवेचना करेंगे, जिनका प्रभाव व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता है—

(अ) कण्ठ-ग्रन्थि (Thyroid Gland)—गर्दन की जड़ में कण्ठ की गुठली के ऊपर दोनों ओर यह ग्रन्थि पायी जाती है। इस ग्रन्थि से जो द्रव पदार्थ निकलता है, उसे 'थाइरोक्सीन' (thyroxin) कहते हैं। इसका व्यक्तित्व पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। इस ग्रन्थि के नष्ट हो जाने पर श्लेष्मस्काय (myxoedema) नामक रोग हो जाता है। इस रोग में व्यक्ति के शरीर में शिथिलता सुस्ती और निष्क्रियता छा जाती है, मस्तिष्क और पेशियों की क्रिया मन्द पड़ जाती है, स्मृति मन्द होने लगती है, ध्यान नहीं जमता, चिन्तन करने की शक्ति कम हो जाती है, और बुद्धि काम नहीं करती। जिस बालक में बचपन से ही यह ग्रन्थि समुचित रूप से क्रियाशील नहीं रहती, उसका मानसिक (चिन्तन, स्मरण, कल्पना आदि) और शारीरिक विकास पूर्ण रूप में नहीं हो पाता। अजाम्बुक बाल (cretins), बौने, कुरूप और मूढ़बुद्धि वाले बालक इसी ग्रन्थि के अभाव के परिणाम होते हैं। जब इस ग्रन्थि से आवश्यकता से अधिक स्राव निकलता है, तो व्यक्ति अधिक उत्तेजनशीलता और शक्ति का अनुभव करता है। कभी-कभी व्यक्ति में अनिद्रा और चिड़चिड़ापन भी आ जाता है।

(ब) सर्वक्लोमी ग्रन्थि (Pancreas Gland)—इस ग्रन्थि से सर्वक्लोमी रस (pancreatic juice) निकलता है, जो भोजन को पचाने में सहायता करता है। यह रक्त में मधुवशि (insulin) नामक द्रव भी पहुँचाता है। इसकी सहायता से मांसपेशियाँ शर्करा का उपयोग कर लेती हैं। रक्त में शर्करा (sugar) तत्त्व की कमी होने से मानसिक शक्ति क्षीण हो जाती है, और व्यक्तित्व में परिवर्तन दिखाई पड़ता है, भावावस्था (mood) में परिवर्तन हो जाता है, स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, और भय की भावना बढ़ जाती है।

(स) अभिवृक्क ग्रन्थि (Adrenal Gland)—ये ग्रन्थियाँ गुर्दों (kidneys) के ऊपर स्थिर रहती हैं। इन ग्रन्थियों से जो रस निकलता है, उसे 'एड्रिनीन' (adrenin) कहते हैं। इसका व्यक्तित्व पर बड़ा प्रभाव पड़ता है, और इसकी अधिकता होने पर पुरुष में पुरुषोचित गुणों की अधिकता हो जाती है, और स्त्रियों के अंगों की गोलाई (rounded contours) समाप्त हो जाती है, आवाज भारी हो जाती है और दाढ़ी-मूंछ निकलने लगती है। इसकी अधिकता के अन्य प्रभाव भी होते हैं—जैसे, हृदय की धड़कन बढ़ जाना, रक्तचाप में वृद्धि हो जाना, पेट और आँतों की स्वाभाविक क्रिया रुक जाना, फुफ्फुसों के वायुमार्गों का चौड़ा हो जाना, मांसपेशियों में थकान न आना, और खुलकर पसीना आना, आदि। इसके नितान्त अभाव में एडीसन रोग हो जाता है। इससे शरीर में निर्बलता और शिथिलता बढ़ जाती है, यौन क्रिया में अरुचि हो जाती है, रोग का प्रतिरोध करने की शक्ति कम हो जाती है, चमड़ी का रंग काला पड़ जाता है, सर्दी गर्मी सहने की शक्ति नहीं रहती, और चिड़चिड़ापन बढ़ जाता है, आदि। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि अभिवृक्क-ग्रन्थि के दो भाग हैं—(१) बाहरी भाग से मस्तिष्क और जननेन्द्रिय (genital organs) का विकास होता है। इस भाग के न रहने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। (२) आन्तरिक भाग से संवेगात्मक व्यवहारों का नियंत्रण होना है। यह भाग जब ठीक तरह काम नहीं करता तो व्यक्ति संवेगों की अभिव्यक्ति में नियन्त्रण खो देता है और उसे उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं रह जाता।

(द) पीयूष-ग्रन्थि (Pituitary Gland)—व्यक्तित्व के निर्धारण में इस ग्रन्थि का महत्त्व सबसे अधिक है। इसे मास्टर-ग्रंथि (master gland) भी कहते हैं, क्योंकि यह अन्य ग्रन्थियों पर नियंत्रण करती तथा उनके कार्यों के बीच सामंजस्य स्थापित करती है। यह ग्रंथि नाक की जड़ के पास मस्तिष्क के आधार पर मटर के दाने के बराबर होती है। इसका प्रभाव विशेष रूप से शरीर तथा जननेन्द्रिय (genital organs) के विकास पर पड़ता है। जब यह ग्रन्थि अधिक क्रियाशील होती है, तो व्यक्ति अधिक लम्बे-चौड़े शरीर वाला हो जाता है और समय से पूर्व ही उसकी जननेन्द्रिय का विकास हो जाता है। इसके विपरीत जब यही ग्रंथि आवश्यकता से कम क्रियाशील रहती है, तो व्यक्ति बौना हो जाता है और उसके यौन अंगों का समुचित विकास नहीं हो पाता। ऐसे व्यक्ति कठिन कार्यों को करने से डरते हैं, और बहुत जल्दी घबड़ा जाते हैं। इस ग्रंथि की क्रियाशीलता के फलस्वरूप जो भी शारीरिक परिवर्तन होता है, उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी व्यक्तित्व पर पड़ता है। उदाहरणार्थ, जिस व्यक्ति के यौन अंगों का समुचित विकास नहीं हो पाता, वह अपने को हीन समझने लगता है'। अतः, भीरु और संकोची स्वभाव का हो जाता है, और विपरीतलिंगी व्यक्तियों के सामने जाने में झेंपता है।

(य) जनन-ग्रन्थियाँ या यौन ग्रन्थियाँ (Gonads or Sex Glands)—ये ग्रन्थियाँ यौन-सम्बन्धी गौण विशेषताओं (secondary sex characteristics) को निर्धारित करती हैं। इसके अन्तर्गत पुरुषों में दाढ़ी-मूंछ उगना, शरीर पर बालों का वितरण होना, और आवाज का भारी हो जाना, आदि आता है। स्त्रियों का पतला कंठ-स्वर, स्तन-विकास आदि इसमें सम्मिलित किये जाते हैं। स्त्रियों की सन्तानोत्पत्ति-सम्बन्धी प्रक्रियायें, मासिकधर्म, गर्भाधान, मातृक व्यवहार आदि भी यौन ग्रन्थियों से प्रभावित होते हैं। यह ग्रन्थि पीयूष-ग्रंथि तथा अभिवृक्क-ग्रन्थि के सहयोग से उपर्युक्त

विशेषताओ व व्यवहारों को निर्धारित करती है। स्त्री और पुरुष में पारस्परिक रुचि अथवा अरुचि भी इसी ग्रंथि के कारण होती है। जब व्यक्ति मे अस्वाभाविक यौन विकास होता है तो वह हीनता का अनुभव करता है, और उसका व्यक्तित्व का सन्तुलित रूप से विकास नहीं हो पाता।

5. शारीरिक रसायन
(Body Chemicals)

व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले कारकों मे शारीरिक रसायन का भी उल्लेखनीय महत्त्व है। इस सम्बन्ध मे डॉ० शर्मा ने लिखा है कि प्राचीन काल से मनुष्य-स्वभाव का कारण उसके शरीर के रासायनिक तत्त्वों को माना गया था। इस सिद्धात के अनुसार अभ्यस्त आशावादी (sanguine) व्यक्ति मे रक्त की अधिकता, चिड़चिड़े (choleric) व्यक्ति में पित्त (bile) की अधिकता, शान्त (phlegmatic) व्यक्ति मे कफ (phlegm) की अधिकता, और उदास रहने वाले (melancholic) व्यक्ति में तिल्ली (spleen) की अधिकता मानी जाती थी। नर्वी (nervous) व्यक्ति में इस दुर्बलता का कारण शरीर मे स्नायु-द्रव्य (nervous fluid) की अधिकता बतलाया जाता था। पर, इस सामान्य शरीरशास्त्रीय सिद्धान्त को मनोविज्ञान स्वीकार नहीं करता। फिर भी, इस सत्य को कोई भी गम्भीर मनोवैज्ञानिक अस्वीकार भी नहीं कर सकता कि शरीर के रासायनिक तत्त्वों का व्यक्तित्व के विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। ये रासायनिक तत्त्व दो प्रकार के होते हैं—कुछ बाहर से शरीर में पहुँचते हैं, और कुछ शरीर में ही बनते हैं। ये दोनो ही प्रकार के रासायनिक तत्त्व रक्त में मिलने के पन्द्रह सेकेण्ड के अन्दर पूरे शरीर मे फैल जाते हैं। उदाहरणार्थ, मादक द्रव्यों का प्रभाव व्यक्तित्व पर स्पष्टतः पड़ता है। शराबी व्यक्ति का व्यवहार इसका प्रमाण है। इसी प्रकार तम्बाकू चरस, गाँजा, भाँग आदि सेवन करने वाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व पर इन सब मादक द्रव्यो का प्रभाव पड़ता ही है, क्योंकि इनके सेवन करने से कुछ रासायनिक तत्त्व रक्त मे मिल जाते हैं और उनकी प्रतिक्रिया व्यक्ति के व्यवहार, आदत, स्वभाव आदि में होती है। ये तत्त्व बाहर से शरीर के अन्दर पहुँचते हैं और व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। इसी प्रकार रक्त मे शर्करा (sugar) की मात्रा कम या अधिक हो जाने से मनुष्य की शारीरिक और मानसिक दशाओं मे परिवर्तन हो जाता है। भोजन की कमी या अधिकता, अथवा भोजन के प्रकार का शारीरिक दशाओं पर ही नहीं, अपितु मानसिक दशाओ पर भी प्रभाव पड़ता है। विभिन्न विटामिनों की कमी से व्यक्ति मे विभिन्न परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। इन समस्त परिवर्तनों का प्रभाव भी व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि व्यक्तित्व के आधार के रूप मे प्राणीशास्त्रीय कारकों की अवहेलना नही की जा सकती। यह सच है कि ये प्राणीशास्त्रीय कारक अपने मूल या मौलिक रूप में क्रियाशील नहीं होते। इन पर सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों का प्रभाव पड़ता ही है, फिर भी प्राणीशास्त्रीय कारकों के महत्त्व को अस्वीकार करना व्यक्तित्व के वैज्ञानिक विश्लेषण के अनुकूल नहीं कहा जा सकता।

व्यक्तित्व तथा समाज
(Personality and Society)

व्यक्तित्व का एक अन्य महत्त्वपूर्ण निर्णायक आधार 'समाज' है। सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति समाज मे रहता और समाज मे ही पलता है। यह समाज एक व्यक्ति को लेकर नही बनता। समाज मे अनेक व्यक्ति होते है और प्रत्येक व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन में अन्य अनेक व्यक्तियो द्वारा घिरा रहता है। इन व्यक्तियों से उसका सामाजिक सम्बन्ध होता है और इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने चारो ओर सम्बन्धों के एक जाल की रचना करता है। यह जाल जन्म से मृत्यु तक उसे घेरे रहता है और उसके व्यक्तित्व के विकास पर अपना प्रभाव डालता है। साथ ही सामाजिक सम्बन्धो की क्रियाशीलता के फलस्वरूप विभिन्न सामाजिक परिस्थितियो का उद्भव होता है और वे सभी मिलकर एक सामाजिक पर्यावरण (Social environment) का विकास करती हैं। इस सामाजिक पर्यावरण का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व पर स्पष्टत: पड़ता है। अब हम इसी बात की विस्तृत विवेचना करेंगे।

व्यक्तित्व तथा सामाजिक सम्बन्ध की प्रविधियाँ
(*Personality and Techniques of Social Relationships*)

समाज के सदस्यो मे आपसी सम्बन्ध स्थापित करने की कुछ प्रविधियाँ होती हैं। इन प्रविधियो के द्वारा व्यक्ति अपना अनुकूलन समाज के अन्य लोगो के साथ करता है। इस अनुकूलन का प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर पड़ता है। अत. यह आवश्यक है कि इन प्रविधियों की विवेचना कर ली जाय। ये प्रविधियाँ इस प्रकार हैं—

1. **समीकरण** (Identification)—**श्री किम्बल यंग** (Kimball Young) ने लिखा है—"समीकरण की प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमे व्यक्ति दूसरे के विचारों तथा क्रियाओं को अपने विचारो तथा क्रियाओ के रूप मे ग्रहण कर लेता है।"[18] एक अन्य स्थान पर श्री यग ने समीकरण की प्रकृति को और भी स्पष्ट करते हुए कहा है—"दूसरे व्यक्ति की क्रियाओ स्वर, हाव-भाव या अन्य गुणो को ग्रहण करना और स्थायी अथवा अस्थायी रूप से उनको अपना बना लेना ही समीकरण है।"[19] अत स्पष्ट है कि समीकरण की प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति अपने को दूसरे व्यक्ति के समरूप समझने लगता है, और उसके हाव-भावों, लक्षणो, मनोवृत्तियो, आदतो तथा कार्यों को अपना लेता है, जो समग्र रूप में नया संगठित तौर पर उसके व्यक्तित्व के आवश्यक अग बन जाते है। समीकरण की यह प्रक्रिया बचपन से ही क्रियाशील होती है। इसका आरम्भ सबसे पहले माँ और बच्चे के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर होता है। दो महीने का बच्चा भी माँ को हँसते देखकर स्वय हँसता है, और नौ-दस महीने का हो जाने पर तो वह दूसरे बच्चो को रोता देखकर स्वय रोता है, बैठता है और हाथ-पैर पटकता है। इनमे से अधिकाश प्रतिक्रियाएँ अचेतन ही होती हैं। फिर इनके द्वारा दूसरे की क्रियाओ, हाव-भावो, अनुभूतियो, आदि को अपनाने मे या उनका संकलन करने मे अत्यधिक सहायता मिलती है। यह समीकरण की प्रक्रिया का ही परिणाम होता है कि व्यक्ति दूसरे के स्वर या हाव-भाव देखकर ही उसके मन के भाव को समझ जाता है। उदाहरणार्थ, माँ का एक विशेष प्रकार का स्वर सुनकर बच्चा मुस्कुराता है; पर, जब वह एक दूसरे स्वर से बोलती है तो बच्चा डर जाता या रोने

लगता है। इसके बाद जब बच्चा भाषा समझने तथा बोलने लगता है, तो समीकरण की प्रक्रिया सचेत स्तर पर आ जाती है।

श्री यंग (Young) ने लिखा है कि "समीकरण सहानुभूति तथा सहयोग का आधार है। समीकरण की अनुभूति—संवेगात्मक आधार (feeling-emotional foundation)—सुख तथा प्रेम की होती है। पर एक व्यक्ति अपने को दूसरे के स्थान पर रखने में कितना सफल होगा, यह निर्भर करता है सीखी हुई प्रतिक्रियाओं (learned reactions) पर।[20] "सहानुभूति तथा समीकरण का सर्वप्रथम प्रशिक्षण व्यक्ति को अपनी माता या धाय-माँ से प्राप्त होता है। इस प्रक्रिया में माँ की प्रतिमा (mother image) वास्तव में बच्चे को अत्यधिक प्रभावित करती है।"[21] लड़की माँ की भाँति कपड़ा पहनती है, घूँघट निकाल कर शीशे के सामने खड़ी होती है, खिलौने-बर्तनों को लेकर खाना पकाने का काम करने लगती है, या अपनी गुड़िया की काल्पनिक बीमारी से परेशान हो जाती है। ये सभी व्यवहार-प्रतिमान आगे चलकर व्यक्ति के व्यक्तित्व में संगठित हो जाते हैं। विस्तृत सामूहिक जीवन में व्यक्ति कितनी सफलतापूर्वक भाग ले सकेगा, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि वह अन्य सदस्यों की आवश्यकताओं, उद्देश्यों तथा उनकी संतुष्टि के तरीकों के साथ किस सीमा तक अपना समीकरण कर लेता है। इसी पारस्परिक तथा सामान्य समीकरण के आधार पर सहयोगी आदतों, मनोवृत्तियों तथा लक्षणों का विकास होता है।[22] ये सभी गुण व्यक्तित्व के 'अमूल्य धन' होते हैं।

समीकरण का एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव, श्री किम्बल यंग के अनुसार, यह होता है कि व्यक्ति, अपने माता-पिता तथा अन्य वयस्कों से, नैतिक नियमों और क्रियाओं को अपने अन्दर ग्रहण करता जाता है। सदाचार की भी भावना, नैतिक आत्म (moral self) या आदर्शात्मा का विकास आचरण की उन परिभाषाओं तथा नियंत्रणों पर निर्भर करता है, *जिन्हें हम दूसरों से ग्रहण करते हैं।* हम अपने को उसी प्रकार से दण्डित करना सीख जाते हैं, जैसे दूसरे हमें समाज के नियमों का उल्लंघन करने पर दण्डित कर चुके हैं।[23] अत: स्पष्ट है कि समीकरण या दूसरे के साथ सामाजिक सम्बन्ध के आधार पर एकरूपता व्यक्तित्व के लिये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होती है।

यद्यपि समीकरण पूर्णतया स्वाभाविक क्रिया है, फिर भी कभी-कभी इसका बहुत ही उग्र रूप हमें देखने को मिलता है। जिस बच्चे में यह धारणा पनप जाती है कि माता-पिता उसकी अवहेलना करते हैं, वह अपना समीकरण परिवार के किसी अशक्त (invalid) सदस्य के साथ कर सकता है, और रोग के लक्षणों को ग्रहण कर सकता है। इससे भी गम्भीर परिस्थिति उस समय उत्पन्न होती है, जब व्यक्ति अपना समीकरण किसी शराबी, पतित, चोर या डाकू आदि से करता है और उनके व्यवहारों या आचरणों को अपना लेता है, या फिर अपने को भगवान का अवतार, नेताजी सुभाष या नेपोलियन समझने लगता है।

2. प्रक्षेपण (Projection)—समीकरण का उल्टा प्रक्षेपण होता है। इसमें दूसरे व्यक्तियों पर अपने स्वयं के लक्षणों, प्रेरणाओं, आदतों, विचारों, अनुभूतियों तथा संवेगों—यहाँ तक कि कार्यों तथा स्थितियों तक को लादा जाता है। जैसे-जैसे हम बड़े होते हैं, हम अपने आसपास के लोगों के व्यवहारों को ग्रहण करना ही नहीं सीखते, अपितु उन लोगों पर वह सब भी लादना चाहते हैं, जो हम स्वयं देखते, विचारते, अनुभव करते या आम तौर पर करते हैं। समीकरण की भाँति

प्रक्षेपण भी सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है; और, उन्हीं के अनुरूप दूसरों के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखने के दौरान हम न केवल दूसरों के व्यवहार-प्रतिमानों को ग्रहण करते है, बल्कि अपने व्यवहार-प्रतिमानों को दूसरों पर लादते भी हैं। सामाजिक सम्पर्कों (social contacts) को बनाने में 'समीकरण' तथा 'प्रक्षेपण', दोनों ही महत्त्वपूर्ण होते है। दोनों ही इस प्रकार की प्रक्रियायें हैं, जो एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के साथ अनुकूलन करने में मदद देती हैं। समीकरण के द्वारा हम दूसरों से ग्रहण करते है, जब कि प्रक्षेपण के द्वारा हम दूसरों को कुछ देते है।

प्रक्षेपण के उदाहरण हमे समाज में सर्वत्र देखने को मिलते है। उच्च वर्ग के लड़के उन आचरणों या आदतों को निम्न वर्ग के बच्चों पर थोपना चाहते हैं, जिन्हें उन्होंने अपने परिवार से ग्रहण किया है। और तो और, शासक-वर्ग अपने आदर्श, आचरण, संस्कृति आदि को अपनी प्रजा पर लादन का निरन्तर प्रयास करते हैं। इसी प्रकार अनेक पिता अपने पेशे को अपने बच्चों पर थोपने की कोशिश करते हैं। यदि पिता गायक, डॉक्टर, वकील या इंजीनियर हैं तो वे यही चाहते हैं कि उनका बच्चा भी गायक, डॉक्टर, वकील या इंजीनियर बने। इसका परिणाम अच्छा भी होता है, और बुरा भी। इसी प्रकार सामाजिक पक्षपात में भी प्रक्षेपण महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करता है। एक समूह या व्यक्ति दूसरे समूहों या व्यक्तियों में भी उन पक्षपातपूर्ण आचरणों को भर देने का प्रयत्न करते हैं, जिन्हें वे स्वय अपनाते है। अछूत जातियों के मामले में केवल ब्राह्मणों ने ही स्वय अपने साथ पक्षपात नही किया, बल्कि अन्य जातियों में भी यह धारणा, यह भावना ठूंस-ठूंस कर भर दिया कि उन्हें भी अछूत जातियों के साथ उसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, जिस प्रकार का कि वे (ब्राह्मण लोग) कर रहे हैं। इसी प्रकार समाज-सुधारक, विद्रोही नेता आदि भी यह चाहते है कि जनता उनके द्वारा निर्देशित आचरणों को स्वीकार कर ले।

3. क्षतिपूर्ति (Compensation)—कोई भी व्यक्ति हर परिस्थिति का सामना करने के लिये काफी नही होता। इसलिये व्यक्ति को किसी एक प्रतिक्रिया (response) के एवज में दूसरी प्रतिक्रिया करने, या उद्देश्य-प्राप्ति के एक साधन की जगह दूसरे साधन को देने (substitute) की कला सीखनी पड़ती है। दूसरों की तुलना में निकृष्ट स्थिति तथा कार्य को स्वीकार करने में व्यक्ति के आत्म सम्मान को ठेस पहुँचती है। इसीलिये व्यक्ति को कोई दूसरा रास्ता अपनाना पड़ता है, जिसके द्वारा वह अपने खोये हुए आत्म-सम्मान को पुनः प्राप्त कर सके। इसीलिये प्रेम में निराश होने पर व्यक्ति शिक्षा के क्षेत्र में अपने को सुप्रतिष्ठित करने की प्रबल इच्छा का विकास करना चाहता है, और उसी के लिये प्रयत्नशील दीखता है। इसी प्रकार कुरूप व्यक्ति 'फैशन का राजा' बनकर कुरूप होने की आत्म-ग्लानि से अपने को बचाता है। 'क्षतिपूर्ति' शब्द का प्रयोग इसी प्रकार के स्थानापन्न कार्य करने या भूमिका अपनाने की ऐसी प्रक्रिया के लिए किया जाता है, जिससे किसी-न-किसी तरह तनाव कम हो, और सन्तोष (tension reducing satisfaction) प्राप्त हो।[25] जो लोग इस प्रकार की क्षतिपूर्ति नही कर पाते, उनमे निराशा, हीनभाव (inferiority complex) आदि पनप जाते हैं; और, इनका प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर भी पड़ता है।

4 उन्नयन (Sublimation)—स्थानापन्न प्रतिक्रिया (substitute response) का एक दूसरा रूप उन्नयन है। इसमें स्थानापन्न व्यवहार को उच्च

प्रतिष्ठित व्यक्तियों तथा समूहों के द्वारा एक नैतिक तथा सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है। यह सच है कि क्षतिपूर्ति तथा उत्सादन में अनेक तत्व समान होते हैं, पर उत्सादन में क्षतिपूर्ति की भांति हीनता की भावना नहीं होती। सन्तानहीन माता-पिता का बच्चों को गोद लेना, उत्सादन का ही उदाहरण है। विभिन्न स्थानापन्न प्रतिक्रियाओं की क्रियाशीलता एक-दूसरे से बहुत ज्यादा अलग नहीं होती। पर, इस क्रियाशीलता का समाज के दूसरे लोग क्या अर्थ लगाते हैं, यह इस बात पर निर्भर है कि उस समाज की सांस्कृतिक परिस्थितियाँ किस प्रकार की हैं। उदाहरणार्थ, यौन क्रियाओं में असफल व्यक्ति की स्थानापन्न प्रतिक्रिया यौन सम्बन्धी गन्दी बातें हो सकती हैं। हो सकता है कि इन गन्दी बातों को उस समाज में सांस्कृतिक-नैतिक आधार पर सहन न किया जाता हो, और इसलिये दूसरे लोग उस प्रकार की गन्दी बातें करने वाले व्यक्ति की निन्दा करते हों, और उससे दूर रहना या उसे दण्डित करना चाहते हों, दंडित करते हों। इसके विपरीत, स्वाभाविक मातृत्व (normal motherhood) से वंचित स्त्री की स्थानापन्न प्रतिक्रिया यदि नर्स के रूप में या किसी अनाथालय की संचालिका के रूप में, या किसी किशोर-न्यायालय के जज के रूप में या किसी समाजसेविका के रूप में प्रकट होती है तो उन स्त्रियों को हमारे समाज व संस्कृति के मूल्यों के अनुसार समादर की दृष्टि से देखा जाता है। अतः *व्यक्तित्व के विश्लेषण में सांस्कृतिक पक्ष भी महत्वपूर्ण है।*

5. युक्तियुक्तकरण (Rationalization)—सामाजिक अन्त:क्रिया के दौरान लोगों को हम केवल विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियायें करते ही नहीं देखते, बल्कि लोगों को अपनी क्रियाओं के औचित्य को दूसरों को या अपने आप को दर्शाने की कला भी सीखते देखते हैं। अपने कार्यों के औचित्य को प्रमाणित करने की इसी आदत को 'युक्तियुक्तकरण' कहा जाता है। यह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने उन कार्यों के पक्ष में भ्रान्त तर्क को ढूंढ निकालता है या उन कार्यों की सफाई स्वयं अपने सम्मुख तथा दूसरे लोगों के सम्मुख प्रस्तुत करता है, जो सामाजिक दृष्टि से हास्योत्पादक, आपत्तिजनक या दण्ड के योग्य हैं।[25] वास्तव में व्यक्ति जो कुछ करता है, यह सोचकर ही करता है कि वह ठीक या उचित कर रहा है। परन्तु हो सकता है कि दूसरे लोग या समूह उसके कुछ कार्यों को उचित या ठीक न मानें। ऐसी अवस्था में व्यक्ति को अपनी सफाई देनी होती है कि उसका कोई भी कार्य या व्यवहार अनुचित नहीं है। साथ ही, इस व्यवहार या कार्य के औचित्य को प्रमाणित करने के लिये व्यक्ति अपनी प्रकृति, परिस्थितियों, सामाजिक-सांस्कृतिक आदर्शों के अनुसार अनेक युक्तियाँ या सफाइयाँ पेश करता है। यही युक्तियुक्तकरण या—श्री विल्फ्रेडो परेटो (Vilfredo Pareto) के शब्दों में—'भ्रान्त तर्क' (derivations) है। इस प्रकार युक्तियुक्तकरण "क्रियाओं का वह व्यापक क्षेत्र है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने व्यवहार की तार्किकता या औचित्य के सम्बन्ध में स्वयं अपने तथा साथियों को समझाने या विश्वास दिलाने का प्रयत्न करता है।" श्री यंग (Young) ने लिखा है कि हम सभी अपने व्यवहार के औचित्य को प्रमाणित करना चाहते हैं। अधिकतर "कारण" (reasons) जो हम अपने को या दूसरों को देते हैं, वे हमारे आचरण के सही कारण नहीं होते, बल्कि ऐसे बहाने (excuses) होते हैं, जिनके विषय में हम यह सोचते हैं कि उन्हें दूसरे लोग और स्वयं हम भी सच मान लेंगे। वास्तविक या सही कारण हम से प्राय: छिपा ही रहता है। इन "अच्छे" (good) तथा समाज द्वारा मान्य कारणों को ही हम 'युक्तियुक्तकरण' कहते हैं।"[26] मनुष्य को जब कभी भी अपने कार्यों के औचित्य

को प्रमाणित करने या उसके 'वास्तविक' (कर्त्ता की दृष्टि से) गुणों को दिखाने, प्रमाणित करने तथा उनकी व्याख्या करने की आवश्यकता होती है, वह युक्तियुक्तकरणों का सहारा लेता है। बार-बार दोहराने से ये युक्तियुक्तकरण आदतों के रूप में व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यवहार-प्रतिमान में सुस्थिर हो जाते हैं। अत इन युक्तियुक्तकरणों को व्यक्तित्व के एक लक्षण के रूप मे माना जाता है, और इनका निर्धारण समाज के द्वारा ही होता है। अर्थात् समाज अपने सदस्यों के कुछ आचरणों को, अत्यधिक स्वार्थपूर्ण तथा अनैतिक होने पर भी, क्षमा प्रदान कर देने की स्वीकृति प्रदान करता है।

6. स्थानान्तरण (Displacement)—क्षतिपूर्त्ति तथा उत्पादन की भाँति स्थानापन्न (substituting) का एक और स्वरूप 'स्थानान्तरण' है, जिसका अर्थ है व्यक्ति की प्रतिक्रियाओं (reactions) तथा मनोवृत्तियों को एक वस्तु से दूसरी में स्थानान्तरित करना। उदाहरणार्थ, व्यक्ति जब दफ्तर में अपने अफसर से डाँट खाकर अपने चपरासी को, या घर पर आकर अपनी बीवी-बच्चों को डाँट पिलाता है, तो उस प्रक्रिया को 'स्थानान्तरण' कहते हैं। इसी प्रकार बच्चा आरम्भ में अपने माँ से प्रेम करता है, और उसका आलिंगन करता तथा चुम्बन लेता है; पर, फिर बाद को उन्हीं प्रतिक्रियाओं को वह दूसरे व्यक्तियों में स्थानान्तरित कर देता है। व्यक्तित्व के अन्तर्गत आने वाले अनेक व्यवहार इसी स्थानान्तरण का ही परिणाम होते हैं, जो सामाजिक-अन्त क्रियात्मक सम्बन्धों के फलस्वरूप ही पनपते है।

7 पुनःप्रवेश (Regression)—अनुकूलन के तरीकों को विकसित करने के दौरान व्यक्ति ऐसी अनेक आदतें तथा मनोवृत्तियाँ अर्जित करता है, जो बहुत कुछ अपने आप भी क्रियाशील रहती हैं। बड़े होने तथा समाज के एक सदस्य होने के दौरान व्यक्ति की कुछ आदतें तो छूट जाती हैं, पर उनके स्थान पर नयी आदतें पनप आती हैं। उदाहरणार्थ, जब बच्चा दो या तीन वर्ष का होता है तो उससे जो कुछ आशा की जाती है या उसके जिन व्यवहारों को सहन किया जाता है, उन्हें उस बच्चे के दस वर्ष की आयु में सहन नहीं भी किया जा सकता है। उस आयु में बच्चे को नये व्यवहारों या आदतों को विकसित करना पड़ता है। पर, उसकी पुरानी आदतें या व्यवहार के तरीके पूर्णतया नष्ट नहीं हो जाते हैं, और अवसर पाते ही व्यक्ति के व्यवहार में पुनः प्रवेश करते हैं। उदाहरणार्थ, नशे की हालत में थकान की अवस्था में, या बीमारी की स्थिति मे अक्सर प्रौढ़ व्यक्ति भी बच्चों जैसा व्यवहार करने लगते हैं। व्यवहारों के इस प्रकार पीछे हट जाने या पुराने व्यवहारों के फिर से प्रकट होने की प्रक्रिया को 'पुन प्रवेश' कहते है। व्यक्तित्व मे इसका भी अपना महत्त्व होता है। किसी-किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व मे यह पुन.प्रवेश की प्रक्रिया इतनी अधिक क्रियाशील होती है कि प्रौढत्व को प्राप्त कर लेने के बाद भी उसके व्यवहारों या आचरणों मे बचपना झलकता है।

8 विसंयुक्तता (Ambivalence)—जब व्यक्ति मे एक ही वस्तु या परिस्थिति के प्रति अनेक विपरीत तथा विरोधी प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियाँ (reaction-tendencies) होती है, तो उसे 'विसंयुक्तता' कहते हैं। एक ही वस्तु या मनुष्य के प्रति व्यक्ति के दिल मे घृणा तथा प्रेम दोनों ही हो सकता है। शासक और गुस्सेबाज माता-पिता के प्रति बच्चे के दिल मे नापसन्दगी की भावना हो सकती है, पर पालन तथा स्नेह, सुरक्षा व सान्त्वना देने वाले उन्हीं माता-पिता के प्रति उसके दिल मे

श्रद्धा, प्रेम तथा अपनेपन की भावना भी हो सकती है। कभी-कभी व्यक्ति के व्यक्तित्व में इस प्रकार की विरोधी प्रवृत्तियों में संघर्ष छिड़ जाता है, और उसके व्यक्तित्व की प्रकृति इस बात पर निर्भर करने लगती है कि उस संघर्ष में किन प्रवृत्तियों की विजय होती है।

9. सहयोग तथा संघर्ष (Cooperation and Conflict)—सहयोग, श्री फेयरचाइल्ड (Fairchild) के अनुसार, "वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा एकाधिक व्यक्ति या समूह अपने प्रयत्नों को बहुत कुछ संगठित रूप में सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये संयुक्त करते हैं।" कोई भी व्यक्ति समाज में स्वयं पूर्ण नहीं होता, क्योंकि वह अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं नहीं कर पाता। इसके लिये उसे दूसरे लोगों की सेवाओं या सहायता की आवश्यकता होती है। इन सेवाओं को प्राप्त करने के लिये हर व्यक्ति अन्य अनेक व्यक्तियों के साथ सहयोग करता है। यह आदत, अन्य व्यक्तियों के साथ, अन्त:क्रियात्मक सम्बन्ध स्थापित होने के दौरान विकसित होती है, और व्यक्तित्व का एक विशिष्ट गुण मानी जाती है। इसके विपरीत संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति या समूह अपने विरोधी पक्ष के साथ लड़-झगड़कर या डरा-धमकाकर अपने उद्देश्यों की पूर्ति करना-करवाता है। संघर्ष की यह प्रवृत्ति भी व्यक्तित्व की एक विशिष्टता है, जो विभिन्न मात्रा में विभिन्न व्यक्तियों में देखने को मिलती है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि समाज में व्यक्ति को अन्य अनेक व्यक्तियों के साथ अन्त:क्रियात्मक सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है, जिसके कारण वह उपर्युक्त प्रक्रियाओं के जाल में फँस जाता है, और उसमें अनेक प्रकार के व्यवहारों, आचरणों, आदतों तथा मनोवृत्तियों आदि का विकास होता रहता है। इनमें से अनेक व्यवहारों, आदतों तथा मनोवृत्तियों को व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों से ग्रहण करता है, या सामाजिक अन्त:क्रियाओं के दौरान सीखता है। कुछ आदतें व मनोवृत्तियाँ पुन प्रवेश (regression) की प्रक्रिया द्वारा व्यक्तित्व में लौट आती हैं, तो कुछ 'युक्तियुक्तकरण' या 'स्थानान्तरण' के द्वारा प्रकट होती हैं। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि समीकरण, प्रक्षेपण, क्षतिपूर्ति, उत्पादन आदि प्रक्रियाओं द्वारा जिन आचरणों आदतों, मनोवृत्तियों आदि का विकास होता है, उनकी सहायता से व्यक्ति न केवल दूसरों को पहचानता है, बल्कि अपने को भी पहचानने लगता है—अर्थात्, व्यक्ति स्वयं अपने बारे में कोई-न-कोई धारणा बनाने में सफल होता है। इसी को 'आत्म का विकास' (the rise of the 'self') कहते हैं। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी।

'आत्म' का विकास
(The Rise of the Self)

'आत्म को व्यक्तित्व की संरचना का एक आवश्यक अंग माना जाता है। वास्तव में हम व्यक्ति के आत्म (self) को उसके व्यक्तित्व का केन्द्र कह सकते हैं, क्योंकि आत्म के चारों ओर ही व्यक्तित्व के अन्य तत्व या लक्षण (traits) संगठित होते हैं। व्यक्ति जब तक अपने स्वयं या आत्म के सम्बन्ध में कुछ निश्चित धारणा बनाने में सफल नहीं होता, तब तक वह अपने चारों ओर की दुनिया को भी उचित रूप में अपने से सम्बन्धित नहीं कर पाता है। आत्म सामाजिक परिस्थितियों

कि 'आत्म' के विकास में व्यक्ति का दूसरे लोगों के साथ अन्त.क्रियात्मक बाह्य सम्बन्ध होना आवश्यक है। उन सम्बन्धों के आधार पर व्यक्ति अपने कार्यों तथा विचारों के सम्बन्ध में जागरूक होता है; और, उस जागरूकता के आधार पर, स्वयं अपने सम्बन्ध में जो प्रतिमा उसके मस्तिष्क में पनप जाती है, उसे ही 'आत्म' कहते हैं। इस प्रकार दूसरों के साथ अन्त क्रियात्मक सम्बन्ध के फलस्वरूप व्यक्ति स्वयं अपनी जो प्रतिमा अपने सम्मुख बनाता है, वही 'आत्म' है।

श्री जॉनसन के अनुसार 'आत्म' एक ऐसी 'वस्तु' है, जो व्यक्ति के अन्दर रहते हुए उसके व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करती है। यह 'वस्तु' (object) अपनी स्वयं की क्षमताओं तथा विलक्षणों के सम्बन्ध में व्यक्ति के अपने विचारों और मूल्यांकन की कल्पना के अनुरूप उनका एक समग्र रूप होती है; और, इसके अन्तर्गत गर्व, लज्जा, आत्म-सम्मान, आदि अनुभूतियों का समावेश होता है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि (1) 'आत्म एक साधारण इकाई नहीं है' (Self is not a simple unit)। आत्म के अन्तर्गत वे सब धारणाएँ, भावनाएँ तथा अनुभूतियाँ व इनका मूल्यांकन या अर्थ आ जाता है, जो व्यक्ति अपने सम्बन्ध में रखता या विकसित करता है। (2) इस अर्थ में 'आत्म' एक जटिल समग्रता (complex whole) है, और इसके अनेक भाग एव उपभाग होते हैं। ये भाग एवं उपभाग छिटके हुए नहीं होते हैं, बल्कि इनमें एक प्रकार्यात्मक अन्त सम्बन्ध (functional inter-relations) होता है। इस अन्त सम्बन्ध के आधार पर विभिन्न भाग एक सम्बद्ध समग्रता का निर्माण करते हैं। (3) साथ ही, इस समग्रता या 'आत्म' का विकास रातोंरात नहीं हो जाता। यह कोई सहज और छोटी-मोटी, साधारण प्रक्रिया नहीं है। यह प्रक्रिया धीरे-धीरे चलती है और अनेक कठिन मार्गों से गुजरती है। (4) अत यह भी स्पष्ट है कि 'आत्म' कोई जन्मजात गुण नहीं है—न ही पैदा होते ही बच्चे में आत्म का विकास हो जाता है। बहुत छोटी उम्र में 'आत्म' बिलकुल ही नहीं होता। यह धीरे-धीरे विकसित होता है। आत्म क्रय-विक्रय की एक प्रक्रिया है। (5) अन्त में, 'आत्म' का विकास सामाजिक अन्त क्रियाओं के दौरान ही होता है, जैसे-जैसे परिवार, समाज व विभिन्न सांस्कृतिक तत्वों के साथ व्यक्ति का अन्त-क्रियात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है, और उनका प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है, वैसे-वैसे आत्म का विकास होता है। यह बात निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जायेगी।

आत्म के विकास की प्रक्रिया
(Process of Development of the Self)

जैसा कि उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है, 'आत्म' के विकास की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है। आत्म का ज्ञान व्यक्ति को अपने समाज से अर्जित करना होता है, यह जन्मजात नहीं होता। आत्म का विचार उस समय आरम्भ होता है जब बच्चा अपने चारों ओर की वस्तुओं के बारे में कुछ जानने लगता है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि 'आत्म' का विचार उस समय विकसित होता है, जब बच्चा दूसरे लोगों के सन्दर्भ में अपने सम्बन्ध में कुछ जानने लगता है; इस रंग और उस रूप में भेद करना सीखता है; अपने शरीर के विभिन्न अंगों तथा उनके सामाजिक अर्थ को समझने लगता है; और, यह सीखने लगता है कि उसका अस्तित्व अन्य लोगों से, और अन्य लोगों का अस्तित्व उससे पृथक् है। आत्म का ज्ञान उस समय स्पष्ट होता है जब दूसरे लोगों की तुलना में वह अपनी कुछ विशिष्ट विशेषताओं के

सम्बन्ध में सचेत हो जाता है। अपने नाम के सम्बन्ध में जागरूकता, और अपने बारे में दूसरों द्वारा प्रयोग किये गये अच्छे या बुरे शब्द उसको स्वयं अपने बारे में एक धारणा बनाने में या चेतना को विकसित करने में मदद करते हैं। उसके बारे में दूसरे लोग क्या सोचते या कहते हैं—कुछ बातों के लिये उसकी प्रशंसा करते हैं, और नो दूसरी बातों के लिये उनकी निन्दा करने या मजाक उड़ाते हैं—ये सब देख, सुन और जानकर वह स्वयं अपने सम्बन्ध में कुछ अच्छी या बुरी धारणाएँ बना लेता है, अपनी कुछ विशेषताओं की समग्रता के आधार पर स्वयं अपनी एक प्रतिमा (image) अपने मस्तिष्क में अंकित कर लेता है। इसी को 'आत्म' कहते हैं और यही है 'आत्म' के विकास की वास्तविक प्रक्रिया, जो सामाजिक क्रिया या अन्तःक्रियाओं के दौरान धीरे-धीरे क्रियाशील रहती व 'आत्म' को जन्म देती है। 'आत्म' के विकास की यह प्रक्रिया व्यक्तित्व के विकास की ही एक सहयोगी प्रक्रिया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्यक्ति का अन्य लोगों के साथ सम्बन्ध 'आत्म' के विकास का प्रमुख आधार है। श्री हॉल का कथन है कि बच्चे को अपने बारे में विचार उन नामों से प्राप्त होता है, जिनसे वह अपने घनिष्ट लोगों द्वारा पुकारा जाना है, और जो उसके विशिष्ट गुणों का द्योतक होता है। उदाहरणार्थ, जिस बच्चे को उसके आत्म-परिजन 'बुद्धूराम' कह कर पुकारते हैं, उस बच्चे में हीनता की भावना (inferiority complex) पनप जाती है। इसी प्रकार यदि परिवार में दूसरे लोग उसका कम ख्याल रखते हैं, उसे डाँटते-फटकारते या मारते-पीटते रहते हैं, उसकी अवहेलना करते हैं या उसका आदर कम करते हैं, तो भी बच्चे में हीनता की भावना आ जाती है। इतना ही नहीं, समाज में अपने समूह या परिवार की क्या स्थिति है, इसका प्रभाव भी व्यक्ति के 'आत्म' के विकास पर पड़ता है। उदाहरणार्थ, अछूत जाति की सामाजिक स्थिति अत्यधिक निम्न होने के कारण उस जाति के सदस्यों में स्वतः ही एक हीनता की भावना पनप जाती है। इसी प्रकार हिन्दू-समाज में लड़कों की तुलना में लड़कियों में एक तरह का हीन-भाव होता है, क्योंकि हिन्दू-परिवार तथा समाज में लड़कों का महत्व अधिक समझा जाता है, और उनका अधिक आदर होता है।

आत्म के विकास की प्रक्रिया में सहयोग देने वाले तत्त्व निम्नलिखित हैं—

(1) अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध या सामाजिक क्रिया या अन्तःक्रिया (Interpersonal Relationship or Social Action or Interaction)—श्री किम्बल यंग (Kimball Young) ने लिखा है—"व्यक्तित्व का विकास भौतिक वस्तुओं, और विशेषकर व्यक्तियों के साथ सम्पर्क पर आधारित होता है। मनुष्यों के सम्पर्क में आने से केवल क्रिया और प्रतिक्रिया ही नहीं, अपितु अन्तःक्रिया भी होती है। अर्थात्, स्वयं एक व्यक्ति की क्रिया न केवल दूसरे व्यक्तियों को प्रभावित करती है, अपितु उन दूसरे लोगों की क्रियाएँ भी व्यक्ति के आगे के व्यवहार को प्रभावित करती हैं। इसी सामाजिक क्रिया या अन्तःक्रिया के क्षेत्र में 'आत्म' का विकास होता है।"[31]

श्री किम्बल यङ्ग के अनुसार, "सामाजिक क्रिया व्यक्ति की वह क्रिया है, जो स्वयं घटित होने के दौरान दूसरे व्यक्तियों की क्रिया द्वारा संशोधित, परिवर्तित व परिवर्द्धित हुए बिना सम्पूर्ण नहीं होती।"[32] इसी सामाजिक क्रिया के दौरान 'आत्म' के विकास में सामाजिक अन्तःक्रिया एक महत्त्वपूर्ण कारक है। जब बच्चा पैदा होता है, तब उसे 'आत्म' का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है। वह आत्म तथा अनात्म (self and not-self) के बीच अन्तर नहीं कर पाता। इस अन्तर को उसे सीखना

पड़ता है। आरम्भ में बच्चे की प्रेरणाएँ या आवश्यकतायें अत्यधिक तीव्र होती हैं, और उन्हें पूरा करना परमावश्यक होता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति दूसरों की सहायता या नियन्त्रण के बिना सम्भव नहीं होती, इसलिये उसे दूसरों के साथ अनुकूलन करने के लिये कुछ प्रतिक्रियाओं को अर्जित करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, बच्चे के रोने पर भी माँ उसे एक निश्चित समय के बाद ही दूध पिलाती है। अतः बच्चे को उस निश्चित समय का ज्ञान प्राप्त करके ही रोना होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि बच्चे को यह सीखना पड़ता है कि केवल अपनी शारीरिक आवश्यकता के अनुसार ही प्रतिक्रिया नहीं करनी चाहिए, बल्कि कब और कैसे दूसरों के सन्दर्भ में उन आवश्यकताओं की पूर्ति होगी, यह भी जानना चाहिये। इन्हीं शुरुआतों से 'आत्म' की भावना का जन्म होता है।

सामाजिक अन्तःक्रियाओं के दौरान 'आत्म' का विकास होता है, यह बात सर्वश्री बाल्डविन (Baldwin) तथा कूले (Cooley) आदि आरम्भिक मनोवैज्ञानिक ने भी स्वीकार की है। श्री बाल्डविन ने अनुकरण की अवधारणा को आधार मानते हुए इस बात को दर्शाने का प्रयत्न किया है कि बच्चा अपने से बड़े लोगों का अनुकरण करते हुए ही न केवल दूसरों की भाँति व्यवहार करना सीखता है, बल्कि अपने प्रति भी कुछ धारणाओं का विकास करता है। अपने सम्बन्ध में इन अनुभूतियों (self-feelings) को श्री बाल्डविन ने "वैयक्तिक विकास का द्वन्द्व" (dialectic of personal growth) कहा है, क्योंकि व्यक्ति दूसरों की जो नकल करता है, उससे अपने सम्बन्ध में उसके अपने विचार बनते हैं। व्यक्ति के मस्तिष्क में इन विचारों का एक द्वन्द्व चलता रहता है, और उसके फलस्वरूप अन्त तक वह स्वयं के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष निकालता है। यही 'आत्म' की धारणा है। इसीलिये, श्री बाल्डविन के अनुसार, व्यक्ति की अपने सम्बन्ध में धारणा तथा आत्म के रूप में उसकी प्रतिक्रियाएँ, उसके चारों ओर के लोगों के साथ उसके सम्पर्क पर निर्भर होती हैं। श्री कूले का कथन है कि 'आत्म' के सम्बन्ध में जो कुछ भी धारणा व्यक्ति विकसित करता है, उसका आधार यह है कि कल्पना के आधार पर वह अपनी प्रतिमा को दूसरे लोगों की निगाहों में देख लेता है। अर्थात्, दूसरे लोग उसके सम्बन्ध में जैसा सोचते हैं, वह अपने सम्बन्ध में भी वैसा ही सोचने लगता है। दूसरे लोग उसके सम्बन्ध में क्या सोचते हैं, यह बात उसे अन्य लोगों के सम्पर्क में आने से या अन्तःक्रियाओं के दौरान पता चलती है।

'आत्म' का विकास व्यक्ति की इस योग्यता पर निर्भर है कि वह अपने को किस सीमा तक एक वस्तु (object) के रूप में जान पाता है।[13] व्यक्ति को दूसरे लोग एक वस्तु के रूप में मानते हैं और उसी रूप में उसके विषय में अपने विचारों को व्यक्त करते हैं। उन विचारों के अनुरूप जब व्यक्ति अपने को भी देखने व समझने लगता है तो 'आत्म' का विकास होता है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि दूसरों का बोध कर लेने के बाद ही व्यक्ति स्वयं अपना बोध करता है। जब तक वह दूसरों को नहीं जान लेता, तब तक अपने को जानना भी उसके लिये सम्भव नहीं होता। बच्चा पहले अपने माता या पिता के व्यवहारों को ग्रहण करता है, और फिर उन्हीं के आधार पर अपने व्यवहारों को संगठित करने में सफल होता है।

2. समीकरण तथा आशा का प्रतिमान (Identification and Pattern of Expectancy)—'आत्म' के विकास में समीकरण तथा सामाजिक आशाओं

का भी महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। हम पहले ही लिख चुके हैं कि 'समीकरण' का तात्पर्य दूसरों के विचार तथा कार्यों को अपने विचारों तथा कार्यों के रूप में ग्रहण कर लेना है। इस प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति अपने को दूसरे लोगों के स्थान पर स्थापित करता है, और उनकी आवश्यकताओं, उद्देश्यों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के तरीकों को अपनाता है। इससे व्यक्ति में दूसरों के द्वारा प्रस्तुत आचरणों का आन्तरिकीकरण (internalization) होता जाता है, और व्यक्तित्व में कुछ निश्चित व्यवहारों का विकास होता है। इसके फलस्वरूप दूसरों के सन्दर्भ में, स्वयं अपने सम्बन्ध में उसकी चेतना बढ़ती जाती है। यही चेतना 'आत्म' को विकसित करती है। बच्चा जब अपना समीकरण अपने माता-पिता के साथ करता है तो वह न केवल उनके व्यवहारों आदि को ग्रहण करता है, बल्कि अपने को भी उन्हीं के सन्दर्भ में समझने की कला सीखता जाता है।

सबसे पहले बच्चा अपनी माता के सम्पर्क में आता है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के सम्बन्ध में वह अपनी माता से कुछ आशायें करता है, और उन्हीं के अनुसार उसके अन्दर कुछ प्रत्याशायें-प्रतिक्रियायें (anticipatory responses) उत्पन्न होती हैं। उदाहरणार्थ, अपनी माता के साथ बार-बार प्रतिक्रिया करने के फलस्वरूप बच्चा यह समझने लगता है कि माँ की किस क्रिया से उसे दूध की आशा करनी चाहिये। वह जानता है कि एक निश्चित समय के बाद ही माँ उसे दूध पिला-येगी, और दूध पिलाने की क्रिया एक निश्चित रूप में घटित होगी। इसी आशा के आधार पर निश्चित समय के बाद, माता के द्वारा गोद में उठा लिये जाने ही बच्चा दूध पाने के लिये कुछ प्रत्याशा-प्रतिक्रियायें करता है, जैसे एक विशेष ढंग में माँ के वक्षस्थल से चिपट जाना, ओंठों को एक विशेष प्रकार से चलाना, और हाथ-पैर पटकना आदि। दूसरी ओर माँ भी बच्चे से कुछ प्रत्याशाएँ करती है, जैसे समय से पूर्व बच्चा दूध पीने के लिये नहीं रोयेगा, और दूध ढंग से पी लेगा, आदि। धीरे-धीरे बच्चे की प्रत्याशा-प्रतिक्रियाएँ माँ की प्रतिक्रियाओं के साथ अनुकूलन स्थापित कर लेती हैं। इसी अनुकूलन के आधार पर बच्चा अपने सम्बन्ध में धीरे-धीरे सचेत होता जाता है, अर्थात् उसके आत्म का विकास होता है।

व्यवहार के सम्बन्ध में समाज भी व्यक्ति से बहुत कुछ आशा करता है। व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह समाज के नियमों को मानेगा, उसके मूल्यों तथा आदर्शों को अपनायेगा, बड़ों की आज्ञा का पालन करेगा, आदि। जैसे-जैसे वह बड़ा होता जाता है, उसके सामने एक 'पुरुष' या एक 'स्त्री' का आदर्श रक्खा जाता है, और यह आशा की जाती है कि उस आदर्श को सामने रखकर वह अपने व्यवहारों का निर्माण करेगा। यदि व्यक्ति उन आशाओं के अनुरूप व्यवहार करता है तो उसकी प्रशंसा की जाती है, नहीं तो उसकी निन्दा होती है। पर, सामान्यतः व्यक्ति इन आशाओं के अनुरूप ही अपने को ढालने का प्रयत्न करता है, और उसी के अनुसार अपने सम्बन्ध में धारणा का विकास करता है, अर्थात् उसके आत्म का विकास होता है।

3. विशिष्ट कार्य-ग्रहण (Specific Roletaking)—बच्चा 'दूसरों' का कार्य-ग्रहण करता है, और इस प्रकार उनका पार्ट अदा करता है। इस प्रक्रिया में में वह स्वयं के साथ अन्य वस्तु या व्यक्ति के समान व्यवहार करता है; और, इस रूप में अपने चारों ओर के सामाजिक संसार से भी अपना समीकरण शुरू कर

देता है। इसकी शुरुआत माँ तथा बच्चे के बीच होने वाली बाह्य अन्त क्रियाओं या बच्चों के आपस के खेल या ऐसे ही आरम्भिक सामाजिक आदान-प्रदान (social intercourse) में होती है।[34] उदाहरणार्थ, छोटी लड़की अपनी माता को खाना बनाते हुए देखकर स्वयं भी उसी तरह खाना बनाने का प्रयत्न करती है। इसी प्रकार लड़का अपने पिता या भाई को अखबार पढ़ते देखकर उन्हीं की तरह अखबार उठाकर उनका पार्ट अदा करता है, या अखबार पढ़ने की मुद्रा बनाकर बैठता है। बच्चे कई बार अकेले में खेलते हैं और अपने आप ही विभिन्न विशिष्ट लोगों के कार्यों को ग्रहण करते हैं। बच्चों द्वारा माता, पिता, पुलिस, टिकट-चेकर, गार्ड, ड्राइवर, डाक्टर, सब्जीवाला, दुकानदार, अध्यापक यहाँ तक कि चोर और शराबी तक का पार्ट अदा किया जाता है। आरम्भ में तो ये खेल या दूसरों का पार्ट अदा करने की प्रक्रिया बच्चों को केवल एक सहज शारीरिक आनन्द (motor pleasure) ही प्रदान करती है, अर्थात् अपने हाथ-पैर चलाने तथा वस्तुओं को पकड़ने-उठाने तथा इधर-उधर हिलाने में बच्चे को एक सहज आनन्द प्राप्त होता है, पर, जब वह चलना तथा बोलना सीख जाता है तो ये कार्य-ग्रहण (role-taking) की प्रक्रियाएँ उसके लिये प्रेरक बन जाती हैं; और वह दूसरों के व्यवहारों को ग्रहण करके अपने में संगठित करना चाहता है। इसीलिये वह दूसरों की तरह व्यवहार करता है। पर, कुछ व्यवहारों को (जिन्हें कि समाज या समूह अच्छा समझता है) करने पर उसे पुरस्कार मिलता है और कुछ को (जिन्हें सामाजिक दृष्टि से अनुचित माना जाता है) करने पर वह दण्ड का भागी होता है। ये पुरस्कार (reward) तथा दण्ड (punishment) व्यक्ति को यह बतलाते रहते हैं कि उसे कौन से व्यवहारों को ग्रहण करना है और किन व्यवहारों को त्याग देना है।

भाषा सीखने पर कार्य-ग्रहण की प्रक्रिया अधिक सरल तथा विस्तृत हो जाती है। भाषा के माध्यम से बच्चा दूसरों के शब्दों को दोहराता है और उनका उत्तर देता है। उदाहरणार्थ, बड़ी बहन माँ की अनुपस्थिति में अपने छोटे बहनों के साथ माँ की तरह बोलती या व्यवहार करती है। इसी प्रकार जब बड़े भाई की बात छोटा भाई नहीं मानता, तो बड़ा भाई अपनी माँ या पिता की भाँति छोटे भाई को पीटकर या डाँटकर अपनी बात मनवाने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार दूसरे बालकों के साथ खेलते हुए कभी वह टिकट-कलक्टर की भाँति दूसरे बालकों से टिकट माँगता है, तो कभी फलवाले की तरह फल बेचने के लिये आवाज लगाता है। इस प्रकार भाषा की सहायता से वह दूसरों की भूमिकाओं को अधिक सरलता से अदा कर सकता है। इस तरह कार्य-ग्रहण के साथ-साथ बच्चा अपने आपको दूसरों के बोलने तथा व्यवहार में वैसे ही देखने लगता है, जैसे कि दूसरे व्यक्ति उसे देखते हैं। वह स्वयं अपने से उसी प्रकार बात करता है, जैसे कि दूसरों ने उससे बात की है। साथ ही, वह अपने को उसी प्रकार से सम्बोधित करने लगता है, जैसे कि अन्य व्यक्ति उसे सम्बोधित करते हैं। उदाहरणार्थ, बच्चा 'मुझे भूख लगी है' न कहकर 'राजा बेटा को भूख लगी है' कहता है; और, 'मैं स्कूल जा रहा हूँ' न कहकर 'देखू मास्टर स्कूल जा रहे हैं' कहता है। जब बच्चा विकास के इस स्तर पर पहुँचता है तभी 'आत्म' के निर्माण का श्रीगणेश होता है, क्योंकि इसी स्तर पर वह अपने विचारों, क्रियाओं, इच्छाओं तथा आवश्यकताओं को दूसरों से पृथक् करके देखने की योग्यता अर्जित करता है।

4. सामान्य कार्य-ग्रहण (General Roletaking)—जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होता जाता है, वैसे-वैसे उसके विभिन्न विशिष्ट कार्य या भूमिकाएँ (roles) प्रतिक्रिया के एक बृहत्तर प्रतिमान (larger patterns of response) के रूप में संगठित होती जाती हैं। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति घर पर पिता के रूप में कुछ कार्य करता है, और बाहर एक व्यापारी या पेशेवर के रूप में बिलकुल दूसरा काम करता है। अतः बच्चा जब पिता की भूमिका अदा करता है तो उसे इन विशिष्ट कार्यों का संगठन तथा सामान्यीकरण करना पड़ता है, ताकि एक 'आत्म' में वे तमाम कार्य या भूमिकाएँ समा जायें। इस संगठन और सामान्यीकरण में केवल पिता के कार्यों का ही नहीं, अन्य लोगों के कार्यों का भी समावेश हो सकता है। श्री मीड (Mead) ने कार्यों की इस बृहत्तर व्यवस्था या एकता को 'सामान्यीकृत अन्य' (the generalized other) कहा है। अर्थात्, बच्चे के "दूसरों" के विशिष्ट कार्यों या भूमिकाओं के विविध प्रकारों को व्यवहार में लाते-लाते समय आने पर, उसकी एक सामान्यीकृत तथा बहुत-कुछ समग्र भूमिका उत्पन्न होती है। यह सामान्यीकृत भूमिका संगठित आत्म का एक अंग बन जाती है, उन सैकड़ों विशिष्ट व्यक्तियों के साथ—प्रतिदिन की अन्तःक्रिया के दौरान—विकसित होती है। इन सैकड़ों विशिष्ट व्यक्तियों की मनोवृत्तियाँ तथा आदतें बच्चे की अपनी मनोवृत्तियों तथा आदतों के साथ घुल-मिल जाती हैं। इस सामान्यीकृत प्रतिमान के विकास को दर्शाने के लिये श्री मीड ने छोटे बच्चों के खेल के साथ बड़े बच्चों के उन खेलों का अन्तर किया है, जो वे एक टीम के सदस्य के रूप में कुछ नियमों, अलग-अलग बँटे हुए कार्यों तथा स्वीकृत तरीकों के अनुसार खेलते हैं।[35]

श्री कर्टिस (Curtis) का कथन है कि जब बच्चा सहयोगात्मक क्रियाओं में भाग लेता है तो उससे भी सामान्यीकृत कार्यों (generalized roles) के विकास की प्रेरणा मिलती है। यह प्रक्रिया खेलकूद तथा अन्य परिस्थितियों में वहाँ देखने को मिलती है, जहाँ संयुक्त सहयोग (team work) आवश्यक होता है। फुटबाल के अच्छे खिलाड़ी के लिये केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि वह स्वयं कुशलतापूर्वक खेले, बल्कि उसके लिए यह भी जरूरी है कि वह अपनी टीम के अन्य खिलाड़ियों के कार्य की भी कल्पना सफलतापूर्वक कर सके। उसका यह अन्दाजा ठीक होना चाहिए कि दूसरे खिलाड़ी कहाँ फुटबाल फेंकेंगे और किस प्रकार खेलेंगे। दूसरे शब्दों में, कम-से-कम कल्पना में ही उसे थोड़ी देर के लिये अपने साथ दूसरों की क्रियाओं का सामान्यीकरण करने की योग्यता होनी चाहिए।

5. 'आत्म' के विकास में भाषा का महत्त्व (Place of Language in the Rise of the Self)—उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आत्म के या व्यक्तित्व के विकास में अन्तःवैयक्तिक सम्बन्धों (interpersonal relationships) को आधार माना जा सकता है। भाषा इन अन्तःवैयक्तिक सम्बन्धों या सामाजिक अन्तःक्रियाओं को अधिक सरल व सहज बना देती है। बच्चे के साथ माता-पिता की वास्तविक अन्तःक्रिया तब आरम्भ होती है, जब वे किसी क्रिया को करने के साथ-साथ कुछ बोलते भी हैं। उदाहरणार्थ, माँ "आओ" कहकर बच्चे की ओर हाथ फैलाती है तो उसके हाथ का भाव और ध्वनि-संसर्ग (sound combination) बच्चे के मस्तिष्क में घर कर लेता है, और वह शब्दों के अर्थ को समझने लगता है। वास्तव में भाषा का सर्वप्रमुख महत्त्व यह है कि इसके माध्यम से विचारों का आदान-प्रदान सम्भव होता है। अर्थात्, भाषा ही सामाजिक अन्तःक्रिया का आधार है। व्यक्तित्व के निर्माण में सामाजिक अन्तःक्रिया का महत्त्व

वास्तव में अत्यधिक है। भाषा के माध्यम से माता, पिता, मित्र व शिक्षक तथा बालक में जो अन्तःक्रिया होती रहती है, उसी के परिणामस्वरूप प्राणीशास्त्रीय प्राणी—सामाजिक प्राणी में बदल जाता है, और उसके 'आत्म' का विकास होता है। साथ ही, जैसा कि डॉ० दुबे ने लिखा है, "भाषा के माध्यम से मानवीय विचार और क्रियाएँ विस्तार पाने के अतिरिक्त मौखिक परम्परा का रूप ग्रहण कर स्थायित्व भी पाती हैं।" मौखिक परम्परा के रूप में प्रथा, पौराणिक कथा, लोकगीत, लोकगाथा आदि की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से ही सम्भव है, और, इनका परिचय पा जाने पर सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का परिचय व्यक्ति को प्राप्त हो जाता है। श्री सापिर (Sapir) ने इस बात पर, भी बल दिया है कि प्रत्येक भाषा सम्पूर्ण संस्कृति की या सांस्कृतिक आवश्यकताओं को व्यक्त करने में पर्याप्त होती है। इस अर्थ में प्रत्येक भाषा सम्पूर्ण संस्कृति को अपने में छिपाये रखती या सुरक्षित रखती है। अतः भाषा के माध्यम से ही व्यक्ति को सांस्कृतिक तत्त्वों को ग्रहण करने में सुविधा होती है। भाषा ही सामाजिक-सांस्कृतिक विचारधाराओं की वाहिका (vehicle) है। श्री सापिर ने इसी कारण स्पष्ट ही लिखा है कि भाषा और विचारधारा इस प्रकार एक-दूसरे में घुली-मिली हुई है कि उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता; एक अर्थ में ये दोनों एक ही हैं।[36]

अतः स्पष्ट है कि भाषा को सीखना बच्चे के लिये केवल एक बौद्धिक विषय ही नहीं है, बल्कि उसके व्यक्तित्व के विकास के लिये भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भाषा कितने ही प्रकार से बच्चे को उसके परिवार के सदस्यों, खेल के साथियों तथा स्कूल के अध्यापकों के सम्पर्क में लाती है, और, उसे अधिक व्यापक और सामाजिक दृष्टिकोण के निर्माण में सहायता देती है। भाषा की सहायता से ही वह प्रथा, परम्परा, रीति-रिवाज तथा रूढ़ियों को सीखता है, और अपने परिवार, स्कूल, शहर अथवा गाँव के जीवन से सम्बन्धित मूल्यों व आदर्शों को अपनाता है। ये सब कुछ सीखना उसके 'आत्म' के विकास में सहायक होता है। नैतिकता तथा धार्मिक विषयों से सम्बन्धित बातों को भी बच्चा भाषा के माध्यम से ही सीखता है। वास्तव में भाषा वह साधन है, जिसके द्वारा धीरे-धीरे उसे उन कार्यों (roles) के लिये तैयार किया जाता है जो उसे करने है। भाषा के द्वारा ही वह दूसरों के दृष्टिकोणों, भावनाओं और उद्गारों को समझना सीखता है, और अन्य व्यक्तियों से उसी के अनुसार समीकरण करता है। अतः आत्म के विकास के लिये इतनी महत्त्वपूर्ण समीकरण की प्रक्रिया में भाषा का बहुत ही अधिक महत्व है।

आत्म की उत्पत्ति के सिद्धान्त
(Theories of the Rise of the Self)

'आत्म' की उत्पत्ति कैसे होती है, इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग मत व्यक्त किये हैं। इन मतों में **सर्वश्री चार्ल्स कूले तथा जॉर्ज मीड** का मत विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यहाँ हम इन दो विद्वानों के सिद्धान्तों की ही विवेचना करेंगे।

1 श्री कूले का सिद्धान्त (Theory of Cooley)—श्री चार्ल्स कूले सामान्य निरीक्षण करने (general observataion) तथा अपने बच्चों का अध्ययन करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'आत्म' के ज्ञान में कल्पना (imagination) का बड़ा महत्त्व होता है। उनके अनुसार 'आत्म' के सम्बन्ध में व्यक्ति की धारणा इस बात पर निर्भर करती है कि उसके चारों ओर के लोग उस किस रूप में ग्रहण करने

हैं, अर्थात् दूसरो की निगाहो से व्यक्ति अपने को देखता है। इसीलिए श्री कूले ने लिखा है कि दूसरे व्यक्तियो का विचार, निर्णय आदि व्यक्ति के 'स्वय का आइना' (looking-glass self) होता है, और उसी आइने में वह 'आत्म' के दर्शन करता है। और भी स्पष्ट रूप में, जिस प्रकार हम अपने चेहरे, शरीर और वस्त्रों को शीशे मे में देखकर उनके गुणो-अवगुणो का विचार यथार्थ रूप से करने मे अपने को समर्थ पाते हैं, उसी प्रकार कल्पना (imagination) की सहायता से हम दूसरे व्यक्तियो के मस्तिष्क में अपने दोषो और गुणों, आदतों, व्यवहार के ढगो, तमीज, उद्देश्यो, कार्यों, चरित्र, मित्रों, आदि के बारे मे उनके विचारो को देखते हैं, और उसी के आधार पर अपने सम्बन्ध में कोई धारणा बनाते हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई बच्चा दूसरो से निरंतर यह सुनता है कि वह निकम्मा है, तो दूसरों का यह विचार उसके दिल मे घर कर जाता है और वह वास्तव मे अपने को एक निकम्मा व्यक्ति के रूप मे देखने लगता है। इससे उसमे एक हीनता की भावना पनप जाती है या उसे दुःख होता है। इसके विपरीत कल्पना द्वारा वह यह पाता है कि उसके बारे मे दूसरो के विचार अच्छे है, तो उसे प्रसन्नता होती है।

इस प्रकार 'आत्म' या अपने के सम्बन्ध मे विचार के तीन मुख्य तत्त्व है—(अ) दूसरो की दृष्टि में अपनी आकृति की कल्पना; (ब) उस आकृति के सम्बन्ध मे दूसरो के मूल्यांकन की कल्पना, तथा (स) अपने प्रति किसी प्रकार की अनुभूति। इन तीनों तत्त्वो का विवेचन सक्षेप मे कर लेना उपयोगी सिद्ध होगा—

(अ) दूसरों की दृष्टि में अपनी आकृति की कल्पना (The Imagination of One's Appearance to the Other Persons)—कोई एक व्यक्ति जब दूसरो के सम्पर्क मे आता है तो उसे अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं। उन्ही अनुभवो के आधार पर व्यक्ति यह कल्पना करने का प्रयत्न करता है कि दूसरे लोग उसके सम्बन्ध मे क्या देखते या सोचते हैं। श्री कूले का कथन है कि जब तक व्यक्ति दूसरों के सम्पर्क मे नहीं आता और उनकी आदतो, मनोभावों, विश्वासों तथा विचारो मे परिचित होने का मौका नही पाता, तब तक वह कभी भी अपने सम्बन्ध मे कोई विचार नही पनपा सकता। व्यक्ति के सम्बन्ध मे दूसरे लोग क्या सोचते हैं, इसी कल्पना के आधार पर व्यक्ति अपने सम्बन्ध मे सोचता है। वास्तव मे, कोई भी व्यक्ति यह नहीं जान सकता कि उसके अन्तःक्रिया करते समय दूसरा क्या अनुभव करता है? वह केवल कल्पना के आधार पर यह जान सकता है कि दूसरों की दृष्टि मे उसकी विलक्षणताएँ क्या हैं? और भी स्पष्ट रूप मे, व्यक्ति दूसरे के हाव-भाव, व्यवहार, उद्गार आदि के माध्यम से स्वयं अपने सम्बन्ध मे अन्दाजा लगा लेता है। इस अर्थ मे दूसरों का व्यवहार, कथन, हाव-भाव आदि वह आइना होता है, जिसमे व्यक्ति को अपना स्वरूप या अपनी आकृति भी स्पष्ट दिखाई देती है। उसी के आधार पर वह अपने सम्बन्ध मे कोई धारणा बनाता है।

(ब) उस आकृति के बारे में दूसरों के निर्णय की कल्पना (The Imagination of Others Judgment of that Appearance)—जब व्यक्ति दूसरो के हाव-भाव, कथन व व्यवहार के माध्यम से अपनी आकृति या स्वरूप का दर्शन कर लेता है, तो कल्पना द्वारा वह इस बात का भी पता लगा लेता है कि उस आकृति के विभिन्न पक्षो के बारे में दूसरो लोगों का निर्णय (Judgment) क्या है। उदाहरणार्थ, यदि उसका रंग बहुत काला है तो दूसरो की दृष्टि से व्यक्ति अपने काले रंग को ही नही देखता है, बल्कि इस बात को भी धीरे-धीरे जान जाता है कि अन्य व्यक्ति काले रंग से क्या अर्थ लगाते हैं; और, काला होना, दूसरो की दृष्टि मे अच्छा है या

बुरा। यदि उस समाज के मूल्य के अनुसार काला रंग बुरा माना जाता है तो व्यक्ति यह समझ जाता है कि अन्य व्यक्ति उसके बारे में बुरी धारणा बना रहे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कल्पना के आधार पर व्यक्ति अपने विभिन्न गुणों या लक्षणों के प्रति अन्य लोगों के प्रतिक्रियात्मक निर्णयों को भी जान लेता है, और उसी के आधार पर अपने सम्बन्ध में एक धारणा विकसित करता है।

(स) **किसी प्रकार की आत्म-अनुभूति** (Some Sort of Self-feeling)—दूसरे व्यक्तियों को उपर्युक्त दो प्रकार की प्रक्रियाओं के आधार पर व्यक्ति अपने बारे में गर्व, दुःख, निराशा या खिसियाहट की भावना का अनुभव करता है। यह अनुभव इस बात पर निर्भर होता है कि दूसरों के निर्णयों को वह किस रूप में ग्रहण करता है।

(2) **मीड का सिद्धान्त** (Theory of Mead)—श्री मीड का कथन है कि 'आत्म' का विकास इस बात पर निर्भर होता है कि व्यक्ति स्वयं को अपने सामने एक वस्तु (object) के रूप में प्रस्तुत करने की कितनी योग्यता रखता है। अर्थात्, दूसरों का बोध होने के बाद ही स्वयं का बोध सम्भव है। बच्चा पहले-पहल स्वयं अपने तथा दूसरों में अन्तर या भेद नहीं कर पाता। इसलिए वह जब खिलौने से खेलता है तो उन्हें भी जानदार मान लेता है, और उनके प्रति भी वैसा ही व्यवहार करता है, जैसा कि उसके प्रति उसके माता या पिता व्यवहार करते हैं। दूसरे शब्दों में, बच्चा अपने माता या पिता का पार्ट अदा करता और खिलौने या गुड़ियों से स्वयं अपना पार्ट अदा करवाता है। पर इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गुड़िया के साथ माँ का पार्ट अदा करते समय छोटी लड़की केवल माँ का ही कार्य नहीं करती, बल्कि गुड़िया की तरफ से स्वयं उसी प्रकार की प्रतिक्रिया करती है, जैसी की वह अपनी माता के प्रति करती है : इस प्रकार दूसरे का कार्य-ग्रहण (role taking) करने और उसके प्रति प्रतिक्रिया करने से ही सामाजिक 'आत्म' (social self) का उद्भव होता है। यह वास्तव में तब अनुभव होता है, जब बच्चा यह अनुभव (experience) करता है कि माता-पिता के व्यवहारों की प्रतिक्रिया में वह जैसा व्यवहार करता है (जैसे माता जब मारती है तो बच्चा रोता है), गुड़ियाँ उसके (बच्चे के) व्यवहारों की प्रतिक्रिया में वैसा ही नहीं करतीं। अतः बच्चे में धीरे-धीरे यह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है कि वह स्वयं माता या पिता नहीं है, न ही गुड़िया या खिलौना वह स्वयं है। अर्थात्, वह इनसे कुछ अलग एक 'वस्तु' (object) है, जिसका अस्तित्व उसके अनुभवों के आधार पर, और लोगों या वस्तुओं से पृथक् है। इसी से बच्चा स्वयं में तथा अन्य लोगों में भेद करता है, और इस प्रकार उसके 'आत्म' का विकास होता है। श्री मीड ने लिखा है, "आत्म का विकास आचरण में होता है जब कि व्यक्ति अनुभवों में स्वयं अपने लिए एक सामाजिक वस्तु बन जाता है। ऐसा उस समय होता है जब व्यक्ति उस प्रकार की मनोवृत्ति को अपना लेता है, अथवा उस प्रकार के हाव-भाव का प्रयोग करता है जैसा कि दूसरा व्यक्ति प्रयोग में लाता है, या प्रतिक्रिया कर सकता है। ......बच्चा धीरे-धीरे स्वयं अपने अनुभव में एक सामाजिक प्राणी बन जाता है; और, वह स्वयं अपने प्रति उसी प्रकार के कार्य करता है जैसे कि वह दूसरों के प्रति करता है।"[17]

श्री जॉर्ज मीड ने अन्य विद्वानों की भाँति संदेशवाहन (भाषा), समीकरण (identification) तथा कार्य-ग्रहण (role taking) को 'आत्म' के विकास में प्रमुख कारक ही नहीं माना, अपितु इन्हीं के सम्बन्ध में एक गतिशील सिद्धान्त भी प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त में श्री मीड ने दूसरों से ग्रहण की हुई कार्यों के प्रति व्यक्ति की

प्रतिक्रिया को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया। आपके अनुसार व्यक्ति का व्यवहार या कार्य (role) केवल मात्र दूसरो से ग्रहण की हुई भूमिकाएँ या कार्य मात्र नहीं होता, अर्थात् 'आत्म' केवल विशिष्ट और सामान्य कार्यों का, अर्थात् कई "मुझे" (me's) का सकलन व सगठन मात्र नही होता, अपितु इस "मुझे" के प्रति स्वय व्यक्ति की, अर्थात् "मैं" (I) की क्या प्रतिक्रिया होती है, यह बात भी महत्त्वपूर्ण होती है। इस प्रकार 'आत्म' के विकास की प्रक्रिया को दर्शाने के लिये श्री मीड ने श्री जेम्स (James) का अनुसरण करते हुए "मैं" (I) की अवधारणा को विकसित किया, जो कि 'मुझे' या 'दूसरे', अर्थात् समीकरण के द्वारा दूसरो के विशिष्ट या या सामान्य कार्यों (specific or general roles) को ग्रहण करने से भिन्न है। श्री मीड ने मत प्रकट किया कि एक क्रियाशील 'आत्म' (the self in action) को "मैं" और "मुझे", दोनों का ही संयुक्त प्रतिफल मानना चाहिए।

'मुझे' (me) का तात्पर्य, श्री मीड के अनुसार, उन कार्यों तथा मनोवृत्तियों से है, जो व्यक्ति अपने माता-पिता, सगे-सम्बन्धियों तथा खेल के साथियों और बाद को अपने शिक्षको, उपदेशको, पुलिस के लोगो, यहाँ तक कि काल्पनिक चरित्रों से भी ग्रहण करता है तथा अपनी क्रिया तथा विचार मे घुला-मिला लेता है।[38] इस प्रकार समीकरण की प्रक्रिया द्वारा दूसरे व्यक्तियों के विशिष्ट तथा सामान्य कार्यों तथा विचारो को अपने स्वयं के कार्यों तथा विचारो के रूप मे ग्रहण करना ही 'मुझे' की अभिव्यक्ति है।

पर मैं (I) का तात्पर्य कर्ता के रूप मे 'आत्म' है[39] और भी स्पष्ट रूप मे, जब बच्चा दूसरो के कार्य को ग्रहण करते हुए स्वयं कार्य करता है तो वह केवल उनके कार्यों को ही नहीं दुहराता, वरन् दूसरे लोगो के उन कार्यों तथा उसकी अपनी प्रतिक्रियाओं के बीच होने वाली अन्त क्रिया के फलस्वरूप अपनी क्रिया मे कुछ नये तत्त्व भी जोड़ लेता है। इन्ही प्रतिक्रियाओं को 'मैं' कहते हैं। आरम्भ मे यह "मैं" उन आवश्यकताओं तथा प्रेरणाओ से बना होता है, जो व्यक्ति के सावयव (organism) को व्यवहार के एक चक्र के अन्तर्गत ले आती हैं; अर्थात् उसे एक निश्चित प्रकार से व्यवहार करने को बाध्य करती हैं। पर, दूसरो के साथ अन्त.क्रिया के दौरान यह क्रियाशील "मैं" विविध "मुझे" द्वारा, अर्थात् उन कार्यों द्वारा जिन्हे व्यक्ति ने दूसरो से ग्रहण करके "अपना" बना लिया है, प्रभावित होता रहता है। सक्षेप मे, हम यह कह सकते हैं कि "मैं" व्यक्ति की दूसरो की मनोवृत्ति के प्रति प्रतिक्रिया (response) है, जबकि "मुझे" दूसरो की मनोवृत्तियो का एक सगठित स्वरूप है, जिसे व्यक्ति ने स्वयं अपना लिया है[40] 'मुझे' के अन्दर हमारे समस्त पिछले अनुभव सम्मिलित होते हैं। "मैं" द्वारा अपनाया हुआ मनोवृत्तियों तथा विचारों का सगठन, अर्थात् 'मुझे' व्यक्ति के बाह्य व्यवहार का आधार होता है।

श्री मीड के मतानुसार "मैं" को केवल स्मृति मे ही जाना जा सकता है। यद्यपि "मैं" सदैव वर्तमान मे कार्य करता है, पर वर्तमान मे कार्य करने के तुरन्त बाद ही वह भूत मे चला जाता है, और हमारे "मुझे" के अन्दर सम्मिलित हो जाता है; अर्थात् "मुझे" का एक अग बन जाता है। इसीलिये श्री मीड के अनुसार "मैं" या कर्ता (actor) को ऐतिहासिक पश्चात्-दृष्टि (historical retrospect) से ही देखा जा सकता है।

पूर्ण रूप से विकसित 'आत्म' या जिसे हम समाजीकृत व्यक्ति (socialized being) कहते हैं, वह वास्तव मे दो आत्मो (selves) का सयोग (fusion)

होता है—एक तो वह आत्म है जो व्यक्ति की प्राणीशास्त्रीय प्रकृति पर आधारित है, और दूसरा वह जो समीकरण के आधार पर दूसरे व्यक्तियों के कार्यों व उनकी मनोवृत्तियों को व्यक्ति द्वारा ग्रहण कर लेने या अपना बना लेने के फलस्वरूप विकसित होता है। इनमे से पहले को हम "मैं" कहते हैं और दूसरे को "मुझे"। प्राय. इस "मैं" और "मुझे" के बीच, अर्थात् व्यक्ति की अपनी आवश्यकताओं और प्रवृत्तियों (impulses) तथा उन सामाजिक मनोवृत्तियों व कार्यों (roles) के बीच संघर्ष होता है, जिन्हे व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों से ग्रहण करता है। पूर्ण रूप से समाजीकृत व्यक्ति वह है, जो इस प्रकार के संघर्ष को बहुत कुछ समाप्त करने में सफल होता है, अर्थात् जिसने "मैं" और "मुझे" का इस प्रकार एकीकरण किया है कि उसकी अपनी आवश्यकताएँ व प्रवृत्तियाँ दूसरे लोगों से ग्रहण की हुई मनोवृत्तियों तथा कार्यों के अनुकूल बैठती हैं।

अतः स्पष्ट है कि सम्पूर्ण आत्म या व्यक्तित्व के विकास मे "मैं" और "मुझे" दोनों का ही सहयोग रहता है। "मैं" सदैव "मुझे" से सम्बन्धित रहता है। उनके इस सम्बन्ध के विषय मे श्री मीड ने लिखा है, "जहाँ तक आचरण के अन्दर विद्यमान उत्तरदायित्वों को पूरा करने का सम्बन्ध है, "मुझे" को एक प्रकार से "मैं" की आवश्यकता होती है, परन्तु "मैं" सदैव ही स्वय परिस्थिति की अपनी माँग से भिन्न होता है। इसलिये यदि हम चाहें तो सदैव ही "मैं" और "मुझे" मे यह अन्तर बता सकते हैं। "मैं" "मुझे" को ललकारता है और उसको प्रत्युत्तर भी देता है। "मैं" और "मुझे", दोनों मिलकर सामाजिक अनुभव मे प्रकट होने वाले व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। 'आत्म' आवश्यक रूप मे एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है, जो एक दूसरे से पृथक् किये जा सकने वाले इन दो पक्षों (अर्थात् "मैं" और "मुझे") के साथ-साथ चलती है। यदि 'आत्म' के ये दो पक्ष न हों तो न तो कोई चेतन उत्तरदायित्व हो और न ही अनुभव मे कोई नवीनता आये।[41]

अतः स्पष्ट है कि "मैं" और "मुझे" तार्किक रूप से एक-दूसरे से भिन्न परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रियाओं मे आपस मे मिल-जुल कर ही कार्य करते हैं। पर, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनमे विरोध होता ही नही। अधिकतर सामाजिक परिस्थितियों मे "मैं" पर "मुझे" का एक दबाव या प्रभाव रहता ही है। उदाहरणार्थ, आज मै हम अपने "मैं" अर्थात् सावयवी प्रवृत्तियों (organic impulses) के कारण जो कुछ कहना या करना चाहते हैं, वह नहीं कह या कर पाते, क्योंकि सामाजिक जीवन में हम दूसरो की मनोवृत्तियों, विचारों, क्रियाओं आदि अर्थात् अनेक "मुझे" से घिरे हुए या प्रतिबन्धित रहते हैं। मैं किसी व्यक्ति पर क्रुद्ध हो सकता हूँ और गन्दी से गन्दी गालियाँ दे सकता हूँ, परन्तु अध्यापक होने के नाते मुझे अन्य बहुतों का ख्याल रखना पड़ता है; यह भी सोचना पड़ता है कि लोग अगर मुझे गन्दी गालियां देते हुए सुनेंगे तो मेरे बारे मे भला क्या सोचेंगे, इत्यादि। इस कारण "मैं" की गाली देने की प्रवृत्ति होने पर भी 'मुझे' ऐसा करने से रोकता है। किन्तु, ऐसी भी परिस्थितियाँ होती है, जिनमे "मैं" और "मुझे" का अनुकूलन पूर्ण रूप से प्रदर्शित होता है। उदाहरणार्थ, जब हम एक टीम मे खेलते हैं या सामूहिक प्रार्थना मे भाग लेते हैं या देश के शत्रु के विरुद्ध लड़ते हैं। इन सभी स्थितियों मे सावयवी प्रवृत्तियां (अर्थात् "मैं") का पूर्ण मेल अन्य लोगों की मनोवृत्तियो तथा कार्यों (अर्थात् "मुझे") के साथ हो जाता है। परन्तु, सामाजिक जीवन में साधारणतया "मैं" और "मुझे" का अनुकूलन या मेल पूर्ण रूप से नहीं हो पाता।

व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले सामाजिक कारक
(Social Factors Influencing Personality)

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर सामाजिक सम्बन्ध या अन्त वैयक्तिक सम्बन्ध अथवा सामाजिक अन्त क्रियाओं के सन्दर्भ में व्यक्तित्व या 'आत्म' के विकास को समझ लेने के बाद यह आवश्यक है कि हम व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले विशिष्ट सामाजिक कारकों को भी जान लें। ये कारक निम्नलिखित हैं—

1. परिवार
(Family)

व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले सामाजिक कारकों मे परिवार का स्थान ही सर्वोपरि है, क्योंकि बच्चे का सामाजिक जीवन परिवार से ही आरम्भ होता है। समस्त समाजो में परिवार आधारभूत प्राथमिक समूह होता है। यह सार्वभौम सास्कृतिक कारखाना है, जिसमे बच्चे को मानव प्राणी तथा समाज का सदस्य बनने का प्रथम प्रशिक्षण प्राप्त होता है। यह परिवार ही है जहाँ कि प्राणीशास्त्रीय तथा सामाजिक-मनोवैज्ञानिक शक्तियाँ आपस मे मिलकर व्यक्तित्व के आधारो की रचना करती हैं। प्राणीशास्त्रीय वंशानुसंक्रमण (biological heredity) तथा जन्म से पूर्व का विकास (parental growth) हमे नवजात शिशु को प्रदान करता है। यह शिशु सर्वप्रथम परिवार का ही एक 'नया मेहमान' होता है, जिसके पालन-पोषण व प्रशिक्षण का उत्तरदायित्व परिवार अपने ऊपर ही लेता है। परिवार अपने इस उत्तरदायित्व को निभाने मे कितनी सफलता प्राप्त करता है, इसी बात पर व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षण निर्भर करते हैं। महापुरुषो की आत्मकथायें लिखने वाले विद्वानो का मत है कि प्रत्येक महान् पुरुष की महानता का आधार उनके परिवार मे ही निहित होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि परिवार का प्रभाव केवल बचपन मे ही पड़ता है। परिवार का प्रभाव तो व्यक्ति का आजीवन का साथी है। फिर भी परिवार बचपन मे जो प्रभाव व्यक्ति पर डालता है, वह व्यक्तित्व की एक बहुत कुछ स्थायी विशेषता बन जाता है। बचपन मे बच्चे का सबसे निकट सम्पर्क माता से, और उसके बाद पिता से होता है। इस प्रकार परिवार के प्रभावो मे बच्चे पर माता-पिता का पड़ने वाला प्रभाव सबसे महत्त्वपूर्ण होता है। इनके व्यवहार से ही बच्चे का सामाजिक-सांस्कृतिक विकास होता है। जो माता-पिता बच्चे के साथ प्रेमपूर्वक सन्तुलित व्यवहार करते है, उनके बच्चो के व्यक्तित्व का भी सन्तुलित विकास होता है। पर, माता-पिता के द्वारा बच्चे को बात-बात पर झिड़कने, गाली देने या पीटने से बालक के मन पर इस प्रकार के दमन-व्यवहार का बहुत बुरा असर पड़ता है। ऐसे बालक दब्बू हो जाते हैं, और नये कार्यों को करने मे सकोच का अनुभव करते हैं। पर, स्मरण रहे कि दमन-व्यवहार का हर बालक पर एक-सा प्रभाव नही पडता, क्योंकि हर बालक का जन्मजात स्वभाव व प्रवृत्तियाँ भी एक-सी नहीं होती। माता-पिता की अवहेलना और ताड़ना से एक बालक दब्बू हो सकता है, परन्तु दूसरा बालक दबग और उच्छृंखल बन सकता है। श्री ऑलपोर्ट के शब्दो मे, "वही आग जो मक्खन को पिघलाती है, अण्डे को कठोर बनाती है।" दूसरी ओर, माता-पिता के अत्यधिक लाड़-प्यार से भी बालक मे आत्मनिर्भरशीलता पनप नहीं पाती। वह हर विषय मे माता-पिता पर निर्भर हो जाता है, और विविध सामाजिक परिस्थितियों मे स्वतन्त्र निर्णय नहीं कर पाता। श्री फ्रॉयड (Freud) ने इस विषय मे तादात्मीकरण (identification) की प्रक्रिया पर बहुत अधिक बल दिया है। माता-पिता बालक से अधिक शक्तिशाली,

कुशल तथा अनुभवी होते हैं। अत, बालक उन्हे आदर्श के रूप मे मानता है। बच्चा उन जैसा बनाना चाहता है। इस प्रकार बच्चा माता-पिता मे से किसी एक के व्यक्तित्व के साथ अपना समीकरण कर लेता है, और उन्ही के समान कपड़ा पहनने, बोलने तथा आचरण करने का प्रयत्न करता है। बहुधा लड़की माँ की बड़ी साड़ी पहनकर माँ बनने तथा बच्चों को लेकर घर-गृहस्थी का नाटक खेलने लगती है। बचपन मे माता-पिता से किया गया समीकरण आगे चलकर शिक्षक, नेता या 'आदर्श पुरुषों' से किये जाने वाले समीकरण मे बदल जाता है। इसी प्रकार माता-पिता की समुचित देखरेख न मिलने पर बच्चे मे असुरक्षा की भावना पनप जाती है। कुछ मातायें बच्चे से अधिक अपने ही स्वास्थ्य, सौन्दर्य तथा सुख का ध्यान रखती हैं, तथा बच्चे की उपेक्षा करती हैं। बच्चे को रोने या विरोध करने पर डाँटती-मारती हैं। ऐसे बच्चो की मनोवृत्ति माँ के प्रति अच्छी नही होती, और वे अचेतन रूप मे माँ के प्रति मन मे घृणा-भाव पालने लगते हैं। यही घृणा-भाव आगे चलकर सम्पूर्ण नारी-जाति के प्रति घृणा का रूप धारण कर लेता है। बच्चे कभी-कभी निरर्थक तथा यौन-सम्बन्धी प्रश्न भी उत्सुकतावश पूछ बैठते हैं। यदि उनकी उन जिज्ञासाओ की तृप्ति उचित ढग से न की जाय तो उनमे गलत धारणाओ का विकास हो सकता है। श्री मन (Munn) ने लिखा है, "बच्चे की यौन-सम्बन्धी जिज्ञासा के प्रति माता-पिता किस प्रकार की प्रतिक्रिया करते हैं, नाते-रिश्तेदारो के बारे मे पडोसियो आदि के बारे मे क्या कहते हैं, इस सब का सम्भावित प्रभाव बच्चे पर पडता है।"[42] इसी प्रकार बच्चा जो बातें माता-पिता और परिवार के अन्य सदस्यों से सीखता है, वे ही उसके सस्कारो मे स्थायी हो जाती हैं। किसी विशेष जाति, वर्ग, व्यक्ति, राष्ट्र, धर्म आदि के प्रति प्रेम या द्वेष या पक्षपात की भावना माता-पिता तथा परिवार के अन्य लोगो की शिक्षा और निर्देशन के कारण ही बच्चे मे पनपने लगती है।

परिवार के सदस्यो—विशेषकर माता-पिता का पारस्परिक सम्बन्ध भी बच्चे के व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षणो को निर्धारित करने मे महत्त्व रखता है। जिस परिवार में अत्यधिक कलह या लड़ाई-झगड़े तथा अशान्ति रहती है, उसके बच्चो मे असुरक्षा की भावना तथा चिड़चिड़ापन आ जाता है। उन बच्चो मे सवेगात्मक अस्थिरता भी बढ जाती है। माता पिता के तनावपूर्ण सम्बन्ध के कारण बच्चे को समुचित स्नेह नहीं मिल पाता, और वह उनके दूषित आचरणो का ही अनुकरण करने को बाध्य हो जाता है। ऐसे बच्चो का वैवाहिक जीवन सुखी नही होता, क्योकि उनके व्यक्तित्व में कलह-प्रियता तथा तनावपूर्ण पारिवारिक वातावरण बनाये रखने की प्रवृत्ति घर कर लेती है। अपनी पत्नी को मारने-पीटने की हीनतम आदत व्यक्ति प्राय. अपने पिता से ही सीखता है। इसके विपरीत, यदि माता-पिता का पारस्परिक सम्बन्ध प्रेम, प्रीति, सम्मान तथा सहयोग का होता है, तो बच्चे का भावी वैवाहिक जीवन और सामाजिक जीवन भी उन्हीं गुणों से ओतप्रोत होता है।

परिवार का प्रभाव बालक की अपराधी प्रवृत्ति (criminal tendency) पर भी पडता है। परिवार के दोषपूर्ण वातावरण मे बच्चे में अपराधी प्रवृत्तियों के विकास के कारणों की विवेचना करते हुए सर्वश्री हीली और ब्रोनर (Healy and Broner) ने तीन कारणों को महत्वपूर्ण माना है—परिवार की दुःखद परिस्थिति से छुटकारा पाने का प्रयास; पिता या माता से उनके दुर्व्यवहारों का बदला लेने की भावना; और अतृप्त इच्छाओं को पूरा करने की चेष्टा। इसी प्रकार 'टूटा परिवार' (broken home) भी बाल-अपराध का एक महत्वपूर्ण कारण माना जाता है। उपर्युक्त विद्वानों ने प्राय· ४००० बाल-अपराधियों का अध्ययन किया था। उनमे से ५० प्रतिशत बाल-

अपराधी 'टूटे परिवारों' के ही थे। इसके अतिरिक्त यदि परिवार का स्तर स्वयं ही अनैतिकता से भरा है, तो बच्चों का बिगडना स्वाभाविक ही है। दुराचारी माता-पिता की सन्तान से सदाचार की आशा नहीं की जा सकती। इसी प्रकार यदि परिवार में सौतेली माँ है, तो भी बच्चे का व्यक्तित्व समुचित ढंग से विकसित नहीं हो पाता। सौतेली माँ बच्चे को बात-बात पर डाँटती-फटकारती रहती है। ऐसी परिस्थिति मे बच्चे के मन मे विद्रोह की आग जलने लगती है, और वह सबसे घृणा करने लगता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह अपराध की ओर सरलता से बढ़ता रहता है। इसके अलावा पारिवारिक पक्षपात का भी बच्चे के मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि घर में कई बच्चे हैं, और उनमे से किसी एक को दूसरे से अधिक प्यार दिया जाता है तो कम प्यार पाने वाला बच्चा प्राय बिगड़ जाता है, क्योंकि पक्षपात के कारण उसके मन में ईर्ष्या की भावना उत्पन्न हो जाती है और बदले की भावना जड़ पकड़ लेती है। इतना ही नही, पक्षपात और अन्याय से बच्चे अपने माता-पिता के प्रति आदर का भाव खो बैठते हैं।

इसके अतिरिक्त बच्चे को परिवार में कौन-सी स्थिति (status) प्राप्त है, इसका भी प्रभाव बच्चे के व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता है। यदि बच्चा अपने माँ-बाप का एकलौता (the only child) है, तो उसे पूर्ण रूप से माता-पिता का अखण्ड स्नेह और देखरेख मिलती है। उसे हाथोंहाथ लिया जाता है, और जीवन की छोटी से छोटी जोखिम से उसे दूर रखा जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि बच्चा परावलम्बी तो होता ही है, साथ ही जिद्दी और शरारती भी हो जाता है। वह जिद के बल पर अपनी अनुचित इच्छाओं को भी पूरा करवाना चाहता है, और बड़ा होने पर इसके लिये माँ-बाप से भी दुर्व्यवहार कर बैठता है। इस शरारत और जिद से उसमे निर्भीकता और साहस आदि गुण पनप सकते हैं, पर एक सीमा के बाद यही गुण दुर्गुण भी बन सकते हैं। वह एक डाकू, गुण्डा और बदमाश भी निकल सकता है, या फिर दूसरे के ऊपर आश्रित रहकर ही जीवन बिता सकता है। इसी प्रकार यदि परिवार मे बच्चे की स्थिति हेय या निम्न है, तो उसके मन में हीनता की भावना पनपती है, वह अपने को असुरक्षित पाता है, तथा दूसरो के सामने जाने, बातें करने या परिस्थितियों का डट कर सामना करने मे झिझकता है। बच्चे की पारिवारिक स्थिति उसे बनाने या बिगाड़ने में महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करती है। श्री बालेश्वरनाथ श्रीवास्तव ने उचित ही लिखा है, "एकलौता बच्चा, विधवा का बच्चा, बहुत मान-मनौती के बाद पैदा हुआ बच्चा, सबसे छोटा बच्चा, प्राय. बीमार रहने वाला लड़का, किसी शारीरिक दोष वाला लड़का और कई सन्तानो के मर जाने के बाद जीने वाला लड़का भी अपने माता-पिता के बहुत अधिक प्यार का भागी बनता है; और, उसके बिगड़ने की सम्भावना भी उतनी ही अधिक रहती है। सौतेली मातायें भी कभी-कभी बदनामी से बचने के लिये बच्चो को बहुत अधिक प्यार करती हैं, इसके फलस्वरूप भी बच्चे बिगड़ जाते हैं।" श्री अल्फ्रेड एडलर (Alfred Adler) का मत है कि बच्चे का जन्म-क्रम (birth order) उसके व्यक्तित्व और उसकी जीवन-शैली का निर्धारण करता है। परन्तु श्री मन (Munn) के मतानुसार जन्म-क्रम का प्रभाव विशेष व्यक्तियों के मामले मे ही पड़ता है। इसका कोई सामान्य नियम नही है। जो परिवार का बड़ा लड़का है, उसे परिवार का प्यार मिलता है, और उसकी स्थिति भी ऊँची होती है। यदि बच्चे मे कुछ विशेष गुण हैं तो उसमें अधिकार और बड़प्पन की भावना विद्यालय और सामुदायिक जीवन में भी बनी रहती है; और, आवश्यक प्रतिभा और योग्यता रहने पर वह नेता या अधिकारी का

यह भी हो सकता है कि परिवार मे सबसे बड़े लड़के को नही, अपितु सबसे छोटे बच्चे को सबसे अधिक लाड़-प्यार मिलता हो। यदि ऐसा होगा, तो वह अपनी आन्तरिक योग्यतानुसार नेता बन सकेगा; पर, साथ ही पराश्रयी भी रहेगा। अतः मत के अनुसार बच्चे का जन्म-क्रम उतना महत्वपूर्ण नही है, जितनी उसके प्रति की जाने वाली पारिवारिक प्रतिक्रिया और उसकी अपनी प्रतिभा और योग्यता।

2. बच्चे का प्रशिक्षण और प्रौढ़ व्यक्तित्व का निर्माण
(Child Training and Formation of Adult Personality)

व्यक्तित्व के निर्माण मे बच्चे का प्रशिक्षण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होता है। यह प्रशिक्षण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे जन्म के बाद से ही परिवार मे आरम्भ हो जाता है। आरम्भ मे बच्चे को भूख या प्यास लगती है, तो वह रोता है और जब माता उसे दूध पिला देती है तो वह चुप हो जाता है। पर समझदार माँ उसे जब-तब ही दूध नही पिलाती है, बल्कि एक निश्चित समय के बाद ही दूध पिलाती है, चाहे उसके पहले बच्चा भले ही रोता रहे। यह सबसे आरम्भिक प्रशिक्षण है, जिसके फलस्वरूप बच्चा यह सीख जाता है कि उसे दूध के लिये एक निर्धारित समय के बाद ही रोना चाहिए। इससे उसके जीवन मे नियमितता (regularity) का गुण विकसित होता है। इसमे समयानुसार काम करने की आदत तभी पड़ती है, जब माता-पिता बच्चे को, समय को ध्यान मे रखते हुए, काम करने का प्रशिक्षण देते हैं। इसी प्रकार परिवार के सदस्य के रूप मे उसे अनेक सामाजिक नियमो, कार्य-प्रणालियो आदि का भी प्रशिक्षण दिया जाता है। उसे सबसे पहले खाना खाने के तरीके (table manners) के सम्बन्ध मे बताया जाता है, जो अलग-अलग संस्कृति मे अलग-अलग होते हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दू-परिवार के बच्चे को यह प्रशिक्षण दिया जाता है कि खाना खाने से पहले हाथ-मुँह धो लेना चाहिए, चावल पहले खाना चाहिये या रोटी पहले खानी चाहिए, रोटी तोड़ने के लिये एक हाथ का प्रयोग करना चाहिए या दोनो हाथो का प्रयोग करना चाहिए, चावल सानने तथा कौर उठाने के तरीके क्या होने चाहिए; चावल मे दाल, सब्जी, दही सब कुछ एक साथ मिलाना चाहिए या अलग-अलग खाना चाहिये, इत्यादि। इन सब प्रशिक्षण का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व मे सम्मिलित आदतो के निर्माण के रूप मे पड़ता है, और महत्त्वपूर्ण होता है। माता-पिता तथा अन्य गुरुजनो के प्रति सम्मान-प्रदर्शन के तरीके, प्रार्थना या पूजा करने के ढग, और कपड़ा पहनने के सलीके, आदि से सम्बन्धित प्रशिक्षण भी बच्चे को परिवार मे ही दिया जाता है। आज यह स्वीकार किया जाता है कि बच्चे मे आवश्यक योग्यता या क्षमता तो होती ही है, केवल उचित प्रशिक्षण के द्वारा उसे उभारने की जरूरत रहती है। प्रशिक्षण के द्वारा ही बच्चे मे अनुशासन, सहयोग, आज्ञाकारिता, आदि गुण विकसित होते हैं। वास्तव मे, प्रशिक्षण-प्रक्रिया मे एक निरन्तरता का तत्त्व होता है, जिसके कारण विभिन्न विषयो से सम्बन्धित प्रशिक्षण विभिन्न प्रकार की आदतो का निर्माण करने मे सहायक सिद्ध होते हैं। ये आदते व्यक्तित्व की प्रमुख आधारशिला बन जाती हैं। आरम्भ मे बच्चे को जिस प्रकार का प्रशिक्षण मिलता है, वह आगे चलकर, उसी के अनुरूप विभिन्न व्यवहारो को अभिव्यक्त करता, मनोवृत्तियो को विकसित करता, तथा आदतो का निर्माण करता है। उदाहरणार्थ, यदि बचपन मे ही उसे यह प्रशिक्षण मिला है कि उसे "अछूतो" से दूर रहना है, या उनसे घृणा करनी है, या उनके साथ उठना-बैठना या खाना-पीना नही है, तो उसके मन मे अछूतो के प्रति उसी प्रकार की मनोवृत्तियां, अनुभूतियाँ तथा आदतें बन जायेंगी, यद्यपि इनका कोई भी वैज्ञानिक औचित्य नही

होगा। वास्तव मे व्यक्ति मे अपनी चीजो को सावधानी से रखने और उनकी हिफाजत करने, भाषा को सीखने, लिखना-पढ़ना सीखने, साफ-सुथरा रहने, आदि से सम्बन्धित आदतों का निर्माण प्रशिक्षण के आधार पर ही होता है। इसी प्रकार दूसरो से प्रेम करना, दूसरो के सुख-दुःख मे हिस्सा बँटाना, दूसरो के साथ सहयोग करना, अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाना, दुःखी जनो पर दया करना, तथा निराश्रितो की सेवा करना, आदि गुण भी प्रशिक्षण के आधार पर ही विकसित होते हैं और व्यक्तित्व के महत्त्वपूर्ण अंग होते हैं। इसी प्रकार दुर्गुणो का विकास भी प्रशिक्षण पर ही निर्भर करता है। बच्चे का यह प्रशिक्षण केवल परिवार मे ही नही, विद्यालय, खेल के साथियो आदि के बीच भी होता रहता है। खेल के साथी विभिन्न परिवार से सम्बन्धित होते हैं, इस कारण उनके मिजाज, आदतें और व्यवहार के तरीके आदि पृथक् पृथक् होते हैं। उनके साथ खेलने मे प्रशिक्षण मिलता रहता है कि विभिन्न मिजाजो, आदतो आदि के साथ किस प्रकार अनुकूलन किया जाता है, सबके साथ मिलकर किस प्रकार कोई काम किया जाता है, और सबके साथ सहयोग से काम करने से क्या-क्या लाभ होते है। इतना ही नही, तरह-तरह के बच्चो मे, आपस मे, अन्तःक्रिया होने से बच्चे मे नयी आदतों का निर्माण होता है। उसी प्रकार स्कूल मे उसे पढने-लिखने का ही नही, अनुशासनपूर्ण व्यवहार करने का, बडो का आदर करने का, वाद-प्रतिवाद मे भाग लेकर बोलने का, चुनाव लड़ने का, सास्कृतिक व सामाजिक कार्यक्रमो मे भाग लेने का, समय की पाबन्दी का, और खेलकूद आदि का भी प्रशिक्षण मिलता है। इन सब प्रशिक्षणों को सफलतापूर्वक ग्रहण करने या न करने पर व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्वरूप निर्भर करता है। अगले अध्याय में किये गये विवेचन से यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगी।

3. स्कूल
(School)

परिवार और खेल के साथियों के समूह से भी विस्तृत 'जगत्' मे बच्चा उस समय प्रवेश करता है, जब वह विद्यालय मे दाखिला लेता है। बालक के जीवन में स्कूल एक बिल्कुल नवीन पर्यावरण प्रस्तुत करता है। उसके लिये वह जगह नयी होती है, वहाँ के लोग नये होते है, और वहाँ की जीवन-पद्धति भी नयी ही होती है। फलतः आरम्भ मे बच्चे के सम्मुख "अनुकूलन की समस्या आ खड़ी होती है। स्कूल में परिवार की भाँति वह "सब कुछ" नही कर सकता। उसे नियमित, अनुशासनपूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप उसके जीवन मे अनुशासन और नियमितता का श्रीगणेश होता है। वहाँ उसे मोटे तौर पर शिक्षकों के साथ एक विशेष प्रकार का व्यवहार करना पडता है, और सहपाठियो के साथ बिलकुल ही दूसरे प्रकार का। वहाँ शिक्षक नये आदर्श के रूप मे और सहपाठी नये मित्र के रूप मे सामने आते हैं। इन शिक्षकों और सहपाठियो के बीच से भी उसे चुनाव करना पडता है; और, उसी चुनाव पर उसके जीवन की सफलता या विफलता निर्भर करती है। इतना ही नही, कुछ समान रुचि या वर्ग के लड़के मिलकर एक दल बना लेते हैं। यहीं उसमे सहकारिता, सहयोग, परस्पर सहानुभूति' आदि गुण विकसित होते हैं। यहीं उसमें अनेक नयी आदतों का निर्माण होता है, समूह मे रहने से सुरक्षा की भावना पनपती है, और बालक को अपना साहस और बुद्धि प्रदर्शित करने का अवसर मिलता है। स्कूल के अपने कुछ नियम होते हैं, जिन्हे सभी बालको को मानना पडता है। उन नियमों का पालन करने से बच्चे मे आज्ञाकारिता, सामाजिक नियमों के प्रति आदर की भावना, आदि गुण विकसित होते हैं।

बच्चा स्कूल में नेता भी बन सकता है और अनुयायी भी। अर्थात्, उसे आज्ञा देना भी आ जाता है और आज्ञा का पालन करना भी। ये सभी व्यक्तित्व के लिये आवश्यक गुण बन जाते हैं।

स्कूल में बच्चे के व्यक्तित्व पर शिक्षक का भी अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार परिवार में माता या पिता बालक के लिये 'आदर्श' होते हैं, उसी प्रकार स्कूल में शिक्षक बालक के सामने आदर्श के रूप में होता है। वास्तव में शिक्षक का व्यक्तित्व और बालक के प्रति उसका व्यवहार, इन दोनों चीजों का बड़ा प्रभाव बच्चे पर पड़ता है। उदाहरणार्थ, कठोर तथा झिड़कने या पीटने वाले शिक्षक के व्यवहार का अस्वस्थ प्रभाव बालक पर पड़ता है; वह पढ़ने-लिखने से जी चुराने लगता है, कक्षा से भागने की आदत पाल लेता है, और शिक्षक व उनसे मिलने-जुलने वाले व्यक्तियों से घृणा करने लगता है, उसमें बदला लेने की भावना आ जाती है। इस प्रकार उसके व्यक्तित्व में कुछ दुर्गुण पनप जाते हैं। इसके विपरीत दयालु और सहृदय शिक्षक बच्चों में पढ़ने-लिखने के प्रति लगन, कर्तव्यनिष्ठा, बड़ों के प्रति श्रद्धा-भाव, आदि के विकास में सहायक होते हैं। बच्चा जिस शिक्षक को अपना आदर्श मान लेता है, उसी के व्यवहार, आचरण, आदर्श आदि को भी सात्मीकरण के द्वारा अपना लेता है। इसीलिये यह कहा जाता है कि शिक्षक के विचारों तथा नैतिक आचरणों का बालक के विचारों तथा नैतिक आचरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। संक्षेप में, शिक्षक का अपना व्यक्तित्व तथा आचरण विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के स्वरूप को निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण होता है।

इसी प्रकार सहपाठियों का भी प्रभाव बच्चे के व्यक्तित्व पर पड़ता है। बड़ी कक्षाओं के विद्यार्थी छोटी कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये 'आदर्श' होते हैं; और, इसीलिये अक्सर उनमें नेता तथा अनुयायियों (leader and followers) का सम्बन्ध बन जाता है। अनेक मामलों में नीची कक्षाओं के बच्चे ऊँची कक्षाओं के बच्चों का अनुकरण (imitation) करते हैं। इसके फलस्वरूप अनेक अच्छी-बुरी आदतें बच्चों में आ जाती हैं। उसी प्रकार सहपाठियों में पढ़ने-लिखने के मामले में प्रतिस्पर्धा होती रहती है। इससे जहाँ ईर्ष्या, द्वेष और वैर की प्रवृत्तियाँ बच्चे में बढ़ सकती हैं, वहीं बालक प्रतिस्पर्धा में सफल होने की इच्छा से प्रेरित होकर अधिक परिश्रमी और अध्ययनशील भी बन सकता है।

अतः स्पष्ट है कि स्कूल के जीवन में बच्चे के व्यक्तित्व पर दोतरफा असर पड़ता है। नतीजा यह कि उसके व्यक्तित्व का दोहरा विकास होता है। बालक अपने व्यक्तित्व के लिये कुछ लक्षणों या गुणों (traits) को शिक्षकों की बातों और उपदेशों से, पुस्तकों के अध्ययन से, तथा स्कूल के नियमों, अनुशासन व सामाजिक-सांस्कृतिक क्रियाकलापों (socio-cultural activities) से संकलित करता है। साथ ही कुछ गुणों को वह अपने स्कूल के अन्य विद्यार्थियों से ग्रहण करता है। अतः व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले सामाजिक कारकों में स्कूल का महत्त्व वास्तव में असाधारण होता है।

4. आर्थिक दशाएँ
(Economic Conditions)

सामाजिक कारकों में आर्थिक दशाओं का भी अत्यधिक महत्त्व होता है, क्योंकि इनके अनुसार ही व्यक्ति के जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

जब तक इन आधारभूत आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति सरल व सुन्दर ढंग से होती रहती है, तब तक बच्चे में असुरक्षा की भावना पनप नहीं पाती। उस अवस्था मे व्यक्ति के व्यक्तित्व का संतुलित विकास सम्भव होता है। पर, जब व्यक्ति मौलिक आवश्यकताओं तक को पूरा नहीं कर पाता, तब उसमें मानसिक तनाव, चिन्ताएँ तथा असुरक्षा की भावनाएँ घर कर जाती हैं। इसीलिये जिन बच्चों का जन्म गरीब परिवारों मे होता है, उनके व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं हो पाता। वे निराशा का अनुभव करते हैं तथा जीवन के प्रति उनका स्वाभाविक आकर्षण कम हो जाता है। प्रतिकूल (unfavourable) आर्थिक दशाएँ बच्चे को अपराधी या बाल-अपराधी बनने मे सहायता देती है, अर्थात् उसके व्यक्तित्व मे अपराधी प्रवृत्तियाँ पनप जाती हैं। निर्धन बच्चा जब अपने से अधिक सम्पन्न परिवारों के बच्चो को नाना प्रकार को सुविधाओं तथा विलासिता की वस्तुओ का उपभोग करते देखता है, और चाहने पर भी अपनी निर्धनता के कारण उन वस्तुओं को प्राप्त नहीं कर पाता, तो उसमे हीनता की भावना ही नही पनपती, बल्कि लालच, द्वेष अथवा जलन की भावनायें भी पैदा हो जाती हैं। पहले वह वैध तरीको से उन वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, और जब वह इन प्रयत्नो मे असफल हो जाता है तो चोरी-जैसे अवैध तरीके अपनाता है। निर्धनता का दूसरे प्रकार का प्रभाव यह होता है कि माता-पिता दोनो को नौकरी करने के लिए निकलना पड़ता है। इस प्रकार माता-पिता व बच्चे एक-दूसरे से दूर रहते हैं। फलत: बच्चों पर नियंत्रण ढीला पड़ जाता है। साथ ही ऐसे माता-पिता न तो अच्छे मकान मे रह पाते हैं, और न बच्चों को कायदे की शिक्षा ही दे पाते हैं। इस तरह जो बच्चे न तो स्कूल जाते हैं और न ही खाली समय बिताने के लिये मनोरंजन के स्वस्थ साधन जुटा पाते हैं, उनके लिये रास्ते पर खेलना या आवारागर्दी करना और बुरी संगत में फँसकर बुरी आदतों व आचरणो को विकसित करना स्वाभाविक हो जाता है। श्री बर्ट (Burt) के अध्ययन से पता चलता है कि आधे से अधिक बाल-अपराधी निर्धन परिवारों के सदस्य होते हैं। इसी प्रकार निर्धनता के कारण जब माँ को प्रतिदिन घर से बाहर रहना पड़ता है तो परिवार का संगठन बिगड़ जाता है और बच्चे बर्बाद हो जाते हैं। निर्धनता के कारण जब छोटे बच्चों को भी नौकरी करना, विशेषकर सड़कों पर वस्तुएँ बेचने का काम करना पड़ता है तो उनके नैतिक व शारीरिक स्वास्थ्य का पतन हो जाता है।

इसके विपरीत जिन बालको का पालन-पोषण समृद्ध परिवारों में होता है, उनमे आशावादिता रहती है, सुरक्षा की भावना देखने को मिलती है, तथा नये कार्यों को करने के उत्साह की प्रचुरता होती है। वे हीनता की भावना के शिकार नही होते, और गरीब बच्चो की तरह आत्मग्लानि, संकोच और बेचैनी का अनुभव नही करते। पर, आर्थिक समृद्धि बर्बादी का भी कारण बन सकती है। बचपन से ही बच्चे के हाथ में अधिक पैसा आ जाने से उसमें फिजूलखर्ची तथा दिखावे (show off) की प्रवृत्ति विकसित होती है। वह सिनेमा अधिक देखता है, जुआ खेलता है और यार-दोस्तों पर बहुत खर्च करता है। इन सब का प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर पड़ता है। पैसे के बल पर उसमें मिथ्या गर्व की भावना पनप सकती है, और इसी आधार पर वह दूसरों के प्रति अवहेलना व पक्षपात की भावना पाल सकता है। धन-बल पर ही वह लापरवाह हो सकता है, और अपने हाथ-पैरों की अपेक्षा धन पर अधिक भरोसा करने की प्रवृत्ति उसमें विकसित हो सकती है।

परन्तु, इस विश्लेषण से यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि व्यक्तित्व के विकास के लिए गरीबी अभिशाप है, और अमीरी वरदान। वास्तव में आर्थिक

परिस्थितियों का सम्भावित प्रभाव व्यक्ति की अपनी योग्यता व आन्तरिक गुणों तथा सामाजिक प्रतिक्रियाओं पर निर्भर करता है। अगर माता-पिता धीरज से काम लेकर समयपूर्वक अपनी प्रतिकूल आर्थिक स्थितियों का सामना करले, और वर्तमान अवस्थाओं से सन्तुष्ट रहते हैं, तो गरीबी का कोई बुरा प्रभाव बच्चे के व्यक्तित्व के विकास पर नहीं पड़ता। अब्राहम लिंकन, लेनिन, प्रेमचन्द आदि की जीवनी इस बात का प्रमाण है कि व्यक्तित्व के पूर्णतम विकास में गरीबी किसी तरह का कोई रोड़ा नहीं बनी। आर्थिक कठिनाई के कारण व्यक्ति में संघर्ष करने की, परिस्थितियों से जूझने की, कठिनाइयों पर विजय पाने की, तथा स्वावलम्बी बनने की भावना पनप आती है और इन सभी गुणों से व्यक्तित्व में चार चाँद लगते हैं। दूसरी ओर, समृद्ध परिवारों के बच्चे आलसी, विलासी, फिजूलखर्च, दुर्व्यसनी और चरित्रभ्रष्ट भी हो सकते हैं। पर, यदि बच्चों में योग्यता व आन्तरिक गुण हैं, तो वही पैसा उन्हें उन्नति के किसी भी स्तर पर पहुँचा सकता है, और उसके व्यक्तित्व को आदर्श बनाने में सहायक हो सकता है।

यदि सामान्य रूप में देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को लिया जाय तो भी हम यह कह सकते हैं कि व्यक्तित्व पर आर्थिक परिस्थितियों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, यदि देश में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था है, तो समाज में निजी सम्पत्ति (private property), प्रतिस्पर्धा, बड़े पैमाने में उत्पादन, श्रमिकों का शोषण, आदि विशेषताएँ देखने को मिलेंगी। निजी सम्पत्ति के महत्व पर बल देने से व्यक्तिवाद (individualism) का विकास होता है। इसके कारण व्यक्ति अपने सुख व समृद्धि को अधिक प्रधानता देने की प्रवृत्ति को विकसित करता है। इसी प्रकार संचय की प्रवृत्ति भी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में पनपती है, क्योंकि पूँजी के संचय के आधार पर ही व्यक्ति की सामाजिक स्थिति निर्धारित होती है। पूँजीवाद में प्रतिस्पर्धा के तत्व का विस्तार व्यक्ति के जीवन के हर पक्ष में हो जाता है, अर्थात् प्रतिस्पर्धा की प्रवृत्ति व्यक्ति के व्यक्तित्व का एक अंग बन जाती है। बड़े पैमाने पर किया जाने वाला उत्पादन व्यक्ति को अधिक कठोर परिश्रम करने के योग्य बनाते है और नयी आदतों का निर्माण करता है। मशीन पर काम करते-करते स्वयं मनुष्य भी मशीन बन जाता है। इसी प्रकार वर्ग तथा वर्ग-संघर्ष, राष्ट्रीय धन का असमान वितरण, श्रमिकों का शोषण, बेकारी, गन्दी बस्तियों (slums) का विकास और औद्योगिक झगड़ों जैसे पूँजीवाद के कुछ सामाजिक परिणामों का भी व्यक्ति के व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, औद्योगिक झगड़ों का सफलतापूर्वक सामना करने के लिये श्रमिकों को संगठित रूप में काम करने, सहयोग करने, त्याग करने, नेता की आज्ञाओं का पालन करने, तथा अनुशासनपूर्ण व्यवहार करने के गुणों को विकसित करना होता है। श्रमिक-संघ नेतृत्व (leadership) का भी विकास करता है। इसी प्रकार गन्दी बस्तियों में रहने से श्रमिकों की मनोवृत्तियाँ, विचार व मूल्य भी गन्दे हो जाते हैं, और उनके व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास रुक जाता है। इतना ही नहीं पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में जो बेकारों (unemployed persons) की संख्या बढ़ती है, उसका भी प्रभाव व्यक्तित्व पर पड़ता है। बेरोजगारी अनेक मानसिक रोगों को उत्पन्न करती है। व्यक्ति रोटी-कपड़े के लिये सदैव चिन्तित रहता है, और चिन्ता-रूपी नागिन उसके जीवन में निरन्तर विष घोलती रहती है, और उसके व्यक्तित्व को नष्ट कर देती है। बेकारी की अवस्था व्यक्ति के नैतिक स्तर को भी गिरा देती है। वह अपने तथा आश्रितों के भरण-पोषण के लिये चोरी, डकैती, जालसाजी, वेश्यावृत्ति, भिक्षावृत्ति आदि अपना लेता है, या हर-तरफ से निराश

और असफल होने पर शराब पीकर अपनी समस्त निराशाओं व असफलताओं को भूलने की कोशिश करता है।

वास्तविकता यह है कि मौलिक अर्थव्यवस्था में परिवर्तन हो जाने से उसका प्रभाव सामाजिक जीवन व संस्थाओं पर भी पड़ता है। फलस्वरूप व्यक्तित्व-संरचना (personality structure) में भी परिवर्तन व परिवर्द्धन हो जाता है। उदाहरणार्थ, पहले भारतवर्ष कृषि-अर्थव्यवस्था के स्तर पर था। उस समय जाति-प्रथा संयुक्त परिवार, पंचायत, धर्म, प्रथा, परम्परा, ग्रामीण समुदाय, आदि सामाजिक जीवन के आधार थे। इन आधारों का प्रभाव व्यक्तित्व पर पड़ना स्वाभाविक ही था। जाति-प्रथा विभिन्न जातियों—विशेषकर अस्पृश्य जातियों—के प्रति विशेष मनोवृत्ति को जन्म देती है; संयुक्त परिवार बच्चे में सहयोग, त्याग, सहनशीलता, उदारता, सेवा, प्रेम, सद्भाव, आज्ञाकारिता आदि गुणों को विकसित करता है; और धर्म, प्रथा, परम्परा व्यक्ति में रूढ़िवादिता, आदर्शवादिता व भाग्यवादिता का भाव भरती हैं। अतः, स्पष्ट है कि कृषि-स्तर पर भारत में जिस व्यक्तित्व का विकास होता था, उसका प्रतिमान (pattern) या प्रारूप (type) एक विशिष्ट प्रकार का ही होता था। उसके बाद भारत ने प्रौद्योगिक (technological) स्तर पर कदम रखा, कृषि-अर्थव्यवस्था बदल गयी, और उसके स्थान पर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का विकास हो गया। इस क्रम में औद्योगीकरण (industrialization) तथा नगरीकरण (urbanization) तेजी से होता गया, जिसके फलस्वरूप जाति-प्रथा का प्रभाव घटा, संयुक्त परिवार में विघटन होने लगा, पंचायत का बोलबाला न रहा तथा धर्म, प्रथा व परम्परा का शासन जाता रहा। और इन सभी चीजों का प्रभाव व्यक्तित्व की प्रकृति पर पड़ना स्वाभाविक ही था। व्यक्तित्व के जो विभिन्न सामान्य लक्षण कृषि-स्तर पर देखने को मिलते थे, वे अब परिवर्तित रूप में सामने आये—सहयोग के स्थान पर प्रतिस्पर्धा, दान के स्थान पर संचय, सेवा के स्थान पर स्वार्थ, उदारता के स्थान पर चतुरता, त्याग के स्थान पर भोग, भाग्यवादिता के स्थान पर विज्ञानवादिता, और आदर्शवादिता के स्थान पर व्यक्तिवादिता के लक्षण आधारभूत व्यक्तित्व-संरचना (basic personality structure) के उल्लेखनीय अंग बन गये। अतः हम भी किम्बल यंग (Kimball Young) के इस मत से सहमत हैं कि "समाज की मौलिक अर्थव्यवस्था में परिवर्तन और उसी के साथ होने वाले सामाजिक संगठन में रूपान्तरण (modification) से आधारभूत व्यक्तित्व-संरचना में भी परिवर्तन आ सकता है।"[53]

5. सामाजिक संस्थाएँ
(Social Institutions)

सामाजिक संस्थाओं का भी प्रभाव व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता है। सामाजिक संस्थाएँ कुछ स्वीकृत विधियों या कार्य-प्रणालियों का बोध कराती हैं, जिनके द्वारा मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। अतः स्पष्ट है कि प्रत्येक समूह कुछ ऐसे निश्चित व स्वीकृत नियमों पर आधारित होता है, जिन्हें उस संस्था से सम्बन्धित व्यक्तियों को मानना पड़ता है। संस्था के पीछे समूह की अभिमति या स्वीकृति तथा पीढ़ी-दर-पीढ़ी की सामाजिक मान्यता होती है। इससे संस्थाओं को असाधारण शक्ति प्राप्त हो जाती है, जिसके आधार पर वे व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित करती हैं। इस नियंत्रण का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास पर अवश्य ही पड़ता है। हम यहाँ जाति-प्रथा तथा हिन्दू-विवाह का उदाहरण प्रस्तुत करके

इस बात को प्रमाणित करने का प्रयत्न कर सकते हैं। संस्था के रूप में जाति-व्यवस्था प्रत्येक जाति को एक सामाजिक स्थिति प्रदान करती है, जिसमें ब्राह्मण जाति की स्थिति सर्वमान्य रूप से सबसे ऊपर है। इसी आधार पर ब्राह्मण जाति के सदस्यों में एक प्रकार का गर्व, आत्म गौरव की भावना ही नहीं, प्रभुत्व की भावना भी पनप जाती है। इसी मनोभाव के आधार पर अन्य जातियों—विशेषकर हरिजनों—के प्रति उनके मनों में अवहेलना तथा घृणा का भाव भर सकता है। इसके विपरीत हरिजन-जातियों के सदस्यों में—जातीय संरचना में उनका सर्वनिम्न स्थान होने के कारण उनमें हीनता की भावना पनप जाती है। सामाजिक तौर पर वे अपने को दबा हुआ पाते हैं, और उच्च जातियों के सदस्यों के साथ घुलमिल कर सम्पर्क स्थापित नहीं कर पाते हैं। अपनी निम्न सामाजिक स्थिति के बारे में उनकी यह चेतना उनके व्यक्तित्व का एक सामान्य गुण बन जाती है। यह जाति-प्रथा की ही देन कही जा सकती है। इसी प्रकार खान-पान, विवाह आदि के सम्बन्ध में सदस्यों की मनोवृत्ति का निर्धारण जाति के द्वारा ही होता है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण को अन्य किसी जाति के सदस्य के हाथ का बना हुआ भोजन नहीं खाना चाहिए, या अपनी ही जाति के अन्दर विवाह करना चाहिए। ऐसे मनोभावों को व्यक्तित्व में ठूँस ठूँस कर भरने का काम जाति-प्रथा ही करती है। इसी प्रकार विवाह-संस्था को भी लीजिए। हिन्दू-विवाह लोगों के सम्मुख विवाह के कुछ आदर्श प्रस्तुत करता है, और इस विवाह-प्रथा को हृदय से मानने वालों में उन आदर्शों के तदनुरूप मनोवृत्तियों का विकास हो जाता है। वे विवाह को पवित्र बन्धन मानते हैं, पति या पत्नी को जीवन भर के साथी के रूप में स्वीकार करते हैं, तथा पुत्र-प्राप्ति व धार्मिक कर्त्तव्यों के पालन को वैवाहिक जीवन का परम लक्ष्य समझते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामाजिक संस्थाओं का भी अत्यधिक प्रभाव व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता ही है।

6. सामाजिक स्थिति व कार्य
(Social Status and Role)

व्यक्ति तथा उसके परिवार की सामाजिक स्थिति तथा कार्य का भी उल्लेखनीय प्रभाव व्यक्तित्व-विकास पर पड़ता है। समाज एक संगठन और एक व्यवस्था है। इस संगठन या व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के सदस्य मनमाने ढंग से सम्बद्ध नहीं रहते, उनमें एक नियमितता या क्रमबद्धता देखने को मिलती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक समाज चाहे वह आधुनिक हो या आदिम, अपने सदस्यों के लिये सामाजिक संरचना के अन्तर्गत कुछ निश्चित स्थिति (status) तथा कार्य (role निर्धारित करता है। समाजीकरण के साथ-साथ व्यक्ति में यह चेतना उत्पन्न होती जाती है कि उसे समाज में कौन-सी स्थिति प्राप्त है, और उस स्थिति से सम्बन्धित कौन सा कार्य उसे करना है। इस ज्ञान या चेतना का व्यक्तित्व के विकास में बड़ा हाथ रहता है, क्योंकि व्यक्ति को अपने पद व कार्य के अनुसार ही व्यवहार करना पड़ता है। सामाजिक स्थिति का निर्धारण सामान्य रूप से आयु, लिंग तथा आर्थिक स्थिति के आधार पर होता है। प्रत्येक समाज में ही छोटी आयु के सदस्यों पर बड़ों की अपेक्षा कम उत्तरदायित्व लादा जाता है, और उनकी सामाजिक स्थिति भी निम्न ही होती है। आयु के बढ़ने के साथ साथ उनकी सामाजिक स्थिति में परिवर्तन होता है, और उन्हें उसी के अनुसार नयी आदतों, मनोवृत्तियों तथा कार्य-क्षमताओं को विकसित करना पड़ता है। देखा गया है कि प्रायः छोटे लड़कों या लड़कियों की अपेक्षा परिवार के सबसे बड़े लड़के या लड़की में उत्तरदायित्व की भावना, गम्भीरता, तथा कार्यकुशलता अधिक होती है, जबकि सबसे छोटे लड़के या लड़की के व्यक्तित्व

म लापरवाही, हल्कापन तथा काम से जी चुराने की मात्रा ही अधिक पाई जाती है। ऐसा भी होता है कि आयु के बढ़ने के साथ-साथ व्यक्ति के अनुभव तथा सामाजिक विषयों के क्षेत्र में ज्ञान का जो संचय होता जाता है, उससे भी व्यक्तित्व के कुछ विशिष्ट लक्षण विकसित हो जाते हैं। आयु के बढ़ने के साथ-साथ उसे समाज में भी नया पद प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, एक विशेष आयु के बाद व्यक्ति का विवाह हो जाता है। इससे यह होता है कि अब तक जिसे केवल पुत्र या पुत्री के रूप में स्थान प्राप्त था, उसे ही अब पति या पत्नी की स्थिति प्राप्त हो जाती है; और इसका व्यक्तित्व के विकास पर निश्चित प्रभाव पड़ता है। देखा यह गया है कि आयु के आधार पर बालक को यदि उचित कार्यभार सौंप दिया जाता है और उससे उन कार्यों को निभाने की आशा की जाती है, तो वह बालक अधिक सामाजिक और उत्तरदायी बन जाता है। इस सम्बन्ध में सामाजिक परिभाषा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अर्थात्, विभिन्न स्थितियों तथा कार्यों के सम्बन्ध मे सामाजिक व्याख्या स्पष्ट होनी चाहिए, ताकि व्यक्ति को अपनी स्थिति व कार्य के सम्बन्ध में कोई अनिश्चितता न हो। अनिश्चित स्थिति का प्रभाव व्यक्तित्व पर बुरा ही पड़ता है। उदाहरणार्थ, यदि बच्चे को यह पता नहीं होता कि उसे पुत्र की स्थिति के अनुसार कार्य करना है या पिता की स्थिति के अनुसार, तो वह अपने को एक विषम परिस्थिति में पाता है, और उसके व्यक्तित्व में अस्वाभाविकताएँ पनप जाती हैं। जब समाज अपने सदस्यों को उचित ढंग से यह नहीं समझा पाता कि प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह सम्भव नहीं है कि वह लखपति, राष्ट्रपति, नेता या ससार की सबसे सुन्दरी युवती के पति की स्थिति को प्राप्त करे, तभी व्यक्ति चोर, डकैत, जालसाज या यौन-अपराधी बन कर उन अभावों की पूर्ति करता है।

प्रत्येक समाज मे लिंग के आधार पर भी व्यक्ति को अलग-अलग पद और कार्य प्राप्त होते हैं। श्री सिगमण्ड फ्रायड (Sigmund Freud) ने तो व्यक्तित्व-विकास की पूरी रूपरेखा बचपन से ही स्त्री-पुरुष के भेद के आधार पर चित्रित की है। उनके अनुसार स्त्री और पुरुष के व्यक्तित्वों मे जो आधारभूत अन्तर हमें देखने को मिलता है, उसका मुख्य आधार लिंगभेद ही है। इसी भेद के आधार पर स्त्री व पुरुष की अलग-अलग मनोवृत्तियों, आशाओं, आदतों तथा विचारों का विकास होता है। यद्यपि श्री फ्रॉयड का यह विचार पूर्णतया सत्य नहीं कहा जा सकता; फिर भी, इस बात को अस्वीकार करना कठिन है कि सभी समाजों में स्त्रियों और पुरुषों की अलग-अलग स्थितियाँ व अलग-अलग कार्य होते हैं, और उनका प्रभाव व्यक्तित्व पर पड़ता है। लगभग सभी समाजों में प्रभुता और शक्ति पुरुष के हाथ में होती है। श्री लिन्टन (Linton) का मत है कि पुरुष स्त्री से अधिक शारीरिक शक्ति का अधिकारी होता है[44] यह शारीरिक शक्ति उसमें आत्मबल तथा प्रभुता की भावना भरती है। सर्वश्री समर तथा केलर (Summer and Keller) का कथन है कि शारीरिक विशेषतायें और परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं, जिनके कारण पुरुषों की दुनिया में स्त्रियों में कुछ हीनता की भावना पनप जाती है।[45] मासिकधर्म के समय हर महीने कुछ दिन स्त्रियाँ अधिक शारीरिक परिश्रम नहीं कर सकतीं। इसी प्रकार स्त्री को शिशु के जन्म से कई माह पूर्व और कई माह बाद तक शारीरिक सीमाओं से विवश होना पड़ता है। श्री गोल्डन वीजर (Golden Weiser) ने नौकरियों और व्यवसायों का अध्ययन करके देखा है कि कुछ पेशों को स्त्रियाँ इस कारण नहीं चुनतीं कि उनके व्यक्तित्व में, उन्हें करने के लिये आवश्यक गुणों का अभाव होता है।[46] प्रो० मुरडॉक (Murdock) तथा मीड आदि के अध्ययन से भी यही बात प्रमाणित होती है, यद्यपि प्रो० मीड का मत है कि विशेष स्वभाव के विकास के

लिए लिंगभेद नहीं, वरन् कार्य व श्रम भेद अधिक उत्तरदायी होता है। इस सम्बन्ध में सामाजिक प्रत्याशा (social expectation) भी महत्त्वपूर्ण होती है। प्रारम्भ से ही हम लड़कियों की तुलना में लड़कों से वीरता, आत्म-निर्भरता, आत्म-संयम, शारीरिक श्रम, उत्तरदायित्व आदि से पूर्ण व्यवहार की अधिक आशा करते हैं, जबकि लड़कियों के व्यक्तित्व में सरलता, कोमलता, दया, प्रेम, सहानुभूति, सेवा, लज्जा, सच्चरित्रता आदि गुणों की आशा की जाती है। भारतवर्ष में सती-गुण पर कभी अत्यधिक बल दिया जाता है। पुरुष और नारी दोनों ही इस भिन्न-भिन्न सामाजिक प्रत्याशाओं के अनुरूप अपने व्यवहारों या आचरणों को ढालने का प्रयत्न करते हैं। इसी के फल-स्वरूप उनके व्यक्तित्व में भी कुछ आधारभूत अन्तर हो जाता है।

अन्त में आर्थिक आधार के द्वारा भी स्थिति का निर्धारण होता है। आर्थिक आधार की दृष्टि से समाज मोटे तौर पर दो बड़े वर्गों में विभाजित किया जाता है। वे वर्ग हैं—निर्धन तथा धनी। इन दोनों वर्गों के सदस्यों की सामाजिक स्थितियाँ और कार्य ही अलग-अलग नहीं होते हैं, वरन् ये अपनी अपनी अलग "दुनिया" का भी निर्माण करते हैं; और प्रत्येक की अपनी दुनिया अपने सदस्यों के व्यक्तित्वों के विकास की प्रक्रिया को एक विशेष दिशा प्रदान करती है। श्री कार्ल मार्क्स (Karl Marx) के अनुसार, धनी या पूँजीपति-वर्ग के सदस्यों के व्यक्तित्व में जो सामान्य विशेषताएँ देखने को मिलती हैं, वे हैं—सचय की प्रवृत्ति; दूसरों के दुःख-दर्द के प्रति उदासीनता; आलस्य; आत्मसुख और भोगविलास के प्रति झुकाव; प्रभुत्व की भावना; तथा गरीबों का खून चूसने या उनका शोषण करने की प्रवृत्ति। इसके विपरीत, निर्धन या श्रमिक-वर्ग के सदस्यों के व्यक्तित्व की सामान्य विशेषतायें ये हैं—कठोर परिश्रम करने की आदत, विनय; सहनशीलता, परार्थवादिता; दुःख-मुसीबत को झेलने की शक्ति तथा भाग्यवादिता। सर्वश्री डेविस तथा हैविगहर्स्ट (Davis and Havinghurst) २०० माताओं का अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि निम्न वर्ग की माताओं की अपेक्षा मध्यम वर्ग की माताओं के व्यक्तित्व में दूध पिलाने के नियमों, सफाई की आदतों, उत्तरदायित्व-निर्वाह, और उचित व्यवहार के सम्बन्ध में अधिक सुस्पष्ट गुणों का समावेश होता है।[17] वास्तव में प्रत्येक आर्थिक वर्ग के बालक से उस वर्ग के मूल्यों व आदर्शों के अनुरूप एक निश्चित व्यवहार की आशा की जाती है। इस प्रत्याशा के अनुसार निर्धारित स्थिति तथा कार्य के आधार पर प्रत्येक वर्ग के बालकों में निश्चित और विशेष व्यक्तित्व का विकास होता है।

समाज में स्थिति तथा कार्य जितना ही स्पष्ट होगा, उतना ही निश्चित व्यक्तित्व का विकास भी होगा, क्योंकि व्यक्ति को अधिक तत्परता के साथ अपनी भूमिका अदा करने या कार्य करने में सरलता होगी। पर, आधुनिक परिवर्तनशील समाज में चूँकि ऐसा नहीं होता, इस कारण व्यक्तित्व-विघटन की समस्या भी आज गम्भीर है। उदाहरण के लिये, आज की भारतीय पत्नी यह निश्चयपूर्वक नहीं जानती कि उससे अपने पद से सम्बन्धित वास्तविक कार्य क्या हैं? परिस्थिति यह है कि परिवार और सास-ससुर चाहते हैं कि वह लड़की एक आदर्श गृहिणी बने; बच्चों के हितों का तकाजा है कि वह एक आदर्श माँ बने, समाज की माँग है कि वह एक आदर्श नारी बन कर सामाजिक प्रगति में हाथ बँटाये; और पति चाहता है कि पत्नी एक रोचक जीवन-संगिनि की भूमिका निभाये। इसमें से कुछ कार्य या भूमिकाएँ ऐसी हैं जो परस्पर-विरोधी हैं—जैसे, यदि स्त्री समाज की माँग के अनुसार घर से बाहर

निकलकर सामाजिक कार्यों में भाग लेती, और सामाजिक प्रगति में हाथ बंटाती है तो वह घर पर रहकर न तो सास-ससुर की सेवा कर सकती है, और न ही आदर्श माँ की भूमिका निभा सकती है। अतः ऐसी दशा में व्यक्तित्व का विकास किस दिशा में होगा या व्यक्तित्व-विघटन की स्थिति उत्पन्न होगी या नहीं, इस विषय में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

REFERENCES

1. "Tebeodore M.Newcomb, op. cit., pp. 339-344.
2. By and large, however, most of us are rather predictable, and we tend to become more so with increasing age. Personality refers particularly to this predictable aspect of our behaviour or more exactly, perhaps, to that which determines the predictable aspects of our behaviour."—*Ibid.*, p. 340.
3. *Ibid.*, p. 341.
4. *Ibid.*, p 343.
5. "The organization of personality cannot be entirely accounted for, however, upon the basis of acquired attitudes. he same organism, after all, is involved in all of the individual's behaviour." *Ibid.*, p. 343.
6. *Ibid.*, pp. 343-344.
7. *Ibid.*, p. 344.
8. G.W. Allport, Personality : A Psychological Interpretation, (Henry Holt and Co., New York), 1937.
9. "Personality is a term used in several senses, both popularly and psychologically, the most comprehensive and satisfactory being integrated and dynamic organization of the physical, mental and social qualities of the individual as that manifests itself to other people in the give and take of social life."—*Drever*, Dictionary of Psychology.
10. "Personality may be defined as the most characteristic intergration of an individual's structure, modes of behaviour, interests, attitudes, capacities, abilities and aptitudes."—*N.L. Munn*, Psychology, (George G. Harrap and Co., London), 1953, p. 569.
11. "Personality is the dynamic organization within the individual of those psycho-phys cal systems which determines his unique ajustment of his environment."—*G.W. Allport*, op. cit., p. 18.
12. "For our purposes we may define personality a more or less patterned body of habits, traits, attitudes, and ideas of an individual as these are organized externally into roles and statuses, and as they relate internally to motivation, goals, and various aspects of selfhood."—*Kimball Young*, 'Handbook of Social Psychology' (Routledge and Kegan Paul Ltd., London). 1957, p. 58

13. "Personality may be defined as the more or less organised body of ideas, attitudes, traits, values and responses (habits) which an individual has built into roles and statuses for dealing with others and with himself." Kimball Young, Personality and Problems of Adjustment, (Routledge and Kegan Paul, London), 1952, p. 5.
14. "The term "personality" has come into scientific usage to designate the product of socialization as of any given moment with any given individual. It refers to the "whole" of what the individual has acquired through socialization, and it stresses the fact that this whole is always in some respects and in our own society in many and major respects unique."—*La Piere and Farnsworth,* 'Social Psychology, (McGraw-Hill Book Co., New York), 1949, p. 184.
15. Kimball Young, A Handbook of Social Psychology, 1957, p. 58.
16. "Every man is in certain respects (a) like all other men, (b) like some other men, (c) like no other man."—*Kluckhon, Murray and Schneider*, Personality in Nature, Society and Culture, 1953, p. 53.
17. "The intelligent person uses past experience effectively, is able to concentrate and keep his attention focussed for longer periods of time, adjusts in a new and unaccustomed situation rapidly and with less, confusion and with fewer false moves, shows variability and versatility of response, is able to see distant relationships, can carry on abstract thinking, has a greater capacity of inhibition or delay and is capable of exercising self-criticism."—*Husband.*
18. "The process of identification is one of taking over into his own thought and actions the thought and actions of another."—*Kimball Young*, Personality and Problems of Adjustment, (Routledge and Kegan Paul Ltd... London), 1952 p. 112.
19. "Identification may be defined as the taking over of the acts, tones of voice, gestures or other qualities of another person and making them, temporarily or permanently, one's own."—*Kimball Young.*
20. "Identification is basic to sympathy and cooperation. Its feeling-emotional foundation is that of pleasure and love. But the ability to place oneself in another's position depends upon learned reactions."—*Kimball Young*, op. cit., p. 112.
21. *Ibid.*, p. 112.
22. *Ibid.*, p. 113.
23. *Ibid.*, p. 113.
24. "The term compensation is used to describe just such adoption of substitute function or role whcih provides or tends to provide some tension reducing satisfaction."—*Kimball Young, Ibid.*, p. 115.
25. *Ibid.*, pp. 116-117.

26. "We all seek to justify our behaviour. Most of the "reasons" we give ourselves and others are not the genuine causes of our conduct but are the excuses which we imagine will be acceptable to others and, incidentally, to ourselves. The real or genuine reasons are often hidden from us. These "good" and socially approved reasons are rationalization."—*Kimball Young, Ibid.*, p. 117.
27. "The self is the individual as known to the individual."—*Murphy*, Social Psychology, p. 172.
28. "We may define the self as the individual as he is viewed or known to himself within the context of interaction"—*Kimball Young*, op. cit., p. 153.
29. "An individual self is his consciousness of the acts and thoughts as they related to others. It is really a phase of internalization, but it has its origin in overt interaction."—*Kimball Young.*
30. "The self might be regarded as the internalized object representing one's own personality. Thus it includes one's own conception of one's abilities and characteristics, an evaluation of these aspects of one's personality, and certain feeling of pride, shame, and self-respect any one of which can be activated under certain circumstances."—*Johnson*, Sociology, p. 116.
31. Kimball Young, op. cit... p. 154.
32. "Reduced to its simplest form, a social act is an act of a person which is not completed without the intercession, qualification or modification in its course by the act of another person or persons."—*Ibid.*, p. 154.
33. "The rise of the self depends upon the capacity of the individual to be object to himself."—*Ibid.*, p. 157.
34. "The assumption of a role, the duplication of the "other"......., this reacting to himself as an object similar to another, has its roots in the overt interaction of mother and child, or of children playing together, or in other rudimentary forms of social intercourse."—*Ibid.*, p. 159.
35. *Ibid.*, pp. 160-161.
36. "Language and our thought-grooves are inextricably inter- woven are, in a sense, one and the same." Edward Sapir, Language, (New York), 1940, p. 232.
37. "The self arises in conduct, when the individual becomes a social object in experience to himself. This takes place when the individual assumes the attitude or uses the gesture which another individual would use and responds to it himself or tends to so respond......The child gradually becomes a social being in his own experience, and he acts towards himself in a manner analogous to

that in which he acts, towards others."—*G.H. Mead*, "A Behavioristic Account of the Significant Symbol."—Journal of Philosophy, Vol. 19, 1922, p. 160

38 "The 'me', Mead says, really consists of the "roles and attitudes taken up by the individual from parents, siblings, and playmates, later from teachers, preachers, and police man and even from imaginary characters, which are worked over into one's own action and thought."—*Kimball Young*, op. cit., p. 164.

39 *Ibid.*, pp. 164-165.

40 "The 'I' is the response of the organism to the attitude of others The 'me' is the organized set of attitudes of others which one himself assumes."—*George H. Mead*, Mind, Self and Society, Chicago, 1934, p. 172

41 *Ibid.*, p. 178

42 "Again how parents react to curiosity about sex, what they say about relatives, about neighbours and so on, all have possible effects."—*Munn*.

43 " .. changes in the basic economy of a society with the attendant modifications in the social organization can bring about alteration in the basic personality structure."—*Kimball Young*, Handbook of Social Psychology, (Routledge and Kegan Paul Ltd., London) Revised edition, 1957, p 154

44 R Linton, The Cultural Background of Personality, (Appleton Century, New York), 1945

45 Summer and Keller, The Science of Society, Vol. I, 1927.

46 A.A. Golden Weiser, Anthropology, (F.S. Crofts and Co., New York), 1946.

47 A. Davis and R.J. Havinghurst, Social Class and Colour Differences in Child Rearing, 1952.

अध्याय 14

संस्कृति और व्यक्तित्व

[CULTURE AND PERSONALITY]

"संस्कृति और व्यक्तित्व का पारस्परिक सम्बन्ध सदैव ही लेन-देन का रहा है, और आगे भी सदा ही लेन-देन का रहेगा।" —Ruth Benedict.

पिछले अध्याय से यह स्पष्ट है कि वंशानुसंक्रमण द्वारा प्राप्त पूंजी से ही व्यक्तित्व का निर्माण नही हो सकता। समाज और संस्कृति को भी अपना महत्त्वपूर्ण कार्य या सहायता प्रदान करनी होती है। वास्तविकता तो यह है कि व्यक्तित्व के किसी भी विवेचन में सावयव (organism), समाज और संस्कृति में से किसी भी कारक को पृथक् रूप मे समझना अवैज्ञानिक ही होगा। व्यक्तित्व की अवधारणा मे ये तीनों कारक आपस में इस तरह घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं कि इनको अलग नही किया जा सकता। वस्तुत व्यक्तित्व इन्ही तीनो कारको के पारस्परिक सम्बन्ध तथा अन्त-क्रियाओं का फल होता है। सावयव (organism) व्यक्ति को निश्चित प्राणीशास्त्रीय संरचना प्रदान करता है। समाज इस संरचना और सावयव से सम्बन्धित अन्य कच्चे माल को एक सुस्थिर रूप देता है। पर, स्वयं समाज की प्रकृति संस्कृति के आधार पर ही बनती है। किसी भी समाज के सदस्य और समितियाँ वही कार्य करती हैं जो उनकी संस्कृति ने उनके लिये निश्चित किये हैं। संस्कृति ही मनुष्य के व्यक्तित्व को दिशा निर्धारित करती है। पर, यह 'संस्कृति' क्या है ? संस्कृति और व्यक्तित्व के सहसम्बन्ध को समझने के लिये पहले इसी प्रश्न के वैज्ञानिक उत्तर को समझ लेना होगा।

संस्कृति क्या है ?

(What is Culture)

संस्कृति क्या है ? इस सम्बन्ध मे असंख्य मत प्रचलित हैं। साहित्यकारों के लिये संस्कृति जीवन का प्रकाश और उसकी कोमलता है। शाब्दिक अर्थ में, संस्कृति शब्द 'संस्कार' का रूपान्तर है। किसी भी हिन्दू को अपने जीवन को परिमार्जित करने के लिये अनेक प्रकार के संस्कार करने पड़ते हैं, तब कहीं जाकर वह 'संस्कृत' (परिमार्जित या cultured) कहा जाता है। इस प्रकार जन्म से लेकर मृत्यु तक हिन्दू को शुद्धि (refinement) के लिये आवश्यक कृत्यों या संस्कारों की योजना को 'संस्कृति' मान लिया जाता है। इस रूप मे हम कह सकते हैं कि संस्कृति व्यक्ति के जीवन को परिशुद्ध करने या व्यक्तित्व को परिष्कृत करने का एक साधन है। इस अर्थ मे भी संस्कृति और व्यक्तित्व का आन्तरिक सम्बन्ध स्पष्ट है।

परन्तु, मानवशास्त्री (anthropologists) 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ में करते हैं। उनके लिये संस्कृति सीखे हुए व्यवहार (learned behaviour का वह समग्रता है, जिसमे कि बच्चे का व्यक्तित्व पलता और पनपता है। प्रारम्भिक मानवशास्त्रियों में सर्वप्रथम श्री टायलर (Tylor) ने 'संस्कृति' शब्द को परिभाषित किया। आपके अनुसार, "संस्कृति वह जटिल समग्रता (complex whole) है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा और ऐसी ही अन्य क्षमताओं और

आदतों का समावेश रहता है, जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के नाते प्राप्त करता है।"[1] इस परिभाषा में इस बात पर बल दिया गया है कि संस्कृति मानव की सामाजिक विरासत (social heritage) है, और व्यक्ति के व्यक्तित्व को समाज का 'उपहार', जो उसे समाज के सदस्य के नाते प्राप्त होता है। और भी स्पष्ट रूप में, श्री टायलर के अनुसार, संस्कृति से हमारा तात्पर्य उस 'सब-कुछ' से है जिसे मानव अपने सामाजिक जीवन में सीखता है या समाज से पाता है। संस्कृति प्रकृति की देन नहीं, मनुष्य स्वयं उसका निर्माता है, और वह, उसी रूप मे, समस्त प्राणियों मे सर्वश्रेष्ठ है। पर, रोचक बात तो यह है कि स्वय संस्कृति का निर्माता होते हुए भी मनुष्य व उसका व्यक्तित्व मात्र उसी संस्कृति के द्वारा नियन्त्रित एवं निर्देशित होता है।

श्री मैलिनोवस्की (Malinovski) के शब्दों मे, "संस्कृति प्राप्त आवश्यकताओं की एक व्यवस्था तथा उद्देश्यमूलक क्रियाओं की एक संगठित व्यवस्था है।"[2] आपके मतानुसार, संस्कृति के अन्तर्गत जीवन के ऐसे समग्र तरीके या ढंग (total ways of life) आ जाते हैं, जो व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और उसे (व्यक्ति को) प्रकृति के बन्धनों से मुक्त करते हैं। इस प्रकार श्री मैलिनोवस्की के अनुसार, संस्कृति मानव का वह साधन है जिसके द्वारा या जिसके माध्यम से वह अपने व्यक्तित्व के विकास के साधनों को प्राप्त करता, अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करता, तथा पर्यावरण से अनुकूलन करने में सफल होता है।

श्री हॉबेल (Hoebel) के मतानुसार, उन सभी व्यवहार-प्रतिमानों (behaviour patterns) की समग्रता को संस्कृति कहते हैं, जिन्हें मानव अपने सामाजिक जीवन में सीखता है। आपके शब्दों में, "संस्कृति सम्बन्धित सीखे हुए ऐसे व्यवहार-प्रतिमानों का सम्पूर्ण योग है जो किसी भी समाज के सदस्यों की विशेषताओं की ओर इंगित करता है, और इसीलिये प्राणीशास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं होता है।"[3] श्री हॉबेल के मतानुसार, संस्कृति सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में मानव का आविष्कार है। इसी कारण यह विचारों के आदान-प्रदान तथा शिक्षा के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होता रहता है, और इस प्रकार इसकी निरन्तरता बनी रहती है। अतः श्री हॉबेल के अनुसार, संस्कृति में किसी सामाजिक समूह-विशेष की जीवन-विधि (life way) निहित होती है। इसीलिए प्रत्येक संस्कृति का उस समाज के सदस्यों के व्यवहार-प्रतिमानों (behaviour patterns), अर्थात् व्यक्तित्व पर एक विशेष प्रकार का प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि संस्कृति के विभिन्न प्रकार, विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों को जन्म देते हैं।

संस्कृति की प्रकृति के सम्बन्ध में, उपर्युक्त विवेचना के आधार पर, अब हम विश्लेषण कर सकते हैं कि व्यक्तित्व के विकास पर संस्कृति का क्या प्रभाव पड़ता है।

व्यक्तित्व संस्कृति के प्रातीतिक पक्ष के रूप में
(Personality as a Subjective Aspect of Culture)

श्री ब्राउन के अनुसार, "व्यक्तित्व संस्कृति का प्रातीतिक पक्ष (subjective aspect) है। एक अर्थ में, प्रत्येक संस्कृति का अपना अनूठा व्यक्तित्व होता है, यद्यपि यह एक ऐसा व्यक्तित्व होता है, जो समय के साथ-साथ परिवर्तित होता रहा है।"[4] श्री फारिस (Faris) ने भी व्यक्तित्व को संस्कृति का प्रातीतिक पक्ष ही माना है। इस कथन का तात्पर्य यही है कि हर संस्कृति की अपनी एक विशिष्टता होती है। इस

विशिष्टता का कारण यह है कि प्रत्येक समाज की भौगोलिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ अलग-अलग होती हैं।[4] संस्कृति पूर्णतया सामाजिक आविष्कारों का परिणाम होती है। आविष्कार करने की अपेक्षा मानव-आवश्यकताओं के कारण होती है। ये सामाजिक आवश्यकतायें प्रत्येक समाज में भिन्न-भिन्न होती हैं; इस कारण संस्कृति का रूप या स्वरूप भी प्रत्येक समाज में अलग-अलग होता है। इन सांस्कृतिक भिन्नताओं का परिणाम यह होता है कि एक समाज के सदस्यों के व्यवहारों की विशेषताएँ दूसरे समाज के सदस्यों के व्यवहारों से पृथक् होती हैं। और भी स्पष्ट रूप में, एक समाज की संस्कृति की विशेषताओं की छवि हमें उस समाज के सदस्यों के व्यवहार-प्रतिमानों में देखने को मिलती है। और समय के बदलने के साथ-साथ जब सांस्कृतिक व्यवस्था में परिवर्तन होता है तो उसी के अनुसार सदस्यों के व्यक्तित्व के सामान्य गुणों में भी परिवर्तन हो जाता है। कृषि-स्तर पर भारत की संस्कृति की जो विशेषतायें थीं, उनमें आज औद्योगिक स्तर पर अनेक परिवर्तन हो गये हैं। इसीलिये आज अध्यात्मवादी त्याग, तपस्या आदि गुणों से विभूषित प्राचीन भारतीय व्यक्तित्व में भी परिवर्तन हो गया है, और इस समय व्यक्तिवादी, भौतिकवादी, भोगी और आत्मसुखवादी गुणों का दर्शन इस देश के व्यक्तित्व में देखने को मिलता है। इसका कारण यह है कि एक निश्चित समय-विशेष में संस्कृति समाज के सदस्यों के सम्बन्धों को नियमित (regulate) करती है, और उन्हें एक विशिष्ट प्रकार का ज्ञान व अनुभव हस्तान्तरित करती है। साथ ही संस्कृति अनेकानेक प्रथाओं, परम्पराओं, जनरीतियों, धर्मों आदि के माध्यम से कुछ विशिष्ट व्यवहार, आदतें, आदर्श, मूल्य, मनोवृत्तियाँ, आदि को विकसित करने में सहायक होती हैं। इसका तात्पर्य यही है कि हमें यदि किसी समाज की संस्कृति की विशेषताओं का पता लगाना है तो हमें उस संस्कृति से सम्बन्धित लोगों के जीवन या व्यक्तित्व की सामान्य विशेषताओं का अध्ययन करना होगा। संस्कृति की विशेषतायें लोगों के व्यक्तित्व में झलकती हैं। इसीलिये व्यक्तित्व को संस्कृति का प्रातीतिक पक्ष कहा गया है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि मानव की संस्कृति में, श्री पिडिंगटन (Piddington) के अनुसार दो, प्रकार के तत्वों (phenomena) का समावेश होता है—1. भौतिक वस्तुएँ (material objects), जैसे उपकरण, औजार, बर्तन, कपड़े, मकान, मन्दिर, मूर्तियाँ, आदि; और 2. विश्वास, मूल्य, प्रथा, परम्परा, धर्म, आदर्श, विचार, आदि अभौतिक या अमूर्त अथवा प्रातीतिक तत्व।[5] व्यक्ति के व्यक्तित्व में प्रथम पक्ष, अर्थात् उपकरण, औजार, मकान, आदि का समावेश नहीं होता यद्यपि इनका प्रभाव व्यक्तित्व पर अवश्य ही पड़ता है। इसके विपरीत, व्यक्तित्व ज्ञान, विश्वास, मूल्य, प्रथा, धर्म, विचार, आदर्श आदि की अभिव्यक्ति होता है, अर्थात् व्यक्तित्व के अन्तर्गत संस्कृति के अमूर्त अथवा प्रातीतिक तत्वों (phenomena) के दर्शन होते हैं। इसीलिये व्यक्तित्व को संस्कृति का प्रातीतिक पक्ष कहा गया है।

वास्तविकता तो यह है कि व्यक्तित्व के विकास में महत्व रखने वाले सभी कारक—विशेषकर समाजीकरण की प्रक्रिया के विभिन्न साधन संस्कृति द्वारा प्रभावित होते हैं। इसीलिये हमें व्यक्तित्व में संस्कृति की ही झाँकी देखने को मिलती है। निम्नलिखित विवेचना से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाएगा—

जिस परिवार में बच्चा पैदा होता है और जहाँ उसे अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये सभी प्रारम्भिक पूँजी प्राप्त होती है, उसका स्वरूप समाज की संस्कृति के

अनुसार ही निश्चित होता है। यानी संस्कृति द्वारा निर्धारित परिवार का एक विशिष्ट स्वरूप बच्चे के व्यक्तित्व के विकास के आधारभूत स्तरों (stages) को प्रभावित करता है; और बच्चा अपने परिवार में जिन विचारों, भावनाओं, आदतों आदि को अर्जित करता या सीखता है, वे प्रायः आजीवन स्थायी रहती हैं। उदाहरणार्थ, वैष्णव-परिवार का बालक बचपन से ही घर में राधा-कृष्ण के चित्र व मूर्तियाँ देखता है; प्रायः प्रतिदिन वह किसी न किसी रूप में उनकी लीलाकथायें सुनता है; गले में कंठी पहनता है, उनके उत्सवों में सम्मिलित होता है; और स्तुतियाँ, भजन और गीत सुनता व गाता है, इत्यादि। इन सब की छाप उस परिवार में पलने वाले उस बच्चे के मस्तिष्क और चेतना पर सदा के लिये पड जाती है; और, उसके व्यक्तित्व, विचार और व्यवहार पर गहरा प्रभाव डालती है।

संस्कृति के भिन्न-भिन्न रूपों में परिवार का स्वरूप भी अलग-अलग होता है। भारत की खासी, गारो आदि की जनजातियों में मातृवंशीय परिवार पाये जाते हैं, जबकि खरिया, भील आदि जनजातियों में पितृवंशीय परिवार मिलते हैं। मातृवंशीय परिवारों में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों से कहीं ऊँची होती है। इस कारण उन्हें अपने व्यक्तित्व का विकास करने के अधिक अवसर प्राप्त होते हैं। वहाँ स्त्रियाँ धार्मिक कार्य करती हैं, शासन-प्रबन्ध उन्हीं के हाथों में होता है; और प्रत्येक क्षेत्र में वे पुरुषों से आगे रहती हैं। खासी लोग देवताओं को नहीं, देवियों को ही पूजते हैं। इसके विपरीत, पितृसत्तात्मक परिवारों में पुरुषों के व्यक्तित्व में प्रभुत्व, आत्म-गौरव, आत्म-विश्वास आदि की भावनाएँ स्त्रियों से कहीं अधिक होती हैं। यहाँ उन्हीं को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये कहीं अधिक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

संस्कृति द्वारा परिवार का आकार भी निश्चित होता है। किन्हीं संस्कृतियों में संयुक्त परिवारों का आधिक्य होता है, तो किन्हीं में एकाकी (single) परिवारों का। संयुक्त परिवार में पलने वाले बच्चे के व्यक्तित्व में एकाकी परिवार के बच्चों की तुलना में सहयोग, प्रेम, त्याग, सहनशीलता, आज्ञाकारिता, आदि गुण अधिक पाये जाते हैं।

सामाजिक स्थितियों तथा कार्यों का प्रभाव भी व्यक्तित्व के विकास पर बहुत अधिक पड़ता है। पर, इनका भी निर्धारण संस्कृति के आधार पर ही होता है। प्रो० मीड (Mead) ने समोआ (Samoa) संस्कृति का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उस समाज में बहुत छोटी आयु से ही बालकों को महत्वपूर्ण सामाजिक उत्तरदायित्व निभाने पड़ते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि लड़कों में अकाल-प्रौढता देखने को मिलती है; और इसे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उचित नहीं माना जाता है। श्री किड (Kidd) ने अफ्रीका की संस्कृति का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वहाँ बच्चों में नम्रता, विनय और समाज-सेवा की भावना अधिक देखने को मिलती है। ये सभी गुण वे अभिभावकों के आदर्श व्यवहार से सीखते हैं।[6]

विवाह का भी प्रभाव व्यक्तित्व पर पड़ता है; पर, इस विवाह की प्रकृति का निर्धारण भी संस्कृति के द्वारा ही होता है। विवाह की यह प्रकृति विशेष प्रकार की मनोवृत्तियों, विचारों तथा आदतों को विकसित करती है। उदाहरणार्थ, भारत के खरिया, ओरांव, खासी, कादर आदि में ममेरे-फुफेरे भाई-बहनों का आपसी विवाह (cross-cousin marriage) अच्छा माना जाता है। मध्य भारत की कुछ जातियों में इस प्रकार के विवाह को इतना महत्व देने की प्रवृत्ति पायी जाती है कि

यदि कोई पक्ष इस प्रकार के विवाह के लिये राजी नहीं होता तो उसे दूसरे पक्ष को हर्जाना देना पड़ता है। इसके विपरीत, जिन संस्कृतियों में बहुपति-विवाह (polyandry) होते हैं, वहाँ यौन-सम्बन्ध के विषय में पुरुषों को अर्थात् पतियों को अत्यधिक सहनशीलता विकसित करनी पड़ती है, और पत्नी पर एकाधिकार की लोकप्रिय प्रवृत्ति को दबा देना पड़ता है। इसी प्रकार बच्चों के पितृत्व के सम्बन्ध में भी सांस्कृतिक नियमों को ही मानना पड़ता है। श्री मीक (Meak) ने उत्तरी नाइजीरिया (Nigeria) में रहने वाले ग्वारी (Gwari) लोगों में पाये जाने वाले बहुपति-विवाह के सम्बन्ध में लिखा है कि वहाँ स्त्री अपनी इच्छानुसार कभी एक पति के पास तो कभी दूसरे पति के पास रहती है, और किसी भी पति को यह अधिकार नहीं होता है कि वह पत्नी पर विशेषाधिकार की माँग करे।[7] भारत की टोडा जनजाति में भी बहुपति-विवाह का प्रचलन है, और वहाँ बच्चे का पिता कहलाने के लिए तीर-धनुष के द्वारा एक संस्कार करना पड़ता है। जो यह संस्कार कर लेता है, वही पिता माना जाता है—चाहे प्राणीशास्त्रीय पिता कोई दूसरा ही क्यों न हो। इसके विपरीत, हिन्दू विवाह को एक धार्मिक संस्कार मानते हैं, इसलिए हिन्दुओं में विवाह एक पवित्र बन्धन माना जाता है, और विवाह-विच्छेद की बात सोची भी नहीं जाती। हिन्दुओं के एकविवाह तथा पतिधर्म के आदर्श से स्त्रियों में पवित्रता, सतीत्व, पतिसेवा, धर्मपरायणता आदि गुण विकसित होते हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि व्यक्तित्व संस्कृति का प्रातीतिक पक्ष है।

व्यक्तित्व और संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रकृति
(Nature of Relationship between Culture and Personality)

संस्कृति और व्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में श्री जान गिलिन (John Gillin) ने तीन मुख्य बातों[8] का उल्लेख किया है—(1) जन्म के बाद मानव-शिशु एक मानव-निर्मित पर्यावरण (man-made environment) में प्रवेश करता और उससे घिर जाता है। इस पर्यावरण के अन्तर्गत औजार, मकान, फर्नीचर आदि मानव-निर्मित भौतिक वस्तुएँ ही नहीं, अपितु प्रथा, धर्म, भाषा, विचार, ज्ञान आदि अभौतिक वस्तुएँ भी आती हैं। इनकी संख्या, प्रयोग और प्रकृति उसी समाज की संस्कृति द्वारा निर्धारित होती हैं, और इनका प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पड़ता ही है, क्योंकि व्यक्ति उन्हीं से घिरा होता है। (2) संस्कृति व्यक्ति को एक निश्चित ढंग से प्रतिक्रिया करने को प्रेरित करती है। यह सच है कि व्यक्ति कुछ व्यवहारों को प्रयत्न तथा भूल (trial and error) की विधि से सीखता है, पर अधिकतर सामाजिक परिस्थितियों में व्यवहार करने के समाज द्वारा मान्य या संस्थागत कुछ तरीके (institutionalized modes of behaviour) होते हैं; और इनका भी निर्धारण संस्कृति ही करती है। व्यक्ति को अपनी आधारभूत सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये, संस्कृति द्वारा निर्धारित इन तरीकों को अपनाना ही पड़ता है; कालान्तर में उसके व्यक्तित्व के निश्चित लक्षण बन जाते हैं। इन्हीं संस्थागत तरीकों के आधार पर बच्चे के प्रति वयस्क लोग कुछ निश्चित प्रतिक्रिया करते हैं, जैसे छोटे बच्चे की उँगली उसके मुँह से निकाल ली जाती है; शौच के लिये बच्चे को ठीक स्थान पर बैठाया जाता है; सोचने के लिये बायें हाथ के इस्तेमाल की बात बताई जाती है, और खाने के लिये दाहिने हाथ को प्रयोग में

खाना सिखाया जाता है; काँटे, छुरी, चम्मच, जैसे खाने-पीने के बर्तनों को बच्चे के हाथ मे पकड़ा कर उनका सही इस्तेमाल बताया जाता है; और भाषा का उचित प्रयोग समझाया जाता है, इत्यादि। संस्कृति इसी प्रकार कितने व्यवहार बच्चे को सिखा देती है, और उन व्यवहारो के सम्बन्ध मे व्यक्ति को कुछ सोचना नही पड़ता, क्योंकि वे अनुभवसिद्ध होते हैं। साथ ही, चूँकि इन सब व्यवहारों के बीच वह पैदा होता और पलता है और चूँकि इन सब व्यवहारो को समाज के अधिकांश लोग मानते हैं, इस कारण इनकी अवहेलना भी व्यक्ति नही कर पाता है। वास्तव में संस्कृति मे सामाजिक गुण निहित होता है, और वह इस अर्थ में संस्कृति किसी व्यक्ति-विशेष या दो-चार व्यक्तियों की धरोहर नहीं होती। उसका विस्तार व्यापक और सामाजिक होता है; अर्थात् सांस्कृतिक व्यवहार समाज के अधिकतर सदस्यों का सीखा हुआ व्यवहार-प्रतिमान होता है, और इसी लिये संस्कृति एक समाज की सम्पूर्ण सामाजिक जीवन-विधि (life way) का प्रतिनिधित्व करती है। दूसरे शब्दों मे, संस्कृति के अन्तर्गत जिन प्रथाओं, परम्पराओं, जनरीतियो, रूढ़ियो, धर्म, भाषा, कला आदि का समावेश होता है, वे व्यक्तिगत जीवन-विधि को नहीं, बल्कि सामाजिक या सामूहिक जीवन-विधि को व्यक्त करती हैं। इसीलिये इनका एक बाध्यतामूलक प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है, और उसे संस्कृति द्वारा निर्धारित व्यवहार के तरीकों को अपनाना पड़ता है। (३) अन्त में, संस्कृति पुरस्कार के द्वारा, समाज या संस्कृति द्वारा निर्धारित उचित व्यवहारों या क्रियाओं को सीखने की प्रक्रिया में और दंड या भर्त्सना द्वारा, बुरी आदतों व अनुचित व्यवहारों को छोड़ने में तेजी लाती है।

श्री लिंटन (Linton) के मतानुसार, व्यक्तित्व के विकास में संस्कृति के प्रभाव दो प्रकार के होते हैं—एक—वे प्रभाव, जो बच्चों पर वयस्कों के पड़ते हैं। प्रत्येक संस्कृति यह निश्चित करती है कि बच्चो के प्रति वयस्क किस प्रकार का व्यवहार करें या किस ढंग की प्रतिक्रिया करेंगे। कुछ संस्कृतियो में माँ बच्चे की देख-भाल मे अधिक समय देती है, तो कुछ संस्कृतियों मे बचपन से ही बच्चों के प्रति माँ उदासीन रहती है। इन प्रतिक्रियाओ का प्रभाव बच्चे के व्यक्तित्व पर पड़ता ही है। दो—वे प्रभाव जो स्वयं व्यक्ति द्वारा संस्कृति के सामान्य व्यवहार-प्रतिमानो को अपनाने के फलस्वरूप उस पर पड़ते हैं। यह सच है कि ये दोनों प्रकार के प्रभाव एक-दूसरे से अलग नहीं हैं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं। इसका तात्पर्य यह है कि बच्चो के प्रति वयस्कों की प्रतिक्रिया इस बात पर निर्भर है कि वयस्कों के स्वयं के प्रति किसी समय उन प्रतिक्रियाओं को व्यवहार मे लाया गया था या नहीं। उदाहरणार्थ, हम अपने बच्चो को स्कूल इसलिये भेजते हैं कि हम स्वयं अपने माता-पिताओं द्वारा स्कूल भेजे गये थे। बच्चों के प्रति वयस्कों की प्रतिक्रिया या व्यवहार किस प्रकार का होगा, इसका निर्धारण संस्कृति के द्वारा ही होता है। भारत के भीलों के समाज की भाँति ऐसे अनेक समाज हैं, जिनमें स्त्रियाँ चलते हुए या खड़े होकर बच्चो को स्तन-पान कराती हैं, जिससे बच्चों को पूरा सन्तोष नहीं मिलता। ये बच्चे अपनी माँ के स्तन से लगे रहने के लिये हाथ-पैर चलाते हैं। अनेक मानवशास्त्रियों (anthropologists) का विचार है कि यह बच्चे हिंसक और झगड़ालू प्रकृति के निकलते हैं। स्तन पीने के मामले मे जिस प्रकार उन्हें जबर्दस्ती बरतनी पड़ती है, उसी प्रकार अपनी अन्य आवश्यकताओं व इच्छाओं की पूर्ति के लिये भी वे लड़ते-झगड़ते या जोर-जबर्दस्ती करते हैं। कुछ संस्कृतियों में बच्चों की हर समय देखभाल नहीं की जाती, बल्कि उनके रोने-चिल्लाने के कुछ देर बाद उनकी ओर ध्यान दिया जाता है; वह भी माँ के द्वारा नहीं, अन्य किसी वयस्क के द्वारा।

माँ की इस अवहेलना या देर से ध्यान देने का प्रभाव बच्चों के व्यक्तित्व पर पड़ता है, और वे चिन्तित, सन्देहशील और अविश्वासी बन जाते हैं। इसी प्रकार जिन समाजों में बच्चों को बण्डल बना कर पीठ पर लेकर चलने की प्रथा है, वहाँ बच्चों को हाथ-पैर चलाने की स्वतन्त्रता न मिलने के कारण उनमें एक दबी हुई हिंसात्मक प्रवृत्ति का विकास हो जाता है।

श्री लिन्टन (Linton) के अनुसार, संस्कृति का प्रभाव केवल बचपन में ही नहीं, बल्कि उसके बाद भी, जीवन भर पड़ता रहता है। आपने लिखा है—"यह सच है कि किसी समाज की संस्कृति अपने सदस्यों के व्यक्तित्वों के गहरे स्तर को बच्चे के पालन-पोषण की विशिष्ट प्रविधियों के माध्यम से निश्चित करती है, फिर भी संस्कृति का प्रभाव यहीं तक आकर समाप्त नहीं हो जाता। संस्कृति व्यक्तियों की प्रतिक्रियाओं को आदर्श नमूनों (models) में ढालते हुए, उनके व्यक्तित्वों को शेष आयु भी ढालती रहती है। यह बाद की प्रक्रिया जिन्दगी भर चलती रहती है।"[9]

प्रो० रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) ने भी व्यक्तित्व पर पड़ने वाले संस्कृति के प्रभावों के महत्व को स्वीकार करते हुए लिखा है—"बच्चा जिन प्रथाओं के बीच पैदा होता है, वे आरम्भ में ही उसके अनुभवों तथा व्यवहारों को ढालती है। बाली, बच्चा जो बात सीखते ही अपनी संस्कृति का एक छोटा प्राणी बन जाता है। फिर, जब वह बड़ा होता है और संस्कृति के कार्यों में हिस्सा लेने लायक बनता है, तो संस्कृति की आदतें उसकी आदतें, संस्कृति के विश्वास उसके विश्वास और संस्कृति की असम्भावनायें उसकी अपनी असम्भावनायें (impossibilities) बन जाती है। .... व्यक्ति को संस्कृति उसे वह कच्चा माल प्रदान करती है, जिससे वह अपने जीवन का निर्माण करता है। यदि यह कच्चा माल अपर्याप्त है तो व्यक्ति का विकास पूर्ण रूप से नहीं हो पाता; और, यदि यह पर्याप्त है तो व्यक्ति को उसका सदुपयोग करने का अवसर मिल जाता है।"[10] अतः स्पष्ट है कि व्यक्तित्व और संस्कृति का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। संस्कृति ही व्यक्तित्व को एक निश्चित स्वरूप व दिशा प्रदान करती है। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी।

व्यक्तित्व के कुछ विशिष्ट गुण तथा संस्कृति
(Some Particular Traits of Personality and Culture)

संस्कृति का प्रभाव व्यक्तित्व के विकास पर कितना अधिक पड़ता है, इसे और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिये हम व्यक्तित्व के कुछ विशिष्ट गुणों के विकास पर पड़ने वाले संस्कृति के प्रभावों की विवेचना कर सकते हैं। ये प्रभाव इस प्रकार हैं—

1. कष्ट सहने की क्षमता (Toleration of Sufferings)—संस्कृति ही वास्तव में व्यक्तित्व को विशिष्ट रूप और रंग, अर्थ और तत्व प्रदान करती है। इसे प्रमाणित करने के लिये अनेक अध्ययन किये गये हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद कोलम्बिया-विश्वविद्यालय के तत्वावधान में, प्रो० वुडवर्थ (Woodworth) ने विभिन्न प्रजातियों के लोगों की कष्ट सहने की क्षमता का पता लगाने का प्रयत्न किया। इस परीक्षण से सिद्ध हुआ कि एक सामान्य अमेरिकी की तुलना में एक रेड-इण्डियन में कष्ट सहने की क्षमता कहीं अधिक होती है। इसके कारणों की खोज करने पर यह ज्ञात हुआ कि इसका कोई प्राणीशास्त्रीय या प्रजातीय कारण नहीं है।

वास्तव में रेड-इण्डियनों की संस्कृति में अपनी कुछ विशेषतायें ही ऐसी हैं कि लोगों में कष्ट सहने की क्षमता का अधिक होना स्वाभाविक है। बचपन से मृत्यु तक रेड-इण्डियनों को कष्ट सहन करने की शिक्षा दी जाती है, और उसका अभ्यास कराया जाता है यहाँ तक कि हर रेड-इण्डियन अपनी खोपड़ी को अपने समुदाय के आदर्शों के अनुरूप रूप देने के लिये कठोर कष्ट सहना सहर्ष स्वीकार करता है। वह बचपन में ही युवा-संगठन में वीर-गाथाएँ सुन-सुनकर अपने को कठोर बनाता है। यौवनावस्था की रस्में उसे कष्ट-सहन का और भी अभ्यास करा देती हैं। ऐसे सांस्कृतिक पर्यावरण में पलने वाले रेड-इण्डियनों में कष्ट-सहन की क्षमता का अधिक होना, स्वाभाविक ही है। अमेरिकी संस्कृति इससे पर्याप्त भिन्न है। वहाँ बचपन से ही बच्चों को कष्टकर परिस्थितियों से दूर रक्खा जाता है। कष्ट सहन करने का अभ्यास करवाना तो दूर रहा, उन्हें दर्द दूर करने वाली दवाइयाँ दी जाती हैं। ऐसी अवस्था में अमेरिकी लोगों में कष्ट सहने की क्षमता कम होनी ही चाहिये।

2. सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना (Sense of Social Responsibility)—बच्चों में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का कम या अधिक होना भी संस्कृति पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, मैडागास्कर के टनाला लोगों में सबसे बड़े लड़के के जन्म के बाद से ही उसकी देखभाल इस प्रकार की जाती है, और थोड़ा बड़ा होने पर उसे इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता है कि उसमें अगुआ बनने और जिम्मेदारी लेने की इच्छा विकसित हो और वह आगे चलकर सामाजिक उत्तरदायित्व को समझते हुए नेता बन सके। इसके विपरीत, परिवार के दूसरे छोटे बच्चों को नियमपूर्वक अनुशासन में रक्खा जाता है और उनकी नेता बनने की इच्छा दबाई जाती है। डॉ० मजूमदार (Majumdar) का कथन है कि जिन संस्कृतियों में संयुक्त परिवारों का आधिक्य होता है, उनके परिवारों में पलने वाले बच्चों में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना, छोटे परिवारों के सदस्यों के यहाँ पलने वाले बच्चों से अधिक होती है। प्रो० मीड ने समोआ-संस्कृति का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वहाँ आरम्भ से ही बच्चों को इस प्रकार से प्रशिक्षित किया जाता है कि वे समाज की महत्त्वपूर्ण भूमिकायें अदा कर सकने में समर्थ हो सकते हैं। इसके लिये छोटी आयु में ही बालक के कन्धों पर उत्तरदायित्व का बोझ लाद दिया जाता है। इसके विपरीत, सुसभ्य समाजों में अकाल प्रौढत्व को एक दुर्गुण माना जाता है, और यदि कोई बच्चा अपनी आयु के हिसाब से अधिक बढ़कर बोलता या बड़ों की समानता करने का प्रयत्न करता है तो उसे रोका जाता है। माता-पिता उसके इस अकाल विकास को लज्जा और अपमान की बात समझते हैं।

3. यौन-नैतिकता (Sex Morality)—श्री मुरडॉक (Murdock) का कथन है कि यौन-व्यवहार या यौन-नैतिकता संस्कृति द्वारा प्रभावित होती है। न्यूगिनी के केराकी ऐसे व्यक्ति को असामान्य (abnormal) समझते हैं जिसने विवाह के पूर्व समलिंगी (homosexual) यौन-सम्बन्ध स्थापित नहीं किया है। भारतीय उदाहरण द्वारा भी इसे समझाया जा सकता है। मुड़िया गोंडों में प्रचलित 'गोटुल' अर्थात् युवागृह (youth organization or dormitorie) में बड़ी उम्र की लड़कियाँ अपने से छोटे उम्र के नवयुवकों को यौन-सम्बन्धी व्यावहारिक प्रशिक्षण (practical training) देती हैं, और उनके इस व्यवहार को किसी भी रूप में अनुचित नहीं माना जाता। मध्य भारत की जनजातियों में पूर्व-वैवाहिक यौन-सम्बन्ध (pre-marital sex relations) स्थापित करने की स्वतन्त्रता रहती है, बशर्ते कि लड़की गर्भवती न हो जाय, क्योंकि लड़की का गर्भवती होना उसके माता-पिता के लिये बहुत ही लज्जाजनक समझा जाता है। इन पूर्व-वैवाहिक यौन-सम्बन्धों के

अतिरिक्त भारतीय जनजातीय समाजों मे अतिरिक्त वैवाहिक (extra-marital) यौन-सम्बन्ध के भी अनेक उदाहरण मिलते है। कोनयक नागा जनजाति में विवाह के बाद भी स्त्रियाँ अन्य पुरुषों से यौन-सम्बन्ध बनाये रख सकती हैं। यहाँ स्त्री अपने पति के घर तब तक नही जाती, जब तक उसके एक बच्चा पैदा न हो जाय। यदि पति को यह मालूम भी हो जाय कि वह बच्चा उसका नही है, तो भी उसे कुछ अनुचित नहीं लगता, और इससे पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध मे कोई अन्तर नही पड़ता। नैनीताल के तराई क्षेत्र मे फैली हुई थारू जनजाति के पुरुष अपनी खूबसूरत पत्नियों से इतना अधिक प्रभावित रहते हैं कि अगर पत्नियाँ इधर-उधर यौन-सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं, तो भी वे उस ओर विशेष ध्यान नही देते, अर्थात् इसे कोई अपराध नही समझते। देहरादून जिले की खस जनजाति मे यौन-सम्बन्धी दोहरा मानदण्ड (double standard) देखने को मिलता है। ससुराल मे वधू (जिसे वे 'रान्ती' कहते हैं) को यौन-सम्बन्धी कठोरतम नियमों का पालन करना पड़ता है, परन्तु जब वही स्त्री अपने मायके आती है तो लड़की अर्थात् 'ध्यान्ती' के रूप में उसे यौन-सम्बन्धी अनेक छूटें मिल जाती हैं, और वह एकाधिक पुरुषों से प्रेम करती और यौन-सम्बन्ध स्थापित करती रहती है। इसे किसी प्रकार बुरा नही माना जाता।

4. असामान्य व्यवहार (Abnormal Behaviour)—विभिन्न संस्कृतियों मे उचित व्यवहार के विभिन्न मापदण्ड हैं, इसीलिये एक के लिये जो साधारण व्यवहार है, दूसरे के लिये वही असामान्य। पुरातनवादी हिन्दुओं ने स्त्रियाँ अपने ससुर, जेठ आदि के सामने मुंह ढँक लेती हैं। युकाघिर (Yukaghir) जनजाति में नियम है कि वधू अपने ससुर या जेठ का चेहरा न देखे और न ही दामाद को अपनी सास का चेहरा कभी देखना चाहिए। ओस्ट्याक (Ostyak) जनजाति में वधू अपने ससुर के सामने और दामाद अपनी सास के सामने तब तक नहीं आते हैं, जब तक कि उनके बच्चे पैदा न हो जायें। न्यूगिनी की बुकाऊ जनजाति मे अगर कहीं संयोग से दामाद अपने ससुर को मुंह खोलते देख ले तो ससुर को इतना लज्जित होना पड़ता है कि वह जङ्गल मे भाग जाता है। हिन्दुओं मे पति, ससुर, जेठ आदि का नाम बहू नही लेती। इसके लिये कुछ माध्यमिक सम्बोधन (tiknonymy) का प्रयोग किया जाता है। जैसे, यदि बेटे का नाम देबू है तो पत्नी अपने पति को 'देबू के पिता' कहकर सम्बोधित करती है। उसी प्रकार अलग-अलग संस्कृतियों मे अजीब-अजीब परिहास-सम्बन्ध (joking-relationship) पाये जाते हैं। देवर-भाभी, जीजा-साली, साले-बहनोई आदि एक-दूसरे के साथ हँसी-मजाक करते हैं, एक-दूसरे की खिल्ली उड़ाते हैं, यहाँ तक कि यौन-सम्बन्धी व्यवहार तक करते हैं। पर, कुछ समाजों मे परिहास-सम्बन्ध का क्षेत्र यहीं तक सीमित न रहकर एक-दूसरे की वस्तुओं की दुर्गति या सम्पत्ति की बर्बादी तक विस्तृत होता है। मैलानेशिया मे भतीजे को यह अधिकार होता है कि वह अपने चाचा की सम्पत्ति को चाहे रक्खे *और चाहे बर्बाद करे। और, इनके बीच के परिहास-सम्बन्ध के कारण ही चाचा से* यह आशा की जाती है कि वह भतीजे के समस्त व्यवहारों को सहन करने का गुण अपने मे पनपाये और उसके किसी व्यवहार को बुरा न माने। उत्तरी-पश्चिमी अमेरिका की हैडा-जनजाति में प्रथा है कि दस वर्ष की आयु मे पुत्र पिता का घर छोड़कर अपने मामा के यहाँ रहने के लिये चला जाता है। फिर, वह वहीं रहकर मामा के परिवार और समाज की बातें सीखता है, मामा की सेवा करता है और बड़े होने पर मामा की सम्पत्ति की देखरेख करता है। पिता के परिवार के प्रति उसमे उत्तरदायित्व की भावना पनपती ही नही। मामा भी उसके समस्त भार को सहर्ष वहन

करता है। कुछ समाजों में सहप्रसविता या सहदष्टी (couvade) की प्रथा पायी जाती है। इसके अनुसार पति के लिये भी यह आवश्यक हो जाता है कि जब कभी भी उसकी पत्नी के बच्चा होने को हो तो पति भी उन सब कष्टों को अनुभव करे तथा बहुत-कुछ वैसा ही व्यवहार करे और प्रसवा की भाँति ही समय गुजारे। कुछ जनजातियों में तो प्रसव के समय स्त्री जिस पीड़ा का अनुभव करती और जिस प्रकार रोती-चिल्लाती है, पति को भी उसी प्रकार उन कष्टों को अनुभव करना तथा चीखना-चिल्लाना पड़ता है। इतना ही नहीं, पति को भी एक कमरे में बन्द रक्खा जाता है और प्रसवा जिन-जिन नियमों का पालन करती है, पति को भी उन्हीं नियमों का पालन करना पड़ता है। इसीलिये भारत की खासी जनजाति में पति, अपनी पत्नी की भाँति ही, बच्चा पैदा हो जाने तक नदी पार नहीं करता और कपड़े नहीं धोता। व्यक्तित्व के उपर्युक्त सभी असामान्य व्यवहार विभिन्न संस्कृतियों की ही देन हैं।

5. व्यक्तित्व के अन्य लक्षण (Other Traits of Personality)—यदि हम व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षणों या गुणों की पृथक्-पृथक् विवेचना करें तो हम यही पायेंगे कि इन पर भी संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, सांस्कृतिक प्रतिमान के अनुसार व्यक्तिगत व्यवहारों को ही लीजिये। जापान में फूत्कार (hissing) सामाजिक क्षेत्र में सम्मानित व्यक्तियों के प्रति आदर दिखाने का एक नम्र ढंग है, बसूटो लोग फूत्कार द्वारा सराहना करते हैं; परन्तु, इंग्लैण्ड में यह अत्यन्त अभद्र व्यवहार माना जाता है और किसी अभिनेता या वक्ता के प्रति असम्मान प्रकट करने का ढंग है। संसार के अधिकतर भागों में किसी व्यक्ति पर थूकना घृणा का चिह्न है, परन्तु अफ्रीका की मसाई जनजाति में यह व्यवहार स्नेह और भलाई का चिह्न है; और, अमेरिकी-इण्डियन चिकित्सक का रोगी पर थूकना इलाज का एक खास तरीका है। यूरोप, भारत आदि में अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति की उपस्थिति में खड़ा हुआ जाता है, जब कि फीजी और टोंगा लोग बैठ जाते हैं। इसी प्रकार विभिन्न समाजों के व्यक्तियों के व्यक्तित्वों में पाये जाने वाले पक्षपात (prejudice) पर भी संस्कृति के प्रभाव को देखा जा सकता है। अमेरिकी बच्चा बचपन से ही देखता है कि उसके समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति नीग्रो को प्रत्येक विषय में नीचा समझता है और उसी रूप में उससे व्यवहार करता है; इसका परिणाम यह होता है कि उनमें भी धीरे-धीरे नीग्रो के प्रति घृणा का भाव पनपता है। कट्टर ब्राह्मण हरिजनों के स्पर्श से भी बचने का प्रयत्न करता है और उनसे कोई भी सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने के पक्ष में नहीं होता। इसका कारण है। उस बच्चे की संस्कृति उससे इसी प्रकार के व्यवहार की आशा करती है। इसी प्रकार, शील (modesty) का व्यक्तित्व-गुण भी संस्कृति के द्वारा ही निर्धारित होता है। ट्रूमन जनजाति की लड़की के लिये शील यही है कि वह बाहर के लोगों को एक आँख दिखाये; दो आँखें दिखाना एक प्रकार का सामाजिक अपराध-सा है। ट्रूकी लोगों में स्त्रियों को पिता या भाई कहलाने वाले सम्बन्धियों के सामने अपना वक्षस्थल अनावृत करना निषिद्ध है, परन्तु रात में यह बात लागू नहीं होती। दुर्का पहनना मुसलमान औरतों के लिये शील का परिचायक है, परन्तु अंग्रेज औरतों के लिये नहीं।

6. व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक लक्षण (Psychological Traits of Personality)—व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक लक्षणों पर भी संस्कृति का प्रभाव पड़ता है। एकाधिक अध्ययनों में संस्कृति का प्रभाव प्रत्यक्षीकरण (perception) पर देखा गया है। श्री हेलोवैल (Hellowell) अपने अध्ययन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भाषा, कला, विश्वास तथा संस्कृति के अन्य तत्व प्रत्यक्षीकरण के लिये महत्व-

पूर्ण हैं। परिस्थितियों का प्रत्यक्ष ज्ञान व्यक्ति अपने सांस्कृतिक अनुभवों, आदर्श व विश्वासों के आधार पर करता है। नैवाही जनजाति के लोग एक के बाद दूसरे कार्य के क्रम को तो समझ सकते हैं, किन्तु अलग-अलग तरीकों को नहीं समझ पाते। गाँव के लोग बिना घड़ी की सहायता से समय का ठीक-ठीक अनुमान लगा लेते हैं; आँधी-पानी आने के विषय में भविष्यवाणी कर सकते हैं, पर शहर के लोगों के लिये इस प्रकार का प्रत्यक्षीकरण कठिन होता है, क्योंकि उनकी संस्कृति में इन सब विषयों की जानकारी के लिये अलग-अलग यन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार संस्कृति व्यक्ति के विचारों तथा बोध (cognition) पर प्रभाव डालती है। टूकी लोग समुद्र के पानी और ताजे पानी को बिलकुल भिन्न मानते हैं। पर, सभ्य समाज के लोगों का विचार इसके विपरीत ही होगा। कुछ अमेरिकी बच्चे काफी दूर से ही मोटरकार की हेड-लाइट देख कर बता सकते हैं कि वह कौन-सी गाड़ी है, परन्तु चलती हुई नावों या ऊँटों को देखकर उनकी किस्में नहीं बता सकते। इसके विपरीत, वन्य जाति के लोग सूखे पत्तों के ऊपर जानवरों के पैर की आवाज सुनकर बिना देखे ही बता सकते हैं कि वह कौन-सा जानवर है। गाँव के लोग आसमान को देखकर ही समझ जाते हैं कि पानी बरसेगा या आँधी आयेगी। इसी प्रकार कल्पना तथा अचेतन प्रक्रियाओं (imaginations and un-concious processes) पर भी संस्कृति का प्रभाव पड़ता है। सर्वश्री लेंटिस तथा स्पेन्सर (Lantis and Spencer) ने यह दर्शाया है कि कल्पना तथा अचेतन प्रक्रियाओं का कला, पौराणिक कथाओं तथा लोक-गाथाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। कला मानव की कल्पनाओं को उभारती है, क्योंकि कल्पना पर आधारित सौन्दर्यपूर्ण उद्वेग (aesthetic emotion) ही कला को जन्म देता है। इसी प्रकार पौराणिक कथाओं और लोक-गाथाओं की सहायता से व्यक्ति की कल्पना 'परियों के देश' तक पहुँच जाती है। श्री अनातोले फ्रांस (Anatole France) के शब्दों में, "राष्ट्र अपनी पौराणिक कथाओं पर जीवित रहते, और अपनी लोक-गाथाओं से वे जीवन के लिये आवश्यक विचार ग्रहण करते हैं। उन्हें अधिक आवश्यकता नहीं होती; थोड़ी-सी उपदेशात्मक कथाएँ ही लाखों प्राणों को प्रेरणा देने के लिये पर्याप्त होती हैं।"[1] जो बात किसी भी राष्ट्र के लिये सच है, वही बात उसके सदस्यों तथा उनके व्यक्तित्वों के लिये भी सत्य कही जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि व्यक्तित्व के विभिन्न लक्षणों (traits) या गुणों पर संस्कृति का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। मानव-शास्त्रियों (anthropologists) ने अनेक आदिम समाजों (primitive societies) का अध्ययन करके व्यक्तित्व पर पड़ने वाले विशिष्ट संस्कृति के प्रभावों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में नीचे कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं।

संस्कृति और व्यक्तित्व के कुछ अध्ययन
(Some Studies in Culture and Personalities)

व्यक्तित्व का विकास प्राणीशास्त्रीय व सामाजिक प्रक्रिया ही नहीं, अपितु सांस्कृतिक प्रक्रिया भी है। इस दृष्टि से व्यक्तित्व पर संस्कृति के प्रभावों को दर्शाने के लिये मानवशास्त्रियों ने एकाधिक जनजातियों (tribes) के जो अध्ययन किये हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

1. होपी जनजाति (Hopi Tribe)—इस जनजाति के सदस्य उत्तरी-पश्चिमी न्यू-मैक्सिको और उत्तरी-पूर्वी अरीजोना में रहते हैं। इस क्षेत्र में वनस्पति कम होती है, फिर भी कृषि ही इनका प्रमुख व्यवसाय है। इनमें मातवशीय (matri-

lineal) तथा मातृस्थानीय (matrilocal) परिवार पाये जाते हैं। सम्पूर्ण जनजाति अनेक गोत्रों में बँटी हुई है। भूमि की मालकिन स्त्रियाँ हैं, और वे ही परिवारों का केन्द्र भी हैं। परिवारों में माता-पिता, उनके अविवाहित पुत्र-पुत्रियाँ, विवाहित पुत्रियाँ, और माता के अविवाहित भाई भी रहते हैं। सम्पत्ति माता से पुत्री को हस्तान्तरित होती है। भूमि पर पति कार्य करता है, परन्तु उपज पर पत्नी का अधिकार एवं नियंत्रण रहता है। धार्मिक संस्कारों को छोड़कर सभी क्षेत्रों में स्त्रियों का स्थान प्रमुख होता है। आर्थिक व्यवस्था सहकारिता पर आधारित है, और व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा नहीं पायी जाती। वर्ग-व्यवस्था का अभाव है। राजनैतिक नियन्त्रण की मौलिक इकाई गाँव है। गाँव का मुखिया गाँव की देखरेख करता है। होपी लोग धर्मपरायण हैं।

उपर्युक्त संस्कृति-प्रतिमान (culture pattern) का प्रभाव होपी लोगों के व्यक्तित्व में स्पष्टतः देखने को मिलता है। उन्हें जीवित रहने के साधनों को उत्पन्न करने के लिये आपस में निरन्तर सहयोग करना पड़ता है। यही कारण है कि उनका व्यक्तित्व सहयोग के आधार पर विकसित होता है, वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं एवं मूल्यों पर कोई विशेष बल नहीं दिया जाता। वे लोग शान्तिप्रिय होते हैं; और लड़ाई-झगड़ों से दूर रहना पसन्द करते हैं। परिवार व समाज में माँ का प्रभाव अधिक होने के कारण दया, प्रेम, सेवा, त्याग जैसी नारी-सुलभ विशेषतायें होपी लोगों के व्यक्तित्व में विकसित हो जाती हैं। घमण्ड और अन्य स्वार्थ-भरी इच्छाओं का उनके व्यक्तित्व में अभाव होता है। ये बुरे गुण समझे जाते हैं। व्यक्ति अपने लिये नहीं, पूरे समुदाय के लिये सोचता है और उसी के लिये अपने स्वार्थों की बलि देता है। वे समुदाय के साथ ऐसी घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं कि उससे काट या अलग कर दिया जाना उनके लिये सबसे कठोर दण्ड होता है। उनके व्यक्तित्व की एक और उल्लेखनीय विशेषता दूसरों पर आश्रित रहने की प्रवृत्ति है। वे नाते-रिश्तेदारों के साथ ही देवी-देवताओं पर भी बहुत भरोसा करते हैं। उनकी संस्कृति में मातृ-सत्तात्मक परिवारों की प्रमुखता होने के कारण पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का व्यक्तित्व अधिक रोबीला होता है, और उनमें परिवार, सम्पत्ति आदि से सम्बन्धित विषयों की देखरेख करने की क्षमता व कुशलता भी पायी जाती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्त्रियों और पुरुषों के व्यक्तित्व में पाये जाने वाले उपर्युक्त सभी गुण संस्कृति की ही देन हैं।

2. क्वाकियूटल जनजाति (Kwakiutl Tribe)—इस जनजाति का सांस्कृतिक प्रतिमान होपी-संस्कृति के बहुत-कुछ विपरीत है। इस क्षेत्र में खाने-पीने की चीजें खूब पाया जाती है। यहाँ के लोग मछलियों तथा अन्य समुद्री जानवरों का शिकार करते हैं। शिकार अधिकतर व्यक्तिगत आधार पर होता है। समाज में वर्ग-व्यवस्था के नियमों का कठोरता से पालन किया जाता है, यहाँ तक कि परिवार में पहले बच्चे की स्थिति बाकी बच्चों से ऊँची मानी जाती है। परिवारों में ऊँच-नीच का संस्तरण पाया जाता है। प्रत्येक वर्ग का एक मुखिया होता है, जिसे सीमित राजनैतिक व धार्मिक अधिकार प्राप्त होते हैं। धन का महत्त्व केवल उसे एकत्रित करने में नहीं, अपितु खर्च करने में भी होता है। सामाजिक मूल्य यह है कि जो व्यक्ति अपने संचित धन को जितना अधिक बर्बाद कर सकेगा, उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा उतनी ही ऊँची रहेगी। समाज में पितृ-सत्तात्मक परिवार पाये जाते हैं, और समस्त सम्पत्ति पिता से परिवार के सबसे बड़े लड़के को ही मिलती है। प्रायः सबसे छोटे लड़के को चतुर समझा जाता है। दावतों में वस्तुयें तथा तश्तरियाँ गिनने का भार सबसे छोटे भाई को दिया जाता है। यदि ऊँचे कुलों की लड़कियों से विवाह हो जाता है, तो इस

आधार पर भी सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त की जा सकती है। धर्म का महत्व कम माना जाता है।

इस सांस्कृतिक प्रतिमान का प्रभाव क्वाकियूटल लोगों के व्यक्तित्व पर स्पष्टतः पड़ता है। इन लोगों में अपने व्यक्तिगत सुख एवं लाभ के लिये धन का संचय करने की प्रवृत्ति आम होती है। चूंकि समाज में वर्ग व्यवस्था अत्यधिक कटु रूप में है, इसलिये व्यक्ति में उच्च स्थिति को प्राप्त करने के लिये प्रतिस्पर्धा, यहाँ तक कि संघर्ष करने तक की प्रवृत्ति पायी जाती है। चूंकि बड़े भाई को समस्त सम्पत्ति मिल जाती है, इस कारण बड़े भाई के प्रति अन्य भाइयों के हृदय में तीव्र ईर्ष्या एवं प्रतिस्पर्धा की भावना होती है। हर भाई दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है। वास्तव में, प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक प्रतिष्ठा के लिये दौड़ लगाता है। कुछ लोगों में सामाजिक प्रतिष्ठा को इतना अधिक महत्त्व दिया जाता है कि वे उसके लिये अपना सभी कुछ त्याग सकते हैं। दूसरों को नीचा दिखाने के लिये वे एक अनोखा तरीका अपनाते हैं। इस तरीके को 'पोटलैच' (potlatch) कहते हैं, और यह क्वाकियूटल लोगों के व्यक्तित्व में पाये जाने वाली घोर प्रतिद्वन्द्विता तथा तनाव की भावना को अभिव्यक्त करता है। वास्तव में इस जनजाति के लिये पोटलैच 'सम्पत्ति की सहायता से लड़ने' की एक विधि मात्र है, जिसके कारण यह संस्था प्रारम्भ से अन्त तक एक-दूसरे को नीचा दिखाने की संघर्षपूर्ण मनोवृत्ति को ही प्रमुखता देती है।[12] 'अ' महाशय वर्तमान में अपने समाज में सबसे ऊँची स्थिति पर हैं; अगर 'ब' महाशय उन्हें नीचा दिखाकर अपनी स्थिति को ऊँचा उठाना चाहते हैं तो वे एक विराट भोज का आयोजन करेंगे। 'अ' को उनके साथियों के साथ निमन्त्रण देकर बुलायेंगे, और अतिथियों में से प्रत्येक को खूब खिलायेंगे-पिलायेंगे तथा उपहार देंगे। इस अवसर पर अधिकतर धन का न तो उपभोग होता है और न ही विनिमय, अपितु केवल बरबादी होती है। उदाहरण के लिये, अतिथियों के सम्मान में अत्यधिक मूल्यवान् सील मछली का तेल प्रचुर मात्रा में जला दिया जाता है और जाने कितने जानवरों को काटकर फेंक दिया जाता है, इत्यादि। इस प्रकार पोटलैच की इस विधि ने व्यक्ति के व्यक्तित्व में बरबादी, प्रतिस्पर्धा और प्रतिष्ठा के लिये सदा प्रयत्नशील रहने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। इसी विधि ने विवाह के प्रति भी एक प्रतिस्पर्धा-मूलक मनोवृत्ति को बढ़ाने के विचार से, ऊँचे कुलों की लड़कियों से विवाह करने के लिये भावी ससुर को कम्बलों का मूल्यवान् उपहार दिया जाता है। इसके लिये जितने धन की आवश्यकता होती है, उसे इकट्ठा करने के लिये किसी भी क्वाकियूटल व्यक्ति को काफी पहले से प्रयत्नशील रहना पड़ता है। इस प्रकार 'पोटलैच' व्यक्ति के व्यक्तित्व में प्रयत्नशीलता, परिश्रमप्रियता, उच्चाभिलाषा आदि गुण भर देता है। साथ ही, यह विधि लोगों को काफी भौतिकवादी बनाती है। जिसके पास प्रदर्शन करने के लिये पर्याप्त धन होता है, वह आत्मगौरव व श्रेष्ठता की भावना का अनुभव करता है, पर जो धनहीन होता है, उसमें आत्म-ग्लानि तथा हीनता की भावना पनपती है। चूंकि इन लोगों की संस्कृति भौतिकवादी है, इस कारण क्वाकियूटल लोगों में धार्मिक विश्वास आदि का अभाव होता है। वे धार्मिक संस्कारों से दूर रहने की कोशिश करते हैं और उन्हें बेकार समझते हैं। व्यक्तित्व के ये सभी गुण उनकी संस्कृति की विशिष्टताओं के ही प्रतिफल कहे जा सकते हैं।

(5) **अरापेश, मुण्डगुमार तथा टेनाम्बुली जनजातियाँ (Arapesh, Mundugumar and Tenambuli Tribes)**—श्रीमती मार्गरेट मीड (Margaret Mead) ने व्यक्तित्व के विकास पर पड़ने वाले संस्कृति के प्रभाव के महत्व को इन तीन जनजातियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है : (अ)

न्यू गायना (New Guinea) की आरापेश जनजाति के लोग ऐसी जगह पर रहते हैं जहाँ बाहरी आक्रमण का कोई भय नही रहता, और पडोस के लोग उन पर आक्रमण नही कर सकते। इस प्राकृतिक स्थिति के कारण उनके व्यक्तित्व में सुरक्षा की भावना पनपती है। इस क्षेत्र की धरती भी उपजाऊ है, इस कारण पैदावार भी खूब होती है। वैसे जनसख्या भी कम है। फलत. आर्थिक क्षेत्र में उन्हे प्रतिस्पर्धा या संघर्ष करने की आवश्यकता नही होती। इसीलिये उनके व्यक्तित्व मे प्रतिस्पर्धा, सघर्ष आदि की भावनायें नही, अपितु सहानुभूति, सहयोग, प्रेम, सद्भावना, आदि गुण पाये जाते हैं। उन्हें लडने-झगडने की आवश्यकता नही होती, इसीलिये वे शान्त, नम्र व शिष्ट होते है। आरापेश जनजाति के पुरुषो और स्त्रियो दोनो मे ही नारी-गुण मिलता है। इस प्रजाति मे कुछ ऐसे सास्कृतिक तत्व प्रमुख होते हैं, जिनके कारण शर्मीले और आक्रमण की इच्छाओ का दमन कर सकने वाले व्यक्ति की प्रशसा की जाती है। इस जनजाति मे बच्चों को बडे स्नेह से पाला जाता है, और उसके स्वभाव मे नम्रता (softness) लाने का प्रयत्न किया जाता है।

(ब) उसी न्यू गायना की एक दूसरी जनजाति मुण्डगुमार है। परन्तु, इसके सदस्य आरापेश जनजाति से एकदम भिन्न प्रकृति और व्यक्तित्व के होते है। वे स्वभाव से झकालू, प्रतिद्वन्द्वी, झगड़ालू, अहंवादी और ईर्ष्यालु प्रवृति के होते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों ही निर्दयी और आक्रामक होते हैं। उनमे शक्ति तथा पद प्राप्त करने के लिये आपस में सदा ही सघर्ष चलता रहता है। आरापेश तथा मुण्डगुमार, दोनो ही जनजातियों की भौगोलिक स्थिति, जलवायु आदि सभी कुछ समान होने पर भी, ये सभी अन्तर सास्कृतिक भिन्नता के कारण होते हैं। इस जनजाति की स्त्रियाँ शिशु को जन्म देना, अर्थात् माँ बनना और बच्चो का पालन-पोषण करना पसन्द नही करती। सच तो यह है कि वे शिशु को ही पसन्द नही करती, और इसीलिये उसे दूध पिलाने के लिये बैठने तक की मेहनत नही करती। यह काम वे खड़े-खड़े ही कर लेती हैं; और जैसे ही बच्चा छीन-झपटकर किसी तरह कुछ दूध पी लेता है, वैसे ही वे उसे झटक कर हटा देती हैं, जैसे कि दूध पिलाने का कार्य विवश होकर ही किया गया हो। यही नही, बच्चे का दूध बहुत शीघ्र छुड़ा दिया जाता है। बच्चा रोता-चिल्लाता है, तब भी माँ उसका ख्याल नहीं करती, ऊपर से मारती हैं। कभी-कभी माँ की उपेक्षा के कारण बच्चे जाते भी रहते हैं। इस प्रकार के दुर्व्यवहारो के कारण बच्चे मे असुरक्षा और निराशा की भावनाओ का ही नही, अपितु निर्दयता और आक्रामक भावनाओ का विकास हो जाता है, और वे अपनी इच्छाओ की पूर्ति छीना-झपटी द्वारा ही करने के अभ्यस्त हो जाते हैं। दया, सहानुभूति, करुणा आदि कोमल गुणो का विकास उनमे हो ही नहीं पाता।

समाज एक विशेष परिस्थिति में हमसे किस प्रकार के व्यवहार की आशा करता है। व्यवहार के ये तैयार प्रतिमान हमें बचपन से ही समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से प्राप्त हो जाते हैं, और हमारे व्यक्तित्व को एक स्वरूप प्रदान करते हैं। इतना ही नहीं, परम्परा के पीछे अनेक पीढ़ियों का अनुभव तथा सामाजिक अभिमति (social sanction) होती है। इसीलिये इसमें वह शक्ति होती है, जिसके आधार पर वह व्यक्ति के व्यवहारों को नियन्त्रित करती और कुछ सामाजिक आदतों की जड़ जमाती है। आदतें व्यक्तित्व के विकास में अपना योगदान करती हैं। इसके अतिरिक्त परम्परा व्यक्ति में सुरक्षा की भावना पनपाती है। चूँकि परम्परा अनुभव-सिद्ध व्यवहारों का संग्रह होती है, इसलिये इसको अपनाने वाले व्यक्ति को दुविधा नहीं होती, और वह अपने अन्दर विभिन्न परिस्थितियों का सफलतापूर्वक सामना करने के सम्बन्ध में एक सुरक्षा की भावना स्वतः ही विकसित कर लेता है।

(2) प्रथाएँ (Customs)—प्रथाएँ समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त वे सुव्यवस्थित और सुदृढ़ जनरीतियाँ हैं, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं। व्यक्तित्व के विकास में इन प्रथाओं का अपना महत्त्व होता है; और, उसमें भी सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि प्रथा सीखने की प्रक्रिया को सरल बना देती है। और, सीखने की प्रक्रिया ही व्यक्तित्व-विकास की आधारशिला होती है। सामाजिक जीवन में जिन क्रियाओं से व्यक्ति की सामाजिक समस्याओं का समाधान होता है, मनुष्य उन्हीं क्रियाओं को चुन लेता है और व्यर्थ व हानिप्रद क्रियाओं को त्याग देता है। इस प्रकार चुनी गई सफल क्रियाएँ जब पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं, तो वही धीरे-धीरे 'प्रथा' बन जाती हैं। अर्थात्, प्रथा में कई पीढ़ियों का सफल अनुभव तथा व्यवहार-विधि का समावेश रहता है, जिससे सीखने की प्रक्रिया सहज हो जाती है—वह भी इस अर्थ में कि वर्तमान पीढ़ी 'कोशिश और चूक' (trial and error) की विकट विधि से एक चीज को दुबारा सीखने के कष्ट से बच जाती है। चूँकि प्रथाएँ अनुभव सिद्ध होती हैं, इसलिए इनकी सहायता से अनेक सामाजिक परिस्थितियों का सामना करना व्यक्ति के लिये आसान हो जाता है।

(3) रूढ़ियाँ (Mores)—श्री ग्रीन (Green) के अनुसार, "कार्य करने की सामान्य रीतियाँ-रूढ़ियाँ होती हैं, जो जनरीतियों की अपेक्षा अधिक निश्चयपूर्वक सही और उचित समझी जाती हैं, और जिनका उल्लंघन होने पर अधिक निश्चित और कठोर दण्ड प्राप्त होता है।" अतः स्पष्ट है कि रूढ़ियों के पीछे जन-कल्याण की भावना छिपी होती है, और उनमें बाध्यतामूलक तत्त्व भी निहित होते हैं। इस रूप में रूढ़ियाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व में आचरण के कुछ ऐसे तत्त्व जोड़ देती हैं, जो समाज के लिये कल्याणकारी सिद्ध होते हैं। सकारात्मक रूढ़ियाँ व्यक्ति को उचित व्यवहारों को अपनाने की प्रेरणा देती हैं। व्यवहारों के उदाहरण हैं—सच बोलना, ईमानदार बनना आदि। इसके विपरीत नकारात्मक रूढ़ियाँ व्यक्ति को अनुचित व्यवहारों से दूर रहने को कहती हैं। इन व्यवहारों के उदाहरण हैं—झूठ न बोलना, चोरी न करना आदि। रूढ़ियाँ समाज के लोकप्रिय विचारों, दृष्टिकोणों तथा आदर्शों का प्रतिनिधित्व करती हैं। अतः, इन्हें अपनाने का तात्पर्य होता है व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास करना, क्योंकि रूढ़ियों के अनुरूप व्यवहार उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार के व्यवहार की आशा समाज हमसे करता है। इस तरह रूढ़ियाँ हमारे ऊपर बाध्यतामूलक प्रभाव डालकर व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास में सहयोग करती हैं।

(4) धर्म (Religion)—धर्म व्यक्ति में सद्गुणों, अच्छे आचरणों तथा उच्च आदर्शों का विकास करता है। समाज के अधिकतर सदस्य किसी न किसी रूप में आध्यात्मिक शक्ति को मानने और धार्मिक विश्वासों का पोषण करते हैं। इसका

प्रभाव केवल उनके स्वयं के व्यक्तित्व पर ही नहीं, अपितु उन लोगों के व्यक्तित्वों पर भी पड़ता है, जिनके सम्पर्क में वे आते हैं। धार्मिक आदर्श व विश्वास धीरे-धीरे जीवन पर प्रभाव डालते हैं, और बहुधा जीवन या व्यक्तित्व की अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रेरणा बन जाते हैं। राष्ट्र पिता गांधी जी का जीवन या व्यक्तित्व इसी का उज्ज्वल उदाहरण है। वैसे वास्तविकता तो यह है कि वैज्ञानिक दृष्टि से धर्म स्वयं मानव-जीवन या व्यक्तित्व के सद्गुणों, आचारों, उच्च आदर्शों तथा मूल्यों व पाप-पुण्यों से सम्बन्धित विश्वासों का एक समुच्चय है। अतः धर्म इन गुणों के सकलित स्वरूप को व्यक्तित्व में घुला-मिला देने का कार्य करके व्यक्तित्व-विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान करता है। यह कार्य धर्म के लिये प्रथा, परम्परा, रूढ़ि आदि की तुलना में कहीं अधिक सरल इसलिये होता है कि धर्म में अलौकिक शक्ति या ईश्वर के प्रति लोगों के अन्तर में केवल श्रद्धा-भक्ति ही नहीं, डर की भी भावना होती है। धार्मिक नियमों का सच्चाई से पालन करने के लिये यह भय ही बाध्य करता है। इस अर्थ में धर्म, व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित कर व्यक्तित्व को एक निश्चित दिशा प्रदान करता है। श्री दुर्खीम (Durkheim) के अनुसार, व्यक्तित्व को धर्म की एक महत्वपूर्ण देन यह है कि वह व्यक्ति के व्यवहार या आचरण में पवित्रता की भावना भरता है। धर्म के अनुसार पवित्र जीवन से दूर हो जाना धार्मिक भ्रष्टाचार है।

(5) **बच्चों के पालन-पोषण तथा प्रशिक्षण के तरीके** (*Modes of Upbringing and Training of Children*)—व्यक्तित्व के विकास पर उन तरीकों का भी प्रभाव पड़ता है, जिनके अनुसार समाज-विशेष में बच्चों के पालन-पोषण तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है। श्रीमती मीड ने अपने उपर्युक्त अध्ययन में यह दर्शाया है कि आरापेश जनजाति में बच्चे को बचपन से ही बड़ी कोमलता से पाला जाता है और उसके स्वभाव में नम्रता लाने का प्रयत्न किया जाता है। इसी के फलस्वरूप इस जाति के लोगों में प्रेम, दया, सहानुभूति, सहयोग, मृदुता आदि गुण पाये जाते हैं। इसके विपरीत, चूंकि मुण्डुगुमार जनजाति में बच्चे को लापरवाही से पाला जाता है, यहाँ तक कि बच्चे को माँ का दूध भी छीन-झपट कर ही पीना पड़ता है, और शिशु-काल से ही माँ की ममता से वंचित रहना पड़ता है, इसलिये उनके व्यक्तित्व में प्रेम, दया, सहानुभूति, सहयोग, नम्रता आदि गुण पनप नहीं पाते हैं। इसके विपरीत, उनमें निर्दयता तथा आक्रामक भावनाएँ पाई जाती हैं। इसी प्रकार समोआ जनजाति में बालकों को छोटी आयु में ही सामाजिक उत्तरदायित्व का बोझ उठाने की शिक्षा दी जाती है। इस कारण उनके व्यक्तित्व में अकाल-प्रौढ़त्व देखने को मिलता है। इसका बिल्कुल उल्टा ही रूप अमेरिकी लड़कों के व्यक्तित्वों में देखने को मिलता है, क्योंकि उन्हें छोटी आयु में सामाजिक उत्तरदायित्व के क्षेत्र से बहुत दूर रखा जाता है। हिन्दू-परिवारों में लड़कियों की अपेक्षा लड़कों के व्यक्तित्व का अधिक बहुमुखी विकास होता है। इसका कारण यह है कि लड़कों का पालन-पोषण अधिक सावधानी से किया जाता है, जबकि लड़कियों के पालन-पोषण के सम्बन्ध में बहुत सीमा तक लापरवाही बरती जाती है। हिन्दुओं में लड़कों का विशेष महत्व होता है, क्योंकि लड़कों की अपेक्षा पितरों को तर्पण और पिण्डदान करने तथा वंश की निरन्तरता को बनाये रखने के लिये की जाती है। अतः पुत्र की कामना की जाती है और पुत्र उत्पन्न होने पर खुशियाँ मनायी जाती हैं और उनका पालन-पोषण भी बहुत सावधानी से किया जाता है, जिसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर पड़ता है। इसके विपरीत, लड़कियों को छोटी उम्र में ही व्रत और पूजा करने, सदाचार बरतने, दया-दान करने, पति को देवता मानने, सतीत्व के आदर्शों को धर्म

के रूप में ग्रहण करने, और अवहेलना व दु:ख-दर्द को सहन करने की शिक्षा दी जाती है, जिसके फलस्वरूप ये सभी गुण हिन्दू-नारी के व्यक्तित्व में मिलते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रथा, परम्परा आदि के आधार पर निर्धारित बच्चों के पालन-पोषण तथा प्रशिक्षण के तरीकों का प्रभाव व्यक्तित्व के विकास पर बहुत ही अधिक पड़ता है।

(6) संस्थाएँ (Institutions)—जीवन-लक्ष्यों तथा मानवीय आवश्यकताओं की प्राप्ति के मान्य साधन को ही 'संस्था' कहते हैं। इन संस्थाओं का महत्वपूर्ण प्रभाव व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता है। हम पिछले पृष्ठों में क्वाकियूटल जनजाति में पाई जाने वाली 'पोटलैच' संस्था के वहाँ के लोगों के व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावों का उल्लेख कर चुके हैं। इसी संस्था के कारण क्वाकियूटल लोगों के व्यक्तित्व में संघर्षपूर्ण मनोवृत्ति, धन को बर्बाद करने की प्रवृत्ति, घोर प्रतिद्वन्द्विता तथा तनाव की भावना के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक संस्कृति में विवाह-संस्थाएँ, आर्थिक संस्थाएँ तथा राजनैतिक संस्थाएँ भी होती हैं। इनका भी प्रभाव व्यक्तित्व पर पड़ता है। जहाँ एकविवाह (monogamy) पाया जाता है, वहाँ के लोगों का व्यक्तित्व उन लोगों के व्यक्तित्व से कुछ न कुछ भिन्न होता है जहाँ बहु-विवाह चलते हैं।

इस सम्बन्ध में उपर्युक्त छ कारकों के अतिरिक्त निम्नलिखित दो अन्य कारकों का भी उल्लेख किया जा सकता है—

(7) भाषा (Language)—अभौतिक संस्कृति के क्षेत्र में भाषा मानव की सबसे बड़ी शक्ति है। यदि मानव के पास वाणी अथवा भाषा की शक्ति न होती तो उसके आविष्कारों का विस्तार एवं प्रसार तथा व्यक्तित्व का विकास अत्यन्त संकुचित हो जाता। भाषा की शक्ति मानव-व्यक्तित्व की वह शक्ति है जो उसे पशु-जगत् से पूर्णतया पृथक् करती है। पशु कई प्रकार की आवाजों द्वारा अपने मन के भावों को व्यक्त करते हैं, परन्तु भाषा का अधिकारी तो केवल मानव ही है। इसी के द्वारा मानव अपने मन के भाव व्यक्त करता है, सामाजिक आदान-प्रदान या अन्तःक्रिया में भाग लेता है, संगीत-रचना करता और गाता है, साहित्य की सृष्टि करता है और आविष्कारों का प्रसार मानवीय धरातल पर करता है। इन सभी का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पड़ता है। भाषा मानव-व्यक्तित्व को वह शक्ति प्रदान करती है, जिसके माध्यम से वह दुनिया पर वर्चस्व आधात कर सकता है, और साथ ही अमरत्व का सन्देश भी सुना सकता है। भाषा के कारण ही मानव की मानवता महान् है, अमर है। भाषा के कारण ही मनुष्य पशु नहीं है, मनुष्य है।

व्यक्तित्व के निर्माण में सामाजिक अन्तःक्रिया का महत्व वास्तव में अत्यधिक है। भाषा के माध्यम से माता, पिता, मित्र व शिक्षक तथा बालक के बीच जो अन्तः-क्रियायें होती रहती हैं, उन्हीं के परिणामस्वरूप प्राणीशास्त्रीय प्राणी सामाजिक प्राणी में बदलता है, अर्थात् बालक के सामाजिक व्यक्तित्व का विकास सम्भव होता है।

(8) विज्ञान (Science)—आधुनिक युग विज्ञान का युग है, और इस विज्ञान का प्रभाव आधुनिक मानव के जीवन पर बहुत दूर तक पड़ा है। इसी की सहायता से मानव नित्य नये आविष्कार करता है और प्रत्येक आविष्कार का प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर पड़ता है। विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ मानव-जीवन तथा प्रकृति के सम्बन्ध में जाने कितना अन्धकार दूर हो रहा है, और मनुष्य नयी ज्योति

का दर्शन कर रहा है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विज्ञान हमे विभिन्न विषयों के सम्बन्ध मे यथार्थ ज्ञान प्रदान करता है, और हमारे अन्धविश्वास तथा कुसंस्कार समाप्त करता है। इसके फलस्वरूप नये विचार पनपते हैं, नयी आदतें बनती है, और नये जीवन-लक्ष्यों, आदर्शों व मूल्यों का विकास होता है। विज्ञान की प्रगति के फलस्वरूप ही हम आधिक जीवन के एक स्तर से दूसरे स्तर तक पहुँचते हैं। श्री आगबर्न (Agburn) ने लिखा है कि केवल रेडियो के आविष्कार से मनुष्य के जीवन तथा व्यक्तित्व पर 150 प्रकार के प्रभाव पड़े हैं। उसी प्रकार भाप से चलने वाले इंजन, टेलीफोन, हवाई जहाज आदि के आविष्कारों का प्रभाव मनुष्य के व्यक्तित्व पर पड़ा है। यह विज्ञान की देन है कि मानव का जीवन आज अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है, और आज अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर विचारों, भाषाओं, आदर्शों, मूल्यों, आदतों, व्यवहार-प्रतिमानों का, या संक्षेप मे साम्कृतिक मूल्यों का आदान-प्रदान हो रहा है। इसी के फलस्वरूप मानव-व्यक्तित्व को भी अपने को व्यापक बनाने के अधिक से अधिक अवसर प्राप्त होते जा रहे है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि संस्कृति का व्यक्तित्व पर बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ता है। परन्तु, इसका यह अर्थ नही है कि संस्कृति एक ऐसा साँचा या ठप्पा है जो सारे व्यक्तियों को एक ही रूप या रंग मे ढाल देता है। मानव-व्यक्तित्व सांस्कृतिक वातावरण का प्रतिबिम्ब या परछाईं मात्र नही होता। एक ही सांस्कृतिक वातावरण मे रहने वाले मनुष्यों मे भी भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व-गुण प्रधान होते हैं। वास्तव में, एक ही संस्कृति मे पले हुए व्यक्ति मे व्यक्तिगत भिन्नता उसकी अपनी आन्तरिक क्षमता योग्यता, अनुभव, धारणा, विचार आदि के आधार पर पायी जाती है, और हमेशा पायी जायेगी। कोई भी संस्कृति अपने समस्त सदस्यों पर समान प्रभाव कदापि नही डाल सकती। साथ ही व्यक्तित्व-विकास मे संस्कृति ही एक मात्र निर्णायक कारक है, यह सोचना भी अवैज्ञानिक है। इस सम्बन्ध में अन्य कारकों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए, और यह न भूलना चाहिये कि मनुष्य संस्कृति का दास नहीं, निर्माता है। श्रीमती रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) ने सच ही कहा है: "दूसरी संस्कृतियों का ज्ञान रखने वाला कोई भी मानवशास्त्री यह नहीं मानता कि व्यक्ति अपनी सभ्यता का गुलाम है, और उसके समस्त आदर्शों का पालन यन्त्रवत् करता है। अभी तक कोई भी संस्कृति ऐसी नही देखी गयी, जो अपने सदस्यों के स्वभाव की समस्त भिन्नताओं को दूर कर सकी हो। संस्कृति और व्यक्तित्व का पारस्परिक सम्बन्ध सदैव ही लेन-देन का रहा है, और आगे भी सदा ही लेन-देन का रहेगा।"[13] वास्तव में संस्कृति का विकास व्यक्तित्व के लिये वरदान है, और व्यक्तित्व का विकास संस्कृति का सौभाग्य।

REFERENCES

1. 'Culture is that complex whole which includes knowledge, belief, art moral, law, custom, and any other capabilities and habits acquired by man as a member of society.'—*E.B. Tylor*, Primitive Culture, New York, 1874, p. 1.
2. Culture may be defined as a 'a system of derived needs and an organized system of pureley social activities'—*Malinowski.*
3. 'Culture is the sum total of integrated learned behaviour patterns which are characteristic of the members of a society and which are

therefore not the result of biological inheritance".—*E.A. Hoebel*, Man is in the Primitive World, (McGraw Hill Book Co., New York), 1958, p. 7.

4 "Personality is the subjective aspect of culture and, in a sense, even culture has its own characteristic personality, though, of course it is a personality that changes with the times."—*J.G.A., Broun*, The Social Psychology Industry, p. 67.

5 Ralph Piddington, An Introduction to Social Anthropology, (Oliver and Boyd. London,) 1952, p. 4.

6 M Mead, Coming of Age in Samoa, 1928

7 C.K. Meak, The Northern Tribes of Nigeria, Vol I, p. 198.

8. John Gillin, The Way of Man, p 248

9 "While the culture of any society determines the deeper levels of its member's personalities through the particular techniques of child-rearing to which it subjects them, its influence does not end with this It goes on to shape the rest of their personalities by providing models for their specific responses as well This latter process continues throughout life."—*R. Linton*, The Cultural Background of Personality, p. 143

10. "From the moment of his birth the customs into which he is born shape his experience and behaviour. By the time he can talk, he is a little creature of his culture, and by the time he is grown and able to take part in its activities, its habits are his habits, its beliefs his beliefs, its impossibilities his impossibilities. His culture provides the raw material of which the individual makes his life If, it is meagre, the individual suffers ; if it is rich, the individual has the chance to rise to his opportunity."—*Ruth Benedict*, Patterns of Culture, Mentor Book Co., New York, 1959, pp. 18 and 218.

11 "Nations live on mythology, from legends they draw all the ideas necessary to their existence. They do not need many, and a few fables will suffice to guild millions of lives."—*Anatole France*, quoted from M J. Herskovits, Man and His Work Alfred A. Knopf, New York, 1956, 414.

12 R F. Benedict, Patterns of Culture, New York, 1937, pp. 173-222.

13 "No anthropologist with a background of experiences of other cultures has ever believed that individuals were automatons, mechanically carrying out the decrees of their civilizations No culture yet observed has been able to radicate the differences in the temperaments of the persons who compose it. It is always a give and take "—*Ruth Benedict*.

तृतीय खण्ड

समूह-व्यवहार

(GROUP-BEHAVIOUR)

सामूहिक व्यवहार

[MASS BEHAVOUR]

"सामूहिक परिस्थिति में एकाधिक व्यक्तियों के एक दूसरे को प्रभावित करते हुए किये जाने वाले व्यवहार को सामूहिक व्यवहार कहते हैं।"—A Sociologist.

व्यक्ति के जीवन के दो प्रमुख पक्ष हैं—एक तो व्यक्तिगत जीवन और दूसरा सामूहिक जीवन। व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित जिन व्यवहारों को व्यक्ति निष्पन्न करता है, उन्हें आम तौर पर वैयक्तिक व्यवहार (individual bahaviour) की संज्ञा दी जाती है, जबकि अन्य लोगों के साथ मिलकर किये जाने वाले कार्यों, अर्थात् सामूहिक जीवन से सम्बन्धित व्यवहारों को सामूहिक व्यवहार (collective or mass behaviour) कहते हैं। इस प्रकार सामूहिक व्यवहार किसी न किसी समूह की सदस्यता की ओर संकेत करता है। यह देखा गया है कि जब व्यक्ति स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करता है तो उसका व्यवहार जिस प्रकार का होता है, उस प्रकार का व्यवहार वह उस समय नहीं करता है जबकि वह समूह के अन्दर होता है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति का सामूहिक व्यवहार उसके वैयक्तिक व्यवहार से अलग तरह का होता है। इसीलिए सामूहिक व्यवहार के पृथक् रूप में अध्ययन करने की आवश्यकता अनुभव की जाती है।

सामूहिक व्यवहार की परिभाषा
(Definition of Mass or Collective Behaviour)

मोटे तौर पर जब दो या दो से अधिक व्यक्ति एक दूसरे को प्रभावित करते हुए क्रिया करते हैं तो उसे सामूहिक क्रिया या व्यवहार कहते हैं। और भी स्पष्ट शब्दों में सामूहिक परिस्थिति में व्यक्तियों के 'एकसाथ' सम्मिलित आचरण या क्रिया को सामूहिक व्यवहार कहते हैं। 'एकसाथ' का यह अर्थ नहीं है कि सभी व्यक्ति शारीरिक रूप से एकसाथ, एक स्थान पर उपस्थित हों। मनोवैज्ञानिक तौर पर यदि एकाधिक सदस्य, चाहे वे एक-दूसरे से दूर ही क्यों न हों, एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए क्रिया करते हैं तो उसे सामूहिक व्यवहार की संज्ञा दी जायेगी। यह प्रभाव प्रत्यक्ष हो सकता है और अप्रत्यक्ष भी। भीड़ में अनेक व्यक्ति मिल कर एक सामूहिक परिस्थिति का निर्माण करते हैं और उस सामूहिक परिस्थिति में रहते हुए भीड़ के सदस्य प्रत्यक्षतः एक-दूसरे के व्यवहारों को प्रभावित करते हुए व्यवहार करते हैं। यह तो प्रत्यक्ष प्रभाव का एक उदाहरण है। इसी प्रकार यदि किसी राजनीतिक पार्टी के निर्देशों और उपदेशों अथवा प्रचार से प्रभावित होते हुए देश के कोने-कोने में अनेक व्यक्ति उसको ही अपना मतदान करते हैं तो प्रभाव प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष है, फिर भी समाज-मनोविज्ञान की दृष्टि से यह सामूहिक व्यवहार ही कहा जायेगा। यह प्रभाव परम्परागत या संस्थागत भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, जब मन्दिर में या गिरजाघर में उपस्थित होकर अनेक व्यक्ति एकसाथ प्रार्थना करते हैं या भजन-कीर्तन करते हैं तो उस व्यवहार को भी सामूहिक व्यवहार कहते हैं। ऊपरी तौर पर देखने से ऐसा प्रतीत होगा कि प्रार्थना करने के लिए एकत्र होने वाले व्यक्ति अपने-अपने स्थान पर खड़े हो कर प्रार्थना कर रहे हैं और किसी का

प्रभाव किसी पर नहीं पड़ रहा है। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। जब कभी भी एकाधिक व्यक्ति में यह सचेतता होती है कि वे किसी सामान्य समूह के सदस्य हैं तो वे निश्चय ही उसी सचेतता के आधार पर एक-दूसरे से प्रभावित हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ लोगों को भजन गाते देखकर या सुनकर वे लोग भी गाने लगते हैं जो कि अब तक चुप खड़े रहते थे। इसी प्रकार युद्ध के दौरान नगर में शत्रु का आक्रमण होने की शंका होते-ही उस स्थान के लोग नगर छोड़ कर भागने लगते हैं। इसमें भी एक व्यक्ति का व्यवहार दूसरे व्यक्ति को प्रभावित करता है यद्यपि उनमें व्यक्तिगत या आमने-सामने का सम्बन्ध नहीं होता है। इस प्रकार सामूहिक व्यवहार सामूहिक परिस्थिति में उन एकाधिक व्यक्तियों का व्यवहार है जिनमें कि एक सामान्य (common) समूह का सदस्य होने की सचेतता पायी जाती है, चाहे उनका पारस्परिक सम्बन्ध प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष।

सामूहिक व्यवहार की प्रमुख विशेषताएँ
(Chief Characteristics of Collective or Mass Behaviour)

सामूहिक व्यवहार की प्रकृति को और भी निश्चित रूप में समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इस प्रकार के व्यवहार की कुछ प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कर लें। ये विशेताएँ इस प्रकार हैं—

(1) **एकाधिक व्यक्तियों का व्यवहार**—सामूहिक व्यवहार की प्रकृति की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि यह सदैव ही एकाधिक व्यक्तियों का व्यवहार होता है। यदि केवल एक व्यक्ति क्रिया कर रहा हो तो उसे सामूहिक व्यवहार न कह कर व्यक्तिगत व्यवहार ही कहा जायगा। सामूहिक व्यवहार कहलाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यवहार करने वाले व्यक्तियों की संख्या एक से अधिक हो। अतएव सामूहिक व्यवहार वास्तव में व्यक्ति का नहीं, अपितु समूह का व्यवहार होता है। इस समूह का आकार छोटा भी हो सकता है और बड़ा भी। परिवार, गोष्ठी, क्लब आदि छोटे समूह हैं; श्रोतागण, भीड़ आदि इनसे बड़े आकार के समूह हैं; जबकि जाति, मतदाताओं का समुदाय आदि वृहत् आकार के समूह हैं। जब इन छोटे या बड़े समूहों के सदस्य सामूहिक परिस्थिति में क्रिया करते हैं तो उसे सामूहिक व्यवहार कहा जाता है। अनेक सामाजिक मनोवैज्ञानिकों ने सामूहिक व्यवहार की विवेचना करते हुए समूह के आकार को कोई विशेष महत्त्व नहीं प्रदान किया है। श्री बेण्टले (Bentley) ने तो सामूहिकता के आकार को स्वीकार ही नहीं किया है। उनका कहना है कि सबसे सरल एवं प्रारम्भिक समूह दो व्यक्तियों का (जैसे पति-पत्नी या माता-पुत्र का समूह) और सबसे जटिल समूह असंख्य व्यक्तियों का (जैसे जनता, राष्ट्र, जाति आदि) हो सकता है। छोटे समूह का सामूहिक व्यवहार भी सरल होता है, जबकि बड़े आकार के समूह का सामूहिक व्यवहार अत्यन्त जटिल रूप धारण कर लेता है। पर, *इस सरलता या सरलता के इस भेद को मात्र समूह की संख्या पर* आधारित नहीं माना जा सकता। यह तो केवल परिमाणात्मक (quantitative) अन्तर है। जटिलता एवं सरलता के अन्तर का आधार मानसिक विशेषताएँ हैं, केवल संख्या-भेद नहीं। सर्वश्री पार्क (Park) और बर्गेस (Burgess) ने भी लिखा है कि एक छोटे समूह और भीड़ में केवल आकार और संख्या का ही अन्तर नहीं है। परिवार के सदस्यों का सामूहिक व्यवहार भीड़ के सदस्यों के सामूहिक व्यवहार से भिन्न इस कारण नहीं है कि दोनों के आकारों में भेद है, बल्कि इस कारण है कि उनमें मान-

सिक धरातल पर भी स्पष्ट अन्तर पाया जाता है। इसके विपरीत सर्वश्री ऑलपोर्ट, मंग, मिलर और डॉलर्ड आदि विद्वानों का कथन है कि समूह की संख्या का सामूहिक व्यवहार पर बहुत प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, दस व्यक्तियों की आक्रमणकारी भीड़ सम्भवतः एक डाकखाने में आग लगा देने का साहस न कर सके, पर दो सौ व्यक्तियों की भीड़ उसी काम को फौरन कर सकती है। इसीलिए सामाजिक मनोवैज्ञानिक जब 'समूह', 'भीड़', 'जनता' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं तो शायद इन शब्दों में छिपी संख्या के वास्तविक अर्थों या प्रभावों का ध्यान रखते हैं।

(2) **एकत्रीकरण** (Congregation)—बहुधा (सदैव नहीं) सामूहिक व्यवहार के हेतु जब एकाधिक व्यक्ति एक स्थान पर शारीरिक रूप से एकत्रित होते अथवा मिलते हैं, तो उसे एकत्रीकरण कहते हैं। यह एकत्रीकरण आकस्मिक (accidental) तौर पर हो सकता है और औपचारिक (formal) ढग से भी। उदाहरणार्थ, रास्ते में एक लड़का मोटर से दब गया। इस आकस्मिक घटना के आधार पर जो भीड़ वहाँ इकट्ठी हो जायगी, वह आकस्मिक एकत्रीकरण ही होगा। इसके विपरीत, शहर में प्रधान मन्त्री का भाषण सुनने के लिए श्रोतागण एकत्र हो जायें तो वह औपचारिक एकत्रीकरण होगा। कुछ सामाजिक मनोवैज्ञानिकों, जैसे सर्वश्री फ्रीमैन (Freeman), बार्कर (Barker), ब्लूमर (Blumer) आदि का मत है कि आकस्मिक या औपचारिक एकत्रीकरण का भी प्रभाव सामूहिक व्यवहार पर पड़ता है। आकस्मिक एकत्रीकरण में सामूहिक व्यवहार अनिश्चित, अव्यवस्थित तथा अनियमित होता है, जबकि औपचारिक एकत्रीकरण में सामूहिक व्यवहार बहुत कुछ निश्चित, व्यवस्थित तथा संस्थागत तरीके से घटित होता है। यही कारण है कि भीड़ और श्रोतागण के व्यवहार में पर्याप्त अन्तर होता है। साथ ही, एकत्रीकरण की दृष्टि से सामूहिक व्यवहार को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—(अ) प्रथम तो वह सामूहिक व्यवहार जिसमें समूह के सदस्य शारीरिक रूप से कभी भी एक स्थान पर एकत्रित नहीं होते हैं, जैसे जनता, जाति आदि; (ब) दूसरे वर्ग में वह सामूहिक व्यवहार आता है जिसमें समूह के सदस्य अनियमित और स्थायी तौर पर एक स्थान पर शारीरिक रूप से इकट्ठा हो जाते हैं, जैसे भीड़ आदि; तथा (स) तीसरे वर्ग में उन समूहों का व्यवहार सम्मिलित किया जाता है जिनके सदस्य समय-समय पर (periodically) एक स्थान पर औपचारिक ढग से एकत्रित होते हैं, जैसे चर्च में प्रति रविवार को प्रार्थना के लिए ईसाई धर्म को मानने वाले लोग इकट्ठा होते हैं। इन तीनों आधार पर होने वाले सामूहिक व्यवहारों में भी कुछ आधारभूत अन्तर देखने को मिलता है।

(3) **आकर्षण-शक्ति** (Polarization)—सामूहिक व्यवहार की एक और उल्लेखनीय मनोवैज्ञानिक विशेषता उसकी आकर्षण-शक्ति है। इस शक्ति के आधार पर सामूहिक व्यवहार करने वाला समूह अपने सदस्यों का ध्यान किसी एक उत्तेजनात्मक वस्तु अथवा घटना के चारों ओर केन्द्रित कर सकता है। सामूहिक व्यवहार के लिए प्रेरित करने के हेतु यह आवश्यक है कि सदस्यों का ध्यान एक सामान्य रुचि, वस्तु, घटना या समस्या के प्रति आकर्षित किया जाय। वास्तव में ऐसी सामान्य रुचि, घटना, समस्या आदि समूह के सदस्यों के लिए एक प्रेरक शक्ति (motive power) बन जाती है और उन्हीं के कारण सामूहिक व्यवहार भी घटित होता है। चाहे समूह के सदस्य शारीरिक रूप में एक स्थान पर एकत्रित हों या न हों, यह प्रेरक शक्ति उन्हें व्यवहार करने के लिए उत्तेजित करेगी ही। श्री वूलबर्ट (Woolbert) ने आकर्षण-

शक्ति का प्रयोग सभी श्रोताओं के बीच नेता के प्रति आदान-प्रदान की विशेषता-के लिए किया है। श्री ऑलपोर्ट (Allport) ने भी लिखा है कि भीड़ के सदस्य किसी एक सामान्य उत्तेजना की ओर ध्यान देते हैं और तदनुसार ही क्रिया करते हैं।

(4) समीकरण (Identification)—सामूहिक व्यवहार की एक और उल्लेखनीय विशेषता समीकरण है। समीकरण का तात्पर्य दूसरे व्यक्तियों की क्रियाओं, विचारों, भावनाओं आदि को ग्रहण करना और स्थायी अथवा अस्थायी रूप से उनको अपना बना लेना है। सामूहिक व्यवहार करने वाले व्यक्ति भी आपस में ऐसा ही करते हैं। समीकरण के आधार पर ही उन्हें एकसाथ एक समूह के रूप में समझा जा सकता है और उसी आधार पर सामूहिक व्यवहार तथा व्यक्ति के व्यवहार में एकरूपता पनपती है। वास्तव में सामूहिक व्यवहार करते हुए समूह के सभी सदस्य स्वयं को उस समग्र समूह (group as a whole) का एक अंग समझते हैं और इसी सचेतता के आधार पर वे एक-दूसरे के व्यवहारों से प्रभावित होते हैं। श्री बेण्टले (Bentley) का कथन है कि केवल कुछ व्यक्तियों का बोध होने से या कुछ लोगों के एक स्थान पर एकत्रित हो जाने से ही सामूहिक व्यवहार घटित नहीं होता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि उन लोगों में समूह के प्रति अपनत्व की भावना हो और वे समूह के साथ समीकरण करने में सफल हुए हों। समीकरण के आधार पर भी समूहों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—(अ) वे समूह जिनके सदस्यों में पारस्परिक समीकरण कम होता है, जैसे श्रोतागण। श्रोतागण एक स्थान पर शारीरिक तौर पर एकत्रित होते हैं, पर सदस्यों में इतना अधिक पारस्परिक सम्बन्ध नहीं पनप पाता है कि वे एक-दूसरे के साथ समीकरण कर सकें। इस कारण बहुधा श्रोतागण में समीकरण की मात्रा कम ही होती है। (ब) इसके विपरीत ऐसे समूह भी होते हैं जिनके सदस्यों में समीकरण होता तो है, पर उसकी प्रकृति अस्थायी होती है। इस प्रकार के समूह के सदस्य उस समय अपनत्व की भावना अनुभव करते हैं जबकि वे किसी तात्कालिक या आकस्मिक घटनावश किसी भी वस्तु के चारों ओर एकत्रित हो जाते हैं; पर जैसे ही वह घटना समाप्त हो जाती है, उस समूह के सदस्य भी बिखर जाते हैं और उनकी अपनत्व की भावना भी टूट जाती है। भीड़ इसी प्रकार का समूह है और भीड़-व्यवहार में समीकरण भी अस्थायी ही होता है। (स) पर कुछ सामूहिक व्यवहारों में समूह के सदस्यों के बीच समीकरण स्थायी रूप में देखने को मिलता है। ऐसे समूह के सदस्य सामूहिकता (collectivity) के प्रति स्थायी निष्ठा और अपनत्व का अनुभव करते हैं। परिवार इसी प्रकार के समूह का उत्तम उदाहरण है। इसीलिए इसके सदस्यों के सामूहिक व्यवहारों का एक बहुत-कुछ निश्चित प्रतिमान (pattern) देखने को मिलता है।

सामूहिक व्यवहार के प्रकार
(Kinds of Mass or Collective Behaviour)

सामूहिक व्यवहार के अनेक प्रकारों का उल्लेख विभिन्न आधारों पर किया जा सकता है। इसमें से प्रमुख प्रकार निम्नलिखित हैं—

(1) संगठित और असंगठित सामूहिक व्यवहार (Organized or Un-organized Collective Behaviour)—संगठन के आधार पर सामूहिक व्यवहारों को मोटे तौर पर, दो प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है—संगठित और असंगठित सामूहिक व्यवहार। असंगठित सामूहिक व्यवहार उस समूह के सदस्यों द्वारा किया जाता है जो किसी सामान्य सामाजिक नियम द्वारा एक सूत्र में बँधे न रहने के कारण तात्कालिक

परिस्थिति के प्रत्युत्तर में मनचाहे ढंग से अपने व्यवहारों को ढालते और अभिव्यक्त करते हैं। भीड़-व्यवहार इसी श्रेणी के अन्तर्गत आता है। असंगठित सामूहिक व्यवहार किसी तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति करता है, इसीलिए इस प्रकार का व्यवहार-प्रतिमान अस्थायी होता है। इसका एक अर्थ यह भी है कि असंगठित सामूहिक व्यवहार अपने सदस्यों को अधिक समय तक एक सूत्र में बाँधकर रखने में असमर्थ होता है। इसके विपरीत संगठित सामूहिक व्यवहार कुछ निश्चित सामाजिक नियमों द्वारा संचालित एवं नियन्त्रित होता है। संगठित सामूहिक व्यवहार की एक उल्लेखनीय विशेषता स्थायित्व है। श्री वेल्डर (Waelder) का कथन है कि संगठित सामूहिक व्यवहार पीढ़ियों तक जीवित रहता है। उदाहरणार्थ, पारिवारिक व्यवहार को ही ले लीजिए। यह परिवार के सदस्यों को जीवन भर के लिए एक सूत्र में बाँध देता है। श्री मैक्डूगल (McDougall) के मतानुसार, संगठित सामूहिक व्यवहार की पाँच विशेषताएँ होती हैं—(क) निरन्तरता (continuity) की कुछ मात्रा का उसमें होना आवश्यक है। यह निरन्तरता मुख्यतः भौतिक अथवा स्वरूपात्मक हो सकती है। भौतिक निरन्तरता का तात्पर्य यह है कि वे ही व्यक्ति काफी समय तक एक ही समूह के सदस्य बने रहें। उदाहरणार्थ, परिवार में पति और पत्नी की सदस्यता काफी समय तक बनी रहे। स्वरूपात्मक निरन्तरता का अर्थ यह है कि समूह में जो स्थितियाँ (status) निश्चित हैं, वे स्वयं काफी समय तक यों ही बनी रहें। उन पदों या स्थितियों पर काम करने वाले व्यक्तियों में परिवर्तन चाहे हो, पर स्वयं उन पदों में न हो। उदाहरणार्थ, फुटबाल-टीम में गोल-कीपर, फुल-बैक, हाफ-बैक, फॉरवर्ड, सेन्टर फॉरवर्ड आदि विभिन्न स्थितियाँ बहुत दिनों से यों ही बनी हुई हैं। (ख) समूह के सदस्यों के मस्तिष्क में समूह के स्वरूप, कार्य, उद्देश्य तथा क्षमताओं के सम्बन्ध में निश्चित और स्पष्ट विचार होना चाहिए। (ग) अपने समान या अपने से मिलते-जुलते अन्य समूहों के साथ उक्त समूह का परस्पर क्रियात्मक सम्बन्ध होना चाहिए। (घ) समूह का व्यवहार कुछ निश्चित नियमों, आदर्शों, मूल्यों आदि द्वारा नियन्त्रित होना चाहिए। (ङ) सदस्यों के कार्यों में श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण होना चाहिए।

(2) प्राकृतिक और कृत्रिम सामूहिक व्यवहार (Natural and Artificial Mass or Collective Behaviour)—व्यवहार की प्रकृति के आधार पर सामूहिक व्यवहारों को प्राकृतिक एवं कृत्रिम, इन दो भागों में बाँटा जा सकता है। इस प्रकार के विभाजन का विचार हमें फॉयड से प्राप्त होता है। प्राकृतिक सामूहिक व्यवहार उन समूहों का व्यवहार है जिनका व्यक्ति जन्मजात रूप में आरम्भ से ही सदस्य बन जाता है, जैसे परिवार, जाति, वंश आदि। इसीलिए परिवार आदि के सामूहिक व्यवहार भी स्वाभाविक ढंग से चलते रहते हैं। इसके विपरीत, कृत्रिम सामूहिक व्यवहार उन समूहों का व्यवहार है जिनके सदस्यों को अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निश्चित नियमों के बन्धन में जकड़े रहते हुए कार्य करना पड़ता है, जैसा कि चर्च या मन्दिर में या दफ्तर में रहते हुए होता है।

(3) परिस्थितिजन्य और इच्छाजन्य सामूहिक व्यवहार (Accidental and Intentional Collective Behaviour)—उत्पत्ति के आधार पर भी सामूहिक व्यवहार को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—परिस्थितिजन्य (accidental) तथा इच्छाजन्य (intentional)। जब कोई समूह किसी आकस्मिक घटना के घटित हो जाने के कारण जन्म लेता है तो उसके सदस्यों के व्यवहारों को परिस्थितिजन्य सामूहिक व्यवहार कहते हैं। भीड़-व्यवहार इस प्रकार के व्यवहार का एक उत्तम

उदाहरण है। इसके विपरीत, इच्छाजन्य सामूहिक व्यवहार (intentional mass behaviour) उस स्थिति के सामूहिक व्यवहारों को कहते हैं जबकि व्यक्ति अपने किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनी ही इच्छा से समूह-जीवन में भाग लेता और व्यवहार करता है। यदि कोई व्यक्ति पुण्य कमाने के लिए या परलोक के कल्याण के लिए सामूहिक प्रार्थना में भाग लेता है तो उसे इच्छाजन्य सामूहिक व्यवहार कहेंगे। इस प्रकार का व्यवहार व्यक्ति के आदर्श और उद्देश्यों के आधार पर ही विकसित होता है, क्योंकि इन्हीं के अनुरूप वह एक विशेष ढंग से व्यवहार करने को प्रेरित होता है।

(4) नेता द्वारा संचालित तथा नेताविहीन सामूहिक व्यवहार (Leader-directed and Leaderless Mass Behaviour)—*सामाजिक जीवन में ऐसे अनेक* सामूहिक व्यवहार होते हैं जिनमें नेता की कोई भी स्थिति नहीं होती है। पर, अनेक सामूहिक व्यवहार नेता द्वारा संचालित एवं नियन्त्रित होते हैं। जब युद्ध-क्षेत्र में सैनिक-गण मुख्य कमाण्डर के आदेशानुसार शत्रु-पक्ष पर हमला करते हैं, या जब पिता के निर्देशानुसार परिवार के सदस्य पारिवारिक उत्सव में भाग लेते हैं तो उसे नेता द्वारा संचालित सामूहिक व्यवहार कहते हैं। इसके विपरीत जब सब लोग एक स्वर से राष्ट्रीय गीत या भजन गाते हैं, अथवा एकसाथ मिलकर नमाज पढ़ते हैं तो उसे नेताविहीन सामूहिक व्यवहार कहते हैं। श्री फोमड का कथन है कि सामूहिक व्यवहार का अध्ययन करते समय हमें इस बात का भी आवश्यक रूप में ध्यान रखना चाहिए कि वह व्यवहार नेता द्वारा संचालित है, अथवा नेताविहीन। उनका मत है कि सामूहिकता (collectivity) में नेता ही आकर्षण का केन्द्र बन जाता है और ये समूह आकर्षण-प्रधान समूह होते हैं। नेता द्वारा संचालित होने से अधिकांश रूप में सामूहिक व्यवहार में व्यवस्था और निश्चितता उत्पन्न हो जाती है।

अध्याय 16

भीड़ तथा श्रोतागण

[CROWD AND AUDIENCE]

"केवल व्यक्तियों की संख्या से भीड़ का निर्माण नहीं हो जाता; यदि लोग किसी फुटपाथ पर इधर-उधर चल रहे हों, तो उनसे भीड़ का निर्माण तब तक नहीं होता जब तक कि उनके बीच ऐसा कोई सामान्य हित विकसित हो जाए जिसके प्रति वे प्रतिक्रिया भी करने लगे हों।" —Kimball Young.

भीड़, जैसा कि हम पिछले अध्याय मे देख चुके हैं, सामूहिक व्यवहार का एक अति उत्तम उदाहरण है। इस विषय पर लिखे हुए ग्रन्थों की आज कोई कमी नही है, फिर भी प्रोफेसर ग्रैहम वैलेज का अपनी पुस्तक 'ग्रेट सोसायटी' (Great Society) मे, यह कथन कि इस समूचे विषय का दुबारा वर्णन और दुबारा जाँच जरूरी है, अब भी सही है। खास तौर से 'भीड़' शब्द के साधारण बोलचाल मे अत्यधिक प्रयोग किये जाने के कारण और अलग अलग प्रकार के सामाजिक समूहो के यथार्थ वर्गीकरण और उनके सही नामो के आधार के कारण सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र मे बहुत गड़बड़ी होती रही है। यह सच है कि 'भीड़' शब्द का प्रयोग हम अपने जीवन मे प्राय. रोज ही करते है, फिर भी वह प्रयोग किसी निश्चित अर्थ मे नहीं होता है। साधारणतया यदि किसी स्थान पर अनेक व्यक्ति एकत्रित हो जायें, तो इसे हम भीड़ कह देंगे। सिनेमा छूटने के बाद रास्ते पर आते-जाते अनेक लोगों को देख कर हम कहते हैं कि इस समय इस रास्ते पर कितनी 'भीड़' है। उसी प्रकार कॉलेज से विद्यार्थियों का, अथवा दफ्तर से क्लर्कों का, अथवा मिल या कारखाने से श्रमिकों का झुण्ड छुट्टी के समय निकलता हुआ देखकर भी हम कहते है कि 'बड़ी भीड़ है', या बाजार मे जब बहुत से व्यक्ति इकट्ठे हो जाते है तो भी हम कहते है कि 'बाजार मे आज बहुत भीड़ है' इत्यादि। केवल साधारण बोलचाल मे ही नही, बल्कि कुछ विद्वानो द्वारा भी 'भीड़' शब्द का प्रयोग इतने व्यापक अर्थ मे किया गया है कि उस प्रयोग मे वैज्ञानिक यथार्थता को ढूंढना कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ, श्री ली बाँ (Le Bon) ने अपनी पुस्तक 'दि क्राउड' (The Crowd) मे 'भीड़' शब्द को अत्यधिक व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त किया है। उनके अनुसार मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भीड़ की उत्पत्ति के लिए व्यक्तियों की एक स्थान पर शारीरिक उपस्थिति जरूरी नही है। उनका कहना है कि 'मनोवैज्ञानिक भीड़' की उत्पत्ति के लिए प्रमुख आवश्यकता इस बात की है कि बड़ी संख्या मे विचार तथा भावनाओं की एक ही दिशा हो और इसके फलस्वरूप एक प्रकार का समूह-मस्तिष्क (group mind) उत्पन्न हो जाए। श्री ली बाँ के ग्रन्थ को पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि वे भीड़ तथा अन्य अव्यवस्थित जनसमूहों मे भेद नहीं कर पाये है। इसी से उनकी रचना मे 'भीड़ों का युग' (era of crowds) और 'लोक-समुदाय का शासन' (rule of the masses) ये शब्द बिलकुल यथार्थ हो गये है।

सर मार्टिन कॉन्वे (Sir Martin Conway) ने भी 'भीड़' शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ मे किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'दि क्राउड इन पीस एण्ड वार' (The Crowd in Peace and War) में 'भीड़' शब्द का प्रयोग उन सभी मानव-समूहों के लिए किया है जिनका एक पृथक् तथा चेतन अस्तित्व होता है। आपने अशान्त भीड़, जन-समूह, जाति, साम्राज्य, राष्ट्र आदि सब समूहों और समुदायो को

भीड़ कहा है। परन्तु 'भीड़' शब्द का इतना व्यापक प्रयोग वैज्ञानिक या सामाजिक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। श्री किम्बल यंग (Kimball Young) ने लिखा है, "मनोवैज्ञानिक अर्थ मे, केवल व्यक्तियो की सख्या से भीड़ का निर्माण नहीं हो जाता है। यदि लोग किसी फुटपाथ पर इधर-उधर चल रहे हों तो उनसे भीड़ का निर्माण तब तक नहीं होता जब तक कि उनके बीच कोई ऐसा सामान्य हित न विकसित हो जाय जिसके प्रति वे प्रतिक्रिया भी करने लगे हों।" उदाहरण के लिए, यदि साइकिल पर जाते हुए दो व्यक्ति बुरी तरह से टकरा जायें और पैदल चलने वाले लोगो का ध्यान उस घटना पर केन्द्रित हो जाय जिससे वे उन दो व्यक्तियो को आपस मे तकरार करते हुए देखने के लिए या उनकी मदद करने के लिए रुक जायें तो उसे हम भीड़ कहेंगे। श्री किम्बल यंग के उपर्युक्त कथन का स्पष्टीकरण निम्नलिखित विवेचना से होगा।

भीड़ क्या है ?
(What is Crowd)

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भीड़ एक स्थान-विशेष पर एकत्रित या उपस्थित व्यक्तियों का समूह है जिनके सदस्यों का ध्यान तथा भावनाएं एक ही वस्तु (object) पर केन्द्रित हों। भीड़ के सदस्य एक स्थान पर किसी आकस्मिक या तात्कालिक घटना के घटित हो जाने के फलस्वरूप एकत्रित हो जाते हैं। दूसरे शब्दो में, भीड़ को जान-बूझ कर या सोच-विचार कर पूर्वसूचना के अनुसार एकत्रित नहीं किया जा सकता है, और इसी कारण भीड़ में संगठन के तत्त्व का नितान्त अभाव होता है। तात्कालिक परिस्थिति के प्रत्युत्तर मे प्रतिक्रियास्वरूप जो कुछ भी घटित होता है, उसमे संगठन का अभाव होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि प्रत्येक संगठन के विकसित होने के लिए कुछ समय की आवश्यकता होती है। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि प्रत्येक भीड मे सगठन का बिलकुल अभाव ही होता है। श्रोतागण भी एक विशिष्ट प्रकार की भीड़ है और उसमें सगठन का कुछ न कुछ तत्त्व देखने को अवश्य मिलता है। भीड़-निर्माण में महत्त्वपूर्ण बात है कोई तात्कालिक spontaneous) या अस्थायी घटना। इसीलिए भीड़ मे निरन्तरता नहीं होती है; भीड़ पाँच मिनट के बाद समाप्त हो सकती है और पाँच घण्टे के बाद भी। पर ऐसा नहीं होगा कि वह स्थायी तौर पर या दो-चार दिनों तक निरन्तर ही बनी रहे। साथ ही, भीड़ के साथ 'स्थानीय वितरण' (spatial distribution) की धारणा भी अभिन्न रूप से जुडी रहती है, अर्थात् भीड़ किसी स्थान पर ही एकत्रित होती है, और इसलिए उसके सदस्यों मे शारीरिक रूप में सम्बन्ध पाया जाता है। यहाँ 'शारीरिक रूप मे सम्बन्ध' का तात्पर्य है 'शारीरिक रूप मे उपस्थिति के सम्बन्ध मे सचेतता।' इस सचेतता के आधार पर ही सम्पूर्ण भीड़ का समग्र रूप मे प्रत्येक व्यक्ति पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है, चाहे वह किसी भी रूप में क्यो न हो। उदाहरणार्थ, एक सभा मे भाषण सुनते हुए श्रोताओं में से एक व्यक्ति ताली बजाता है तो कुछ ही क्षणों में तालियों की गड़गड़ाहट से आकाश गूँज उठता है। इसी प्रकार मान लीजिए, एक जेबकतरा पकड़ा गया, तुरन्त उसे घेर कर अनेक लोग इकट्ठे हो जाते हैं; फिर यदि उनमें से कोई एक व्यक्ति उस जेबकतरे को एक तमाचा लगा देता है, तो भीड़ के अन्य अनेक लोग भी उसे तमाचे रसीद करने लग जाते है। फिर भी चूंकि भीड़ का जन्म किसी तात्कालिक या अस्थायी घटना के प्रत्युत्तर मे ही होता है, इस कारण भीड़-समूह की संरचना ढीले-ढाले तौर की ही होती है।

अतः स्पष्ट है कि भीड़ किसी तात्कालिक घटना या परिस्थिति के प्रत्युत्तर में एक सीमित स्थान-विशेष पर एकत्रित या उपस्थित व्यक्तियों का ढीले ढाले संगठन वाला ऐसा अस्थायी समूह है जिसके सदस्यों का ध्यान तथा भावनाएं किसी सामान्य वस्तु पर केन्द्रित हों।

भीड़ की परिभाषा

(Definition of Crowd)

1. श्री किम्बल यंग (Kimball Young) के अनुसार, "किसी सामान्य केन्द्र या आकर्षण के चारों ओर पर्याप्त संख्या में एकत्रित लोगों का समूह ही भीड़ है।"[1] अपनी इस परिभाषा को श्री यंग ने आगे चलकर इस रूप में संशोधित कर दिया है, "भीड़ ऐसी सामूहिकता है जिसमें किसी सामान्य अवधान-बिन्दु के प्रति एक सीमित स्थान के भीतर अनुक्रिया करते हुए व्यक्तियों की अनिवार्यतः काफी बड़ी संख्या सम्मिलित हो।"[2]

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से उपर्युक्त दोनों ही परिभाषाएं यथार्थ प्रतीत होती हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि इन दोनों ही परिभाषाओं में भीड़ की सबसे महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक विशेषता—किसी सामान्य वस्तु (object) पर एकाधिक व्यक्तियों के ध्यान के केन्द्रीकरण—पर बल दिया गया है। इनका तात्पर्य यह है कि व्यक्तियों की पर्याप्त संख्या मात्र भीड़ के निर्माण के लिए काफी नहीं होती। हजार व्यक्ति भी मिल कर एक भीड़ का निर्माण तब तक नहीं कर सकते जब तक उनका ध्यान विभिन्न वस्तुओं पर बिखरा हुआ हो। पर, दस व्यक्ति भी अगर अपने ध्यान को समेट कर किसी एक वस्तु पर केन्द्रित कर दें तो उसे हम 'भीड़' की संज्ञा देने में तनिक भी संकोच नहीं करेंगे। उदाहरणार्थ, एक मैदान पर काफी संख्या में लोग इधर-उधर घूम रहे हैं, तो उसे हम भीड़ नहीं कहेंगे। पर यदि अकस्मात् सड़क पर मोटरकार से एक बच्चा दब जाय और उस रास्ते पर चलने वाले अनेक व्यक्ति उस घटना-स्थल पर इकट्ठे हो जायें और सबका ध्यान उस बच्चे पर केन्द्रित हो जाय तो व्यक्तियों के उस समूह-संकलन या एकत्रीकरण को हम निश्चय ही भीड़ कहेंगे। अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भीड़ के निर्माण के लिए ध्यान के केन्द्र के रूप में एक सामान्य वस्तु का होना परमावश्यक है। उदाहरणार्थ, यदि एक सिनेमा-इश्तहार को देखने के लिए कुछ लोग एक स्थान पर इकट्ठे हो जाते हैं तो उसे भीड़ ही कहेंगे, क्योंकि वहाँ एकत्रित सभी लोगों के ध्यान का सामान्य केन्द्र वह सिनेमा-इश्तहार है। इतना ही नहीं, श्री यंग ने अपनी परिभाषा में भीड़ की कुछ अन्य विशेषताओं की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है। उनमें से प्रथम यह कि भीड़ एक सामूहिकता है जिसमें पर्याप्त संख्या में लोग होते हैं। दो व्यक्तियों को लेकर भीड़ की रचना नहीं होती। साथ ही, भीड़ का सम्बन्ध एक सीमित स्थान से होता है जिसमें कि शारीरिक रूप से दूसरे लोगों की उपस्थिति के प्रति भीड़ के सारे सदस्य सचेत रह सकें। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सीमित स्थान पर रहते हुए शारीरिक तौर पर दूसरे लोगों की उपस्थिति के सम्बन्ध में सचेतना भी भीड़ का एक उल्लेखनीय तत्त्व है। इसीलिए सूर्य-ग्रहण के समय देश के वे सभी लोग जो कि सूर्य को देखते रहते हैं, भीड़ का निर्माण नहीं करते हैं, क्योंकि वे सारे देश में छिटके हुए हैं, अर्थात् सीमित स्थान पर एकत्रित नहीं हुए हैं। इसके विपरीत, एक नगर के

(4) श्री कैंट्रिल (Cantril) का मत है कि "भीड़ एक स्थान पर एकत्रित ऐसे व्यक्तियों का समूह होती है जिन्होंने थोड़े समय के लिए कुछ सामान्य मूल्यों के साथ अपना समीकरण कर लिया हो और जो समान संवेगों की अभिव्यक्ति कर रहे हों।"[5] इस परिभाषा में श्री कैंट्रिल ने भीड़ की एक महत्वपूर्ण विशेषता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। भीड़ के कुछ सामान्य मूल्य (values) तथा संवेग (emotions) होते हैं। ऐसी कोई एक परिस्थिति या घटना होती है जिसके आधार पर भीड़ निर्मित होती है। उस घटना या परिस्थिति से सम्बन्धित कुछ सामान्य मूल्य होते हैं। भीड़ के सदस्य के रूप में वे ही व्यक्ति टिक सकते हैं जो उस मूल्य के साथ अपना समीकरण करने में सफल हो या उन मूल्यों को अपना मूल्य समझ सकें। उदाहरणार्थ, मोटरकार के नीचे एक बच्चे के दब जाने पर उसे घेर कर खड़ी लोग भीड़ का निर्माण करेंगे जिनमें यह सामान्य मूल्य स्पष्ट हो कि ऐसे मौके पर हमें सहायता के लिये खड़ा होना चाहिए। इसी प्रकार रास्ते के किनारे जादू दिखलाने वाले व्यक्ति को घेर कर जो लोग भीड़ का निर्माण करेंगे, उनमें जादू के प्रति एक सामान्य मूल्य अवश्य होगा। इसी प्रकार किसी भीड़ का सदस्य बनने वाले सभी लोग एक प्रकार के ही संवेग को अभिव्यक्त करते हैं। एक व्यक्ति अगर चिल्लाता है तो दूसरे भी चिल्लाने लगते हैं; एक व्यक्ति क्रोध प्रदर्शित करता है तो सभी या अधिकांश लोगों के मन में क्रोध की ही भावना उभरती है। इसी प्रकार यदि उल्लास प्रदर्शित करना हुआ तो सभी एकसाथ एक ही प्रकार के शब्दों का उच्चारण करते हैं।

भीड़ की मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ
(Psychological Characteristics of Crowd)

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम भीड़ की सामान्य मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

(1) एकत्रीकरण (Gathering)—भीड़ की सबसे आवश्यक एवं प्रथम विशेषता यह है कि काफी लोगों का एक समूह हो, और इन लोगों को शारीरिक रूप से एक स्थान-विशेष पर एकत्रित होना पड़ता हो। बिना व्यक्तियों के इकट्ठा हुए भीड़ का होना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि कुछ समय के लिये उनमें ठहराव (stagnation) की प्रवृत्ति हो। यदि व्यक्तियों की मानसिक स्थिति इस प्रकार की है कि वे एक स्थान पर आते और जाते रहे तो भीड़ का निर्माण नहीं हो सकेगा। ठहराव की कुछ-न-कुछ प्रवृत्ति न होने से एक सामान्य वस्तु के प्रति लोगों का ध्यान केन्द्रित नहीं हो सकता।

(2) एक सामान्य रुचि, उद्देश्य या कार्य का केन्द्र (A Common Point of Interest, Aim or Action)—जब तक एक स्थान पर एकत्रित व्यक्तियों का ध्यान एक सामान्य वस्तु पर केन्द्रित न हो, तब तक उसे भीड़ नहीं कहा जा सकता। श्री किम्बल यंग ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से एक सामान्य रुचि, क्रिया या एक सामान्य वस्तु (object) पर ध्यान का केन्द्रित होना भीड़ का एक आवश्यक तत्त्व है। उदाहरणार्थ, एक बालक को सुन्दर गीत गाते देखकर बहुत से लोग उसे घेर कर एकत्रित हो जाते हैं। इस प्रकार वे भीड़ का निर्माण करते हैं क्योंकि वह बालक और उसका गायन सबके ध्यान या रुचि का केन्द्र बन जाता है। जब सामान्य रुचि, ध्यान इत्यादि किसी वस्तु पर केन्द्रित हो जाता है तो उस प्रक्रिया को आकर्षण-शक्ति या 'अभिस्यन्दन' (polarisation) कहते

है। 'अभिस्पन्दन' भीड़ की एक उल्लेखनीय मनोवैज्ञानिक विशेषता है, और, भीड़ के किसी भी वैज्ञानिक विश्लेषण के समय इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

(3) **अस्थिर प्रकृति** (Unstable or Transitory Nature)—सर्वश्री मैकाइवर तथा पेज (MacIver and Page) ने लिखा है कि समस्त सामाजिक समूहों में भीड़ सर्वाधिक अनित्य (transitory) तथा अस्थिर (unstable) होती है।[6] श्री किम्बल यंग (Kimball Young) ने भी इसे भीड़ की एक उल्लेखनीय विशेषता माना है।[7] इसका प्रमुख कारण यह है कि भीड़ का निर्माण किसी तात्कालिक घटना या परिस्थिति के आधार पर ही होता है, और जैसे ही वह परिस्थिति या घटना समाप्त हो जाती है, भीड़ का टूट जाना स्वाभाविक हो जाता है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति को रास्ते के किनारे मरे हुए पड़ा देखकर बहुत से लोग इकट्ठा होकर भीड़ का निर्माण कर सकते हैं, पर थोड़ी देर बाद जैसे ही पुलिस की गाड़ी उस मृत व्यक्ति को वहाँ से उठाकर ले जाती है, भीड़ भी तितर-बितर हो जाती है। वास्तव में, जैसे ही ध्यान का सामान्य केन्द्र—रुचि या वस्तु—हट जाता है, या समाप्त कर दिया जाता है—वैसे ही भीड़ का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है—चाहे वहाँ उसके बाद भी हजारों व्यक्ति एकत्रित ही क्यों न रहें। उदाहरणार्थ, यदि प्रधान मंत्री जी का भाषण सुनने के लिये सार्वजनिक सभा में हजारों व्यक्ति एकत्रित हुए हैं, तो जब तक उनके ध्यान का सामान्य केन्द्र प्रधान मंत्री जी मंच पर भाषण दे रहे हैं, तब तक उसे हम 'भीड़' (या श्रोतागण) की संज्ञा देंगे, पर, जैसे ही प्रधान मंत्री जी वहाँ से चले जायेंगे और उनका स्थान कोई दूसरा व्यक्ति ले लेगा, वैसे ही वह जनसमूह भीड़ नहीं रह जायेगा। वैसे हो सकता है कि प्रधान मंत्री जी के चले जाने के बाद भी लोग वहाँ पर रुके रहें और आपस में प्रधान मंत्री जी के भाषण के सम्बन्ध में आलोचना करते रहें। यानी, यह आशा नहीं की जा सकती है कि प्रधान मंत्री जी निरन्तर भाषण देते ही रहेंगे, इसलिये यह भी आशा नहीं की जाती कि भीड़ भी बराबर बनी ही रहेगी और स्थायी होगी।

(4) **असंगठित** (Unorganized)—भीड़ असंगठित होती है। पर, इस विशेषता को बहुत सावधानी से समझने की आवश्यकता है, क्योंकि कोई भी सामाजिक समूह ऐसा नहीं हो सकता, जिसमें संगठन का सम्पूर्ण अभाव हो। सर्वश्री मैकाइवर तथा पेज (MacIver and Page) ने लिखा है कि "भीड़ असंगठित समूहों की श्रेणी के अन्तर्गत आती है; पर, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भीड़ का कोई प्रतिमान (pattern) नहीं होता, या भीड़ की कोई विशिष्ट अभिव्यक्ति नहीं होती। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि भीड़ की इकाइयाँ एक-दूसरे के सन्दर्भ में संगठित नहीं होतीं। भीड़ को विचारपूर्वक भड़काया जा सकता है, पर उसे किसी पूर्वनिश्चित क्रम के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता। इसका (भीड़ का) नेतृत्व किया जा सकता है, पर केवल उसके सदस्यों की भावनाओं तथा दृष्टिकोणों के आधार पर ही, केवल उसके स्वयं के स्थायी भावों (sentiments) के आधार पर ही।'[8] वास्तव में, जैसा कि हम आगे देखेंगे, भीड़ को दो मोटे भागों में विभाजित किया जाता है—औपचारिक (formal) और अनौपचारिक (informal)। संगठन का अभाव अनौपचारिक भीड़ों में अपेक्षतया अधिक होता है। इस प्रकार की भीड़ का निर्माण, बिना किसी पूर्वसूचना के किसी तात्कालिक या आकस्मिक घटना के प्रत्युत्तर में एकाएक हो जाता है—न समय की निश्चितता होती है और न ही स्थान, उद्देश्य या कार्य की। सब कुछ एकाएक या तत्काल ही निश्चित होता है। इसीलिये भीड़ में संगठन का अभाव होता है।

(5) एक सामान्य संवेग (A Common Emotion)—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सामान्य रुचि या ध्यान का एक सामान्य केन्द्र या वस्तु भीड़ का एक प्रमुख मनोवैज्ञानिक तत्त्व है; और, जब भीड के सभी लोगों का ध्यान एक सामान्य वस्तु (object) या रुचि की ओर होता है तो उनमें लोगो में एक सामान्य संवेग का भी उदय होता है। भीड़ के अधिकांश या सभी सदस्य सामान्य रूप में भय, दुःख, घृणा, उल्लास, उत्साह, क्रोध आदि का अनुभव करते हैं और उसी के अनुसार कार्य भी करते हैं। यही कारण है कि भीड़ जो कुछ भी करती है, उसका एक-न-एक अंश भीड के अधिकांश सदस्य ग्रहण करते हैं। चूँकि भीड़ मे केवल आमने सामने (face to face) का ही सम्बन्ध नही, अपितु कन्धे-से-कन्धे (shoulder to shoulder) का सम्पर्क होता है। इस कारण भीड़ में संवेग सब व्यक्तियों में तेजी से फैल जाता है, और एक सामान्य व शक्तिशाली रूप धारण कर लेता है।

(6) पारस्परिक प्रभाव (Mutual Influence)—अन्य किसी भी समूह की तुलना मे भीड के सदस्य एक-दूसरे को अधिक प्रभावित करते हैं, क्योंकि भीड में पिचपिचपन और कन्धे-से-कन्धे का सम्बन्ध रहता है। इससे प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के द्वारा प्रभावित होता रहता है। यह प्रभाव कभी-कभी इतना अधिक होता है कि भीड़ के सदस्य के रूप मे व्यक्ति कोई भी असम्भव कार्य करने को तत्पर हो जाता है। साम्प्रदायिक दंगों के समय यदि कोई झूटमूट भी यह कह देता है कि विरोधी सम्प्रदाय के लोगों ने हमारे किसी सदस्य की हत्या कर डाली है, तो साम्प्रदायिक भीड़ के सदस्य बिना रुके ही दूसरे पक्ष पर हमला बोल देते हैं।

(7) स्थानीय वितरण (Spatial Distribution)—भीड़ व्यक्तियों का समूह होती है, इस कारण भीड को अमूर्त (abstract) नही, अपितु मूर्त (concrete) कहना ही ठीक है। दूसरे शब्दों मे, भीड मूर्त व्यक्तियों का एकत्रीकरण होती है। इन मूर्त व्यक्तियों को एकत्रित होने के लिये एक स्थान की आवश्यकता होती ही है। भीड के सदस्य जितनी जगह मे फैले होते हैं, उसी को 'भीड़ का स्थानीय वितरण' कहते हैं। भीड़ के निर्माण मे इस स्थानीय वितरण का भी अपना महत्त्व होता है, क्योंकि स्थान के बिना व्यक्तियों का एकत्रीकरण सम्भव नही है; और, व्यक्तियों के एकत्रीकरण के बिना भीड का अस्तित्व हो नहीं सकता। पर, इस स्थानीय वितरण के सम्बन्ध में श्री किम्बल यंग (Kimball Young) ने बल देकर कहा है कि भीड का फैलाव एक सीमित क्षेत्र व स्थान के अन्दर ही होता है।[9] पूरे गाँव, नगर, प्रान्त या देश मे फैले हुए जन-समूह को हम भीड नहीं कहते हैं। एक सीमित क्षेत्र (limited space) के अन्तर्गत रहने हुए ही भीड़ के सदस्य 'कन्धे-से-कन्धे' का सम्बन्ध बनाये रख सकते और परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित कर सकते हैं। साथ ही, भीड अस्थिर होती है और उसका जीवन-काल बहुत कम है। उसी कम समय के अन्दर भीड के सदस्य को एक स्थान पर एकत्रित होकर अपनी तात्कालिक क्रिया करनी पड़ती है। इस स्थान के बिना यह क्रिया सम्भव नहीं है।

(8) सामूहिक शक्ति की अनुभूति (Sense of Collective Power)—भीड़ मे, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, 'कन्धे-से-कन्धे' का सम्बन्ध होता है और उसी सम्बन्ध के कारण भीड के अन्दर रहते हुए व्यक्ति अपना पृथक् अस्तित्व बनाये नहीं रख पाता, उसका व्यक्तित्व तो सम्पूर्ण समूह के व्यक्तित्व के साथ घुल-मिल जाता है। यही कारण है कि भीड के सदस्य के रूप में व्यक्ति अपने को नहीं

समूह को देखता है और समूह की शक्ति को ही वह अपनी निजी शक्ति मानता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि सामूहिक शक्ति व्यक्ति से परे कोई पृथक् अथवा स्वतंत्र शक्ति है। वास्तव में वैयक्तिक सदस्यों (individual members) की शक्ति ही समग्र रूप में समूह की शक्ति होती है। यह शक्ति सम्बन्धों की निकटता के कारण पनपती है और व्यक्ति को प्रभावित करती है। यही कारण है कि एक भीड़ के सदस्य के रूप में व्यक्ति उन कार्यों को करने में जरा भी नहीं हिचकता जिन्हें करने का साहस अन्य परिस्थितियों में वह कर ही नहीं सकता। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति किसी बदमाश पर हाथ उठाने की बात कभी सपने में भी नहीं सोच पाता है; पर जब वही बदमाश किसी अपराध के कारण पकड़ा जाता है और भीड़ में फँस जाता है तो वही व्यक्ति उस बदमाश को भी बिना किसी हिचकिचाहट के, भीड़ के सदस्य के रूप में, मार-पीट देता है।

भीड़ का वर्गीकरण
(Classification of Crowd)

भीड़ का वर्गीकरण विभिन्न लेखकों ने अपने-अपने ढंग से किया है। यहाँ हम कुछ उदाहरणों द्वारा इस बात का स्पष्टीकरण करेंगे।

मैकाइवर तथा पेज का वर्गीकरण
(Classification of MacIver and Page)

इन विद्वानों ने रुचि के आधार पर भीड़ का वर्गीकरण किया है। इस आधार पर भीड़ के निम्न दो भेद किये जा सकते हैं[10] —

(अ) समान रुचि वाली भीड़ (The Like Interest Crowd)—इस प्रकार की भीड़ उस समय पनपती है जब कोई घटना एकाएक घटित हो जाती है और घटना-स्थल के आसपास मौजूद लोग अपनी जिज्ञासा (curiosity) से प्रेरित होकर पास आ जाते या चारों ओर इकट्ठे हो जाते हैं। यह जिज्ञासा दूसरे लोगों को एक स्थान पर जमा देखकर जागृत होती है और साथ ही उस घटना से भी एक प्रकार की उत्तेजना प्राप्त होती है। समान रुचि वाली भीड़ के सदस्य एक स्थान पर एकत्रित तो अवश्य होते हैं, पर सभी सदस्यों की रुचि फिर भी सामान्य नहीं होती। उदाहरणार्थ, जब किसी स्थान पर आग लग जाती है तो उसको देखने के लिये जो भीड़ इकट्ठी हो जाती है, उसके सदस्यों का उद्देश्य या रुचि एक-सी होती है। इसी तरह समान रुचि वाले, अर्थात् जिनकी धर्म में रुचि है, वे लोग ही धार्मिक व्याख्यान सुनने के लिये एकत्रित होंगे। इस प्रकार की भीड़ किसी तरह की कोई क्रिया नहीं करती।

(ब) सामान्य रुचि वाली भीड़ (The Common Interest Crowd)—सामान्य रुचि वाली भीड़ की उत्पत्ति एक सामान्य उद्देश्य या स्वार्थ को केन्द्रित करके होती है। इसीलिये यह स्वार्थ या उद्देश्य भीड़ के सदस्यों को क्रिया के लिये प्रेरित करता है। स्कूल, कॉलेज या मिल के मजदूरों की हड़ताल के सिलसिले में जो भीड़ इकट्ठी होती है, उसमें सबका सामान्य स्वार्थ होता है—अपनी किसी माँग या माँगों की पूर्ति करवाना। इस प्रकार की भीड़ की उत्पत्ति किसी आकस्मिक आवश्यकता संकट, समूह के घृणा या उल्लास भाव की तात्कालिक अभिव्यक्ति, त्यौहार या उत्सव, किसी नेता के आविर्भाव या देहान्त के अवसरों पर होती है; यह भीड़ कोई न कोई क्रिया की ओर सचेत करती है।

किम्बल यंग का वर्गीकरण
(Classification of Kimball Young)

श्री किम्बल यंग ने भीड़ को दो मुख्य प्रकारों में बाँटा है [11] —

(क) औपचारिक या संस्थागत भीड़ (Formal or Institutionalized Crowd)—इस प्रकार की भीड़ में कुछ संस्थागत रीतियों का पालन होता है, और इसीलिये इनके सदस्यों के व्यवहार में बहुत कुछ निश्चितता की आशा की जाती है। श्रोतागण (audience) इस प्रकार की भीड़ के उत्तम उदाहरण हैं।

(ख) अनौपचारिक भीड़ (Informal Crowd)—इस प्रकार की भीड़ किसी आकस्मिक घटना के आधार पर पनपती है। अतः इसमें न तो किसी प्रकार की रीतियों का पालन होता है, और न ही कोई व्यवस्था देखने को मिलती है। अनौपचारिक भीड़ के भी विभिन्न प्रकार हो सकते हैं। इनका स्पष्टीकरण निम्न रेखाचित्र से हो जायेगा—

भीड़ (crowd)
- औपचारिक भीड़ (formal crowd)
- अनौपचारिक भीड़ (informal crowd)
  - क्रियात्मक भीड़ (active crowd)
    - आक्रमणकारी भीड़ (attack-rage crowd)
    - भयभीत भीड़ (panic crowd)
  - निष्क्रिय भीड़ (passive crowd)
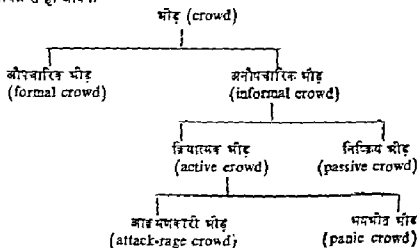
ब्लूमर का वर्गीकरण
(Classification of Blumer)

भीड़ भी थोड़े समय के लिये होती है; पर, यह क्रिया-प्रधान नहीं होती। सिनेमा, खेल या टेस्ट-मैच देखती हुई भीड़ इसी श्रेणी में आयेगी।

(3) क्रियात्मक भीड़ (Active Crowd)—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस प्रकार की भीड़ की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि यह क्रिया-प्रधान होती है। यह उग्र प्रवृत्ति की भीड़ होती है और किसी विशेष उद्देश्य या हित की पूर्ति के लिये क्रियाशील होती है। यह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किसी भी सीमा तक भयंकर तथा उग्र रूप धारण कर सकती है; जैसे दंगे, आदि।

(4) अभिव्यक्तात्मक भीड़ (Expressive Crowd)—इस प्रकार की भीड़ अपने कुछ-न-कुछ संवेगों (emotions) या अनुभूतियों (feelings) को अभिव्यक्त करने के लिये क्रियाशील होती है। पर, इसकी क्रियाओं का अपना कोई निश्चित उद्देश्य नहीं होता। कुछ न कुछ करना या दिखाना है—बस, इसी आधार पर इस प्रकार की भीड़ क्रियाशील होती है; और, जिन संवेगों या अनुभूतियों को यह व्यक्त करती है, उन्हीं सामूहिक क्रियाओं के आधार पर इसके सदस्यों में मनोवैज्ञानिक एकता स्थापित होती है। एकसाथ हँसती हुई, शोर मचाती हुई, नाचती हुई या प्रार्थना करती हुई भीड़ इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती है।

श्री ब्लूमर का वर्गीकरण केवल भीड़-व्यवहार का ही नहीं, बल्कि श्रोतागण व अन्य सामूहिक व्यवहार का भी दर्शन करता है।

ब्राउन का वर्गीकरण
(Classification of Brown)

श्री रोजर ब्राउन (Roger W. Brown) ने बड़े ही शानदार ढंग से इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया है—
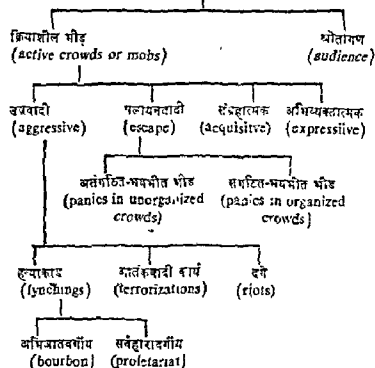
उपर्युक्त वर्गीकरण से स्पष्ट है कि भीड़ के दो प्रमुख प्रकार हैं—सक्रिय या क्रियाशील भीड़ और श्रोतागण। श्रोताओं का हम इसी अध्याय के अन्त में विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे। यहाँ श्री ब्राउन द्वारा उल्लिखित क्रियाशील भीड़ के विभिन्न प्रकारों के विषय में कुछ और जान लेना उपयोगी होगा।

क्रियाशील भीड़

(Active or Action Crowds or Mobs)

उपर्युक्त वर्गीकरण से यह स्पष्ट है कि श्री ब्राउन (Brown) ने क्रियाशील भीड़ के विभिन्न प्रकारों और उपप्रकारों का उल्लेख किया है। इनके विषय में पृथक्-पृथक् विवेचन कर लेना उचित ही होगा।

क्रियाशील भीड़ के विभिन्न स्वरूप

(Different Forms of Active Crowd)

(1) उग्रवादी भीड़ (Aggressive Crowd)—भीड़ किसी भी संवेग के कारण उग्र रूप धारण कर सकती है। यदि भीड़ के सदस्यों में घृणा, क्रोध आदि संवेगों की तीव्रता है तो वह उग्रवादी भीड़ का रूप धारण कर लेती है। श्री डोलार्ड (*Dollard*) तथा उनके साथियों ने लिखा है कि जब किसी भीड़ की उद्देश्य-प्रतिक्रिया (goal-response) दूसरों को नुकसान पहुँचाना हो तो उसे हम उग्र-

Piere) ने लिखा है कि यह तभी होता है जब भीड़ किसी संकट या आकस्मिक भय का अनुभव करती है। हो सकता है कि संकट अधिक गम्भीर न हो, फिर भी चूँकि वह व्यक्तियों के सम्मुख एकाएक आ खड़ा होता है, इस कारण भीड़ के सदस्य अधिक भयभीत हो उठते हैं।[17] इसका परिणाम यह होता है कि भीड़ का कोई सदस्य उस परिस्थिति या संकट से पीछा छुड़ाने के लिये भाग निकलता है और उसकी देखादेखी अन्य लोग भी भाग खड़े होते हैं। पलायनवादी भीड़ दो प्रकार की होती है—असंगठित भयभीत भीड़ और संगठित भयभीत भीड़। (अ) असंगठित भयभीत भीड़ वह होती है, जिसके लोग असंगठित ढंग से इधर-उधर भागने लगते हैं। डॉ० मैक्डूगल (McDougall) का कथन है कि भय में व्यक्ति एकदम स्वार्थी बन जाता है। उसकी चरम अभिव्यक्ति उस समय होती है जब व्यक्ति अपने बीबी-बच्चों तक को संकटमय परिस्थिति में छोड़कर भाग जाता है। (ब) संगठित भयभीत भीड़ में भी भीड़ के सदस्य भागते हैं, पर संगठित तौर पर। उदाहरणार्थ, डूबते हुए जहाज के यात्री भयभीत होते हुए भी अगर श्रृंखला व अनुशासन को नहीं तोड़ते और बारी-बारी से 'लाइफबोट' पर चढ़कर सुरक्षित स्थान पर भाग जाने का प्रयत्न करते हैं तो उसे 'संगठित भयभीत भीड़' कहते हैं। पर, बहुधा यह देखा जाता है कि संगठित भीड़ में भी भयग्रस्त लोग अनुशासन के साधारण नियमों को भूल जाते हैं या नेता पर विश्वास खो बैठते हैं। फलतः उनका पलायन भी असंगठित ही हो जाता है।

3. संग्रहात्मक भीड़ (Acquisitive Crowd)—जब भीड़ को भविष्य में आने वाली किसी विशेष परिस्थिति या संकट का आभास हो जाता है तो वह उस परिस्थिति का सामना करने के लिये आवश्यक वस्तुओं का संग्रह आरम्भ कर देती है। ऐसी भीड़ को संग्रहात्मक भीड़ कहते हैं। प्रथम कुछ सप्ताहों में सिनेमा के 'बुकिंग कॉउन्टर' पर जो भीड़ इकट्ठा होती है, या इस बात का आभास होने पर कि भविष्य में शक्कर या मिट्टी का तेल नहीं मिल पायेगा, लोगों की जो भीड़ दुकानों पर इकट्ठी होती है, या यह आशंका होने पर कि अमुक बैंक फेल हो जाने वाला है, लोगों की जो भीड़ बैंक के काउन्टर पर एकत्रित होती है—सभी संग्रहात्मक भीड़ के ही उदाहरण हैं। इस प्रकार की भीड़ में संवेग तथा अतार्किकता की प्रधानता होती है, और इसीलिये इसके सदस्य सही और गलत, उचित और अनुचित में भेद नहीं कर पाते। इस प्रकार की भीड़ के सदस्य यह जानते हुए भी कि जो कुछ वे कर रहे हैं गलत है, फिर भी वे वैसा ही करते हैं। बैंक मैनेजर यह आश्वासन देता है कि बैंक की आर्थिक स्थिति बिलकुल ठीक है, फिर भी लोग नहीं मानते। सरकार का यह आश्वासन भी बेकार सिद्ध होता है कि शक्कर की कोई कमी देश में नहीं है। संग्रहात्मक भीड़ तो संग्रह करने पर ही तुली रहती है। अतः स्पष्ट है कि पलायनवादी भीड़ की भाँति संग्रहात्मक भीड़ में परिस्थिति का महत्त्व अत्यधिक होता है। अन्तर केवल इतना है कि पलायनवादी भीड़ के सदस्य परिस्थिति से बचने के लिये भाग खड़े होते हैं, जबकि संग्रहात्मक भीड़ के सदस्य परिस्थिति से अपनी रक्षा के हेतु संग्रह करते हैं।

4. अभिव्यक्तात्मक भीड़ (Expressive Crowd)—यह एक ऐसी भीड़ है, जिसमें उपर्युक्त तीनों प्रकार की भीड़ों में पायी जाने वाली कोई भी प्रवृत्ति देखने को नहीं मिलती। इस प्रकार की भीड़ में सामान्य संवेगों को अभिव्यक्त किया जाता है। दूसरे शब्दों में, अभिव्यक्तात्मक भीड़ वह सक्रिय भीड़ है जो अपने तीव्र संवेगों का खुलकर प्रकाशन करती है, जैसे नाचना, गाना, हँसना, शोर मचाना,

आदि। होली के त्योहार पर होली खेलने वाली भीड़ इसी प्रकार के व्यवहारों का प्रदर्शन करती है। दैनिक जीवन की नीरसता को व्यक्ति इस प्रकार की भीड़ का सदस्य बनकर ही दूर करता है। यह भीड़ मानव की कुछ मूलप्रवृत्तियों को भी अभिव्यक्त करती है।

क्रियाशील भीड़ का मनोविज्ञान
(Psychology of Action Crowd)

भीड़ को सामान्य तौर पर दो मोटे भागों में बाँटा जाता है—क्रियाशील तथा निष्क्रिय भीड़। निष्क्रिय भीड़ (passive crowd) किसी तात्कालिक घटना के आधार पर पनपती है, और कुछ समय तक बनी रहती है। पर, उस दौरान वह किसी प्रकार की वाह्य क्रिया नहीं करती है, और कोई क्रिया किये बिना ही टूट जाती है। जैसे एक व्यक्ति का गाना सुनकर सड़क पर चलने वाले अन्य व्यक्ति खड़े हो जाते हैं और एक भीड़ का निर्माण करते हैं, पर गीत समाप्त होने पर बिना कोई वाह्य व्यवहार किये अपनी-अपनी राह ले लेते हैं। इसके विपरीत, जिस क्रियाशील भीड़ के विभिन्न प्रकारों के विषय में हम ऊपर लिख चुके हैं, वह किसी न किसी संवेग या जोश से उत्तेजित रहती है और इसीलिये कुछ-न-कुछ वाह्य क्रिया भी करती है। श्री किम्बल यंग (Kimball Young) के अनुसार, "क्रियाशील भीड़ वह है, जिसमें प्रेम, भय, क्रोध या लड़ाई-झगड़ा पैदा होता है।"[18] वास्तव में क्रियाशील भीड़ का व्यवहार सदैव गतिशील, अनिश्चित तथा अनियमित होता है। यही कारण है कि क्रियाशील भीड़ का मनोविज्ञान सामान्य भीड़ के मनोविज्ञान से बिलकुल भिन्न होता है, अर्थात् क्रियाशील भीड़ की अपनी कुछ अनोखी विशेषताएँ होती हैं। वे निम्न-लिखित हैं—

(1) **बुद्धि का निम्न स्तर (Low Level of Intelligence)**—अधिकांश विद्वान् यही मत व्यक्त करते हैं कि क्रियाशील भीड़ की बुद्धि का स्तर कभी ऊँचा नहीं होता। इस प्रकार की भीड़ के सदस्यों की व्यवहार-सम्बन्धी प्रवृत्ति सदैव ही निम्न स्तर की बुद्धि का परिचय देती है। भीड़ में सम्मिलित होने वाले व्यक्ति अपनी बुद्धि से काम नहीं लेते। वास्तव में क्रियाशील भीड़ योग्य, विद्वान् तथा बुद्धि-मान व्यक्तियों को आकर्षित नहीं करती। इसीलिये भीड़ के अधिकांश सदस्य निम्न बुद्धि वाले ही होते हैं। ऐसी परिस्थिति में हम भीड़ से बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवहार की आशा नहीं कर सकते। ऐसा भी देखा गया है कि भीड़ के बाहर उचित और तर्क-संगत कार्य करने वाले बुद्धिमान और विद्वान् व्यक्ति भीड़ में सम्मिलित होकर विवेक-हीन कार्य करने लगते हैं। श्री रस्किन ने लिखा है, "आप भीड़ को जिधर चाहें, उधर वहा ले जा सकते हैं। उसके सदस्यों की अनुभूतियाँ बहुधा उदार एवं उचित होती हैं, पर उनका अपना कोई आधार नहीं होता; उन पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। आप अपनी इच्छानुसार इन अनुभूतियों को भड़का सकते या उत्तेजित कर सकते हैं। अधिकांशतः भीड़ को छूत की बीमारी-सी लगती है। भीड़ किसी विचार को जुकाम की भाँति पकड़ लेती है (अर्थात्, जैसे जुकाम एक को होते ही सभी को हो जाता है, उसी प्रकार एक विचार भीड़ के सभी सदस्यों के बीच शीघ्रता से फैल जाता है)। जब भीड़ को दौरा होता है तो वह किसी छोटी-सी बात पर भी प्रलय मचा देती है, परन्तु दौरा समाप्त होने के कुछ ही समय बाद वह सब कुछ भूल जाती है—चाहे बात कितनी ही बड़ी क्यों न हो।"

(घ) क्रियाशील भीड़ में उत्तेजना या जोश की प्रबलता होती है (Greater Degree of Excitement Prevails in an Action Crowd)—क्रियाशील भीड़ की एक और उल्लेखनीय विशेषता यह होती है कि वह उत्तेजना या जोश से भरपूर रहती है। इससे भीड़ के सदस्यों की सुझाव-ग्रहणशीलता में तो वृद्धि हो ही जाती है, साथ ही तर्क करने की शक्ति भी धीमी पड़ जाती है। जोश या उत्तेजना की स्थिति में व्यक्ति का विवेक खो जाता है और वह उचित-अनुचित में भेद करने की शक्ति को गँवा बैठता है। उस उत्तेजित अवस्था में भीड़ के संवेगों के अनुकूल जो कुछ भी सुझाव व्यक्ति को मिलता है, उसी को वह ग्रहण कर लेता है; यह विचारने की शक्ति उसमें नहीं होती है कि वह सुझाव ठीक है अथवा गलत। वास्तव में, जोश की अधिकता में व्यक्ति बुद्धि से काम नहीं ले पाता, और जो कुछ वह करता है, वह बौद्धिक दृष्टिकोण से निम्न-कोटि का ही होता है। 'प्रेम अन्धा होता है', 'क्रोध में व्यक्ति पागल हो जाता है', आदि कथनों से इसी बात की पुष्टि होती है। इस सम्बन्ध में श्री रॉस (Ross) ने लिखा है, "जिस सीमा तक अनुभूति (feeling) प्रबल होती है, उसी सीमा तक विवेक (reason) शक्तिहीन हो जाता है। सामान्यतः प्रबल संवेग बौद्धिक प्रक्रियाओं को कुण्ठित कर देता है। किसी भी आकस्मिक संकट के समय हम उस व्यक्ति से बुद्धियुक्त क्रिया की आशा करते हैं जो शान्त प्रकृति का है, और जो अपने मस्तिष्क का सन्तुलन खो नहीं बैठा है। इसके विपरीत, भीड़ की धक्का-मुक्की एवं हो-हल्ला मनुष्य को अव्यवस्थित कर देता है। भीड़ में उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अनुभूति तर्क एवं विचार को रोक देती है, जिसके फलस्वरूप कुछ समय के लिये मनुष्य पागल हो जाता है।"

(ङ) अनुकरण की वृद्धि (Increase in the Process of Imitation)—क्रियाशील भीड़ के व्यवहार में अनुकरण का बहुत बड़ा हाथ रहता है। इस प्रकार की भीड़ में बुद्धिहीन व्यक्ति बुद्धिरहित होकर व्यवहारों का अनुकरण करते हैं। भीड़ के सदस्य दूसरों को हँसते देखकर खुद भी हँसते हैं, दूसरों को नारा लगाते देखकर स्वयं भी खूब चिल्ला-चिल्लाकर नारा लगाते हैं, या आग लगाते, चीजों को नष्ट करते, हुड़दंग मचाते, मारपीट करते या हत्या करते हैं। सर्वश्री मार्टिन, फ्रॉयड और स्ट्रेकर, सभी ने भीड़ के विवेकशून्य व्यवहार को व्यक्ति के विवेकशून्य व्यवहार के अनुरूप ही समझा है। श्री स्ट्रेकर के मतानुसार, जैसा व्यवहार बच्चे करते हैं, ठीक उसी प्रकार का व्यवहार भीड़ में प्रौढ़ व्यक्ति करता है। बच्चों की भाँति भीड़ में प्रौढ़ लोग भी एक-दूसरे की मूर्खतापूर्वक नकल करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि भीड़ की बुद्धि का स्तर अत्यन्त निम्न होता है। यह क्रियाशील भीड़ की प्रथम विशेषता है। इसकी अन्य विशेषताओं के सम्बन्ध में हम आगे विवेचना करेंगे।

(2) संवेगात्मकता (Emotionalism)—क्रियाशील भीड़ की दूसरी मानसिक विशेषता संवेगात्मकता है। इस प्रकार की भीड़ अपनी संवेगात्मक उत्तेजना के लिये प्रसिद्ध है। भीड़ में चूँकि अनुभूतियों को अधिक स्पष्टतः व्यक्त करने का अवसर मिलता है, इसलिये विचारों की अपेक्षा अनुभूतियों की ही प्रधानता होती है। संवेगात्मक उत्तेजना भीड़ की सुझाव-ग्रहणशीलता को बढ़ा देती है। श्री रॉस (Ross) ने लिखा है कि चूँकि भीड़ के सदस्य यह जानते हैं कि भीड़ में वे कुछ भी करें, पहचाने नहीं जा सकते, इसलिए वे अपनी भावनाओं (feelings) की लगाम पूर्णतया ढीली कर देने के लिये अपने को स्वतन्त्र पाते हैं। भीड़ में यदि किसी को कुछ कहना है तो वह बोलता नहीं, चिल्लाता है। दूसरे लोग उसे देख सकें,

इसके लिये व्यक्ति केवल अपने को दिखाता ही नहीं, वरन् खूब हाथ-पैर तथा नाना प्रकार के हाव-भाव द्वारा आत्म-प्रदर्शन करता है। भीड़ अपनी खुशी या जोश को व्यक्त करने के लिये अट्टहास, पागलों की भाँति गाली-गलौज या गगनभेदी हर्षध्वनि का आश्रय लेती है। इस प्रकार के तीव्र संवेगों का भीड़ के सदस्यों व दर्शकों पर भी तीव्र प्रभाव पड़ता है। फलत, मस्तिष्क का तापक्रम बढ़ता जाता है—जो पहले गरम प्रतीत होता था, अब केवल गुनगुना लगता है; और, पहले जो गुनगुना प्रतीत होता था, अब वह ठण्डा लगने लगता है। संवेगों की उग्रता उस समय अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है, जब भीड़ किसी उत्तेजक परिस्थिति के कारण जन्म लेती है। उस अवस्था में आरम्भ से ही भावनाओं का अनियन्त्रित प्रदर्शन होता है और मानसिक उत्तेजना बहुत द्रुत गति से बढ़ जाती है।[22]

परन्तु, इस सम्बन्ध में यह याद रखना होगा कि क्रियाशील भीड़, यदि कुछ संवेगों को उभारती है, तो अन्य कुछ संवेगों को दबाती भी है। उदाहरणार्थ, मारपीट में लगी हुई भीड़ क्रोध के संवेग को तो भड़काती है, पर डर के संवेग को दबा देती है। इसी प्रकार दंगा-फसाद करने वाली भीड़ में वात्सल्य, दया, सहानुभूति आदि संवेग उभर नहीं पाते हैं। उसी प्रकार भीड़ में कलात्मक संवेगों के पनपने का भी कोई प्रश्न नहीं उठता।

3. **शक्ति का आभास**—भीड़ में अनेक व्यक्ति एकत्रित होते हैं; साथ ही उनकी रुचि भी समान होती है। फलतः भीड़ अपने को अत्यन्त शक्तिशाली समझती है, और इसीलिये वह किसी भी कार्य को करने के लिये तैयार हो जाती है। व्यक्ति भीड़ के बाहर रहते हुए जिस कार्य को करने का साहस नहीं करता, अथवा जिस कार्य को अपनी शक्ति से बाहर का समझता है, भीड़ के सदस्य के रूप में उसी कार्य को करने के लिये तत्पर हो जाता है। इसका कारण यह है कि भीड़ का प्रत्येक व्यक्ति पूरे समूह की शक्ति को अपनी शक्ति समझने लगता है। इस आभास के आधार पर भीड़ के नेता और भी उत्तेजित हो जाते हैं और वे भीड़ को उत्तेजना से भरपूर कार्य करने को प्रेरित करते हैं। फलतः भीड़ का सदस्य अनेक ऐसे कार्य कर बैठता है जिन पर बाद को विचार करके उसे स्वयं ही आश्चर्य होता है कि उसने वे कार्य कैसे किये। यो इस शक्ति का आभास क्यों कर होता है, इसके सम्बन्ध में लिखते हुए श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने कहा है कि भीड़ में हमेशा सामूहिकता की मूलप्रवृत्ति (herd instinct) के बढ़ जाने से एक प्रकार का स्नायविक उल्लास (nervous exaltation) बना रहता है, अर्थात् सुखद उत्तेजना की एक अनुभूति मौजूद रहती है, जो इस ज्ञान के कारण उत्पन्न होती है कि भीड़ का प्रत्येक सदस्य यह समझने लगता है कि वह लोगों की एक बड़ी संख्या के साथ विचारों तथा संवेगों का हिस्सेदार बना हुआ है[23] अर्थात्, वह अकेला नहीं है। इसका तात्पर्य यह कि सामूहिकता की मूलप्रवृत्ति व्यक्ति में एक तरह के उल्लास की अनुभूति भर देती है और यह ज्ञान कि मेरे विचारों और संवेगों में बहुत से अन्य लोग भी हिस्सा ले रहे हैं, सभी को प्रोत्साहित करता है और व्यक्ति केवल अपनी शक्ति के आधार पर ही नहीं, अपितु पूरे समूह की शक्ति के आधार पर क्रियाशील होता है।

4. **उत्तरदायित्व की भावना का अभाव (Lack of the Sense of the Responsibility)**—भीड़ में कोई व्यक्ति किसी कार्य के लिये अपने को उत्तरदायी नहीं समझता। वह तो लोगों की बड़ी संख्या में खो जाता है। भीड़ में उत्तरदायित्व की भावना का अभाव विशेष रूप से इस कारण होता है कि हर व्यक्ति अन्य लोगों के साथ पूर्णतया समीकरण (identification) कर लेता है, वह भीड़ की समग्रता में

खो जाता है। भीड़ व्यक्ति से उस शक्ति को छीन लेती है कि वह अपने को सम्पूर्ण भीड़ से पृथक् या भिन्न समझे। चूंकि भीड़ में उसका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है, इस कारण पृथक् रूप में वह किसी कार्य के लिये उत्तरदायी भी नहीं हो सकता। वास्तव में भीड़ में पूरी क्रिया सामूहिक रूप से पूरी भीड़ की क्रिया समझी जाती है। इसीलिये व्यक्ति विशेष रूप से अपना निजी कोई उत्तरदायित्व नहीं समझता। व्यक्ति यह समझता है कि जो कुछ भी वह करेगा, वह भीड़ के आवरण में छिप जायेगा—अर्थात् व्यक्ति की क्रिया को व्यक्ति की क्रिया नहीं, अपितु सम्पूर्ण समूह (भीड़) की क्रिया समझा जायेगा। अतः किसी भी कार्य का विशिष्ट उत्तरदायित्व उस पर लादा नहीं जा सकेगा। भीड़ में, जैसा कि श्री लीबों (Le Bon) ने लिखा है, व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को भूल जाता है, इस कारण कि भीड़ में उत्तरदायित्व सभी लोगों में बँट जाता है, और, इस कारण भी कि भीड़ में उसकी कारगुजारियाँ छिप जाती हैं। परन्तु, डॉ० मैक्डूगल (McDougall) का कथन है कि भीड़ में उत्तरदायित्व की कमी का कारण केवल यही नहीं है कि भीड़ में उत्तरदायित्व बँट जाता है। साधारण भीड़ में उत्तरदायित्व की भावना का अभाव काफी सीमा तक इस कारण भी होता है कि भीड़ में आत्म-चेतना (self-consciousness) का स्तर बहुत निम्न होता है और उसमें आत्म-गौरव के स्थायीभाव (self-regarding sentiment) का अभाव होता है; अर्थात् भीड़ सम्बन्धी क्षमता, योग्यता व उसकी विशेषताओं का बहुत ही कम ज्ञान होने के कारण सदस्यों के मन में भीड़ व भीड़ की ख्याति के प्रति अनुराग, श्रद्धा व भक्ति आदि के स्थायीभाव (sentiment) नहीं होते। सदस्यों को भीड़ की ख्याति व बदनामी में कोई लगाव नहीं रहता। क्रिया का उत्तरदायित्व तो पूरी भीड़ पर रहता है, इसलिये उसकी प्रशंसा व निन्दा का श्रेय भी भीड़ को ही रहता है। भीड़ के किसी एक व्यक्ति-विशेष से इस प्रशंसा व निन्दा का सम्बन्ध नहीं होता। इसीलिये भीड़ में व्यक्ति एक विशेष निर्णय करते समय, किसी निष्कर्ष पर पहुँचते समय या सामूहिक रूप से किसी कार्य को करते समय सावधानी, आत्म-नियंत्रण तथा आलोचनात्मक सोच-विचार से काम नहीं लेता। यों सामान्य ढंग से यह कहा जाता है कि भीड़ की कोई अन्तरात्मा (conscience) नहीं होती।[24] यही कारण है कि भीड़ में उत्तरदायित्व की भावना भी नाम मात्र को ही होती है।

5. **सहज विश्वास (Credulity)**—क्रियाशील भीड़ अत्यधिक सहज-विश्वासी होती है। भीड़ में जो कुछ भी कहा जाता है, उसे लोग बिना किसी तर्क या विचार के सत्य मान लेते हैं। इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि भीड़ में व्यक्ति की सुझाव-ग्रहणशीलता अत्यधिक बढ़ जाती है। इस कारण तर्क व बुद्धि के आधार पर किसी विषय पर विचार करने की शक्ति उसमें नहीं होती। साथ ही, भीड़ में विचार-विमर्श करने का न तो समय मिलता है और न ही अवसर। इसीलिये किसी भी विषय से सम्बन्धित जो भी सूचना दी जाती है, भीड़ के सदस्य उसी को सच मान लेते हैं। श्री रॉस (Ross) ने लिखा है कि उनके लिये अतीत (past) का अस्तित्व ही नहीं होता। तार्किक विश्लेषण व परीक्षण का तो प्रश्न ही नहीं उठता। समस्त क्षमताएँ निद्रित होती हैं।[25]

6. **अस्थिरता (Instability)**—भीड़ के विचार तथा संवेग स्थायी नहीं, अपितु अल्पकालीन होते हैं। भीड़ में जो संवेग या मन [illegible] है, हो सकता है कि दूसरे ही क्षण वे एकाएक विपरीत रूप धारण कर लें। श्री रॉस (Ross) ने बड़े ही रोचक ढंग से लिखा है कि जो व्यक्ति इस क्षण भीड़ का नेता है, वही दूसरे क्षण उसी भीड़ का शिकार हो सकता है। भीड़ [illegible] [illegible] [illegible] तत्काल कामरतापूर्ण भाग की स्थिति में आ सकती है। [illegible]

पलट सकती हैं। एक समय सड़क की एक भीड़ एकाधिकार करने वाले (monopoliser) एक व्यक्ति को फाँसी पर लटका देने के उद्देश्य से एकत्रित हुई। उस व्यक्ति ने उस भीड़ को कुछ कहलाया। बस, दूसरे ही क्षण उसी भीड़ ने उस व्यक्ति को गले लगा लिया, उसके साथ शराब पी और उसे खींच कर अपने साथ नृत्य में सम्मिलित होने के लिये बाध्य किया।[26]

7. संकल्प-शक्ति का अभाव (Lack of Violition)—भीड़ में संकल्प-शक्ति का अभाव देखने को मिलता है। संकल्प-शक्ति तभी विकसित हो सकती है जब शान्त मन से सोच-विचार कर काम किया जाये। पर भीड़ में—विशेषकर क्रियाशील भीड़ में—सोचने-विचारने का अवसर या समय आदि कुछ भी नहीं होता है। वास्तव में क्रियाशील भीड़ सोच-विचार कर काम कर ही नहीं सकती, क्योंकि भीड़ में एक ओर सुझाव-ग्रहणशीलता अत्यधिक होती है तो दूसरी ओर उसमें सहज विश्वास (credulity) का प्राधान्य होता है। ये दोनों ही परिस्थितियाँ संकल्प-शक्ति के विकास में बाधक बन जाती हैं। इसी प्रकार भीड़ में उत्तेजना या उत्तेजना की मात्रा भी इतनी अधिक होती है कि संकल्पात्मक निर्णय सम्भव ही नहीं होता।

8. सामाजिक प्रोत्साहन (Social Facilitation)—श्री किम्बल यंग (Kimball Young) के अनुसार, "दूसरे लोगों की उपस्थिति या क्रिया के कारण किसी व्यक्ति की प्रतिक्रियाओं में वृद्धि को सामाजिक प्रोत्साहन कहकर परिभाषित किया जा सकता है।"[27]भीड़ में आमने-सामने का ही नहीं, अपितु कन्धे-से-कन्धे का सम्बन्ध होता है—एक का शरीर दूसरे से रगड़ खाता है, जिसके फलस्वरूप जोश या उत्तेजना का संचार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को होता रहता है और वही उत्तेजना भीड़ के सदस्यों को क्रिया के लिये प्रेरित करती है। वास्तव में, भीड़ में जब एक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि एक विशेष कार्य को अन्य बहुत से लोग कर रहे या करने जा रहे हैं, तो वह व्यक्ति स्वयं भी उस कार्य को करने के लिये उत्तेजित हो उठता है और बिना कुछ सोचे-समझे उसमें कूद पड़ता है। भीड़ में व्यक्ति जो अस्वाभाविक क्रियाएँ कर बैठता है, उसका एक कारण सामाजिक प्रोत्साहन भी है।

9. मानसिक एकरूपता (Mental Homogeneity)—भीड़ के सदस्यों में मानसिक एकरूपता होती है—इस सत्य के प्रति हमारा ध्यान सर्वप्रथम श्री ली बॉं (Le Bon) ने आकर्षित किया था। आपके मतानुसार जो व्यक्ति भीड़ में होते हैं, उनमें हो सकता है कि जीवन की पद्धति के सम्बन्ध में मतभेद हो; और उनकी बुद्धि, चरित्र, पेशे आदि के ढंग व उनसे सम्बन्धित विचार भी अलग-अलग हों, पर भीड़ के सदस्य के रूप में उनमें मानसिक एकरूपता अवश्य ही होती है; और, इसी एकरूपता के आधार पर वे भीड़ के सदस्य के रूप में टिके रहते हैं। इसी मानसिक एकरूपता के आधार पर समूह-मस्तिष्क (group mind) का विकास होता है। श्री ली बॉं के सिद्धान्त से सहमत न होते हुए भी इतना सभी स्वीकार करते हैं कि चूँकि भीड़ के सभी सदस्यों के विचारों या ध्यान का केन्द्र एक सामान्य (common) वस्तु, व्यक्ति या घटना होती है, और चूँकि भीड़ में सभी व्यक्तियों को एक-दूसरे की उपस्थिति का ज्ञान होता है, इस कारण भीड़ के सभी सदस्य समान अनुभूतियों (feelings) तथा संवेगों के हिस्सेदार बन जाते हैं। इसी आधार पर भीड़ में मानसिक एकरूपता पनपती है।

10. अवदमित इच्छाओं का प्रकाशन (Release of Repressed Desires)—अधिकांश मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि भीड़ में व्यक्ति की अवदमित प्रेरणाओं का मुक्त प्रकाशन होता है। इसका कारण स्वयं भीड़ की अपनी प्रकृति ही है। भीड़ में उत्तरदायित्व की भावना का न होना, उत्तेजना का आधिक्य, शक्ति का अनुभव, संकल्प-शक्ति का अभाव, संवेगात्मकता, आदि भीड़ के ऐसे गुण हैं जिनके कारण व्यक्ति को अपनी अचेतन प्रवृत्तियों, इच्छाओं तथा प्रेरणाओं को विमुक्त करने का अवसर प्राप्त हो जाता है। साधारण जीवन में व्यक्ति समाज के डर से या सामाजिक प्रतिष्ठा को खोने के भय से या विशिष्ट सामाजिक शिक्षा-दीक्षा के कारण अपनी अनेक इच्छाओं तथा प्रवृत्तियों को प्रकट नहीं कर पाता। एक प्रोफेसर अपने विद्यार्थियों के सम्मुख अपनी खुशी का प्रकाशन नाच-कूदकर करने में संकोच का अनुभव कर सकता है। पर, एक भीड़ के सदस्य के रूप वह ऐसा भी कर सकता है। यही कारण है कि वयस्कों की भीड़ भी सड़कों पर बच्चों की भाँति नाचती-गाती और शोर मचाती है; अश्लील भाषा का प्रयोग करती है; गाली-गलौज ही नहीं, हाथापाई तक करती है; और तोड़-फोड़ ही नहीं, हत्या तक करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाती। भीड़ में व्यक्ति अपने को बन्धनमुक्त अवस्था में पाता है, और इसीलिये उसकी दबी हुई इच्छाएँ भी हरहराकर वह निकलती है। श्री फ्रॉयड (Freud) ने भीड़ के व्यवहार को सम्मोहन-क्रिया के समान माना है। सम्मोहन की स्थिति (hypnotic state) में व्यक्ति का चेतन मन सुप्त हो जाता है और अचेतन मन क्रियाशील हो उठता है। चेतन अवस्था में जिस व्यवहार की व्यक्ति कल्पना भी नहीं कर सकता, उसी व्यवहार को वह अचेतन या सम्मोहन की स्थिति में सरलता से कर लेता है। इसी प्रकार अकेले में व्यक्ति का जो संवेग या इच्छा दबी हुई रहती है, भीड़ की स्थिति में वह भी उभर आती है। श्री स्ट्रैंकर ने तो यहाँ तक कहा है कि भीड़ का व्यवहार तो पागल के व्यवहार से भी निम्न कोटि का होता है। भीड़ अपनी इच्छाओं व प्रवृत्तियों को ऐसे नंगे रूप में प्रस्तुत करती है, जैसे नंगे रूप में एक पागल भी नहीं कर सकता।

11. अनैतिकता की प्रधानता (Dominance of Immorality)—सर्वश्री स्ट्रैंकर, मार्टिन व अन्य मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि भीड़ के व्यवहार में क्रूरता, पाशविकता और अनैतिकता की प्रधानता होती है। भीड़ के सदस्य के रूप में व्यवहार करते समय व्यक्ति नैतिकता के समस्त नियमों को भूल-सा जाता है, और उसकी निगाहें आदर्श को, उत्तम को ढूँढने के स्थान पर खोटी चीजों को खोजने लगती हैं। भीड़ तो जोश और उत्तेजना के बहाव में बहती रहती है, नैतिकता की ओर मुड़कर देखने की फुर्सत ही उसे कब मिलती है। भीड़ में कुछ निम्न कोटि के लोग होते हैं, जो अनैतिकता को पनपाते हैं। शेष लोग अनुकरण, सुझाव, व अन्य प्रेरणाओं के आधार पर उस अनैतिकता के शिकार होकर स्वयं भी उसी के अनुरूप व्यवहार करने लगते हैं। परन्तु श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) का मत है कि सीधे तौर पर भीड़ को अनैतिक कहकर सम्बोधित करना वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उपयुक्त न होगा। आपके शब्दों में, "भीड़ स्वयं अपने आप में न तो अच्छी होती है और न ही बुरी। वस्तुतः वह उत्तेजना के अनुसार कभी अच्छी बन जाती है, तो कभी बुरी। भीड़ हिंसक हो सकती है, लेकिन साथ ही उदार और सहानुभूतिशील भी हो सकती है। भीड़ का वक्ता या नेता मानव-स्वभाव के अच्छे पहलू को भी उभार सकता है और बुरे को भी। यही नहीं, भीड़ में सामने आने वाले सुझाव की शक्ति दोनों ही दिशाओं में काम कर सकती है। हाँ, इतना अवश्य है कि भीड़ का कार्य स्वभावतः विवेकपूर्ण

विचार-विमर्श के ऊपर आधारित नहीं हो सकता, और सुझाव-ग्रहणशीलता के कारण वह बहुत जल्दी-जल्दी एक सीमा से दूसरी सीमा में पहुँचती रहती है। लेकिन यह कहने का कोई कारण नहीं है कि भीड़ में व्यक्ति आदिम युग की एक कल्पित अनैतिक स्थिति में वापस चला जाता है।"[28]

12. **नेता का अनुसरण (Following of a Leader)**—भीड के सदस्यो में से ही कोई व्यक्ति तत्काल ही भीड का नेता बन बैठता है। कोई भी व्यक्ति भीड़ का नेतृत्व कर सकता है। उसमें वीरता एव आगे बढकर साहस से कार्य करने की क्षमता होनी चाहिए। अगुवा बनने की इसी क्षमता के आधार पर ही व्यक्ति दूसरो का ध्यान व विश्वास अपनी ओर आकर्षित करता है; और यही गुण उसे नेता के पद पर प्रतिष्ठित करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो भी व्यक्ति भीड़ के सवेग के अनुरूप आगे बढकर क्रियाशील होने का साहस कर लेता है, वही भीड का नेता बन जाता है। नेता बन जाने के बाद ही प्रतिष्ठा-सुझाव (prestige suggestion) के आधार पर वह अन्य सभी व्यक्तियो को अपने पक्ष मे कर लेता है और पूरे समूह का प्रतिनिधित्व करने लगता है। इसका परिणाम यह होता है कि भीड के सदस्य अपना समीकरण (identification) नेता के साथ कर लेते हैं, और नेता के विचारों, भावनाओं व आदर्शों को तत्परता से ग्रहण कर लेते हैं। इतना ही नहीं, नेता की शक्ति व ज्ञान को अपनी शक्ति समझ कर पूर्ण उत्साह के साथ मैदान मे कूद पडते हैं। दूसरी ओर, नेता बन जाने के बाद उस व्यक्ति को भी कुछ महत्त्वपूर्ण भूमिकायें निभानी पडती हैं। भीड़ मे नेता के महत्त्वपूर्ण कार्य (functions of leader within a crowd) निम्नलिखित होते हैं—

(i) अपने नेता-पद को बनाये रखने के लिए व्यक्ति का सर्वप्रमुख कार्य भीड़ के ध्यान को अपनी ओर केन्द्रित रखना, और उसके सदस्यों को अपने महत्त्व के सम्बन्ध में विश्वास दिलाना होता है। इसके लिये नेता नारा लगाता है, अगुवा बन कर क्रिया का उत्तरदायित्व सँभालता है, और भीड़ एकत्रित होने के कारण की गम्भीरता दूसरों को समझता है ··· इत्यादि।

(ii) नेता का दूसरा कार्य अपनी बुद्धि तथा अनुभव के आधार पर भीड़ की समस्या को स्पष्ट रूप देना तथा उस समस्या को सुलझाने के सम्बन्ध में अपने सुझावों को प्रस्तुत करना होता है। ऐसा करने से भीड के सदस्य उसके प्रति आकर्षित होते है और नेता को नेता के रूप मे बने रहने का अवसर मिलता है।

(iii) क्रियाशील भीड़ का एक और महत्त्वपूर्ण कार्य अपने ऊपर जोखिम (risk) लेना भी होता है। नेता भीड के समस्त कार्यों का अगुवा बनता है या बनने का ढोंग रचता है। अगुवा बनने का जो कुछ भी जोखिम है, उसे भीड़ का नेता अपने ऊपर ओढ लेता है, जिसके कारण भीड मे उसका गौरव और सम्मान बढ जाता है।

(iv) नेता का एक दूसरा कार्य क्रिया के सम्बन्ध मे झटपट एक योजना बनाना और उस योजना के औचित्य के सम्बन्ध मे प्रतिष्ठा-सुझाव की सहायता से उसके प्रति भीड के अन्य सदस्यो को विश्वास दिलाना है। यह विश्वास जितना गहरा होगा, नेता को नेतृत्व करने का अवसर भी उतना ही अधिक मिलेगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि नेता मे भीड के सवेग के अनुकूल क्रिया की योजना बनाने की तत्परता होनी चाहिए।

(v) नेता भीड़ की उत्तेजना को उग्र रूप में उभारने और उसे खूब गरमा-गरम बनाये रखने का भी महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। नेता ही भीड़ के सदस्यों में संवेगात्मकता बनाये रखता है और उनमें स्फूर्ति, हिंसा, भयानकता, उत्साह, साहस, वीरता आदि को जागृत करता है। इस सम्बन्ध में नेता का एक महत्वपूर्ण कार्य सदस्यों में जोश कूट-कूट कर भर देना है।

(vi) अन्त में, नेता का यह भी कार्य है कि वह सदस्यों को भीड़ के उद्देश्यों की प्राप्ति और सफलता के सम्बन्ध में विश्वास दिलाता रहे और सामाजिक प्रोत्साहन (social facilitation) की स्थिति को बनाये रखने का प्रयत्न करे। नेता सदस्यों को बार-बार यह याद दिलाता है कि वे अकेले नहीं हैं, उनके साथ सबकी और विशेष कर नेता की शक्ति अभिन्न रूप में सदा-सदा जुड़ी हुई है।

भीड़ का निर्माण तथा व्यवहार
(Formation and Behaviour of Crowd)

साधारण भीड़ तथा क्रियाशील भीड़ की विशेषताओं के सम्बन्ध में जान लेने के बाद संक्षेप में यह भी समझ लेना आवश्यक है कि भीड़ का निर्माण किस प्रकार होता है। सामान्यतया भीड़ की उत्पत्ति किसी एक तात्कालिक या आकस्मिक घटना के प्रत्युत्तर में होती है। अतः भीड़ के निर्माण में पहला कदम किसी उत्तेजनात्मक घटना का घटित होना है, जो लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करे और उस आकर्षण को कुछ देर तक बनाये रक्खे। ध्यान आकर्षित करने योग्य यह घटना लोगों को एक स्थान पर एकत्रित करने, उनमें एक विशेष प्रकार की उत्तेजना या संवेग को उत्पन्न करने तथा मानसिक एकरूपता को उत्पन्न करने में सफल होती है। यह सफलता भीड़ के निर्माण का सर्वप्रमुख आधार है। इसके अतिरिक्त, यह उत्तेजनात्मक घटना व्यक्ति में भावनायें और प्रेरणायें जागृत करके एक तनाव की स्थिति पैदा करती है। यह स्थिति व्यक्ति को कुछ क्रियायें करने के लिये प्रेरित करती है।

किसी-न-किसी क्रिया का आरम्भ होना ही भीड़ के निर्माण का दूसरा कदम होता है। इस स्तर पर भीड़ के सदस्य ध्यान के केन्द्र के चारों ओर-कन्धे-से कन्धा मिलाकर, गिचपिच हो जाते हैं और आपस में घटना के सम्बन्ध में बातचीत करने लगते हैं। नये सदस्य बाहर से अन्दर की ओर भीड़ को काटते हुए ध्यान के केन्द्र के अधिकाधिक निकट होने का प्रयत्न करते हैं, या दूसरों के कन्धों के ऊपर से झांक कर उसे देखने की कोशिश करते हैं। किसी भी अवस्था में गिचपिच बढ़ती जाती है, कन्धे से कन्धा घिसता है और सदस्यों में उत्तेजना की मात्रा बढ़ती है। भीड़ के ये सदस्य ध्यान के केन्द्र के चारों ओर घेरा बनाकर घूमते या स्थान-परिवर्तन भी करते हैं। इसके फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति की उत्तेजना की सूचना दूसरे सदस्यों को मिल जाती है और उनकी उत्तेजित अवस्था की मात्रा में वृद्धि होती है। साथ ही, सदस्यों में आमने-सामने व कन्धे-से-कन्धे का सम्बन्ध होने के कारण भीड़ में एक सामान्य मनः-स्थिति (mood), भावना व संवेगात्मक प्रवृत्ति फैल जाती है। इसी के आधार पर भीड़ में मानसिक एकरूपता (mental homogeneity) पनपती है। इस एकरूपता के कारण भीड़ के सदस्यों में पारस्परिक घनिष्ठता और सद्भाव उत्पन्न होता है। इससे व्यक्ति अत्यन्त भावुक और एक-दूसरे के प्रति प्रतिक्रिया करने वाले बन जाते हैं, और एक सामूहिक इकाई के रूप में कार्य करने लगते हैं। इसी के कारण भीड़ के सदस्यों में शक्ति की भावना (sense of power) देखने को मिलती है।

घेरा बनाकर घूमने का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण फल भीड़ के निर्माण का तीसरा कदम होता है। इस स्थिति में ध्यान की ऐसी सामान्य वस्तु (common object) की उत्पत्ति होती है, जिस पर लोगों की इच्छायें, भावनायें और कल्पना केन्द्रित होती है। श्री हरबर्ट ब्लूमर का कहना है कि ध्यान की यह सामान्य वस्तु साधारणतः वह उत्तेजनात्मक घटना ही होती है, जिसके प्रत्युत्तर में भीड़ इकट्ठा होनी शुरू हुई थी। इससे भी बड़ी बात यह है कि यह एक प्रतिमा (image) होती है जो व्यक्तियों के केन्द्र के चारों ओर घूमने और आपस में बात करने के फलस्वरूप निर्मित होती है। इस प्रतिमा का महत्त्व इस बात में है कि यह व्यक्तियों को क्रिया करने के लिये एक सामान्य उद्देश्य प्रदान करती है। सामान्य उद्देश्य स्पष्ट हो जाने पर भीड़ एकता, दृढ़ता और निश्चय के साथ कार्य कर सकती है।

भीड़-निर्माण का चौथा और अन्तिम कदम भीड़ के सामान्य उद्देश्य से सम्बन्धित संवेगों को इतना अधिक भड़काना या उत्तेजित करना है कि भीड़ के सदस्य क्रिया करने के लिये बिल्कुल तैयार हो जायें। इसी स्तर पर भीड़ में नेता का उद्भव होता है। नेता भीड़ की अस्पष्ट अनुभूतियों (feelings) तथा संवेगों को स्पष्टता प्रदान करता तथा उनको उभारने के लिये पौराणिक कथाओं, दृष्टान्तों तथा अफवाहों का सहारा लेता है। इसके बाद ही नेता द्वारा सुझायी हुई क्रिया के मार्ग पर भीड़ जोश के साथ चल पड़ती है। यहीं पर भीड़-निर्माण की प्रक्रिया पूर्ण होती है।

जहाँ तक इसका प्रश्न है कि भीड़ किस प्रकार का व्यवहार करेगी, यह इस बात पर निर्भर करता है कि भीड़ अपने निर्माण के दौरान कौन-सा रूप या प्रकार धारण करती है। उदाहरणार्थ, यदि भीड़ आक्रमणकारी भीड़ का रूप धारण करती है तो उसका व्यवहार पलायनवादी भीड़ के व्यवहार से भिन्न होगा। आक्रमणकारी भीड़ अपने विरोधी पक्ष पर आक्रमण करती, सम्पत्ति को नष्ट करती, मारपीट और तोड़फोड़ करती, आतंक फैलाती, दंगा-फसाद करती या अपने विरोधियों की हत्या तक कर डालती है। इसके विपरीत, पलायनवादी भीड़ अचानक कोई भयभीत करने वाली घटना हो जाने के फलस्वरूप अपने को एक आतंकित व अत्यधिक असुरक्षित स्थिति में पाती है और प्रत्येक व्यक्ति अपनी जान बचाने की बात सोचता है। इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति उस संकटमय स्थिति से जान बचाकर भागने का प्रयत्न करता है। इसके लिये भीड़ के सदस्य एक-दूसरे को धक्का देते हैं, बहुतों को जमीन पर गिरा देते हैं, और उसे उठने का भी मौका न देकर उसे कुचलते हुए भाग निकलते हैं। पलायन का यह काम एक व्यक्ति आरम्भ करता है और उसकी देखादेखी अन्य सारे व्यक्ति भी भागना शुरू कर देते हैं। इस भाग-दौड़ में भीड़ में शामिल स्त्रियाँ तथा बच्चे सबसे ज्यादा कष्ट उठाते हैं। वे ही अधिकतर दबाये और कुचले जाते हैं। ऐसे में दो-चार की मृत्यु हो जाना भी अस्वाभाविक नहीं है।

भीड़ों का वर्गीकरण प्रस्तुत करते हुए पिछले पृष्ठों में हमने विभिन्न प्रकार की भीड़ों के व्यवहारों का उल्लेख किया है। इस कारण उन्हें यहाँ फिर से दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

भीड़ और आक्रमणकारी भीड़ में अन्तर
(Distinction between Crowd and Mob)

भीड़ और आक्रमणकारी भीड़ में अन्तर इन दोनों की क्रियाशीलता व प्रकृति

मे निहित है। इन्ही आधारो पर इनमे पाये जाने वाले अन्तरो को हम निम्नलिखित रूप मे प्रस्तुत कर सकते हैं—

(1) साधारण भीड, ध्यान के किसी सामान्य केन्द्र के चारों ओर एकत्रित हो, तो भी उसमे कोई हिंसात्मक प्रवृत्ति देखने को नहीं मिलती। जो कुछ भी वह करती है, उसमे उत्तेजना होती है, सामूहिक शक्ति का अनुभव होता है, पर कोई विशेष हिंसा-भाव नही होता। जेब कतरने वाला एक व्यक्ति पकड़ा गया। उसे घेरकर *बहुत से लोगो ने एक भीड़ का निर्माण किया। उस व्यक्ति की तलाशी ली,* माल बरामद किया, उसे थोडा-बहुत मारा-पीटा और या तो छोड दिया या पुलिस के हवाले कर दिया। यह साधारण भीड की क्रियाशीलता का आम दायरा है। साधारण भीड़ निष्क्रिय भीड़ भी हो सकती है। उदाहरणार्थ, एक भिखारी को सडक के किनारे खडे होकर सुन्दर गीत गाते देखकर सड़क पर चलने वाले लोग उसे घेर कर खड़े हो जाते है और शान्तिपूर्वक गाना सुनने के बाद अपनी-अपनी राह लेते हैं। इसके विपरीत, आक्रमणकारी भीड़ कभी भी निष्क्रिय नही होती; और जो कुछ भी वह करती है, उसमे हिंसा का तत्त्व अवश्य ही प्रबल होता है। इस प्रकार की भीड़ चुपचाप खडी नही होती, अपितु सार्वजनिक सम्पत्ति को नष्ट करती, मारपीट और तोडफोड़ करती और आतंक फैलाती है। और तो और, हत्या तक करना इस प्रकार की भीड की क्रियाओ में सम्मिलित होता है। श्री रेनहॉर्ट (Reinhardt) ने लिखा है, "आक्रमणकारी भीड साधारण भीड से इस अर्थ में भिन्न है कि इसे अविवेकशील एव हिंसक क्रियाओ की विशेषता द्वारा पहचाना जा सकता है।"[25]

(2) उपर्युक्त कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आक्रमणकारी भीड़ का व्यवहार अविवेकशील होता है, जबकि साधारण भीड मे अविवेकशीलता की मात्रा साधारण सीमा को पार नही करती। साधारण भीड विवेकपूर्ण या तर्कयुक्त व्यवहार भी कर सकती है। उदाहरणार्थ, एक मोटरकार के ड्राइवर ने एक बच्चे को कुचल दिया। इस घटना को केन्द्र मानकर जो भीड इकट्ठा होती है, वह बच्चे को फौरन अस्पताल भेजने के लिए आवश्यक व्यवस्था कर सकती है और ड्राइवर को पुलिस के हवाले कर सकती है। दोनो ही क्रियायें विवेकपूर्ण और तर्कयुक्त हैं। पर, इस प्रकार *की क्रिया या व्यवहार की आशा हम आक्रमणकारी भीड़ से नही* कर सकते। उसमे जोश या उत्तेजना की भावना इतनी अधिक होती है कि विवेकपूर्ण व्यवहार सम्भव ही नही होता।

(3) साधारण भीड की अपेक्षा आक्रमणकारी भीड मे बुद्धि का स्तर निम्न होता है। इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि जैसे ही भीड हिंसात्मक रूप धारण करती है, वैसे ही उससे शान्तिप्रिय, सज्जन तथा सामाजिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति अपने को दूर हटा लेते हैं। साथ ही, ऐसी भीड मे शान्तिपूर्ण विचार-विमर्श असम्भव होता है, सवेग अत्यधिक उत्तेजना की अवस्था मे होता है तथा सुझाव-ग्रहणशीलता व सहज विश्वास अत्यधिक मात्रा में पाया जाता है।

(4) साधारण भीड की तुलना मे आक्रमणकारी भीड मे उत्तरदायित्व की भावना का नितान्त अभाव होता है। आक्रमणकारी भीड के सदस्य उत्तेजना के आवेश मे आकर अपना आत्म-सम्मान तक खो बैठते हैं और बदनामी या नेकनामी से उन्हे किसी तरह का कोई लगाव नही रह जाता। पर, साधारण भीड मे उत्तेजना साधारण स्तर पर रहने के कारण व्यक्ति अपने को पूर्णतया खो नही बैठता और

इसीलिए किसी न किसी सीमा तक उत्तरदायित्व की भावना के प्रति सचेत रहता है।

(5) अवदमित प्रेरणाओं का प्रकाशन आक्रमणकारी भीड़ में जैसा नग्न रूप में होता है, वैसा साधारण भीड़ में नहीं होता। साधारण भीड़ में सामाजिक नियमों व निषेधों के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ जागरूकता होती है। पर, आक्रमणकारी भीड़ तो अपने को समस्त सामाजिक बन्धनों से विमुक्त समझती है। इसलिए इसके सदस्य अश्लील भाषा में गाली-गलौज कर सकते हैं, दूसरों को मारपीट सकते हैं, तोड़-फोड़ कर सकते हैं, या महिलाओं की इज्जत के साथ भी खिलवाड़ कर सकते हैं। इतनी उच्छृंखलता की आशा साधारण भीड़ से नहीं की जा सकती।

भीड़ व्यवहार के कुछ प्रमुख सिद्धान्त

(Some Important Theories of Crowd Behaviour)

अभी तक भीड़ के सम्बन्ध में हम जो कुछ लिख चुके हैं, उससे एक बात स्पष्ट है कि भीड़ में व्यक्ति जिस प्रकार का व्यवहार करता है, उस प्रकार का व्यवहार वह भीड़ से बाहर रहते हुए कदापि नहीं करता। इस भिन्नता का क्या कारण है? इसकी व्याख्या विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने सिद्धान्तों के आधार पर प्रस्तुत की है। उनमें से प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(1) समूह-मस्तिष्क का सिद्धान्त
(Theory of Group Mind)

श्री ली बॉं द्वारा प्रस्तुत दूसरी व्याख्या यह है कि प्रत्येक स्थायीभाव (sentiment) तथा क्रिया छूत की बीमारी की भाँति दूसरी भीड़ में इस प्रकार फैल जाती है कि व्यक्ति अपने स्वार्थों को समूह के स्वार्थ की वेदी पर बलि चढ़ाने को तत्पर हो जाता है। उस अवस्था में उसका व्यवहार एक सम्मोहित व्यक्ति (hypnotised person) की भाँति होता है। वह भीड़ के हाथों में कठपुतली की तरह नाचता है। इसीलिए भीड़ में उसका व्यवहार कुछ अलग तरह का ही होता है।

भीड़-व्यवहार के सम्बन्ध में श्री ली बो की तीसरी और सबसे महत्वपूर्ण व्याख्या यह है कि भीड़ में व्यक्ति की सुझाव-ग्रहणशीलता अत्यधिक बढ़ जाती है और वह समूह द्वारा प्रस्तुत सुझाव के अनुसार ही क्रिया करने को प्रेरित होता है। इसलिए जब व्यक्ति भीड़ का सदस्य बन जाता है तो उसका व्यवहार भी बदल जाता है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक, श्री ली बो के समूह-मस्तिष्क के सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। श्री आलपोर्ट (Allport) ने ली बो के इस मत का खण्डन किया है कि भीड़ का व्यवहार व्यक्तिगत व्यवहार से बिलकुल भिन्न होता है। आपके मतानुसार यद्यपि भीड़ का व्यवहार एक विशेष प्रकार का होता है, तो भी इससे यह न समझना चाहिये कि भीड़ उस व्यवहार को करने वाले व्यक्तियों से कोई पृथक् इकाई है। भीड़ भी व्यक्तियों से ही मिलकर बनती है, इसलिए उसके सभी कार्य वास्तव में वैयक्तिक ही होते हैं।

(2) अवदमित इच्छाओं का सिद्धान्त
(Theory of Repressed Desires)

श्री फॉयड (Freud) तथा उनके अनुयायियों ने इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार सामाजिक नियन्त्रणों के कारण दबी हुई वे इच्छायें जो हमारे मस्तिष्क के अचेतन स्तर (unconscious level) पर पड़ी रहती हैं, भीड़ की परिस्थिति में व्यक्त होने का अवसर पाकर उभरती या बाह्य रूप में फूट निकलती हैं। भीड़ में तीव्र भावात्मक उत्तेजना और सुझाव-ग्रहणशीलता आदि के कारण व्यक्ति अपने आप पर नियन्त्रण खो बैठता है। इसीलिए उसके मस्तिष्क के अचेतन स्तर पर दबी हुई इच्छाओं के उभरने का अवसर मिल जाता है। इन इच्छाओं के उभरने के फलस्वरूप व्यक्ति का व्यवहार उस प्रकार का नहीं रह जाता है जैसा कि सामान्यतः हमें मिलता है। रुके हुए पानी का बाँध खोल देने से जिस भाँति पानी हरहराकर उमड़ चलता है, उसी प्रकार भीड़ की परिस्थिति में भी व्यक्ति की दबी इच्छाएँ प्रकट होती हैं और व्यक्ति अपनी इन इच्छाओं की सन्तुष्टि करने में लग जाता है, क्योंकि भीड़ में उसे समाज का भय नहीं रहता है। निर्भय व्यक्ति उच्छृंखल होगा ही। यही कारण है कि व्यक्तिगत व्यवहार से भीड़ का व्यवहार पृथक् होता है।

श्री फॉयड के उपर्युक्त मत को भी आज के मनोवैज्ञानिक स्वीकार नहीं करते। प्रथमतः इसलिए कि यदि हम इस सिद्धान्त को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लें तो हमको यह भी मानना पड़ेगा कि भीड़ का व्यवहार सदैव ही अनैतिक व समाज-विरोधी होता है। पर वास्तव में भीड़ अच्छा और बुरा, उदार और संकीर्ण दोनों ही प्रकार का व्यवहार कर सकती है, और करती भी है। किसी अग्निग्रस्त मकान में फँसे हुए व्यक्तियों को बाहर निकालने तथा आग बुझाने में लगी हुई भीड़ के व्यवहार की

व्याख्या श्री फ्रायड के सिद्धान्त के आधार पर नहीं की जा सकती। दूसरे, श्री मैकाइवर (MacIver) के अनुसार, हम मूलप्रवृत्तियों या अन्य किसी भी नाम से पुकारी जाने वाली मानव की जन्मजात प्रवृत्ति या प्रकृति के आधार पर किसी भी सामूहिक व्यवहार की व्याख्या नहीं कर सकते, क्योंकि जन्म लेने के बाद व्यक्ति में कुछ भी जन्मजात या मौलिक नहीं रह जाता है। उस पर सामाजिक तथा सांस्कृतिक कारकों का प्रभाव निरन्तर बढ़ता रहता है। इसलिये भीड़-व्यवहार की व्याख्या दबी हुई *आदिम या मूल इच्छाओं के आधार पर नहीं, अपितु सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थिति के सन्दर्भ में* ही अधिक उचित रूप में प्रस्तुत की जा सकती है।

(3) सामाजिक दशाओं का सिद्धान्त
(Theory of Social Conditions)

कुछ विद्वानों का कथन है कि भीड़ एक सामाजिक घटना होती है, अतएव भीड़-व्यवहार की वास्तविक व्याख्या सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियों के आधार पर ही उचित रूप से की जा सकती है। फिर, सामाजिक स्थितियों के अनुसार ही भीड़ की प्रकृति निर्धारित होती है। ये सामाजिक स्थितियाँ संस्कृति से प्रभावित होती हैं। अतः सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियाँ भीड़-व्यवहार का भी आधार हैं। उदाहरणार्थ, कुछ ऐसे आदिवासी समाज (primitive societies) हैं जो विशेष-विशेष सामाजिक-सांस्कृतिक अवसरों पर सदस्यों को अपने सवेगों को खुले आम व पूर्ण स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करने को प्रोत्साहित करते हैं। सभ्य समाजों में भारतवर्ष के नाम का उल्लेख किया जा सकता है, जहाँ होली के अवसर पर लोग अपने सवेगों को मुक्त रूप से व्यक्त करते हैं। पर, अन्य अनेक समाज हैं, जहाँ ऐसा अवसर भी व्यक्ति को नहीं मिलता है। अतः स्पष्ट है कि भीड़-व्यवहार को प्रोत्साहित करने या न करने का श्रेय बहुत-कुछ सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। इसी प्रकार भीड़-व्यवहार की प्रकृति भी इन्हीं परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होती है। उदाहरणार्थ, भारत में साम्प्रदायिक दंगों में भीड़ के व्यवहार की मनोवैज्ञानिक व्याख्या हिन्दू-मुसलमानों की *सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों* को ध्यान में रखकर ही की जा सकती है। इसी प्रकार अमेरिका में नीग्रो-विरोधी श्वेत (white) लोगों की भीड़ के व्यवहार का अध्ययन भी हम वहाँ की सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही कर सकते हैं।

(4) सामाजिक प्रोत्साहन का सिद्धान्त
(Theory of Social Facilitation)

इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक श्री ऑलपोर्ट हैं। इनके अनुसार चूँकि भीड़ में बहुत से लोग एकसाथ एकत्रित होते हैं, इस कारण उनकी उपस्थिति व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती है। श्री ऑलपोर्ट का कहना है कि दूसरों को देखकर या उनकी आवाज सुनकर ही एक व्यक्ति की प्रतिक्रिया की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। फलस्वरूप वह एक विषम ढंग से व्यवहार करने लगता है। प्रत्येक व्यक्ति जब यह अनुभव करता है कि बहुत से लोगों की क्रियाओं का स्रोत-सा फूट पड़ा है, तो उसी प्रवाह में वह खुद भी बहने लगता है। यही कारण है कि भीड़ में एक दूसरे के कार्य से लोगों को प्रोत्साहन मिलता है और दूसरे के व्यवहारों का अनुकरण करने की सम्भावना बढ़ जाती है। श्री ऑलपोर्ट का यह भी मत है कि दूसरे लोगों के शारीरिक दबाव और धक्के से एक व्यक्ति में यह भावना उत्पन्न हो जाती है कि भीड़ . . . .

है, और सारे सदस्यों की इज्जत बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि वह भी वैसा ही व्यवहार करे।

निष्कर्ष के रूप में श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) का कथन है—"सच्ची बात तो यह है कि इनमें से किसी भी व्याख्या की जरूरत नहीं है। यह तथ्य (fact) कि अकेले होने की अपेक्षा भीड़ में व्यक्ति एक भिन्न तरीके से सोचते और व्यवहार करते हैं, परिस्थिति की प्रतिक्रियाशीलता का एक विशेष उदाहरण है। दूसरों की उपस्थिति में सामाजिक सहज-प्रवृत्तियाँ तीव्र हो जाती हैं। इससे एक अस्पष्ट-सा उल्लास पैदा होता है, जो नेताओं को नेतृत्व करने और 'अपने ऊपर काबू न रखने' के लिये उकसाता है, और दूसरों को उनका अनुकरण करने के लिये प्रेरित करता है। यह उल्लास दोनों को ही अधिक सुझाव-ग्रहणशील बना देता है—नेता को अशान्त भीड़ की मनोदशा के प्रति और बाकी लोगों को नेता की मनोदशा के प्रति। यह सुझाव-ग्रहणशीलता आकर्षण की वस्तुओं के अनुसार बदलती है। यह ज्ञान कि मेरे विचारों और अनुभूतियों में कई लोग हिस्सा ले रहे हैं, सभी को प्रोत्साहन देता है। इस प्रकार सुझाव की शक्ति के बढ़ने की प्रक्रिया चालू रहती है, जो विरोधी विचारों और संवेगों को रोकती है और केन्द्र में रहने वाले विचारों और संवेगों को चालक शक्ति देती है। इस उल्लास के साथ सर्वशक्तिमान होने की अनुभूति भी रहती है। इसके फलस्वरूप व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की बुद्धि नष्ट हो जाती है। भीड़ में ध्यान की एकाग्रता और चेतना का संकुचित होना भी शामिल रहता है; और, इसके फलस्वरूप साधारण जीवन के नियन्त्रणकारी विचारों और आदेशों का अभाव हो जाता है। जब इसके साथ यह तथ्य भी जोड़ दिया जाता है कि भीड़ का बौद्धिक स्तर केवल सब में समान रूप से पाये जाने वाले गुणों की सक्रियता के कारण प्रायः निम्न होता है, तब क्रियाशील भीड़ और साधारण भीड़ों में प्रायः जो-जो बातें देखने को मिलती हैं, उनकी सन्तोषजनक व्याख्या सहज रूप से प्रस्तुत की जा सकती है।"[31]

श्रोतागण
(Audience)

श्रोतागण भी एक विशिष्ट प्रकार की भीड़ हैं। हम पहले ही लिख चुके हैं कि भीड़ को हम मोटे तौर पर दो भागों में बाँट सकते हैं—एक अनौपचारिक भीड़ (informal crowd); तथा, दूसरी औपचारिक भीड़ (formal crowd)। औपचारिक भीड़ को ही 'श्रोतागण' कहा जाता है। यह भीड़ औपचारिक भीड़ मानी जाती है क्योंकि इसका सगठन कुछ निश्चित नियमों, प्रथाओं और रीति-रिवाजों के अनुसार होता है। भीड़ की-सी अव्यवस्था और असगठन श्रोतागणों में नहीं होता। वे प्रायः व्यवस्थित होते हैं। ऐसी भीड़ में सामान्य भीड़ की भाँति अनुभूतियों (feelings) तथा संवेगों (emotions) की नहीं, अपितु विचारों की प्रधानता होती है। श्रोतागणों का कार्यक्रम सोच-विचार के आधार पर आयोजित होता है। श्रोतागण किसी निश्चित उद्देश्य को लेकर एक पूर्वनिश्चित समय व स्थान पर एकत्रित होते हैं। सभी का ध्यान एक वक्ता पर, और वक्ता का ध्यान सभी श्रोताओं पर केन्द्रित होता है। श्रोतागणों का मुख्य उद्देश्य सूचना प्राप्त करना या दिल बहलाना होता है। पर, इस सम्बन्ध में और कुछ लिखने से पूर्व 'श्रोतागण' की परिभाषा की विवेचना कर लेना आवश्यक होगा।

श्रोतागण की परिभाषा
(*Definition of Audience*)

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) के शब्दों मे, "श्रोतागण एक प्रकार की संस्थागत (institutionalized) भीड़ है।"[32] इस परिभाषा मे श्री यंग ने इस बात पर बल दिया है कि श्रोतागण कोई अव्यवस्थित समूह नहीं होते, बल्कि संस्था के सिद्धान्तो पर आधारित एक विशेष जनसमूह का रूप होते हैं। इसके मोटे अर्थ यह हैं कि विशेषताएँ जो कि एक सस्था मे देखने को मिलती हैं, श्रोतागणो में भी मौजूद रहती हैं। **सर्वश्री ऑगबर्न और निमकॉफ** (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार, "*कुछ आधारभूत मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए सगठन एवं स्थापित प्रणालियाँ ही सामाजिक संस्थाएँ हैं।*" इसी प्रकार 'श्रोतागण' भी किसी न किसी मानव-आवश्यकता की पूर्ति करते हैं, संस्था की भाँति ये भी सङ्गठित होते हैं, और इनकी कार्य-प्रणालियाँ कुछ स्थापित, अर्थात् समाज द्वारा मान्य नियमों, परम्पराओ आदि के आधार पर सचालित होती हैं। भीड़ की भाँति श्रोतागण किसी तात्कालिक घटना के प्रत्युत्तर में कही नही जमा होते, बल्कि पूर्व-आयोजित (pre-planned) तथा पूर्वनिश्चित होते हैं, और इसीलिए सङ्गठन का एक निश्चित *प्रतिमान प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए **श्री यंग** ने 'श्रोतागण' को एक सस्थागत भीड़* कहा है।

श्री स्प्रॉट (Sprott) ने लिखा है कि "हमने 'श्रोतागण' को एक सस्थागत *भीड़ इसलिए कहा है कि अधिकांश परिस्थितियों मे 'श्रोतागण' मे आचरण का* एक स्वीकृत प्रतिमान होता है, एक औपचारिक समाप्ति का एक औपचारिक आरम्भ होता है।"[33] इसका तात्पर्य यह हुआ कि श्रोतागणों में शामिल व्यक्ति मनमाने ढंग से व्यवहार नहीं करता, बल्कि उसके आचरण की एक निश्चित प्रकृति होती है, क्योंकि श्रोतागणो का सम्पूर्ण व्यवहार कुछ स्वीकृत नियम व प्रथा-परम्परा के अनुसार ही होता है। श्रोतागणो की कार्यवाही औपचारिक तौर पर आरम्भ होती है और औपचारिक ढंग से ही उसकी समाप्ति होती है। एक उदाहरण के द्वारा इस बात को और भी अच्छी तरह समझा जा सकता है। मान लीजिये, शहर मे राष्ट्रपति पधार रहे हैं और वे जनता के सम्मुख भाषण देने की कृपा करने को भी राजी हो गये हैं। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति के इस आगमन के सम्बन्ध मे जनता को पहले से ही अखबार, इश्तहार, लाउडस्पीकर आदि के माध्यम से सूचित किया जाता है कि अमुक स्थान पर, अमुक दिन और अमुक समय पर राष्ट्रपति महोदय का भाषण होगा। अर्थात्, लोगों को एकत्रित होने के स्थान, दिन तथा समय के सम्बन्ध मे पूर्वसूचना होती है। उस दिन उस स्थान पर राष्ट्रपति के बैठने, भाषण देने तथा अन्य सम्मानित व्यक्तियो तथा जनता के बैठने का समुचित प्रबन्ध किया जाता है। साथ ही राष्ट्रपति की *सर्वोच्च स्थिति को देखते हुए उनके बैठने व भाषण देने के स्थान को खूब सजाया जाता* है। फिर, लोग निश्चित समय से पहले ही वहाँ आकर अपना-अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं। राष्ट्रपति जी के पहुँचने से पहले लोगो का ध्यान मंच की ओर आकर्षित करने के लिये कुछ राष्ट्रीयता की भावना से भरपूर गीत, कवितायें आदि श्रोतागण को सुनाई जाती हैं। इसके बाद राष्ट्रपति जी पधारते हैं। सब लोग सम्मानपूर्वक खड़े होकर और जयध्वनि करके उनका स्वागत करते हैं और फिर राष्ट्रीय गीत गाया जाता है। उस समय लोग फिर खड़े होकर राष्ट्र के प्रति अपनी मौन पूजा-भावना व्यक्त करते हैं। इसके बाद सभी लोग बैठ जाते हैं, और सभा का कार्य आरम्भ होता है। फिर

नगर के सम्मानित व्यक्ति या पदाधिकारी राष्ट्रपति का औपचारिक रूप से स्वागत करते है, उन्हें माला पहनाते हैं और मान-पत्र भेंट करते है। उसके बाद राष्ट्रपति भाषण देने खड़े होते हैं। भाषण के अन्त मे नगर की जनता की ओर से फिर कोई व्यक्ति राष्ट्रपति को धन्यवाद देता है, और फिर सब लोग खड़े होकर राष्ट्रीय गीत गाते हैं। इसके बाद ही सभा भग होती है। यह सम्पूर्ण कार्यवाही व्यवहार के एक निश्चित प्रतिमान को प्रस्तुत करती है। यो किसी भी सम्मानित व्यक्ति के भाषण के अवसर पर हम बहुत कुछ इसी प्रकार के आचरण की आशा करते है, क्योंकि यही सामाजिक परम्परा में प्रचलित व समाज द्वारा मान्य है। इसी से श्रोतागणो की प्रकृति के सम्बन्ध मे हमे स्पष्ट ज्ञान होता है। इस प्रकार श्रोतागणो का एक औपचारिक आरम्भ व एक औपचारिक अन्त होता है।

श्री ब्रॉउन (Brown) ने 'श्रोतागण' की परिभाषा देते हुए कहा है कि "श्रोतागण परम्परागत भीड़ का ही एक स्वरूप है, जो एक स्थान पर इसलिये एकत्रित होती है कि उसका पथ-प्रदर्शन हो, उसे कुछ नवीन बातो का ज्ञान व अनुभव हो। इस एकत्रीकरण का उद्देश्य सक्रिय रूप से किसी कार्य मे भाग लेना नहीं होता। श्रोतागण निष्क्रिय भीड़ ही कहे जायेंगे।"

अत स्पष्ट है कि श्रोतागण **वह निष्क्रिय तथा औपचारिक भीड़ है जो एक पूर्वनिश्चित स्थान पर, एक पूर्वनिश्चित दिन व समय पर, कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिये एकत्रित होती है और समाज द्वारा मान्य नियमों के अनुसार आचरण करती हुई एक निश्चित व्यवहार-प्रतिमान प्रस्तुत करती है।**

'श्रोतागण' के प्रकार
(Kinds of Audience)

श्री ब्रिट (Britt)[34] ने 'श्रोतागण' के निम्नलिखित पाँच प्रकारो का उल्लेख किया है —

1 **पैदल श्रोतागण** (*Pedestrian Audience*)—ये वे श्रोतागण हैं जो पैदल आते हैं और किसी व्यक्ति का भाषण, गीत, जादू आदि सुनने या देखने को जमा होते हैं। एक बालक का सुन्दर गीत सुनने के लिये, या किसी दवा बेचने वाले का भाषण सुनने के लिये, या किसी सड़क पर नर्तकी (street dancer) का नाच देखने के लिये जो भीड़ इकट्ठा होती है, उसे पैदल श्रोतागण कहते हैं।

2. **निष्क्रिय श्रोतागण** (Passive Audience)—किसी संगीत-समारोह, नृत्य-प्रदर्शन, नाटक, सिनेमा आदि को देखने या सुनने के लिये जो श्रोतागण एकत्रित होते हैं, उन्हे 'निष्क्रिय श्रोतागण' कहा जाता है। ये 'निष्क्रिय' इस कारण है कि इनके सदस्य कोई क्रिया नही करते, बल्कि शान्तचित्त होकर संगीत, नृत्य, अभिनय आदि का उपभोग करते हैं। वे केवल वही देखते या सुनते हैं जो कुछ उनके सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है।

3. **चुने हुए श्रोतागण** (Selected Audience)—कुछ सभाएँ तमाम आम और खास व्यक्तियो के लिये नहीं, बल्कि कुछ चुने हुए व्यक्तियों के लिये ही आयोजित की जाती हैं। उदाहरणार्थ, किसी सिनेमा (चलचित्र) के उद्घाटन-समारोह या प्रथम दिन के प्रथम 'शो' में आम जनता को आमंत्रित नहीं किया जाता, बल्कि

वह भी कुछ सम्मानित नागरिकों, सिनेमा-जगत् के कुछ उच्च कोटि के कलाकारों, तथा संवाददाताओं को ही दिखाया जाता है। यह चुने हुए 'श्रोतागण' हुए।

4. केन्द्रित श्रोतागण (Concerted Audience)—कुछ सभाएँ चुने हुए या निर्वाचित व्यक्तियों द्वारा संगठित होती हैं। इसमें सदा निर्वाचित व्यक्ति ही भाग ले सकते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को सभा की कार्यवाही में भाग लेने का अधिकार नहीं होता है। स्कूल की कार्यकारिणी समिति, मन्त्रिमण्डल आदि इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

5. व्यवस्थित श्रोतागण (Organized Audience)—जब किसी विशेष उद्देश्य को आधार मानकर, व्यवस्थित ढग से श्रोतागणों को एकत्रित किया जाता है, तो उसे 'व्यवस्थित श्रोतागण' कहते हैं। शारीरिक व्यायाम की कक्षा, सैनिक प्रशिक्षण की कक्षा, आदि 'व्यवस्थित श्रोतागण' के ही उदाहरण हैं।

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) ने श्रोतागणों को तीन वर्गों में विभाजित किया है।[35] ये वर्ग हैं-(अ) ज्ञानात्मक या सूचना-प्राप्ति के इच्छुक श्रोतागण (information seeking audience), जैसे कॉलेज में लेक्चर सुनने के लिये क्लास-रूम (class room) में एकत्रित श्रोतागण; (ब) विचार-परिवर्तन के विचार से जमा श्रोतागण (conversional audience), जैसे सत्यनारायण जी की कथा सुनने के लिये एकत्रित श्रोतागण; (स) मनोरंजनात्मक श्रोतागण (recreational audience), जैसे सिनेमा, नाटक आदि देखने के लिये एकत्रित लोग।

श्री ब्रॉउन (Brown) ने श्रोतागणों के दो मुख्य प्रकारों का उल्लेख किया है: (क) आकस्मिक श्रोतागण (casual audience) : ये वे लोग हैं, जो किसी तात्कालिक परिस्थितिवश पनपते हैं। श्री ब्रिट द्वारा उल्लिखित पैदल श्रोतागण इसी श्रेणी में आते हैं। (ख) संकल्पित श्रोतागण (intentional audience) : ये वे लोग होते हैं, जो जानबूझ कर एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक निश्चित समय व स्थान पर एकत्रित होते हैं। संकल्पित श्रोतागण मनोरंजनात्मक (recreational) भी हो सकते हैं और ज्ञानात्मक (information-seeking) भी।

श्रोतागणों की मानसिक विशेषताएँ
(Psychological Characteristics of Audience)

चूँकि 'श्रोतागण' एक विशिष्ट प्रकार की भीड़ हैं, इस कारण इनकी अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं। ये निम्न हैं—

1. निश्चित उद्देश्य (Definite Purpose)—श्रोतागण किसी निश्चित लक्ष्य को सामने रखकर ही एकत्रित होते हैं। किसी वक्ता का भाषण सुनने, किसी महात्मा का उपदेश सुनने, पाठ या भजन सुनने, या किसी सिनेमा-हाल मे चलचित्र देखने, आदि के निश्चित उद्देश्य को लेकर ही श्रोतागण एकत्रित होते हैं।

2. पूर्वनिश्चित समय व स्थान (Predetermined Time and Place)—श्रोतागण प्रायः आकस्मिक नहीं होते। इसलिये, अधिकांशतः श्रोतागण कहाँ एकत्रित होंगे, और कब एकत्रित होंगे, यह बात पहले से ही निश्चित हो जाती है। उदाहरणार्थ, लोगों को केवल यही पता नहीं होता कि प्रधानमन्त्री महोदय नगर

में भाषण देने को पधार रहे हैं, बल्कि यह भी मालूम होता है कि भाषण किस दिन, किस समय और किस स्थान पर होगा।

3 शारीरिक सम्पर्क की एक निश्चित सीमा (Limited Physical Contact)—श्रोतागणों में प्रत्यक्ष या कन्धे-से-कन्धा का शारीरिक सम्पर्क उस रूप में नहीं हो पाता, जिस रूप में कि भीड़ में होता है। श्रोतागण प्रायः अपने-अपने स्थान पर खड़े या बैठे रहते हैं। उनका आकार जितना ही बड़ा होता है, सदस्यों के बीच सम्बन्ध भी उतनी ही दूर का हो जाता है। अधिकांश श्रोतागणों के सदस्यों में एक-दूसरे की उपस्थिति का आभास मात्र होता है, निकट सम्बन्ध का कोई अनुभव पनप नहीं पाता।

4. व्यवहार का एक निश्चित प्रतिमान (Definite Pattern of Behaviour)—जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, श्रोतागणों के सदस्य मनमाने ढङ्ग से व्यवहार नहीं करते। उन्हें तो कुछ मान्य व स्वीकृत नियमों व परम्पराओं के अनुरूप ही व्यवहार करना पड़ता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि श्रोतागण आरम्भ से अन्त तक एक औपचारिक संगठन के रूप में बने रहते हैं। हाँ, अगर बीच में कहीं कोई घटना घट जाये तो बात और है। उदाहरणार्थ, सिनेमा हाल में लोग शान्तिपूर्वक चलचित्र देख रहे हैं, पर यदि एकाएक वहीं भीषण आग लग जाय तो समस्त व्यवस्थित या सम्यागत व्यवहार-प्रतिमान पल भर में अदृश्य हो जायेगा और श्रोतागण भयभीत भीड़ में बदल जायेंगे। इसी प्रकार किसी नेता के भाषण को सुनने के लिये जो श्रोतागण एकत्रित होते हैं, वे निश्चित ढंग से ही व्यवहार करते हैं, पर सभा के बीचोबीच, सहसा ही, बम के फटते ही पलक मारने भर में निश्चित व्यवहार प्रतिमान अव्यवस्थित क्रियाओं में बदल जाता है। फिर भी, श्रोतागणों का व्यवहार सामान्य रूप में एक निश्चित प्रतिमान ही प्रस्तुत करता है।

5. अभिस्पन्दन का एक आदर्श स्वरूप (Standard Form of Polarization)—श्रोतागणों के ध्यान को एक निश्चित आग्रह केन्द्रित रखने के लिये आवश्यक प्रयत्न किये जाते हैं। ऐसे में यदि उचित व्यवस्था की जाय तो श्रोतागणों में अभिस्पन्दन सरलता से हो जाता है। इसके लिये निम्न बातों का ध्यान रखना आवश्यक होता है—(अ) बैठने की व्यवस्था इस प्रकार की हो कि ध्यान का केन्द्र श्रोतागणों से बहुत दूर न हो, (ब) ध्यान के केन्द्र को सब देख सकें, (स) रोशनी का प्रबन्ध इस प्रकार का हो कि आवश्यक संवेग जागृत किया जा सके, (द) श्रोतागण जिस स्थान पर एकत्रित हों, वहाँ सजावट, तापमान तथा वायु-संचार का उचित प्रबन्ध हो; (य) श्रोतागणों के ध्यान को मंच की ओर आकर्षित करने के लिये कार्यक्रम आकर्षक ढंग से आरम्भ हो; (र) विषय आकर्षक हो।

उपर्युक्त सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त अग्रलिखित विवेचना से श्रोतागण की अन्य मनोवैज्ञानिक विशेषताओं का स्पष्टीकरण हो जायेगा।

श्रोतागणों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण
(Psychological Analysis of Audience)

प्रो० न्यूकॉम्ब (Newcomb) के मतानुसार, चूँकि 'श्रोतागण' एक सस्थागत भीड़ है और चूँकि प्रत्येक सस्थागत व्यवहार का अपना मनोविज्ञान होता है, इसलिये

श्रोतागण के व्यवहार-प्रतिमान का भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सम्भव है। इस विश्लेषण को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. आरम्भिक आयोजन या तैयारियाँ (Preliminary Planning or Preparation)—श्रोतागणों को एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिये, एक निश्चित स्थान तथा समय पर एकत्रित करने के लिये यह आवश्यक है कि कुछ आरम्भिक तैयारियाँ कर ली जायें। सर्वप्रथम तो उद्देश्य ही निश्चित हो। इसके बाद उन साधनों के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया जाये, जिनके द्वारा उस उद्देश्य की पूर्ति की जा सके। श्रोतागणों को एकत्रित करने के लिये जो आरम्भिक आयोजन किया जाता है, उसमें सर्वप्रथम स्थान का निर्धारण आता है कि लोग कहाँ इकट्ठा हों। यह स्थान ऐसा होना चाहिए, जहाँ सभी आने वाले लोग बैठ सकें। स्थान के बाद मंच (platform) की रचना क्रम में आती है। इस मंच को अधिकाधिक आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया जाता है, ताकि श्रोताओं के मस्तिष्क पर स्वस्थ प्रभाव पड़े और उनका ध्यान मंच की ओर अधिकाधिक आकर्षित हो। मंच जितना ही आकर्षक होगा, श्रोतागणों को इकट्ठा करना और उनके ध्यान को केन्द्रित करना उतना ही सरल होगा। बहुत से लोग एक निश्चित सिनेमा-हाल में अधिक संख्या में केवल इस कारण से भी जाते हैं कि वहाँ का सिनेमा का पर्दा बहुत आकर्षक है, हाल बहुत सुन्दर है और बैठने का प्रबन्ध (seating arrangement) बहुत अच्छा है। अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आरम्भिक आयोजन या तैयारियों का महत्त्व अत्यधिक होता है। इस आरम्भिक आयोजन में जनता को सभा के उद्देश्य के सम्बन्ध में सूचना देना या विषय के सम्बन्ध में प्रचार करना आदि भी शामिल है। प्रचार-कार्य समाचारपत्रों, रेडियो, इश्तहारों, लाउडस्पीकरों आदि के द्वारा किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, चलचित्रों के निर्माता व वितरक (distributors) लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिये चित्र 'रिलीज' होने के बहुत पहले से ही प्रचार-कार्य आरम्भ कर देते हैं और उसमें हजारों रुपये खर्च करते हैं। श्री किम्बल यंग ने इस आरम्भिक आयोजन या इन तैयारियों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए इन्हें 'आरम्भिक स्वर-मिलान' (preliminary tuning) कहा है।

2. श्रोतागण की आरम्भिक प्रक्रियाएँ (Preliminary Processes of Audience)—जब श्रोतागण के एकत्रित होने के लिये आरम्भिक तैयारियाँ कर ली जाती हैं, तब सभा की सफलता के लिए कुछ विशिष्ट प्रक्रियाओं को क्रियान्वित करना होता है। इन प्रक्रियाओं का भी महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक आधार होता है। इनका उद्देश्य श्रोताओं के ध्यान को आकर्षित करना होता है। उदाहरणार्थ, सिनेमा आरम्भ होने से पहले रेकार्ड बजाकर सुनाया जाता है, बत्तियाँ एकाएक न बुझाई जाकर एक-एक कर बुझायी जाती हैं और विज्ञापनों के 'स्लाइड' दिखाये जाते हैं, आदि।

3. सम्बन्ध की स्थापना तथा ध्यान का केन्द्रीकरण (Establishment of Relation and Fixation of Attention)—उपर्युक्त आरम्भिक प्रक्रियाओं के बाद ध्यान की वस्तु (object of attention) निश्चित करने तथा श्रोताओं के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि श्रोतागणों का ध्यान सदैव नेता के आधार पर ही केन्द्रित हो। अनेक श्रोतागणों में

हो जाने के बाद उनके सम्मुख सुझाव प्रस्तुत किया जाता है और प्रयत्न किया जाता है कि उस सुझाव को लोग स्वीकार कर लें। सुझाव प्रस्तुत करते समय भी श्रोताओं की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा उनके अपने दृष्टिकोण को ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि श्रोतागणों के सुझाव को ग्रहण करने के लिये केवल उत्तेजना का जगाया जाना ही पर्याप्त नहीं होता। कारण कि भीड़ की भाँति श्रोतागण जोश में बह नहीं जाते, बल्कि बुद्धि या विवेक से काम लेते हैं। अतः यह आवश्यक है कि सुझाव को सावधानी से प्रस्तुत किया जाय, ताकि वह श्रोताओं के सामान्य मनोभावों, विचारों, मूल्यों, आदर्शों, परम्पराओं, स्थायीभावों, संवेगों आदि के खिलाफ न पड़े।

5. कार्य करने के लिये उत्तेजना (Instigating Certain Action)—सुझाव प्रस्तुत करते हुए श्रोतागणों को कई बार कार्य करने के लिये उत्तेजित भी किया जाता है। जब इस प्रकार के सुझाव को स्वीकार कर लिया जाता है और जब श्रोतागण उसी के अनुरूप कार्य करने को तत्पर हो उठते हैं, तो वे क्रियाशील भीड़ में परिवर्तित हो जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि श्रोतागण किसी भी पल क्रियाशील भीड़ में बदल सकते हैं। इसीलिये सुझाव प्रस्तुत करते समय अत्यधिक सावधानी बरती जानी चाहिये।

6. श्रोतागणों का भंग होना (Termination of Audience)—श्रोतागण जो अब तक एक गुच्छे की भाँति समग्रता में गुँथे हुए थे, वही विषय की समाप्ति पर टूटने लगते हैं। यह अन्त भी शान्तिपूर्ण और स्वस्थ होना चाहिए और श्रोताओं के मन या मस्तिष्क पर विषय की एक स्पष्ट छाप पड़ जानी चाहिए। इसी आधार पर सभा भंग होने के बाद सभा-स्थल से (जैसे सिनेमा-हाल इत्यादि से) निकलते हुए व्यक्ति उस विषय-विशेष के सम्बन्ध में अपना-अपना विचार या मत प्रस्तुत करते हैं। फिर आपस में बातचीत के बीच, लोगों में अपने-अपने जान-पहचानियों के साथ फिर से अन्त क्रिया आरम्भ हो जाती है, और अब तक एक दूसरे विषय में डूबा हुआ व्यक्ति फिर से अपने में लौट आता है। और बस श्रोतागण की जीवन-अवधि भी यहीं समाप्त हो जाती है।

भीड़ और श्रोतागण में अन्तर
(Distinction between Crowd and Audience)

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि श्रोतागण भी एक विशिष्ट प्रकार की भीड़ ही होते हैं; मगर, फिर भी भीड़ में और इनमें कुछ आधारभूत अन्तर होता है। यह अन्तर निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) भीड़ व्यक्तियों का एक तात्कालिक समूह है और इसीलिये इसका उद्देश्य, कार्य-प्रणाली और स्थिरता के सम्बन्ध में कभी कोई निश्चितता नहीं होती। भीड़ का निर्माण, व्यवस्था, आचरण, क्रिया, स्थिति-काल सब कुछ संयोग (chance) पर ही निर्भर करता है। इसके विपरीत श्रोतागण एक संस्थागत मानव-समूह होता है। इसीलिये भीड़ की अपेक्षा इनमें प्रत्येक विषय में निश्चितता कहीं अधिक होती है; और इनके उद्देश्य, कार्य-प्रणाली, स्थिरता, आचरण, स्थिति काल आदि के सम्बन्ध में बहुत-कुछ भविष्यवाणी की जा सकती है।

(2) भीड़ का आरम्भ और अन्त, दोनों ही अनिश्चित होता है। कोई नहीं बता सकता कि कोई भीड किस रूप मे आरम्भ होगी और अन्त तक आते-आते उसका आचरण किस प्रकार का हो जायेगा। भीड तो जोश मे बहती है और जोश मे ही कार्य करती है। यह जोश भीड को कही भी ले जा सकता है—पल भर मे ही निष्क्रिय भीड़ हत्याकारी भीड़ मे बदल सकती है। इसलिये कहा गया है कि भीड के न तो आरम्भ का ही कोई ठिकाना होता है, और न समाप्ति का ही। इसके विपरीत श्रोतागण औपचारिक ढग से आरम्भ होते हैं, और औपचारिक ढग से ही समाप्त होते हैं। यही कारण है कि एक विशेष प्रकार के श्रोतागणो के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनका आरम्भ किस प्रकार होगा, और उनकी समाप्ति किस ढग से होगी। हम पहले से जानते हैं कि चलचित्र देखने वालो के सामने कार्यक्रम 'न्यूज रील' (news reel) से शुरू होगा और 'जनगण मन अधिनायक'—राष्ट्रीय गीत के साथ समाप्त होगा।

(3) भीड़ उद्देश्यहीन समूह होती है। कम से कम इतना तो निश्चित है ही कि भीड किसी विशेष, पूर्वनिश्चित (pre-determined) उद्देश्य को लेकर नही जमा होती। इसके विपरीत प्रत्येक श्रोतागण का कोई-न-कोई पूर्वनिश्चित उद्देश्य अवश्य ही होता है। श्रोतागण उद्देश्यविहीन रूप मे एकत्रित कभी नहीं होते। इसकी सूचना तो उन्हे पहले ही दे दी जाती है, और इसके लिये प्रचार के समस्त साधनो का प्रयोग किया जाता है।

(4) भीड़ का स्थान, दिन तथा समय, कुछ भी निश्चित नही होता। अर्थात्, भीड के सदस्यो को यह पता नही रहता कि उन्हे किस स्थान पर किस दिन और किस समय जमा होना है। इसके विपरीत श्रोतागण निश्चित समय, दिन एवं स्थान पर इकट्ठे होते हैं। श्रोताओ को स्थान, समय व दिन के सम्बन्ध मे पूर्व-सूचना रहती है।

(5) भीड़ एक आकस्मिक घटना के कारण ही बहुधा पनपती या बनती है। इस कारण भीड के सदस्यो को पहले से कुछ भी पता नही रहता है कि उन्हे कहाँ, कौन-सी भूमिका अदा करनी है। एक साधारण व्यक्ति भी अगुवा बनकर, क्रिया करके भीड का नेता बन सकता है, पर वही दूसरे ही पल उसी भीड का शिकार भी बन सकता है। किन्तु, 'श्रोतागण' चूँकि एक सस्थागत भीड होते हैं, अतएव उन्हें अपनी भूमिका की अदायगी के बारे मे पूरी जानकारी पहले से रहती है। ऐसा प्राय. नही होता कि जो श्रोता बन कर जाय, उसे एकाएक प्रमुख वक्ता की भूमिका अदा करनी पड़े। सक्षेप मे, श्रोतागणो के सदस्यो की स्थिति (status) तथा कार्य (roles) निश्चित होते हैं, जबकि भीड के लोगो के अनिश्चित।

(6) भीड, विशेषकर क्रियाशील भीड की बुद्धि का स्तर अत्यन्त निम्नकोटि का होता है, इसीलिये भीड़ के सदस्य प्राय विवेकहीन हो जाते हैं और उल्टे-सीधे काम करने लगते हैं। साम्प्रदायिक दंगो तथा धार्मिक व अन्य अन्धविश्वासो के वशीभूत, उत्तेजित भीड़ के व्यवहार के ऐसे उदाहरण हमे कहाँ नही मिलते। इसके विपरीत श्रोतागणों की बुद्धि का स्तर प्राय ऊँचा होता है, और कभी-कभी तो बहुत ही उच्च कोटि का होता है। इसलिये श्रोतागणो से विवेकहीन व्यवहार की आशा बहुत कम की जाती है।

(7) भीड़ के सदस्यों में आमने-सामने का ही नहीं, कन्धे-से-कन्धे का सम्बन्ध पाया जाता है। भीड़ में लोग अपने को बहुत पिचपिच पाते हैं, और एक का शरीर दूसरे से छुआ रहता है। पर श्रोतागणों में बहुधा इस प्रकार की परिस्थिति देखने को नहीं मिलती। वहाँ तो प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने स्थान पर खड़ा या बैठा रहता है और भीड़ की भाँति आपस में धक्कम-धुक्का नहीं करता। वहाँ तो अपने-अपने स्थान पर खड़े हुए या बैठे हुए व्यक्तियों को एक-दूसरे की उपस्थिति का आभास मात्र होता है। श्रोतागण—भीड़ की भाँति—निकट शारीरिक सम्पर्क में नहीं आने पाते।

(8) भीड़, विशेषकर क्रियाशील भीड़ किसी सामाजिक-सांस्कृतिक सीमा के अन्दर अपने को सीमित नहीं रखती। भीड़ में पायी जाने वाली उच्छृंखलता किसी नियम या कानून की परवाह नहीं करती। यही कारण है कि आक्रमणकारी भीड़, हत्याकारी भीड़, आदि का स्वरूप प्रत्येक देश में प्राय एक-सा ही होता है। पर, यह बात श्रोतागणों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। जब भी कहीं श्रोतागण जमा होते हैं, उस जमघट पर समाज में प्रचलित परम्पराओं, मान्यताओं व आदर्शों का भी प्रभाव पड़ता है। आरम्भ से अन्त तक श्रोतागणों के आचरण का निर्धारण, संचालन व नियन्त्रण इन्हीं परम्पराओं, आदर्शों आदि के द्वारा होता है। श्रोतागण 'पस्थापन भीड़' वास्तव में इसी अर्थ में हैं।

(9) भीड़ को एकत्रित करने के लिये पहले से कोई आरम्भिक आयोजन या तैयारियाँ नहीं की जातीं, और न ही एकत्रित हो जाने के बाद ध्यान के विषय (object of attention) और सदस्यों के बीच के सम्बन्ध को स्थापित करने और उसे बनाये रखने का कोई सचेत या सुनियोजित प्रयत्न किया जाता है। साथ ही, भीड़ के कार्यक्रमों या आचरण पर कोई औपचारिक नियन्त्रण रखने की आवश्यकता का अनुभव भी नहीं होता। इसके विपरीत, श्रोतागणों के बीच आरम्भिक आयोजन करने, प्रारम्भिक सम्बन्ध स्थापित करने, उस सम्बन्ध को बनाये रखने, और समुचित नियन्त्रण रखने आदि के सम्बन्ध में बहुत ही जागरूक प्रयत्न किया जाता है। बहुधा आरम्भिक तैयारियों में श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करने में पर्याप्त धन व्यय किया जाता है। सिनेमा इसकी अच्छी मिसाल है।

(10) भीड़ अपने संवेगात्मक व्यवहार के लिये प्रसिद्ध है। भीड़ में उत्तेजना या जोश बहुत ही प्रबल होता है। इसीलिए भीड़ में विवेक व विचारों की अपेक्षा भाव एवं संवेग ही अधिक प्रेरणा प्रदान करते हैं। भीड़ में उत्तेजना के वश होकर ही व्यक्ति संवेगों का प्रदर्शन दिल खोलकर करते हैं। नाचना, कूदना, शोर से हँसना, क्रोध में अनाप-शनाप बकना, कपड़े फाड़ना, लूटपाट करना, मारपीट करना, यहाँ तक कि हत्या करना भी भीड़ के सदस्य के लिये कोई कठिन कार्य नहीं होता। पर श्रोतागणों में जोश या उत्तेजना इस रूप में न तो इतनी प्रबल होती है और न ही इस तरह प्रदर्शित की जाती है।

(11) भीड़ में विचार, भाव व संवेग स्थायी नहीं, बल्कि अल्पकालीन होते हैं। भीड़ एक समय जिसे अपना नेता मानकर पूजती है, दूसरे क्षण उसी व्यक्ति को अपने क्रोध का शिकार बना लेती है। एक क्षण भीड़ अत्यधिक वीरतापूर्ण व्यवहार करती है, पर दूसरे ही क्षण कायरता का चरम बिन्दु भी छू लेती है। इसके विपरीत श्रोतागणों में विचार, भाव, संवेग आदि इतने अस्थिर व अल्पकालीन नहीं होते।

(12) भीड़ में दूसरे व्यक्तियों की उपस्थिति का प्रभाव प्रत्येक सदस्य पर पड़ता है। दूसरे सदस्यों की उपस्थिति एवं उनके द्वारा किये गये कार्यों के सम्बन्ध मे प्रत्यक्ष ज्ञान भीड़ के प्रत्येक सदस्य को बना देता और उसकी क्रियाओं को तीव्र व प्रबल वेग प्रदान करता है। इसीलिये यदि भीड़ के सदस्यों की संख्या दो सौ से बीस रह जाती है, तो इसका प्रभाव उस समय भी उपस्थित प्रत्येक सदस्य पर पड़ता है, और वे पहले के से जोश या क्रिया करने की प्रेरणा व सामूहिक शक्ति का अनुभव अब नहीं करते। इसके विपरीत श्रोतागणों में सदस्यों की उपस्थिति या अनुपस्थिति का कोई विशेष प्रभाव श्रोताओं पर नहीं पड़ता क्योंकि उसमें एक दूसरे को उत्तेजित व क्रियाशील करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिये आरम्भ में यदि दो सौ श्रोता उपस्थित रहते हैं; परन्तु फिर धीरे-धीरे घटते हुए केवल बीस ही रह जाते हैं, तो भी उपस्थित श्रोताओं पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता।

(13) नेता के आधार पर भी भीड़ और श्रोतागण में अन्तर किया जा सकता है। भीड़ में नेता, तात्कालिक होता है। नेता होने का कोई गुण न होते हुए भी केवल संयोगवश व्यक्ति नेता बन बैठता है। अब वह लोगों के संवेगों को भड़काता है और पौराणिक कथाओं, लोकगाथाओं, अफवाहों आदि की सहायता से सत्य को छिपाते हुए या वास्तविक तथ्यों पर अपना रंग चढ़ाते हुए भीड़ के सदस्यों के मन में क्रोध, घृणा, द्वेष या भय की भावना जगाता है। भीड़ के नेता का बौद्धिक स्तर, ज्ञान व अनुभव भी निम्न स्तर का होता है। पर, श्रोतागणों का यदि कोई नेता होता है तो वह योग्य, बुद्धिमान तथा अनुभवी व्यक्ति ही होता है। कोई राह चलता कालीचरण या पकौड़ीमल श्रोतागणों का नेता नहीं बन सकता, क्योंकि श्रोतागणों का नेता आकस्मिक नहीं होता। साथ ही, यह नेता श्रोताओं को वास्तविक तथ्यों से परिचित कराता है, रचनात्मक सुझाव देता है, महत्त्वपूर्ण सूचनाओं से श्रोताओं को लाभ पहुँचाता है, उपदेश देता है, और पथ-प्रदर्शन करता है। यह नेता श्रोताओं को कुछ देना जानता है, और कुछ दे सकने की योग्यता भी रखता है।

REFERENCES

1 "A crowd is a gathering of considerable number of persons around a centre of a point of common attention."—*Kimball Young*, op. cit., 1953 edition, p 286

2 "The crowd is a collectivity involving essentially a considerable number of individuals responding within a limited space to some common object of attention."—*Kimball Young*, op. cit., revised edition, 1957, p. 286.

3 "Crowd is a transitory contiguous group, organized with completely permeable boundaries, spontaneously formed as a result of some common interest."—*R.H. Thoules*, General and Social Psychology, University Tutorial Press Ltd, London, 1951, p 258

4 "Crowd is a physically compact organization of human beings brought into direct, temporary and unorganized contact with one another."—*Maciver*.

5. "Crowd is a congregate group of individuals who have temporarily identified themselves with common values and who are expressing similar emotions."—*Cantril.*
6. MacIver and Page, Society ; : An Introductory Analysis, (Macmillan and Co. Ltd., London), 1953, p. 421.
7. Kimball Young, Handbook of Social Psychology, Revised edition, 1957 p. 287.
8. The crowd belongs to our category of unorganized groups. We mean by this not that the crowd exhibits no patterns, no characteristic expressions, but that the units in it are not organized in relation to one another. The crowd may be deliberately instigated, but if falls into no predetermined order. It may be led, but only on the basis of the feelings and views of its members, only on the basis of its own sentiment"—*R.M. MacIver and Charles H. Page,* op. cit., p. 422.
9. Kimball Young, op. cit., p. 286.
10. MacIver and Page, op. cit., pp. 422-423.
11. Kimball Young, op. cit., pp. 286-287.
12. H. Blumer, Collective Behaviour (Barnes and Nobles, New York), 1931.
13. R.W. Brown, 'Mass Phenomena' in Gardner Lindzey, Handbook of Social Psychology, (Addison-Wesley Co., Massachusetts), 1954, p. 841.
14. Aggressive crowd may be defined as "the crowd which has and is goal response the injury of some person."—*J. Dollard and Others,* Frustration and Aggression, (Yale Uiversity Press, New Haven), 1939, p. 71.
15. A. Raper, The Tragedy of Lynching, (University of North Carolina Press, Chapal Hill), 1933, p. 35.
16. H. Cantrill, The Psychology of Social Movement, (Wilay, New York) 1941, p. 117.
17. R.T. La Piere, Collective Behaviour, (McGraw Hill Book Co., New York), 1938.
18. "The action crowd is one in which love, fear, rage or hostility emerges."—*Kimball Young,* op. cit., p. 287.
19. "...the crowd is always intellectually inferior to the isolated individual."—*Le Bon.* The Crowd. Translated, (F. Uion, London), 1903, p. 37.
20. "The life of a conversation is gone the moment one individual takes the floor and silences the rest."—*Sir Martin Conway.* The Crowd in Peace and War, p. 221.

21. Morris Ginsberg, Psychology of Society, p. 132.
22. *Ibid.*, p. 46.
23. Thee is present 'a sort of nervous exaltation which is probably a form of the herd instinct, a feeling of pleasurable excitement due to the knowledge that one is sharing of ideas and emotion with a large number of people at the same time'—*Morris Ginsberg*, op. cit., p. 132.
24. William Mc Dougall, op. cit. pp. 43-44.
25. 'For them the past does not exist. Rational analysis and test are out of the question The faculties we doubt with are asleep.'—*E.A. Ross*, op. cit., p. 5.
26. 'Its hero one moment may be its victim the next. It may pass abruptly from reckless courage to dastard fear. Little things turn its purpose Taine tells of a street mob bent on hanging a supposed monopolizer. By some words uttered on his behalf, it was brought to embrace him, drink with him, and make him join them in a mad dance about a liberty pole.'—*E.A. Ross, Ibid.*, pp. 54-55.
27. 'Social facilitation may be defined as the increase in one's responses due to the presence or activity of other persons.'—*Kimball Young*, op cit. p. 194.
28. Morris Ginsberg, op. cit., Hindi edition, p. 203.
29. 'The mob, as distinguished from the ordinary crowd is characterized by irrational and violent action.'—*J.M. Reinhardt*, Social Psychology, p. 207
30. 'The sentiments and ideas of all the persons in the gathering take one and the same direction, and their conscious personality vanishes. A collective mind is formed, doubtless transitory, but presenting very clearly defined characteristics. The gathering has thus become, a psychological crowd. It forms a single being, and is subjected to the law of the mental unity of crowds'—*G. Le Bon*, The Crowd, English translation, p. I.
31. Morris Ginsberg, op cit., Hindi edition, pp. 205-206
32. 'Audience is a form of institutionalized crowd'—*Kimball Young*, op cit., p. 302.
33. 'We have called the audience an institutionalized crowd, because in the vast majority of situations which we should call audience, there is an accepted pattern of conduct, a format beginning of a formal end.'—*Sprott*, Social Psychology (Methuen and Co. Ltd., London), 1952, p. 153
34. S.H. Britt, Psychology of Modern Life, p. 285.
35. Kimball Young, op. cit., p. 302.

समूह-मस्तिष्क
[GROUP-MIND]

"समूह-मस्तिष्क का अस्तित्व मानसिक प्रक्रियाओं और मानसिक अन्तर्वस्तुओं को उलझन पर टिका है।" —Ginsberg.

प्रतिदिन के निरीक्षण से हमें ज्ञात होता है कि सामूहिक परिस्थिति—जैसे भीड़ आदि—में व्यक्ति का व्यवहार ठीक वैसा नहीं होता, जैसा कि अकेले में होता है। समूह के अन्दर रहते हुए कभी-कभी तो वह इस प्रकार के अनूठे व्यवहार कर बैठता है कि ऐसा लगता है जैसे व्यक्ति अपने आप में ही नहीं है, अर्थात् अपनी समस्त व्यक्तिगत शक्ति व गुणों को खोकर एक अदृश्य शक्ति द्वारा संचालित व निर्देशित हो रहा है। ऐसा क्यों होता है? यह एक बड़ा प्रश्न है, जिसका उत्तर ढूंढने का प्रयत्न अनेक विद्वानों ने अनेक बार किया है। उनमें से कुछ विद्वानों का कथन है कि व्यक्ति जब अकेले में कुछ करता है तो वह अपने वैयक्तिक मस्तिष्क के निर्देशानुसार कार्य करता है। पर, जब बहुत से व्यक्ति एकमात्र एकत्रित होते हैं और उनमें अन्तःक्रिया होती है तो वैयक्तिक मस्तिष्क सम्मिलित रूप में एक उच्चतर मस्तिष्क को जन्म देते हैं। जिस प्रकार यह सच है कि समाज या समूह का अस्तित्व होता है, उसी प्रकार यह भी सच है कि समाज या समूह के मस्तिष्क का भी अस्तित्व होता है। समूह-मस्तिष्क की अवधारणा (concept) इसी विचारधारा का प्रतिफल है।

इसके विपरीत कुछ विद्वान् ऐसे भी हुए हैं, जिनके अनुसार व्यक्ति के व्यवहार के निर्धारण में समाज या समूह का कोई भी महत्त्व नहीं होता। व्यक्ति एक विवेकशील और स्वतन्त्र प्राणी है। उसे अपने अस्तित्व को बनाये रखने या अपने व्यवहार को संचालित करने में समाज या समूह की सहायता की कोई आवश्यकता नहीं होती। समूह-मस्तिष्क की अवधारणा को समझने के लिये इन दो विपरीत विचारधाराओं को भी समझ लेना लाभप्रद सिद्ध होगा।

'व्यक्ति' और 'समाज' के सम्बन्ध के विषय में दो मत
(Two Views about the Relationship between Individual and Society)

जैसा कि उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है, व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में दो विरोधी मत हैं। इनमें प्रथम मत व्यक्ति को प्रधान मानता है, और कहता है कि समाज की व्याख्या व्यक्ति के स्वभाव के अनुसार ही सम्भव है। इसके विपरीत, दूसरा मत समाज को सब कुछ मानता है और विचार व्यक्त करता है कि व्यक्ति के स्वभाव की व्याख्या समाज के स्वभाव के आधार पर ही हो सकती है। इन दो मतों का स्पष्टीकरण संक्षेप में हम इस प्रकार कर सकते हैं—

(1) प्रथम मत : व्यक्तिवादी सिद्धान्त (First View : Individualistic Theory)—व्यक्तिवादी सिद्धान्त के प्रवर्तकों का मत है कि व्यक्तियों के द्वारा ही समाज का निर्माण होता है। चूंकि व्यक्ति है, इस कारण समाज का अस्तित्व भी बना हुआ है। अर्थात्, समाज के निर्माण व अस्तित्व के लिए व्यक्ति प्राथमिक है। व्यक्ति अपने भौतिक पर्यावरण (environment) के प्रति प्रतिक्रिया करता है, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आपस में अन्तःक्रिया करता व सहयोग करता है।

इसके फलस्वरूप अलग-अलग व्यक्तियों के बीच सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति ही समाज को पनपाती और उसे एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती है। व्यक्तियों का स्वभाव जिस प्रकार का होगा, उसी के अनुरूप उनमें अन्त:क्रियाएँ होंगी, और ये अन्त:क्रियाएँ ही सामाजिक सम्बन्ध के एक विशिष्ट स्वरूप को रूप देंगी। समाज की प्रकृति इन्हीं सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति के आधार पर विकसित होगी। अतः समाज के स्वभाव की व्याख्या व्यक्ति के स्वभाव के अनुसार ही की जानी चाहिये। व्यक्ति मुख्य है, समाज गौण।

(2) द्वितीय मत : समूहवादी दृष्टिकोण (Second View : Group Approach)—दूसरी ओर, जैसा कि श्री गिन्सबर्ग ने लिखा है, अन्य विचारकों का एक दल है जो यह सोचता है कि बजाय इसके कि किसी समूह की प्रकृति को उसके निर्माण करने वाले व्यक्तियों के सन्दर्भ में समझा जाय, व्यक्तियों को ही उनके सामाजिक समूह के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। इस मत के प्रवर्तक अपना तर्क देते हैं कि व्यक्ति अपने स्वभाव के लिये उस सामाजिक या सामूहिक पर्यावरण का ऋणी है, जिसमें वह जन्म लेकर बड़ा होता है। यह समाज या समूह जन्म से मृत्यु तक निरन्तर व्यक्ति को प्रभावित करता रहता है। समाज का अपना एक इतिहास होता है। उसकी अपनी कुछ प्रथाएँ, परम्पराएँ, आदर्श, मूल्य आदि भी होते हैं। ये सभी मिलकर उस सामाजिक पर्यावरण की सृष्टि करते हैं, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व की रूपरेखा बनाता है। अतः समाज से पृथक् करके व्यक्ति के स्वभाव को समझा नहीं जा सकता। समूह-मस्तिष्क की धारणा इसी दृष्टिकोण की उपज है।

समालोचना : दोनों ही दृष्टिकोण दोषपूर्ण हैं (Criticism : Both the Views are Defective)—श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, उपर्युक्त दोनों ही दृष्टिकोणों के विरुद्ध गम्भीर आक्षेप किये जा सकते हैं। "पहला मत व्यक्ति को अनुचित रूप से पृथक् करके देखता है, और इस अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य को महत्त्व नहीं देता कि ज्यों ही कोई समूह थोड़ा स्थायी होता है, और उसके अन्दर नियमित और मान्यता-प्राप्त संस्थाओं तथा परम्परा का विकास होता है, त्यों ही उसकी कुछ अपनी विशेषताएँ उभर आती हैं। ये विशेषतायें व्यक्तियों की अनुभूतियों और विचारों पर असर डालने और उनकी क्रियाओं को ढालने लगती हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि व्यक्तियों की तुलना में, किसी सीमा तक, समूह का अपना एक अलग जीवन और अपना एक अलग चरित्र होता है।"[1]

दूसरे मत में, श्री गिन्सबर्ग ने लिखा है, "यद्यपि सच्चाई का एक बड़ा अंश मौजूद है, फिर भी इसको जिस तरीके से पेश किया गया है, उससे व्यक्ति 'तुच्छ' पड़ता दीखता है। इसके अतिरिक्त इस मत के विरुद्ध यह आपत्ति भी की जा सकती है कि सामाजिक समूहों की एकता को किस रूप में समझा जाय, इस बारे में कोई वैज्ञानिक व्याख्या इस मत के प्रवर्तकों ने प्रस्तुत नहीं की है।"[2]

उपर्युक्त दो विरोधी मतों के आधार पर एक निश्चित निष्कर्ष निकालते हुए श्री गिन्सबर्ग ने आगे लिखा है—"सच बात तो यह है कि जिस विरोध की रूपरेखा हमने ऊपर प्रस्तुत की है, वह झूठा विरोध है, और व्यक्ति व समाज की प्रकृति को एक-दूसरे से पृथक् करके देखने का फल है। किसी सामाजिक समूह की जो एकता होती है, उसका स्पष्टीकरण उसकी इकाइयों की प्रकृति से नहीं हो सकता, क्योंकि अपने सामाजिक समूह से अलग कर दिये जाने पर उन इकाइयों का कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता। जैसे पहले ईंटें होती हैं और बाद में उनका ढेर बनता

है, वैसे ही पहले व्यक्ति हों और बाद में उनसे एक समष्टि बने, ऐसी बात नहीं होती। जो सम्बन्ध व्यक्तियों को आपस में बाँधे रखते हैं वे आन्तरिक (intrinsic) होते हैं, और वास्तव में व्यक्ति के व्यक्तित्व के अंग होते हैं।"[3] अतः स्पष्ट है कि व्यक्तिवादी दृष्टिकोण दोषपूर्ण है। पर, साथ ही, यह भी कहना पड़ेगा कि दूसरा मत, अर्थात् समूहवादी दृष्टिकोण या समूह-मस्तिष्क की धारणा भी वैज्ञानिक नहीं है। यद्यपि यह सच है कि व्यक्ति समाज से अलग कुछ नहीं है, और व्यक्तित्व के विकास का अर्थ सामाजिकता का भी विकास है, फिर भी इस मत से सहमत होना कठिन है कि समाज ही सब कुछ है, और व्यक्ति उसके हाथ में एक कठपुतली है। हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि समाज व्यक्तियों में पाये जाने वाले पारस्परिक सम्बन्धों के अलावा और कुछ भी नहीं है। और, व्यक्तियों में एक ऐसा केन्द्रीय तत्त्व अवश्य होता है, जिसकी अभिव्यक्ति प्रत्येक व्यक्ति में अनूठे रूप में होती है। यदि ऐसा न होता तो एक ही सामाजिक पर्यावरण, समाज या समूह में पनपने और बढ़ने वाले सभी व्यक्तियों का व्यक्तित्व, आचरण, स्वभाव, आदि बिलकुल एक-सा होता। पर, ऐसा नहीं है। व्यक्ति समानताओं के बीच भी असमान रहते और मिलते हैं।

सामाजिक या समूह-मस्तिष्क की अवधारणा
(Concept of Social or Group Mind)

सामाजिक या समूह-मस्तिष्क की अवधारणा नयी नहीं है। श्री प्लेटो (Plato) से लेकर आधुनिक काल तक इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपना-अपना मत व्यक्त किया है। सन् 1960 में श्री स्टीन्थल (Steinthal) और श्री लेज़ारस (Lazarus) ने अपनी पत्रिका 'Folk Psychology' का प्रकाशन आरम्भ किया। इसमें इन विद्वानों ने विभिन्न जनजातियों (tribes) की विशेषताओं का कारण एक समाज-विशेष की संरचना व व्यवस्था (structure and system) बतलाया। सन् 1912 में श्री लीबाँ ने अपनी पुस्तक The Crowd' में भीड़ व्यवहार की व्याख्या करते हुए समूह-मस्तिष्क की अवधारणा प्रस्तुत की। सन् 1920 में डॉ० मैक्डूगल (McDougall) ने तो 'समूह-मस्तिष्क' की अवधारणा को एक नया रूप देने के लिये, इसी नाम से, एक पुस्तक 'Group Mind' तक प्रकाशित की। इसके अतिरिक्त सर्वश्री एस्पिनास (Espinas), दुर्खीम (Durkheim), बोसान्के (Bosanquet) आदि समूह-मस्तिष्क की अवधारणा के दूसरे समर्थक हैं।

सामाजिक या समूह-मस्तिष्क की अवधारणा संक्षेप में इस प्रकार है—समाज में—विशेषकर सामूहिक परिस्थितियों में—व्यक्ति के व्यवहार में कुछ विशिष्ट विलक्षणताएँ देखने में आती हैं। कारण कि सामूहिक परिस्थितियों में व्यक्ति का अपना मस्तिष्क दब जाता है और उसके स्थान पर समूह का मस्तिष्क उसकी क्रियाओं को संचालित व नियंत्रित करता है। जिस प्रकार व्यक्ति की व्यक्तिगत क्रियाओं का संचालन वैयक्तिक मस्तिष्क (individual mind) द्वारा होता है, उसी प्रकार सामाजिक क्रियाओं या सामूहिक परिस्थितियों में होने वाले आचरणों का संचालन समूह-मस्तिष्क के द्वारा होता है। यह समूह-मस्तिष्क वैयक्तिक मस्तिष्कों के आधार पर तो पनपता है, मगर फिर भी अनेक वैयक्तिक मस्तिष्कों का साधारण योग नहीं होता। सामाजिक अन्तःक्रियाओं के दौरान वैयक्तिक मस्तिष्कों के भावनाएं तथा धारणाएँ आन्तरिक रूप में इस प्रकार आपस में घुलमिल जाती हैं कि वैयक्तिक

मस्तिष्कों का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रह जाता, और उनके स्थान पर एक नवीन क्षमता या शक्ति विकसित हो जाती है। यह क्षमता अथवा शक्ति वैयक्तिक मस्तिष्कों की क्षमताओं से पृथक् होती है और उनसे कहीं अधिक श्रेष्ठ होती है। इसी कारण वह व्यक्ति के व्यवहारों को सचालित व नियंत्रित कर सकती है। यह सच है कि वैयक्तिक मस्तिष्कों के मिलन से ही समूह-मस्तिष्क का निर्माण होता है; किन्तु, एक बार पनप जाने के बाद वह वैयक्तिक मस्तिष्कों पर अपना प्रभाव डालने लगता है। इसीलिये समूह-मस्तिष्क को केवल वैयक्तिक मस्तिष्कों का योगमात्र न मानकर उससे पृथक् तथा उससे श्रेष्ठ शक्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है। उदाहरणार्थ, यद्यपि मकान ईंटों से ही बनता है, पर बन जाने के बाद वह ईंट नहीं रह जाता, 'घर' कहलाता है, और किसी भी ईंट से या केवल ईंटों के ढेरों से पृथक् और उत्तम प्रकार का होता है। जिस प्रकार मकान बन जाने के बाद ईंटों का पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है और उस मकान की अपनी कुछ विशिष्टताएँ सामने आ जाती हैं, उसी प्रकार समूह-मस्तिष्क के पनप जाने के बाद वैयक्तिक मस्तिष्क का पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है, और समूह-मस्तिष्क की अपनी कुछ विशिष्टताएँ उभर आती हैं। ये विशिष्टताएँ ही व्यक्ति के व्यवहार को अपने साँचे में ढालती और नियंत्रित करती हैं। इस शक्ति (समूह-मस्तिष्क) के सामने झुक जाने के अलावा व्यक्ति के पास कोई दूसरा चारा नहीं रहता।

'समूह-मस्तिष्क' के कुछ समर्थकों का कथन है कि सामाजिक प्रक्रियाएँ व्यक्ति के मनोविज्ञान से परे हैं, उसका प्रतिफल नहीं। सामाजिक तथ्य स्वयं अपने नियमों का पालन करते और व्यक्ति से पालन करवाते हैं। जिस प्रकार वास्तविक शक्ति समग्र रूप में अवयव (organism) या शरीर में निहित होती है, न कि शरीर के किसी कोष्ठ मे, उसी प्रकार वास्तविक सत्ताधारी समाज होता है, न कि व्यक्ति, जो कि समाज-रूपी शरीर का एक कोष्ठ मात्र होता है। व्यक्ति तो केवल वह साधन है, जिसके द्वारा समाज अपने उद्देश्यों की पूर्ति करवाता है। समाज का जीवन ही व्यक्ति के जीवन का वास्तविक परिचय है। "यदि हम व्यक्तियों के निरीक्षण से आरम्भ करते हैं तो समाज को नहीं समझ सकेंगे; फिर, यदि हम समाज से आरम्भ करेंगे, तो हमारे लिये व्यक्ति को समझना आवश्यक न रहेगा।"

समूह-मस्तिष्क की अवधारणा के सम्बन्ध में आपत्तियाँ
(Objections against the Concept of Group Mind)

समूह-मस्तिष्क की अवधारणा को आज के मनोवैज्ञानिक स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार, यह धारणा अवैज्ञानिक है और इससे कितने ही गलत निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इस अवधारणा के विरुद्ध निम्नलिखित आपत्तियाँ की जाती हैं[5]—

(i) समूह-मस्तिष्क की अवधारणा व्यक्ति के महत्त्व को कम कर देती है। समाज के लिये 'मस्तिष्क' शब्द का प्रयोग करने का फल यह हुआ है कि समाज को एक ऐसी काल्पनिक इकाई या संगठन के रूप में मान लिया गया है जो कि वास्तव में वह है नहीं। साथ ही, इस अवधारणा के कारण व्यक्ति तथा अन्य छोटे-छोटे समूहों को तुच्छ माना जाने लगा है। इस अवधारणा ने यह गलत विचार हमारे अन्दर उत्पन्न कर दिया है कि समाज का हित और व्यक्ति का हित, दो अलग-अलग चीजें हैं और समाज के हित की तुलना में व्यक्ति का हित अर्थहीन है। लेकिन, श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, निश्चय ही यह एक बड़ी भूल व अन्याय है।

वाली सामूहिकता में कोई अच्छाई नहीं है। सभी मूल्य (values) व्यक्तियों के लिये मूल्य हैं, और समष्टि का हित सभी हितों की तरह व्यक्तियों का हित है, वह व्यक्तित्व के लिये महत्त्व रखने वाली एक ऐसी चीज है, जो व्यक्तित्व का विकास करती है और मनुष्य के अन्दर की सम्भावना को वास्तविक रूप देती है। जो बात थी अरस्तू (Aristotle) ने सुख के बारे में कही है, वही बात हित (good) के बारे में हम भी कह सकते हैं, अर्थात् यदि व्यक्तियों को हित की प्राप्ति नहीं होती तो समष्टि या समाज को भी उसकी प्राप्ति नहीं होगी। इसका मतलब यह नहीं है कि संस्कृति या संस्थाओं जैसी जिन चीजों को कोई समाज मूल्यवान् मानता है, वे किसी एक पीढ़ी के व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक टिकाऊ नहीं हैं। वे निश्चय ही अधिक स्थायी हैं, पर इस संस्कृति और इन संस्थाओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने तथा उन्हें निरन्तर नया जीवन देकर स्थिर रखने में मदद स्वयं व्यक्ति ही करते हैं।[5]

(ii) **समूह-मस्तिष्क की अवधारणा प्रजातंत्र के वेश में एकतन्त्र (autocracy) और कुलीनतन्त्र (aristocracy) को ही हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है।** यद्यपि सामाजिक मस्तिष्क श्रेष्ठ होता है और कभी गलती नहीं कर सकता, फिर भी वह अपनी बात स्वयं नहीं कह सकता। बिना किसी व्यक्ति की सहायता के समूह-मस्तिष्क के विचारों का स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है। परन्तु, जो व्यक्ति सामूहिक विचारों को स्पष्ट करता है, वह उन विचारों को अपने मत के अनुसार ही प्रस्तुत करता है। अतएव, ऐसा होता है कि समूह-मस्तिष्क की अवधारणा की आड़ में व्यक्ति, अपने हित की पूर्ति के लिये, समाज के विचारों के नाम पर, अपने स्वयं के विचार प्रतिपादित करने लगते हैं। इस प्रकार वे जनता को भुलावे में डाल देते हैं और उन्हें यह समझाते हैं कि वह मत उनका अपना मत नहीं, पूरे समाज का मत है। ऐसा काम स्वार्थी नेता, राजा, शासक वर्ग, अभिजात वर्ग आदि ही करते हैं और इस प्रकार प्रजातंत्र के वेश में हम एकतंत्र या कुलीनतंत्र के शिकार हो जाते हैं।

(iii) **समूह-मस्तिष्क की अवधारणा समाज को देवता के रूप में प्रस्तुत करती है।** इस अवधारणा के आधार पर समाज को एक देवता का रूप दे दिया जाता है और उसकी महिमा और शक्ति को इतना बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया जाता है कि वह वैज्ञानिक रह ही नहीं जाता। कहा जाता है कि समाज व्यक्तियों को कर्तव्य का आदेश देने वाले नैतिक नियम (moral law) से भी ऊपर की चीज है।

(iv) **समूह-मस्तिष्क की अवधारणा रूढ़िवादिता (conservatism) को जन्म देती है।** जब एक बार ऐसे मस्तिष्क (समूह-मस्तिष्क) की धारणा बन जाती है जो व्यक्ति के मस्तिष्क से बहुत ही श्रेष्ठ है और जो कभी गलती कर ही नहीं सकता, तो उसका अवश्यम्भावी जाना-अनजाना फल यह होता है कि उस मस्तिष्क के प्रति आज्ञाकारिता का और यहाँ तक कि पूजा का भाव भी पैदा हो जाता है। फिर तो व्यक्ति समूह-मस्तिष्क-रूपी देवता का किसी भी प्रकार का विरोध करने की इच्छा तक खो बैठता है।

समूह-मस्तिष्क का महत्त्व

(Significance of Group Mind)

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि समूह-मस्तिष्क की अवधारणा बिलकुल ही व्यर्थ की अवधारणा है। ऐसी बात नहीं है।

प्रत्येक विचार में कुछ न कुछ अच्छे तत्व अवश्य छिपे रहते हैं। समूह-मस्तिष्क की अवधारणा (concept) का भी अपना महत्व है, और वह महत्व इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(1) समूह-मस्तिष्क की अवधारणा व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की त्रुटियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण सामूहिक शक्ति की सत्यता को मानने से इन्कार करता है, और व्यक्तियों की प्रक्रियाओं को ही सामाजिक कार्यों का आधार बताता है। व्यक्तिवादी सिद्धान्त में दो बातों पर विशेष रूप से बल दिया गया है—पहली यह कि मानसिक प्रक्रियायें केवल व्यक्तियों में ही होती हैं; और दूसरी, यह कि अलग-अलग व्यक्तियों के ही कार्यों के संग्रह को समूह का कार्य कहते हैं। इस आधार पर ही समूहों की यथार्थता को स्वीकार नहीं किया जाता। समूह-मस्तिष्क की अवधारणा उपर्युक्त दोनों बातों की अवैज्ञानिकता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। यह बात गलत है कि मानसिक प्रक्रियायें केवल व्यक्तियों में ही होती हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का भी एक मनोवैज्ञानिक आधार ढूंढ़ा जा सकता है। यदि समाज का कोई मनोवैज्ञानिक आधार न होता तो सामूहिक विचारों, भावनाओं आदि (जो कि मानसिक प्रक्रियायें ही हैं) का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रथाओं, रूढ़ियों, नियमों, आदर्शों तथा मूल्यों का विकास सम्भव ही न होता। इनका विकास निश्चय ही एक मस्तिष्क की उपज नहीं, ये तो समाज की अपनी देन और धरोहर हैं। इसी प्रकार यह कहना भी गलत है कि अलग-अलग व्यक्तियों के कार्यों के संग्रह को ही समूह का कार्य कहते हैं। जिस प्रकार ईंटों के संग्रह को हम मकान नहीं कह सकते, उसी प्रकार व्यक्तियों के अलग-अलग कार्यों के संग्रह को भी हम सामाजिक क्रिया नहीं कह सकते। मकान ईंटों के ढेर से कुछ अधिक होता है; उसी प्रकार समाज भी व्यक्तियों के योग से कुछ "अधिक" ही होता है। समूह-मस्तिष्क का सिद्धान्त इस सत्य के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

(2) समूह-मस्तिष्क की अवधारणा यह स्पष्ट करती है कि समाज या सामाजिक जीवन के विवाह और नातेदारी, सम्पत्ति, धर्म, सामाजिक संगठन, सहयोग आदि मुख्य तथ्यों को वैयक्तिक आधार पर समझा नहीं जा सकता। ये तथ्य अलग-अलग व्यक्तियों के मस्तिष्क की देन नहीं हो सकते। इनको कोई भी अकेला व्यक्ति न तो बना सकता है और न मिटा ही सकता है। इनका विकास तो सामाजिक अन्तःक्रियाओं के दौरान अनेक व्यक्तियों की मानसिक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप ही होता है। दूसरे यह कि इनके विकसित होने में कई-कई पीढ़ियों का समय लगता है।

(3) समूह-मस्तिष्क की अवधारणा का एक महत्व यह भी है कि इससे व्यक्ति के व्यक्तित्व व चरित्र के विकास में समाज के महत्त्व का भी ज्ञान हमें होता है। व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक समाज या सामाजिक पर्यावरण में पलता है। इसी लिये समाज के स्वभाव के अनुकूल ही व्यक्ति के स्वभाव की विशेषताओं का विकास होता है। किसी भी समाज की विशिष्ट विशेषताओं का विकास उस समाज की सामाजिक जीवन की परिस्थितियों, उसके इतिहास और अन्य समूहों के साथ उसके सम्बन्धों द्वारा ही निर्धारित होता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में व्यक्ति की क्रियाओं का भी अपना स्थान है, पर वह स्थान समाज के महत्व की तुलना में गौण ही है। अलग-

अलग व्यक्तियों की जो कुछ देन (contribution) होती है, उसकी तुलना मे समाज की देन कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। जिस सामाजिक व्यवस्था व संगठन के द्वारा आज हम नियंत्रित हैं, वह हजारों व्यक्तियों की हजारों वर्षों की अन्तःक्रियाओं का फल है, और इसीलिये वह किसी भी व्यक्ति से श्रेष्ठ है। यही सामाजिक व्यवस्था व संगठन व्यक्ति के स्वभाव की रूपरेखा निर्धारित करता और उसका विकास करता है।

(4) समूह-मस्तिष्क की अवधारणा का एक महत्त्व यह भी है कि इसमें वैयक्तिक शक्तियों की अपेक्षा सामाजिक शक्तियों और संस्थाओं के प्रबल प्रभाव पर अधिक बल दिया जाता है। सामाजिक व्यवस्थाओं (systems) तथा संस्थाओं की अपनी दिशायें और नियम हैं, जो अपने को व्यक्तियों के ऊपर आरोपित करते, और उन्हें प्रभावित करते हैं। व्यक्ति को इच्छा न होते हुए भी इन नियमों का पालन करना पड़ता है। इसका कारण यह है कि किसी भी समाज की संस्थाएँ पृथक्-पृथक् व्यक्तियों की इच्छाओं और चाह का फल नहीं होतीं—संस्थाएँ तो सामूहिक इच्छाओं, विचारों और भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं, और इसीलिये इनके पीछे समूह की अभिमति (sanction) होती है। इसीलिये तो संस्थाओं और उनके नियमों के प्रति व्यक्ति के हृदय में आदर होता है, और उन संस्थाओं और नियमों का प्रभाव व्यक्ति के व्यवहारों पर बहुत बड़ी सीमा तक पड़ता है।

(5) समूह-मस्तिष्क की अवधारणा के महत्त्व की चर्चा करते हुए श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने लिखा है कि इसमें हम कम-से-कम इतना तो अवश्य ही सीखते हैं कि व्यक्तियों का एक-दूसरे के साथ एक आन्तरिक और आवश्यक सम्बन्ध होता है। केवल बाहरी तौर पर व्यक्ति की क्रियाओं को देखकर हम पारस्परिक सामाजिक सम्बन्ध के विषय में सही अन्दाज नहीं लगाया जा सकता। साथ ही, समूह-मस्तिष्क की अवधारणा हमारा ध्यान इस सत्य की ओर भी आकर्षित करती है कि समाज एक कृत्रिम (artificial) रचना नहीं है; एक ऐसा साधन मात्र नहीं है जो एकान्त में अपनी भरपूर जिन्दगी बिता सकने में समर्थ माने जाने वाले व्यक्तियों के समूह को एकसाथ रखने के लिये बनाया गया हो। यह भी सरलता से देखा जा सकता है कि व्यक्तियों को एकसाथ रखने वाले जो सम्बन्ध हैं, वे अनिवार्यतः मानसिक ही हैं, क्योंकि वे विचारों, अनुभूतियों, इच्छाओं, भावनाओं, प्रयोजनों आदि पर निर्भर हैं।[6]

ये सब होते हुए भी समूह-मस्तिष्क की अवधारणा को उस रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, जिस रूप में उसके प्रवर्तकों ने उसे प्रस्तुत किया है, क्योंकि वह रूप अवैज्ञानिक है, और इसीलिये वास्तविकता से परे है। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी।

समूह-मस्तिष्क के सिद्धान्त
(Theories of Group Mind)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, समूह-मस्तिष्क के सिद्धान्तों को मोटे तौर पर तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—प्रथम वर्ग में सर्वश्री एस्पिनाज (Espinas), दुर्खीम (Durkheim) आदि के सिद्धान्तों को रक्खा जा सकता है। इन सिद्धान्तों का केन्द्रीय विचार (central idea) यह है कि समाज वास्तव में एक सामूहिक चेतना है, जिसमें व्यक्तियों की वैयक्तिक चेतना या मानसिक क्रियायें

घुल-मिलकर एक हो जाती हैं। दूसरे वर्ग में जर्मन आदर्शवादी विद्वानों तथा उनके अनुयायियों के सिद्धान्तों को शामिल किया जाता है। इन सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्ति के जो विचार और विश्वास होते हैं व जिन प्रयोजनों को वह अपना लक्ष्य बनाता है, उन सबका आधार समाज ही होता है। व्यक्ति का चरित्र उस सामाजिक वातावरण के द्वारा उत्पन्न है जिसमें वह रहता है। इन सिद्धान्तकारों के अनुसार समाज की सामान्य सत्ता (general will) व्यक्ति पर शासन करता है। तीसरे वर्ग में हम डॉ० मैक्डूगल (McDougall) द्वारा प्रस्तुत उस सिद्धान्त को सम्मिलित करते हैं जो उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों के बीच की स्थिति में है। इस अध्याय में हम प्रथम और तृतीय वर्गों में सम्मिलित सिद्धान्तों के विषय में विवेचना करेंगे। दूसरे वर्ग के सिद्धान्तों, अर्थात् सामान्य सत्ता से सम्बन्धित सिद्धान्त की चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे।

ली बां का सिद्धान्त
(Theory of Le Bon)

श्री ली बों ने अपनी पुस्तक 'The Crowd' में भीड़-व्यवहार के मनोवैज्ञानिक आधारों को समझाने के लिये भीड़-मस्तिष्क (crowd mind) की रचना की है। उनका कहना है कि भीड़ के सदस्य चाहे जो भी हों, परन्तु चूँकि वे एक ही समूह के सदस्य हैं और उसकी क्रियाओं में भाग ले रहे हैं, इसलिए वे अपने वैयक्तिक मस्तिष्क के आधार पर नहीं, अपितु सामूहिक मस्तिष्क के आधार पर सोचने, अनुभव करते अथवा क्रिया करते हैं। यही कारण है कि भीड़ के व्यवहार तथा आचरण में कुछ इस प्रकार के विचार भाव व क्रियाएँ व्यक्त होती हैं जिनको भीड़-मस्तिष्क के अतिरिक्त वैयक्तिक मस्तिष्क कभी कल्पना तक नहीं कर सकता। श्री ली बों ने लिखा है, "अब अनेक व्यक्ति कार्य करने के उद्देश्य से भीड़ में एकत्रित होते हैं तो केवल इसी कारण कि वे एकत्रित हुए हैं। इस प्रकार कुछ नयी मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ उत्पन्न हो जाती हैं, और व्यक्तियों की प्रजातीय विशेषताओं के साथ जुड़ जाती हैं। उनका चेतन आत्म (self) गायब हो जाता है, और एक सामूहिक मस्तिष्क का निर्माण हो जाता है। यह सामूहिक मस्तिष्क अस्थायी तो होता है, परन्तु स्पष्ट विशेषताओं को दर्शाता है।" वास्तव में, श्री ली बों के अनुसार, भीड़-जैसी सामूहिक परिस्थिति व्यक्ति के लिये भी एक सामान्य (common) परिस्थिति उत्पन्न करती है। यह व्यक्ति उस समान या सामान्य परिस्थितियों में रहते हैं, और व्यक्तिगत भिन्नताओं के बावजूद उनकी भावनायें और विचार एक ही दिशा में प्रवाहित होते हैं। इसके फलस्वरूप एक सामूहिक मस्तिष्क (collective mind) का विकास सम्भव होता है। यह सामूहिक मस्तिष्क व्यक्ति के मस्तिष्क पर शासन करता है। भीड़ में सामूहिक मस्तिष्क के इसी शासन की चर्चा करते हुए श्री ली बों ने लिखा है, "व्यक्ति चाहे कोई भी हो, उनके जीवन की विधियों, पेशों, चरित्र या बुद्धि में चाहे कितनी ही समानता या असमानता क्यों न हो, केवल इस कारण कि वे एक समूह के रूप में रूपान्तरित हो गये हैं, वे उस स्थिति में बिलकुल वैसा ही अनुभव नहीं करते, बिलकुल उसी तरह नहीं सोचते और क्रिया करते, जैसे कि अकेले में करते हैं। वे उस मूल प्रवृत्ति की अधीनता स्वीकार कर लेते हैं, जिसे कि अकेले रहने की स्थिति में वे नियन्त्रण में रखते हैं।······सम्मोहित व्यक्ति (hypnotised person) की भाँति वे अपनी ही क्रियाओं के सम्बन्ध में सचेत नहीं रह पाते।"7

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि श्री ली बों के मतानुसार जब व्यवसाय, बौद्धिक क्षमता एवं जीवन के ढगो आदि मे भिन्नता होते हुए भी बहुत से व्यक्ति एक सामान्य समूह के सदस्य बन जाते हैं और उसके नियमों को स्वीकार कर लेते हैं तो उनमे एकत्व की भावना घर कर जाती है। अर्थात्, वे सामान्य समूह-नियमो के बन्धनों के कारण परस्पर एकत्व का अनुभव करने लगते हैं, जिसके फलस्वरूप एक समूह-मस्तिष्क उत्पन्न हो जाता है। यह समूह-मस्तिष्क उन्हे इस प्रकार के कार्यों को करने को उत्तेजित करता है, जिस प्रकार के कार्य वे व्यक्तिगत रूप मे, अर्थात् अकेले में करने की बात भी कभी सोच नही पाते। श्री ली बों के ही शब्दो मे, "कुछ विचार तथा अनुभूतियाँ ऐसी होती हैं कि वे न तो कभी हमारे मस्तिष्क में आती हैं और न हम कभी उन्हे क्रियान्वित ही करते हैं। ऐसा तो समूह का निर्माण करने वाले व्यक्तियों के द्वारा ही सम्भव होता है। मनोवैज्ञानिक समूह एक ऐसा सामयिक *जीवित प्राणी है जो विभिन्न तत्त्वों से बना होता है। ये विभिन्न तत्त्व कुछ देर के* लिए ठीक उसी तरह एकसाथ मिल जाते हैं, जिस प्रकार अनेक कोष्ठ एकसाथ मिल कर एक हो जाते हैं। कोष्ठो के इस संयुक्त रूप की विशेषता एक अलग कोष्ठ से बिल्कुल ही भिन्न होती है।"[8]

श्री ली बों ने समूह-मस्तिष्क के विकास मे अचेतन प्रेरणाओ को बहुत महत्त्व-पूर्ण स्थान दिया है। उनके अनुसार, समूह की उपस्थिति में व्यक्तियो के अन्दर एक-इस प्रकार की अचेतन प्रवृत्ति जागृत हो जाती है जो व्यक्तिगत भिन्नताओं को एक प्रकार की समानता मे बदल देती है। यह समानता की भावना ही समूह की शक्ति होती है। इसीलिये जब व्यक्ति भीड़ या समूह मे होता है तो वह अपने अन्दर एक अपराजेय शक्ति का स्थायीभाव (sentiment of invincible power) पाता है। यह शक्ति ही उसके व्यवहार को अपने ढग से संचालित करती है। इतना ही नही, समूह मे सभी स्थायीभाव और क्रियाएँ छूत की बीमारी की भाँति शीघ्रता से फैलती रहती हैं। यही कारण है कि व्यक्ति समूह के संवेगो का जल्दी ही शिकार बन जाता है, और सम्मोहित (hypnotised) व्यक्ति की भाँति समूह के निर्देशों का पालन करता है। इसका एक कारण यह भी है कि भीड़ या सामूहिक परिस्थिति में सुझाव एव अनुकरण की प्रक्रियाएँ भी तीव्र रूप मे क्रियाशील रहती हैं। इसीलिये व्यक्ति वही करता है जो समूह उससे करवाना चाहता है।

समालोचना—आधुनिक सामाजिक मनोवैज्ञानिक श्री ली बों के सिद्धान्त से सहमत नही हैं, क्योंकि—

(i) श्री ली बों के अनुसार भीड़ या समूह मे एक प्रकार की मानसिक एकता होती है, और यह एकता उसके सदस्यो को एक सूत्र में बाँधती है। पर यह मानसिक एकता या समूह-मस्तिष्क किस आधार पर पनपता है, इस बात को श्री ली बों वैज्ञानिक तौर पर प्रमाणित नही कर पाये हैं। (ii) श्री ली बों का कथन है कि भीड़ या सामूहिक परिस्थिति मे व्यक्ति सम्मोहित व्यक्ति की भाँति अचेतन रूप मे कार्य करता रहता है। पर, व्यक्ति किस प्रकार सम्मोहित होता है या उसे कौन सम्मोहित करता है, इस बात की कोई भी व्याख्या इनके सिद्धान्त मे नही मिलती। (iii) श्री ली बों का मत है कि व्यक्ति सामूहिक परिस्थिति मे ऐसे कार्य करता है, जिन्हे अकेले मे करने की बात भी वह कभी सोच नही पाता। पर, सदैव ही ऐसा नही होता। अनेक वैयक्तिक व्यवहारो की अभिव्यक्ति भी हमे समूह-व्यवहार मे देखने को मिलती है। अत. हम कह सकते हैं कि श्री ली बों ने समूह-मस्तिष्क की अव-

धारणा को विकसित तो किया, पर वे उसे वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर प्रमाणित करने में अक्षम रहे।

एस्पिनाज का सिद्धान्त
(Theory of Espinas)

श्री एस्पिनाज एक फ्रांसीसी लेखक तथा विचारक हुए हैं। उन्होंने नाना प्रकार के कीटों, जीवों व उनके झुण्डों का अध्ययन काफी सावधानी से किया, और यह निष्कर्ष निकाला कि झुण्डों में रहते हुए, किसी भी जाति-विशेष के सभी जीव एक-सा व्यवहार करते हैं। इतना ही नहीं, एस्पिनाज ने एक से अधिक कोष्ठों (cells) वाले कुछ ऐसे जीवों का भी निरीक्षण किया, जिनके शरीर के विभिन्न अंग एक दूसरे से आवश्यक रूप से जुड़े रहते हैं। पर साथ ही, इन अंगों में कुछ ऐसे अंग भी मिलते हैं जो स्वयं में एक, अलग सम्पूर्ण प्राणी होते हैं। इसीलिये यदि इन अंगों को एक-दूसरे से पृथक् कर दिया जाय तो अलग कर दिये जाने के बाद भी वे अपना अलग अस्तित्व बनाये रखते हुए जीवित रह सकते हैं, अपनी क्षति की पूर्ति कर सकते हैं, तथा अपनी संतति चला सकते हैं। इस प्रकार के जीवों को श्री एस्पिनाज ने 'जटिल जीव' (compound animal) की संज्ञा दी है। आपके मतानुसार, इस प्रकार के जटिल जीवों की चेतना एक प्रकार की सामूहिक चेतना (collective consciousness) होती है, जिसमें उन भिन्न-भिन्न भागों की चेतना भी सम्मिलित होती है जो जीव से अलग कर दिये जाने पर भी अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रख सकते हैं। इस प्रकार श्री एस्पिनाज ने यह विचार प्रस्तुत किया कि भिन्न-भिन्न अंगों या भागों की चेतना प्रसारित होकर एक सामूहिक चेतना का रूप ले लेती है। अर्थात्, **चेतना का प्रसारण सम्भव है।** इतना ही नहीं, जब किसी भी जटिल जीव के विभिन्न भागों या अंगों को अलग कर दिया जाता है, तो उसकी सामूहिक चेतना का विभाजन हो जाता है। अर्थात्, **सामूहिक चेतना का विभाजन भी सम्भव है।** इस प्रकार श्री एस्पिनाज ने चेतना के प्रसारण या मिश्रण तथा विभाजन की कल्पना की, और इस प्रकार जटिल जीव की सम्पूर्ण चेतना को सामूहिक चेतना कहा है।

उपर्युक्त सिद्धान्त को ही श्री एस्पिनाज ने व्यक्ति तथा समाज पर लागू किया है। समाज एक 'जटिल जीव' की भाँति है, जिसकी एक सामूहिक चेतना होती है। इस सामूहिक चेतना का विभाजन समाज के विभिन्न अंगों, अर्थात् व्यक्तियों में हो जाता है। अब हर व्यक्ति अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रख सकता है, उसकी अपनी वैयक्तिक चेतना (individual consciousness) होती है, और इसी वैयक्तिक चेतना के प्रसारण या सम्मिलन से सामूहिक चेतना (collective consciousness) विकसित होती है।

श्री एस्पिनाज ने समाज को 'सामूहिक चेतना का रूप' कहा है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के विचार, भावनायें और इच्छायें प्रकट होकर अन्य व्यक्तियों की इच्छाओं, विचारों तथा भावनाओं पर प्रभाव डालती हैं, और उनमें घुलमिल जाती हैं। इस प्रकार अनेक चेतनाएँ मिलकर एक मिश्रित चेतना का रूप ले लेती हैं। फिर, इस मिश्रित या सामूहिक चेतना में व्यक्तिगत चेतना विलीन हो जाती है। श्री मैक्डूगल ने लिखा है कि "श्री एस्पिनाज के अनुसार, किसी भी समाज—चाहे वह मानव-समाज हो या पशु-समाज—की सामूहिक चेतना सबसे अधिक वास्तविक होती है; इसलिए समाज का प्रत्येक सदस्य जीवित व्यक्ति होता है; और, यदि हम समाज

के विषय में एक आत्म-सचेत व्यक्तित्व (self-conscious individuality) का अस्वीकार करते हैं, तो हम उन कोष्ठ-समूहों को भी अस्वीकार करते हैं, जिनसे मिलकर कोई भी पशु-शरीर बनता है। उस अवस्था में हमे एकता और व्यक्तित्व का दर्शन कहीं भी नहीं होगा।"[9] अतः स्पष्ट है कि श्री एस्पिनाज के अनुसार, समाज की अपनी एक वास्तविकता (reality) होती है, क्योंकि प्रथमतः समाज में संगति (consistency) तथा व्यवस्था होती है; और, दूसरे समाज में अपनी आत्मचेतना रहती है। "यह चेतना ऐसी होती है जो अपने में रहती है, और जो अपने लिये ही अस्तित्व रखती है।"

समालोचना—(1) श्री एस्पिनाज के सिद्धान्त की सबसे बडी कमी यह है कि आपने मानसिक प्रक्रियाओ (mental processes) तथा मानसिक तत्वों या अन्तर्वस्तुओं (contents) के अन्तर को स्वीकार नही किया है, अपितु इनमें भ्रम उत्पन्न कर दिया है। कभी तो आप शिथिलतापूर्वक मानसिक प्रक्रियाओ के एक व्यक्ति की चेतना से दूसरे व्यक्ति की चेतना मे सचारित या प्रसारित होने की बात करते हैं, और कभी एक व्यक्ति के विचारो और अनुभवों (अर्थात् मानसिक अन्तर्वस्तुओ) के दूसरो के मन मे सचारित होने की बात उठाते हैं। पर, सामाजिक मस्तिष्क के निर्माण मे इस प्रकार का प्रसारण या मिश्रण कैसे होगा, श्री एस्पिनाज ने इस बात को समझाने का प्रयत्न नही किया है। वास्तव मे, मानसिक प्रक्रिया और मानसिक अन्तर्वस्तु, दो अलग चीजें है। उदाहरणार्थ, अनुभव की क्रिया (मानसिक प्रक्रिया) और अनुभव या अनुभूति (मानसिक अन्तर्वस्तु) मे भेद है। परन्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि श्री एस्पिनाज ने इन दोनो मे विद्यमान अन्तर को स्पष्ट रूप से नही समझा, और इसीलिये उनका सिद्धान्त इतना अस्पष्ट है।

(2) श्री एस्पिनाज के अनुसार, समाज मे आत्मचेतना होती है, जो अपने मे और अपने लिये रहती है। यह कथन भी दोषपूर्ण है। यदि समाज पर कोई बाहरी आक्रमण होता है तो समाज 'एक होकर' अपनी व अपनी संस्कृति की रक्षा करता है। अर्थात्, उस समाज में अपने अस्तित्व की चेतना है। हम यह भी कह सकते हैं कि यह चेतना किसी व्यक्ति-विशेष की चेतना नही, अपितु सम्पूर्ण समूह की चेतना होती है। पर, इस सामूहिक चेतना का निवास-स्थान कहाँ है? इस प्रश्न के उत्तर मे हम कहेंगे कि व्यक्ति के मस्तिष्क में। अतः सामूहिक चेतना व्यक्तिगत चेतना से पृथक् नही है, यह व्यक्तिगत चेतना मे ही विद्यमान रहती है। दूसरे शब्दों मे, समाज के अपने अस्तित्व की चेतना भी एक प्रकार से व्यक्तियों मे ही स्थित है। व्यक्ति से पृथक् उसका कोई अस्तित्व नही है, जैसा कि श्री एस्पिनाज ने माना है।

(3) श्री एस्पिनाज का एक और दोष यह है कि आपने अपने सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए 'व्यक्ति की चेतना' का प्रयोग दो बार किया है। एक बार व्यक्ति की चेतना के रूप मे, और दूसरी बार सामाजिक चेतना की एक इकाई के रूप मे। वैयक्तिक चेतना और सामाजिक चेतना की इकाई के रूप मे चेतना—इन दोनों मे क्या गुणात्मक अन्तर है, इसका कोई स्पष्ट उत्तर श्री एस्पिनाज ने नहीं दिया है।

दुर्खीम का सिद्धान्त
(Theory of Durkheim)

श्री एस्पिनाज के सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट रूप देने के उद्देश्य से ही शायद

श्री दुर्खीम ने अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया। शायद इसीलिये दोनों सिद्धान्तों में इतनी समानता है।

श्री दुर्खीम ने समूह-मस्तिष्क की अवधारणा को समझाने के लिये (अ) सम्मिश्रण तथा (ब) रूपान्तरण के सिद्धान्तों को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक वैयक्तिक चेतना होती है, पर, सामाजिक प्राणी के रूप में कोई भी व्यक्ति अपने को अन्य व्यक्तियों से पूर्णतया पृथक् नहीं रख पाता। उसे अन्य लोगों के साथ अपनी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अन्त-क्रियात्मक सम्बन्ध स्थापित करना ही पड़ता है। व्यक्तियों के बीच होने वाली इन सामाजिक अन्त-क्रियाओं के दौरान वैयक्तिक चेतनाएँ परस्पर एक-दूसरे के साथ घुल-मिल जाती हैं, अर्थात् विभिन्न व्यक्तियों की वैयक्तिक चेतनाओं का सम्मिश्रण हो जाता है, जिसके फलस्वरूप सामूहिक चेतना (collective consciousness) का विकास होता है। इस प्रकार सामूहिक चेतना वैयक्तिक चेतनाओं की अन्त-क्रियाओं और उनके पारस्परिक सम्मिश्रणों व प्रभावों के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। पर, इस प्रकार वैयक्तिक चेतनाओं के सम्मिश्रण से जब सामूहिक चेतना का निर्माण हो जाता है तो फिर वह वैयक्तिक चेतनाओं का संकलन मात्र नहीं रहती, बल्कि उसका रूप ही बदल जाता है, अर्थात् उसका रूपान्तरण होता है और एक नवीन व महान् चेतना का विकास हो जाता है। इसी को सामूहिक चेतना कहा जाता है। यद्यपि सामूहिक चेतना का निर्माण वैयक्तिक चेतनाओं के सम्मिश्रण से होता है, फिर भी सामूहिक चेतना किसी भी व्यक्ति की चेतना नहीं होती, और न उसमें वैयक्तिक चेतना की कोई विशेषता ही होती है। सामूहिक चेतना तो वैयक्तिक चेतना से परे एक पृथक् चेतना है। उदाहरणार्थ, ऑक्सीजन और हाइड्रोजन के योग से एक नवीन वस्तु, पानी, का निर्माण होता है। पर, पानी की अपनी निजी विशेषताएँ हैं, जो न ऑक्सीजन में होती हैं और न हाइड्रोजन में ही।" ठीक इसी प्रकार वैयक्तिक चेतनाओं के संयोग या सम्मिश्रण से जो सामूहिक चेतना विकसित होती है, उसका रूप या स्वरूप व्यक्तिगत चेतनाओं से भिन्न होता है। यह चेतनाओं की चेतना होती है। इसी कारण यह व्यक्तिगत चेतनाओं द्वारा प्रभावित हुए बिना ही उन्हें प्रभावित करती रहती है। इसी सामूहिक चेतना का दूसरा नाम समूह-मस्तिष्क है। संक्षेप में, यही श्री दुर्खीम के सिद्धान्त की रूपरेखा है, जिसका कुछ और विस्तारपूर्वक विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है—

"यदि हम वैयक्तिक चेतना के स्वरूप और संगठन का अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायगा कि वैयक्तिक चेतना का मूल आधार संवेदनायें (sensations) हैं। संवेदनाएँ विभिन्न स्नायु-कोषों की अन्त-क्रियाओं का ही प्रतिफल होती हैं। परन्तु विभिन्न कोषों द्वारा उत्पन्न होने वाली संवेदनाओं की अपनी विशेषतायें होती हैं, जो संगठन अथवा उत्पत्ति के पूर्व स्नायु-कोषों में से किसी में भी विद्यमान नहीं होती। सम्मिश्रण से एक नवीन वस्तु का जन्म होता है—इस सिद्धान्त को श्री दुर्खीम ने synthesis suigeneris कहा है, अर्थात् प्रसार और संयोग की क्रिया द्वारा तत्त्वों का रूप ही परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार विभिन्न तत्त्वों के सम्मिश्रण और रूपान्तरण के सिद्धान्त को समझा और माना गया है।

संवेदनायें पुनः सम्मिलित और संगठित होकर प्रतिमाओं (images) को जन्म देती हैं। प्रतिमाओं के सम्मेलन और संगठन से व्यक्ति के विचारों का निर्माण होता है। यह प्रक्रिया चलती रहती है, विचारों के निर्माण की सीमा आगे भी जाती है, और इस सीमा तक वैयक्तिक रहती है। व्यक्ति का शारीरिक स्नायु-मण्डल

हो विभिन्न अंगों को सम्मिलित और संगठित करता है। इस सीमा पर यह शक्ति विचारों का रूप ग्रहण कर लेती है। भाषा व संकेत ही मानवीय विचारों की इस संगठनकारी शक्ति का प्रसार करते हैं और वह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक स्थानान्तरित होती है। इस स्तर पर विभिन्न वैयक्तिक चेतना के सम्मेलन और संगठन से एक नवीन चेतना का निर्माण होता है। यही नवीन चेतना सामूहिक चेतना है।"

श्री दुर्खीम के अनुसार सामूहिक चेतना या समूह-मस्तिष्क की दो प्रमुख विशेषतायें हैं—बाह्यता (exteriority) और बाध्यता (constraint)। इन दोनों विशेषताओं के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार कर लेना उचित होगा।

प्रथमतः श्री दुर्खीम इस बात पर बल देते हैं कि सामूहिक चेतना वैयक्तिक चेतना से परे या उसके बाहर (exterior) एक अद्वितीय वास्तविकता है। "जिस प्रकार विज्ञान अनेक मस्तिष्कों के सहयोग का प्रतिफल है और किसी एक व्यक्ति की मानसिक क्षमता व शक्ति से महान् है, उसी प्रकार सामूहिक विचारों का निर्माण भी विभिन्न वैयक्तिक विचारों के सहयोग से अवश्य होता है, परन्तु वे व्यक्ति से परे, पूर्ण और महान् होते हैं।" अपने इस मत की पुष्टि में श्री दुर्खीम ने चार प्रमुख युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। वे हैं—(1) वैयक्तिक मस्तिष्क तथा सामूहिक मस्तिष्क की अवस्थाओं में भिन्नता है। समूह के अपने सदस्य यदि पृथक् (isolated) होते हैं, तो वह उनकी अपेक्षा भिन्न ढंग से विचार करता, कार्य करता और अनुभव करता है। यही कारण है कि अपेक्षा राष्ट्रीय संकट के समय में किसी भी व्यक्ति की राष्ट्रीयता की भावना की अपेक्षा राष्ट्रीयता की सामूहिक भावना ही अधिक तीव्र होती है। इसी प्रकार हो सकता है कि बेईमानी की निन्दा एक व्यक्ति कुछ झिझक कर और अप्रत्यक्ष रूप से करता हो, परन्तु समाज बिना किसी झिझक के प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट रूप में सभी प्रकार के बेईमानों की निन्दा सदा करता है। अतः स्पष्ट है कि सामूहिक चेतना वैयक्तिक चेतना से बिल्कुल भिन्न और स्वतन्त्र है। (2) दूसरी युक्ति यह है कि सामूहिक परिस्थिति में व्यक्ति के मनोभाव और व्यवहार में अनिवार्य रूप से भिन्नता आ जाती है। उदाहरणार्थ, एक भीड़ में एक व्यक्ति पृथक् रीति से सोचता, अनुभव करता और कार्य करता है। अतः स्पष्ट है कि सामूहिक परिस्थिति में एक नवीन वास्तविकता उत्पन्न होती है और वह वास्तविकता व्यक्तियों की भावना और व्यवहारों को न केवल प्रभावित करती, बल्कि उनको बदलती भी है। (3) जैसे अपराधों, विवाहों, आत्महत्याओं, आदि अनेक प्रकार के सामाजिक तथ्यों के आँकड़ों में प्रत्येक वर्ष एक आश्चर्यजनक एक-रूपता दिखाई देती है, इन आँकड़ों में या तो कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता या उनमें परिवर्तन की गति एक-सी रहती है। इस प्रकार की एकरूपता की एक मात्र तथा यथार्थ व्याख्या उस वास्तविक सामाजिक विचारधाराओं के प्रभावों के आधार पर की जा सकती है, जो व्यक्ति की परिस्थिति का एक अंग है। (4) श्री दुर्खीम की चौथी युक्ति यह है कि शरीर की व्याख्या पृथक् रूप में कोष्ठ या वाहकाणु (genes) के आधार पर नहीं की जा सकती ; यदि शरीर के सम्बन्ध में वास्तविक जानकारी करनी है तो इन समस्त कोष्ठों आदि की सम्मिलित रूप में विवेचना करनी होगी। शरीर का निर्माण इन कोष्ठों को मिलाकर ही होता है। परन्तु, शरीर इन कोष्ठों से बिल्कुल भिन्न तथा इनसे पृथक् तथा स्वतन्त्र है। इसी प्रकार, समाज का निर्माण व्यक्ति-रूपी कोष्ठों से तो होता है, पर समाज शरीर की ही भाँति

इन कोष्ठों (व्यक्तियों) से बिल्कुल भिन्न तथा इनसे पूर्णतया स्वतन्त्र होता है।

सामाजिक या सामूहिक चेतना या मस्तिष्क की दूसरी विशेषता यह है कि वह व्यक्तियों पर एक प्रकार की अनिवार्यता या बाध्यता लादता है। सामूहिक चेतना वैयक्तिक चेतना का सर्वोत्कृष्ट रूप है, क्योंकि "सामूहिक चेतना वैयक्तिक चेतनाओं के अस्तित्व और विशेषताओं की समष्टि-चेतना है।" इस कारण सामूहिक चेतना सामूहिक रूप में उस शक्ति की अधिकारिणी होती है जो व्यक्तिगत इच्छा को सामूहिक इच्छा के सम्मुख झुका देती है। व्यक्ति उन शक्तियों के अनुरूप विचार करता, अनुभव करता और निर्णय लेता है जिनके सम्मुख उसे झुकना पड़ता है। व्यक्ति उद्योग कर सकता है, क्रोध कर सकता, उत्तेजित हो सकता, और विजय और पराजय का अनुभव कर सकता है, परन्तु वह केवल वही करता है जो करने के लिये बाहरी शक्ति उसे बलपूर्वक "बाध्य" करती है। श्री दुर्खीम ने स्पष्ट ही लिखा है कि सामूहिक परिस्थिति में व्यक्ति अपने को एक ऐसी शक्ति के सामने उपस्थित देखता है जो उससे श्रेष्ठ है और जिसके सामने उसे झुकना होगा। नैतिक दृष्टि से भी सामूहिक चेतना व्यक्ति से श्रेष्ठ है और धार्मिक पूजा के लिये वास्तविक वस्तु है—"समाज ही वास्तविक देवता है।"

समालोचना—(i) श्री दुर्खीम ने हमें यह समझाने का प्रयत्न किया है कि वैयक्तिक चेतना के सम्मिश्रण तथा संगठन से एक नवीन व श्रेष्ठतम चेतना—सामूहिक चेतना—की उत्पत्ति होती है। यहाँ भी हमारे सम्मुख वही कठिनाई आती है, जो हमने श्री एस्पिनाज के सिद्धान्त के सम्बन्ध में देखी थी। सवाल यह है कि वैयक्तिक चेतनाओं का सम्मिश्रण वास्तव में हो भी सकता है या नहीं ? यदि वैयक्तिक चेतना को हम एक मानसिक प्रक्रिया (mental process) मान लें तो हमें यह भी कहना पड़ेगा कि मानसिक प्रक्रियाएँ व्यक्तिगत हैं, और इसीलिये उनका मिश्रण सम्भव नहीं। व्यक्तियों में केवल एक से विचार और भावनाओं को देखकर हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि उनका मन या मस्तिष्क एक हो गया।

(ii) श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने लिखा है कि श्री दुर्खीम के सिद्धान्त के विरुद्ध एक दूसरी और शायद उतनी ही मौलिक आपत्ति यह है कि यदि उसे सच्चाई के साथ लागू किया जाय तो उसका फल यह होगा कि व्यक्ति का पूरी तरह लोप हो जायगा और वह समूह-मस्तिष्क में विलीन हो जायगा।

(iii) श्री दुर्खीम का यह कहना कि सामूहिक चेतना व्यक्ति से बाह्य और व्यक्ति से ऊपर है, वैज्ञानिक तौर पर गलत प्रतीत होती है। श्री टार्ड (Tarde) के शब्दों में, "मैं यह मानता हूँ कि मेरे लिये यह समझना कठिन है कि व्यक्तियों को निकाल कर हम किस प्रकार से समाज को पा सकते हैं। यदि हम एक विश्वविद्यालय से सभी विद्यार्थियों व प्राध्यापकों आदि को निकाल दें तो मैं सोचता हूँ कि शायद नाम के सिवाय और कुछ भी रह नहीं जायेगा।" अतः सामूहिक चेतना व्यक्ति के बाहर नहीं, व्यक्ति के अन्दर ही निवास करती है।

(iv) इसी प्रकार सामूहिक चेतना सर्वश्रेष्ठ चेतना है और व्यक्ति के व्यवहार के निर्धारण में सर्वशक्तिमान है—श्री दुर्खीम के इस विचार से भी सहमत होना हमारे लिये कठिन ही है। वैयक्तिक मस्तिष्क भी ऐसे उच्च कोटि के क्रान्तिकारी विचारों को प्रस्तुत करता है कि सम्पूर्ण समाज का रूप ही बदल जाता है। इसी प्रकार महत्व-

पूर्ण सामाजिक परिवर्तन व सुधार इस कारण नहीं होते कि व्यक्ति सामूहिक चेतना को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसके सामने सिर झुका देता है, अपितु इस कारण होते हैं कि वह सामूहिक चेतना, अर्थात् अब तक प्रचलित सामाजिक विचारों, भावनाओं व धारणाओं को चुनौती देता है, उनके विरुद्ध आवाज उठाता है और उन्हें उखाड़ फेंकने या बदल देने के लिये प्रयत्नशील होता है। समाज निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है—पर, वह महत्त्वपूर्ण है व्यक्ति के सन्दर्भ में ही।

अतः वैज्ञानिक आधार पर श्री दुर्खीम के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मैक्डूगल का सिद्धान्त
(McDougall's Theory)

समूह-मस्तिष्क के सिद्धान्त के वास्तविक जन्मदाता डॉ० विलियम मैक्डूगल (William McDougall) हैं। उन्होंने अपने समूह-मस्तिष्क के सिद्धान्त की व्याख्या इसी नाम की अपनी पुस्तक 'Group Mind' में की है। पुस्तक की भूमिका में ही श्री मैक्डूगल ने यह स्पष्ट कर दिया है कि आप एस्पिनाज, दुर्खीम आदि द्वारा प्रस्तुत सामूहिक चेतना के सिद्धान्त को इस अर्थ में मानने से इन्कार करते हैं कि समाज की, समाज में रहने वाले सदस्यों की चेतना के ऊपर उनसे अलग कोई एक चेतना होती है। इसके विपरीत, श्री मैक्डूगल का मत है कि सामूहिक चेतना प्रत्येक व्यक्ति की समूह-सम्बन्धी चेतना ही हो सकती है।

डॉ० मैक्डूगल का कथन है कि समाज की कल्पना एक सामूहिक चेतना के रूप में न करके समूह-मस्तिष्क या सामूहिक मस्तिष्क के रूप में ही करना अधिक उचित होगा। अपने सिद्धान्त में डॉ० मैक्डूगल ने "मस्तिष्क" शब्द का प्रयोग शरीर-शास्त्रीय अर्थ में नहीं किया है। उनके अनुसार, "मस्तिष्क को हम मानसिक या उद्देश्यपूर्ण शक्तियों की एक संगठित व्यवस्था के रूप में भली प्रकार परिभाषित कर सकते हैं।"[16] इस प्रकार मस्तिष्क की कुछ विशिष्ट विशेषताएँ हैं, जैसे यह कि मस्तिष्क का एक मानसिक आधार होता है, एक उद्देश्य होता है, और यह विभिन्न शक्तियों का एक संगठन होता है। समाज की कल्पना एक 'मस्तिष्क' के रूप में इसी अर्थ में की जा सकती है कि समाज के जीवन में भी उपर्युक्त विशेषताओं का दर्शन होता है। समाज का भी एक मानसिक आधार होता है, क्योंकि इसका विकास विभिन्न व्यक्तियों की मानसिक अन्तःक्रियाओं के फलस्वरूप ही होता है। समाज का कुछ उद्देश्य होता है, अर्थात् सामाजिक क्रियाएँ भी उद्देश्यपूर्ण होती हैं और समाज भी विभिन्न शक्तियों का एक संगठन होता है। डॉ० मैक्डूगल के शब्दों में, "समाज शक्तियों की एक संगठित व्यवस्था (organized sistem) है, जिसका अपना एक जीवन है, अपनी प्रवृत्तियाँ (tendencies) हैं, अपने समस्त सदस्यों को बदलने की एक शक्ति है, तथा थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ अपने को एक विशिष्ट व्यवस्था के रूप में बनाये रखने का एक सामर्थ्य है।" आपने अपने विचार को और स्पष्ट करते हुए लिखा है, "हम मस्तिष्क को मानसिक एवं उद्देश्यपूर्ण शक्तियों की भली भाँति संगठित एक व्यवस्था कह सकते हैं। इस अर्थ में भली प्रकार से संगठित मानव-समाज में सामूहिक मस्तिष्क होता है, क्योंकि समाज के इतिहास का निर्माण करने वाले सामूहिक कार्य किसी संगठन पर आधारित हैं और इनकी व्याख्या मस्तिष्क के रूप में ही की जा सकती है; परन्तु, फिर भी यह मस्तिष्क किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क में निहित नहीं है......।" और, वह इस अर्थ में कि यह समूह-मस्तिष्क किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज नहीं है। उदाहरणार्थ, किसी भी समाज की सभ्यता व

संस्कृति अनेक स्तरों से गुजरती हुई, विकसित व संगठित होती है; और, इस विकास मे अनेक पीढ़ियों के असंख्य व्यक्तियों की मानसिक अन्तःक्रियाओं या प्रक्रियाओं का योगदान होता है। पर, एक बार विकसित व संगठित हो जाने के बाद वही संस्कृति व सभ्यता या समाज-व्यवस्था, हमारे जीवन को अपने रूप मे ढालती व हमें प्रभावित करती है। पर यह संस्कृति, सभ्यता या समाज-व्यवस्था केवल किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज नहीं होती—वह तो आरम्भ से लेकर अब तक के अनेक व्यक्तियों के मस्तिष्को का प्रतिफल है। चूंकि समाज या संस्कृति केवल एक मस्तिष्क की उत्पत्ति नहीं है, और न एक मस्तिष्क मे समा सकती है, इसलिये समूह-मस्तिष्क की कल्पना की गई है।

समूह-मस्तिष्क के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये डॉ० मैक्डूगल ने निम्नलिखित तीन प्रमाणों या आधारों का उल्लेख किया है—

1. व्यक्तिगत मस्तिष्क की पारस्परिक अन्तःक्रियाओ के फलस्वरूप समाज का निर्माण होता है, अतः वे एक-दूसरे के सहायक और पूरक हैं। प्रत्येक व्यक्ति के मन में अन्य व्यक्तियों के प्रति अनेक प्रकार के मानसिक संस्कार विद्यमान रहते हैं। यही मानसिक संस्कार एक व्यक्ति का सम्बन्ध दूसरे व्यक्ति से जोड़ते है। दूसरे शब्दों में, स्वय अपने ही मानसिक स्वभाव के कारण व्यक्ति एक दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित करते तथा समाज को विकसित करते हैं। अतः स्पष्ट है कि विभिन्न व्यक्तिगत मस्तिष्कों के बीच जो सम्बन्ध स्थापित होते हैं, वे व्यक्तिगत मस्तिष्को के स्वभाव से परे नही, अपितु उनके स्वभाव के अभिन्न अग होते हैं। चूंकि समाज का आधार भी वही है जो कि व्यक्तिगत मस्तिष्क का (अर्थात् दोनो मे ही मानसिक व उद्देश्यपूर्ण शक्तियों की एक सगठित व्यवस्था पायी जाती है), इसलिये समाज की व्याख्या भी एक मस्तिष्क के रूप मे की जा सकती है। पर डॉ० मैक्डूगल ने हमें सचेत किया है कि इसका तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि व्यक्तिगत मस्तिष्क की भाँति समाज स्वय भी मस्तिष्क है। 'मस्तिष्क' शब्द का प्रयोग केवल इसलिये किया गया है कि वह 'मस्तिष्क' की विशेषताओं को पूर्णतया दर्शा सके। ऐसा कोई दूसरा शब्द उपलब्ध नहीं है। पर, समाज उस अर्थ में मस्तिष्क नही है, जिस अर्थ मे हम व्यक्ति के मस्तिष्क को समझते हैं। डॉ० मैक्डूगल के इस विचार का स्पष्टीकरण करते हुए गिन्सबर्ग ने लिखा है कि "अनेक व्यक्तिगत मस्तिष्को के पारस्परिक सम्बन्धो के फलस्वरूप विकसित व्यवस्था (समाज) स्वयं भी उसी प्रकार मस्तिष्क नहीं है, जिस प्रकार अनेक ईंटो से बना मकान अपने आप में एक ईंट नहीं है।"[12]

2. समाज के विभिन्न व्यक्तिगत मस्तिष्क अलग रहते हुए समाज का निर्माण नहीं करते। अर्थात्, कोई भी व्यक्ति यह दावा नही कर सकता कि समाज या संस्कृति का कोई अग मौलिक रूप में केवल उसी के मस्तिष्क की उपज है। वास्तव में समाज या संस्कृति का निर्माण अनेक व्यक्तिगत मस्तिष्कों के सम्मिलित प्रयत्नों द्वारा ही होता है। पर, एक बार विकसित हो जाने के बाद समाज की अनेक सूक्ष्म शक्तियाँ द्वारा व्यक्तिगत मस्तिष्क स्वयं ढलते और विकसित होते हैं। समाज का जो एक स्थायी अस्तित्व होता है, उसकी जो विशेषतायें व परम्परायें होती हैं, वे सब संगठित रूप में व्यक्ति पर प्रभाव डालती हैं। इसी संगठित रूप को ही डॉ० मैक्डूगल ने 'समूह-मस्तिष्क' की संज्ञा दी है। उन्होंने लिखा है, "कोई समाज जब अधिक समय तक जीवित रहता और भली-भाँति संगठित हो जाता है, तब एक ऐसी रचना का विकास होता है, जो इस समाज को इकाइयों की विशेषताओं से स्वतन्त्र होती है।.....यह

संस्कृति अनेक स्तरों से गुजरती हुई, विकसित व संगठित होती है; और, इस विकास मे अनेक पीढियो के असख्य व्यक्तियो की मानसिक अन्त.क्रियाओं या प्रक्रियाओं का योगदान होता है। पर, एक बार विकसित व सगठित हो जाने के बाद वही संस्कृति व सभ्यता या समाज-व्यवस्था, हमारे जीवन को अपने रूप मे ढालती व हमें प्रभावित करती है। पर यह संस्कृति, सभ्यता या समाज-व्यवस्था केवल किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज नही होती—वह तो आरम्भ से लेकर अब तक के अनेक व्यक्तियो के मस्तिष्को का प्रतिफल है। चूंकि समाज या संस्कृति केवल एक मस्तिष्क की उत्पत्ति नही है, और न एक मस्तिष्क मे समा सकती है, इसलिये समूह-मस्तिष्क की कल्पना की गई है।

समूह-मस्तिष्क के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये डॉ० मैक्डूगल ने निम्न-लिखित तीन प्रमाणो या आधारो का उल्लेख किया है—

1. व्यक्तिगत मस्तिष्क की पारस्परिक अन्त क्रियाओ के फलस्वरूप समाज का निर्माण होता है, अतः वे एक-दूसरे के सहायक और पूरक हैं। प्रत्येक व्यक्ति के मन में अन्य व्यक्तियो के प्रति अनेक प्रकार के मानसिक संस्कार विद्यमान रहते हैं। यही मानसिक संस्कार एक व्यक्ति का सम्बन्ध दूसरे व्यक्ति से जोड़ते हैं। दूसरे शब्दो मे, स्वय अपने ही मानसिक स्वभाव के कारण व्यक्ति एक दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित करते तथा समाज को विकसित करते हैं। अतः स्पष्ट है कि विभिन्न व्यक्तिगत मस्तिष्को के बीच जो सम्बन्ध स्थापित होते है, वे व्यक्तिगत मस्तिष्को के स्वभाव से परे नही, अपितु उनके स्वभाव के अभिन्न अग होते हैं। चूंकि समाज का आधार भी वही है जो कि व्यक्तिगत मस्तिष्क का (अर्थात् दोनो मे ही मानसिक व उद्देश्यपूर्ण शक्तियो की एक सगठित व्यवस्था पायी जाती है), इसलिये समाज की व्याख्या भी एक मस्तिष्क के रूप मे की जा सकती है। पर डॉ० मैक्डूगल ने हमे सचेत किया है कि इसका तात्पर्य कदापि यह नही है कि व्यक्तिगत मस्तिष्क की भाँति समाज स्वय भी मस्तिष्क है। 'मस्तिष्क' शब्द का प्रयोग केवल इसलिये किया गया है कि वह 'मस्तिष्क' की विशेषताओ को पूर्णतया दर्शा सके। ऐसा कोई दूसरा शब्द उपलब्ध नही है। पर, समाज उस अर्थ में मस्तिष्क नही है, जिस अर्थ मे हम व्यक्ति के मस्तिष्क को समझते हैं। डॉ० मैक्डूगल के इस विचार का स्पष्टीकरण करते हुए गिन्सबर्ग ने लिखा है कि "अनेक व्यक्तिगत मस्तिष्को के पारस्परिक सम्बन्धों के फलस्वरूप *विकसित व्यवस्था* (समाज) स्वय भी उसी प्रकार मस्तिष्क नही है, जिस प्रकार अनेक ईंटो से बना मकान अपने आप मे एक ईंट नही है।"[12]

2 समाज के विभिन्न व्यक्तिगत मस्तिष्क अलग रहते हुए समाज का निर्माण नही करते। अर्थात्, कोई भी व्यक्ति यह दावा नही कर सकता कि समाज या संस्कृति का कोई अग मौलिक रूप में केवल उसी के मस्तिष्क की उपज है। वास्तव में समाज या संस्कृति का निर्माण अनेक व्यक्तिगत मस्तिष्कों के सम्मिलित प्रयत्नों द्वारा ही होता है। पर, एक बार विकसित हो जाने के बाद समाज की अनेक सूक्ष्म शक्तियो द्वारा व्यक्तिगत मस्तिष्क स्वय ढलते और विकसित होते हैं। समाज का जो एक स्थायी अस्तित्व होता है, उसकी जो विशेषतायें व परम्परायें होती हैं, वे सब संगठित रूप मे व्यक्ति पर प्रभाव डालती हैं। इसी समठित रूप को ही डॉ० मैक्डूगल ने 'समूह-मस्तिष्क' की सज्ञा दी है। उन्होंने लिखा है, "कोई समाज जब अधिक समय तक जीवित रहता और भली-भाँति संगठित हो जाता है, तब एक ऐसी रचना का विकास होता है, जो इस समाज की शक्तियों की विशेषताओं से स्वतन्त्र होती है।.....वह

शक्तियों की एक ऐसी संगठित व्यवस्था बन जाती है, जिसका अपना जीवन है, जिसकी अपनी प्रवृत्तियाँ हैं, जिसमें समस्त सदस्यों को शासने की शक्ति है और जिसमें अपनी विशिष्ट विशेषताओं के साथ अपने को बनाये रखने की क्षमता है।"[13]

3. डॉ० मैक्डूगल के अनुसार, "प्रत्येक व्यक्ति समाज के सदस्य के रूप में जो कुछ सोचता या काम करता है, वह उससे बहुत भिन्न होता है, जो वह एक अकेले व्यक्ति के रूप में सोचता और करता है"[14] समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है, और उनके बीच अन्तःक्रियात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है, जिसका प्रभाव व्यक्ति के मस्तिष्क पर तो पड़ता ही है, पर जिसके साथ ही उसके मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार (instinctive behaviour), संकल्प तथा उद्देश्य भी परिष्कृत तथा संशोधित हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि समाज में वह शक्ति निहित है जो व्यक्ति के मस्तिष्क को ढालती है। समूह या समाज की यही शक्ति उस समय विशेष रूप से क्रियाशील होती है, जब व्यक्ति सामूहिक परिस्थिति में क्रिया करता है। यही कारण है कि सामूहिक परिस्थिति में व्यक्ति का व्यवहार भिन्न प्रकार का होता है। समाज की शक्ति ही इसका कारण है। इसी के आधार पर डॉ० मैक्डूगल ने एक ऐसी शक्ति की कल्पना की है, जो व्यक्ति के मस्तिष्क को ढालती है।

समालोचना—(i) डॉ० मैक्डूगल ने सर्वश्री एस्पिनाज, दुर्खीम आदि के सिद्धान्तों को अस्वीकार किया, पर उसी जाल में उन्होंने अपने को भी फँसा लिया। समाज का अपना पृथक् व स्वतन्त्र मस्तिष्क होता है, यह कह कर उन्होंने भी वही गलती की, जो सर्वश्री एस्पिनाज, दुर्खीम आदि ने की थी। उनका यह कथन भी गलत है कि चूँकि समाज का निर्माण वैयक्तिक मस्तिष्कों के पारस्परिक सम्बन्ध के कारण हुआ है, इस कारण समाज उसी सामग्री का बना है, जिससे व्यक्ति के मस्तिष्क का निर्माण हुआ है। यह कैसे सम्भव हो सकता है? साथ ही इसे समझाने में डॉ० मैक्डूगल सर्वथा असफल रहे हैं। वास्तव में यह बात समझ में नहीं आती कि व्यक्तियों से अलग समाज का मस्तिष्क किस प्रकार कार्य कर सकता है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के मस्तिष्कों के प्रयास के फलस्वरूप ही समाज, संस्कृति व सभ्यता का अस्तित्व व उसकी निरन्तरता सम्भव होती है। यदि इन विभिन्न वैयक्तिक मस्तिष्कों के संयुक्त या सम्मिलित प्रयास को ही 'मस्तिष्क' की संज्ञा दी जाय तो बात दूसरी है, अन्यथा मस्तिष्क अथवा मानसिक प्रक्रियाएँ तो केवल व्यक्तिगत ही हो सकती हैं; और, इसीलिए समूह-मस्तिष्क की कल्पना अवास्तविक ही नहीं, अवैज्ञानिक भी होगी।

(ii) यद्यपि यह सच है कि समाज विचारों, उद्देश्यों व परम्पराओं पर आधारित है, और यह विचार, उद्देश्य व परम्परा केवल किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज नहीं हैं, बल्कि अनेक वैयक्तिक मस्तिष्कों के दीर्घ काल के विस्तृत सहयोग से ही इनका स्वरूप निखरा है, तो भी वास्तव में समाज में उस प्रकार की जीवित एकता नहीं होती, जैसी कि व्यक्ति में पायी जाती है, क्योंकि सावयवी एकता (organic unity) तथा सामाजिक एकता में अन्तर होता है।

(iii) यद्यपि यह सच है कि सामूहिक परिस्थिति में व्यक्ति का व्यवहार उसके अकेले के व्यवहार से भिन्न होता है, फिर भी इस भिन्नता को समझाने के लिये किसी भी प्रकार के समूह-मस्तिष्क की अवधारणा को विकसित करने की आवश्यकता नहीं है। इसके लिये तो केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सामूहिक परिस्थिति में

अनेक व्यक्तियों के एकसाथ मिले होने पर वातावरण तथा परिस्थितियों में जो परिवर्तन हो जाते हैं, उसी के फलस्वरूप व्यक्ति के चिन्तन, व्यवहार तथा प्रक्रियाओं में भिन्नता आ जाती है।

निष्कर्ष : क्या वास्तव में समूह-मस्तिष्क का अस्तित्व है ?
(Conclusion Is Group Mind Really Exist?)

अब तक हम लोगों ने सामाजिक या समूह-मस्तिष्क से सम्बन्धित प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना पढ़ी है और उनकी सीमाओं को भी समझा है। इसके आधार पर हम कुछ निष्कर्ष सहज ही निकाल सकते हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि समाज अथवा जाति से परे या स्वतन्त्र मस्तिष्क की कल्पना उचित नहीं है। समाज का निर्माण जीवित प्राणियों द्वारा होता है, पर कोई भी दार्शनिक समाज में व्यक्ति की भाँति प्राणीशास्त्रीय जीवन की कल्पना नहीं कर सकता। समाज वास्तव में एक अमूर्त धारणा है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक मस्तिष्क का भी कोई न कोई प्राणीशास्त्रीय आधार अवश्य ही होना चाहिए। इस आधार के बिना न तो कोई मस्तिष्क बन सकता है, और न ही उसका अस्तित्व सम्भव है। यदि हम इस आधार के बिना ही किसी मस्तिष्क की बात सोचते हैं, तो वह मात्र कपोल-कल्पना ही होगी, और इस अवधारणा को स्वीकार करना किसी भी मनोवैज्ञानिक के लिये सम्भव नहीं होगा। सामाजिक या समूह-मस्तिष्क के प्रवर्त्तकों ने इस सत्य की अवहेलना की है।

हो सकता है कि सामाजिक विज्ञानों में शब्दावली की कमी के कारण ऐसे शब्दों का प्रयोग करना ही पड़ता हो, जिससे सामाजिक घटनायें (social phenomena) स्पष्ट होने के बजाय और भी अस्पष्ट हो जाती हों। प्रो० हॉब हॉउस (Hob House) ने उचित ही लिखा है कि सामाजिक अध्ययन की सबसे बड़ी कमी शास्त्रीय शब्दों (technical words) का अभाव, अथवा उनकी जगह ले सकने वाले उपर्युक्त रूपकों का अभाव है। सामाजिक विज्ञान को अनुभव के अन्य क्षेत्रों से लिये हुए शब्दों और अन्य विज्ञानों में गढ़ी हुई धारणाओं को काम में लाना पड़ता है। इससे लोगों के मन में गलत विचार पनप जाते हैं, और ऐसा होना बहुत ही हानिकारक होता है। अतः हमें ऐसे शब्दों को बिलकुल ही त्याग देना चाहिए जो कि हमारे अपने अध्ययन-विषय की विशिष्टताओं पर प्रकाश न डालकर अन्य किसी विषय की विशेषताओं की व्याख्या करते हों।[15] समूह-मस्तिष्क की धारणा भी इसी कमजोरी का शिकार है। इस कमजोरी से हमें बचना चाहिए।

उपर्युक्त विचारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समाज अथवा समूह का अपना स्वतन्त्र और व्यक्ति से परे कोई पृथक् मस्तिष्क नहीं होता। परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि व्यक्ति के मस्तिष्क व व्यवहार को ढालने या प्रभावित करने में समाज या समूह का कोई भी हाथ नहीं होता। पर इस प्रभाव को स्वीकार करने का तात्पर्य यह नहीं है कि समाज का भी अपना कोई पृथक् मस्तिष्क होता है या हो भी सकता है। साथ ही, यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि वैयक्तिक व्यवहार और सामूहिक व्यवहार में कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य ही होता है। परन्तु, इस अन्तर का कारण कोई स्वतन्त्र मस्तिष्क नहीं है। यह तो समूह के सदस्यों की पारस्परिक अन्तःक्रियाओं का प्रतिफल है। इन्हीं अन्तःक्रियाओं के दौरान प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों को प्रभावित करता और उनके द्वारा स्वयं

प्रभावित होता है। इसीलिये व्यक्तिगत व्यवहार सामूहिक व्यवहार से भिन्न होता है।

साथ ही, प्रत्येक सामाजिक व्यवहार में एक विशिष्ट परिस्थिति होती है, जिसमें रहते हुए व्यक्ति क्रियाशील होता है। अतः इस परिस्थिति का भी प्रभाव व्यक्ति के व्यवहार पर पड़ता ही है। यदि हम यह कहते हैं कि भीड़ में एक अपूर्व एकता पायी जाती है और भीड़ में व्यक्ति बिलकुल भिन्न प्रकार का व्यवहार करता है, तो इसका कारण यह कदापि नहीं है कि कोई भीड़-मस्तिष्क भी होता है। अर्थात्, यदि भीड़ में या भीड़ के सदस्य के रूप में व्यक्ति बिलकुल ही अलग तरीके से व्यवहार करता है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि व्यक्ति एक ऐसे मस्तिष्क से निर्देशित हो रहा है जो भीड़ के सदस्यों के मस्तिष्क से भिन्न है। इसका अर्थ तो केवल इतना ही है कि भीड़ में कन्धे-से-कन्धे का सम्बन्ध, अधिक अनुकरण व सुझाव-ग्रहणशीलता, संवेगात्मकता, उत्तेजना, सहज विश्वास, शक्ति के अनुभव आदि के कारण जो-जो अनोखी मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, उनका प्रभाव व्यक्ति के व्यवहार पर पड़ता है। इसीलिये भीड़ के सदस्य के रूप में व्यक्ति का व्यवहार एक अलग तरह का होता है। इसी प्रकार यदि भीड़ में एकता देखने को मिलती है तो उसका कारण, जैसा कि श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने लिखा है, "यह नहीं है कि भीड़ में व्यक्तित्व संयुक्त हो जाते हैं या कोई रहस्यपूर्ण सामूहिक चेतना काम करने लगती है, बल्कि होता यह है कि भीड़ में प्रत्येक व्यक्ति कम सतर्क, कम उत्तरदायी, दूसरों पर अधिक विश्वास रखने वाला और अधिक सुझाव-ग्रहणशील होता है। इसमें सन्देह नहीं है कि भीड़ में कोई भी व्यक्ति अकेला नहीं होता, इसीलिये वह भिन्न तरीके से अनुभव करता, सोचता और काम करता है। लेकिन, यह भेद केवल एक भिन्न परिवेश में प्रतिक्रिया करने के कारण है। इसको समझाने के लिये निश्चय ही किसी ऐसे रहस्यात्मक सामूहिक मस्तिष्क का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है, जो लोगों के एकत्रित होते ही एकाएक उत्पन्न हो जाता है।"

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम इस अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समूह-मस्तिष्क की अवधारणा उस रूप में सही नहीं है, जिस रूप में इसके सिद्धान्तकार इसे प्रस्तुत करते हैं। यदि समूह-मस्तिष्क से उनका तात्पर्य केवल इतना ही है कि व्यक्ति के व्यवहार पर समाज या समूह की समग्रता का प्रभाव अवश्य ही पड़ता है, तो इस मत को किसी भी रूप में अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु व्यक्तियों के मस्तिष्क से परे, पृथक् व स्वतन्त्र किसी मस्तिष्क की कल्पना उचित नहीं है। इस रूप में न तो कोई समूह-मस्तिष्क होता है और न ही हो सकता है।

REFERENCES

1. Morris Ginsberg, Psychology of Society, Hindi edition, (The Upper India Publishing House Ltd., Lucknow), 1957, p. 81.
2. *Ibid.*, p. 81.
3. *Ibid.*, p. 81
4. *Ibid.*, pp. 83-86.
5. *Ibid.*, pp. 83-84.

6. *Ibid.*, p. 82.
7. "Whoever be the individuals, however like or unlike be their modes of life, their occupations, their character or their intelligence, the fact that they have been transformed into a group makes-them feel, and act in a manner quite different from that in which each of them would...were they in a state of isolation. (They yield to) instinct which, had they been alone, they would have kept under restraint....(Like hypnotised persons) they are no longer conscious of their acts."—*G. Le Bon*, The Crowd : A Study of the Popular Mind, (Macmillan and Co., New York), 1925, p. 7.
8. *Ibid.*, p. 8.
9. "The 'collective consciousness' of a society—human or animal is the most real of all things ; that every society is therefore a living individual ; and that, if we deny self- conscious individuality to a society, we must deny it equally to the mass of cells that make up an animal body ; that, in short, we can find unity and individuality nowhere."—*Quoted from McDougall*, Group Mind, 1920.
10. "We may fairly define a mind as an organized system of mental or purposive forces."—*William McDougall*, The Group Mind (Methuen & Co., London), 1920, p. 9.
11. "Society is an organized system of forces, which has a life of its own, tendencies of its own, a power moulding all its component individuals and a power of perpetuating itself as a self-identical system, subject only to slow and gradual change."—*Ibid*, pp 9-10.
12. Morris Ginsberg, op. cit., p 101
13. William McDougall, op. cit., p. 9.
14. The thinking and acting of each man, in so far as he thinks and acts as a member of society, are very different from his thinking and acting as an isolated individual" *Ibid.*, pp. 9-10.
15. "*Social inquiry suffers from nothing so much as a lack of technical* term or of suitable metaphor to supply one place of technical terms It has to use words derived from other orders of experience and conceptions elaborated in other sciences. What we must most eschew is any term suggesting a form of unity realized in some other whole than the particular social whole which we are considering."—*L.T. Hobhouse*, The Metaphysical Theory of the State, p. 131.

अध्याय 18

सामान्य संकल्प
[GENERAL WILL]

"सामान्य संकल्प उन संकल्पों का योग होता है जो सामान्य रूप से प्रायः व्यक्तियों के होते हैं और जिनका सम्बन्ध सामान्य रूप से सार्वजनिक हितों से होता है।" —Rousseau.

सामान्य रूप से विभिन्न परिस्थितियों का सामना करने के लिये व्यक्ति में कुछ न कुछ इच्छा-शक्ति या संकल्प होता है। उसी के आधार पर वह अपने हितों की पूर्ति करता है और इस बात का निर्णय लेता है कि उसे जीवन में किन चीजों की आवश्यकता सबसे पहले है और कौन-कौन-सी चीजें इनके बाद रखी जा सकती हैं। अपने संकल्प के द्वारा ही व्यक्ति एक प्रतिक्रिया का दमन करके अपेक्षाकृत दूसरी प्रतिक्रिया के पक्ष में निर्णय लेता है और उसी के अनुसार कार्य करता है। ऐसा करने से उसके व्यक्तिगत हितों की अधिकतम पूर्ति होती है। पर, अनेक हित या समस्याएं अथवा परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं, जिनका सामना कोई एक व्यक्ति नहीं कर सकता। उसके लिए तो सामूहिक प्रयत्न व सदेच्छा की अपेक्षा होती है। यह सदेच्छा तो तभी पनप सकती है, जब समाज के अधिकांश सदस्य अपने व्यक्तिगत हितों को त्यागकर एक सामान्य उद्देश्य के साथ एक समस्या या परिस्थिति विशेष के सम्बन्ध में समान रूप से सोचें-विचारें और निर्णय लें। इस सामान्य विचार व निर्णय के आधार पर सामान्य समस्याओं को सुलझाने या सामान्य परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करने की सामान्य इच्छा को ही 'सामान्य संकल्प' कहते हैं।

'सामान्य संकल्प क्या है ?
(What is General Will)

सामान्य संकल्प वह सामान्य इच्छा है, जो समाज के अधिकांश सदस्यों की इच्छा को अभिव्यक्त करती तथा बहुजनहिताय की भावना को महत्त्व देने वाली लोकप्रिय भावना का परिचय देती है। 'सामान्य' शब्द का प्रयोग इसीलिए किया गया है कि संकल्प किसी व्यक्ति-विशेष का संकल्प न होकर समाज के अधिकांश सदस्यों का संकल्प हो। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सामान्य संकल्प वैयक्तिक संकल्पों का एक योग या संकलन मात्र होता है। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि सामाजिक अन्त:क्रियाओं के दौरान कुछ सामान्य सामाजिक विषयों, वस्तुओं या परिस्थितियों के सम्बन्ध में समाज के सदस्यों का मनोभाव, इच्छा आदि घुल-मिल कर एक अभिन्न समग्रता का रूप धारण कर लेती हैं। फलतः व्यक्तिगत हित अपनी प्रधानता खो बैठता है और सामान्य हित की प्रतिष्ठा होती है। इस समग्रता को ही 'सामान्य संकल्प' कहा जाता है। 'सामान्य संकल्प' की प्रकृति निम्नांकित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जायेगी।

सामान्य संकल्प के सिद्धान्त

(Theories of General Will)

सामान्य संकल्प के विषय में विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने विचार एक निश्चित रूप में प्रस्तुत किये हैं। इस संकल्प की अवधारणा को उचित ढंग से समझने

के लिये यह अत्यावश्यक है कि इन विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों की विवेचना कर ली जाय, परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि सामान्य संकल्प की धारणा मनोवैज्ञानिक आधारों की अपेक्षा राजनीति व नीतिशास्त्र सम्बन्धी आधारों पर अधिक आश्रित है।

रूसो का 'सामान्य संकल्प' का सिद्धान्त
(Rousseau's Theory of General Will)

श्री रूसो ने सामान्य संकल्प की प्रकृति को समझाने के लिये यथार्थ संकल्प (actual will) तथा वास्तविक या आदर्श संकल्प (real will) के बीच का अन्तर स्पष्ट किया है। मनुष्य निजी स्वार्थ से प्रेरित होकर समय-समय पर जो कामना करता है, वह उसका यथार्थ संकल्प है। इसका जन्म स्वार्थ से होता है और यह समाज के हित से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। यथार्थ संकल्प अस्थायी परिवर्तनशील तथा आत्म-विरोधी होता है। इसके विपरीत, व्यक्ति समाज के हित को सामने रखकर तथा सामाजिक जीवन की सम्पूर्ण योजना को बनाने में समर्थ होकर जो कामना करता है, वह उसका आदर्श संकल्प होता है। हमारे यथार्थ संकल्प भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, परन्तु आदर्श संकल्प सबका समान होता है. जो समाज के सामान्य हित के संदर्भ में व्यक्ति के वास्तविक हित का नियमन करता है और समाज तथा व्यक्ति के बीच सामंजस्य स्थापित करता है। आदर्श संकल्प स्थायी और स्वार्थपरता से विमुक्त होता है। सामान्य संकल्प वास्तव में समाज के व्यक्तियों के आदर्श संकल्पों का एक सहज समन्वय होता है। किसी भी सामाजिक प्रश्न पर सबसे पहले व्यक्तियों का अपना निजी संकल्प प्रकट होता है। तत्पश्चात् व्यक्तियों के संकल्पों के स्वार्थपूर्ण तत्त्व सामाजिक खण्डन करते हैं और इसके फलस्वरूप एक सामान्य संकल्प का विकास होता है। वास्तव में, सामान्य संकल्प प्रत्येक व्यक्ति के उच्चतम गुणों का प्रतिनिधित्व करता है। यथेष्ट विचार-विनिमय के बाद सामान्य हित के प्रति जो जागरूकता उत्पन्न होती है, सामान्य संकल्प उसी का एक रूप होता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह साधारण, अर्थात् सामान्य हित की इच्छा करता है, उसका गुण यह नहीं है कि वह सामान्य जनों, अर्थात् समाज के सदस्यों के बहुमत द्वारा इच्छित हो।[1]

श्री रूसो के अनुसार सामान्य संकल्प 'सबका संकल्प' (will of all) नहीं है। सबका संकल्प सारे व्यक्तियों के अपने-अपने संकल्पों का योगमात्र होता है। इसके विपरीत सामान्य संकल्प उन संकल्पों का योग होता है, जो सामान्य रूप से सभी व्यक्तियों के होते हैं और जिनका सम्बन्ध सामान्य रूप से सार्वजनिक हितों से होता है। श्री रूसो के अनुसार ऐसा संकल्प बहुमत, अल्पमत अथवा एक व्यक्ति के संकल्प द्वारा व्यक्त हो सकता है। इसका मुख्य गुण यही है कि यह सामान्य हित की आवश्यकताओं को व्यक्त करता है। यदि बहुमत निजी हित की भावना से प्रेरित है, तो संकल्प सामान्य संकल्प नहीं हो सकता। श्री रूसो ने लिखा है, "संकल्प को सामान्य बनाने के लिये मतदाताओं (या समाज के सदस्यों) की संख्या का उतना महत्त्व नहीं है, जितना उनको एकता के सूत्र में बाँधने वाले सामान्य हितों का।"[2]

श्री रूसो के अनुसार सामान्य संकल्प की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

1. यह संकल्प अविभाज्य (indivisible) होता है। इसकी उल्लेखनीय विशेषता इसकी एकता (unity) है। तर्कसंगत होने के कारण यह कभी आत्म-

विरोधी नहीं होती, यद्यपि उसकी एकता में अनेकरूपता हो सकती है। सामान्य संकल्प राष्ट्रीय चरित्र की एकता का निर्माण करता और उसे स्थायी बनाता है।

2. सामान्य संकल्प स्थायी होता है। यह भावनात्मक नहीं होता। "यह प्रत्यक्ष रूप से न तो सार्वजनिक भावनाओं में मिलता है और न राजनीतिज्ञों की बहकाने वाली बातों में।" यह हमें राष्ट्रीय चरित्र से मिलता है।

3. सामान्य संकल्प सदा उचित तथा जनकल्याणकारी होता है। यदि किसी संकल्प की अभिव्यक्ति सामान्य हित के अनुकूल न हो तो उसे सामान्य संकल्प की अभिव्यक्ति नहीं समझना चाहिए।

4. सामान्य संकल्प में व्यक्ति के व्यवहारों तथा आचरणों को नियन्त्रित करने की शक्ति होती है, क्योंकि यह सभी के हित में होता है और सामान्य भावनाओं, इच्छाओं तथा संवेगों का प्रतिनिधित्व करता है।

समालोचना —(i) श्री रूसो के सिद्धान्त के आधार पर यह ठीक तरह से समझा नहीं जा सकता कि सामान्य संकल्प क्या है ? (ii) श्री रूसो ने सामान्य संकल्प को सदा उचित संकल्प माना है। पर, संकल्प सदा उचित ही होगा, यह पहले से ही निश्चित रूप में कह सकना कठिन है। (iii) श्री रूसो ने यह भी मान लिया है कि सामान्य संकल्प का वास्तविक अस्तित्व हो सकता है। पर वैषयिक रूप में (objectively) इसके अस्तित्व को स्थापित करना सम्भव नहीं है। (iv) यह कल्पना की गयी है कि सामान्य संकल्प स्वार्थपरता से पूर्णतया मुक्त होता है। पर, इसके द्वारा जिस आदर्श की कल्पना की गयी है, वहाँ तक पहुँचा नहीं जा सकता।

मैकेन्जी का सिद्धान्त
(Theory of Mackenzie)

प्रो० मैकेन्जी ने अपने सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन अपनी पुस्तक 'Outlines of Social Philosophy' में किया है और उसका स्पष्टीकरण करने के लिये एक साधारण पर सरल उदाहरण दिया है। मान लीजिए, किसी परिवार के सदस्य छुट्टियाँ व्यतीत करने के लिये कहीं बाहर जाने के इच्छुक हैं। अब परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी इच्छानुसार एक-एक जगह चुनता है। ऐसी परिस्थिति में कई प्रकार के व्यवहार के प्रकट होने की सम्भावना हो सकती है। पहली सम्भावना तो यह हो सकती है कि परिवार के विभिन्न सदस्यों में जिसकी जहाँ इच्छा हो, वहाँ चला जाय। दूसरी सम्भावना यह हो सकती है कि परिवार का बड़ा-बूढ़ा अपनी ओर से एक जगह निश्चित कर दे। ऐसी परिस्थिति में उस बड़े-बूढ़े का संकल्प अन्य लोगों के संकल्प पर हावी हो जायगा। तीसरी सम्भावना यह हो सकती है कि परिवार के सभी सदस्य एक ऐसी जगह चुन लें जो सबको रुचिकर हो और जहाँ सभी लोग जाना चाहें। यह सबका 'संयुक्त संकल्प' (joint will of all) हुआ। चौथी सम्भावना यह हो सकती है कि सभी सदस्य शान्ति से बैठकर उस स्थान पर जाने का निर्णय करें, जहाँ सभी को समान सुविधा या समान असुविधा हो। इसे 'सहयोगी संकल्प' (co-operative will) कहा जायगा। अन्तिम सम्भावना यह हो सकती है कि परिवार में कोई सदस्य बीमार हो और उसके स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए ऐसे स्थान का चुनाव किया जाय जहाँ जाने से वह नीरोग हो जाय और परिवार के सभी सदस्यों को तरह-तरह की शारीरिक व मानसिक परेशानियों से छुटकारा मिल जाय। अतः इस विशेष परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए सभी की भलाई के उद्देश्य से परिवार के सब सदस्य एकमत होकर सामूहिक मत से किसी एक स्थान पर जाने

का निर्णय कर लें। अब ऐसी परिस्थिति में जो निर्णय होगा, वह सामान्य संकल्प द्वारा किया गया माना जायगा।

इस प्रकार प्रो० मैकेन्जी के अनुसार जब समूह के सभी व्यक्ति मिलकर किसी निर्णय पर पहुँचते हैं तो वह निर्णय सामान्य संकल्प का प्रतिनिधित्व करता है। अतः केवल वैयक्तिक-संकल्पों का योग 'सामान्य संकल्प' नहीं हो सकता। वस्तुतः वैयक्तिक संकल्पों के प्रभावस्वरूप किसी भी सामान्य संकल्प का विकास होता है और यह वैयक्तिक संकल्प से भिन्न होता है, यद्यपि समूह का प्रत्येक व्यक्ति इसे स्वीकार करता है। इस प्रकार सामान्य संकल्प में वैयक्तिक संकल्पों का एक वास्तविक एकीकरण (integration) होता है। प्रो० मैकेन्जी के मतानुसार, सामान्य संकल्प की धारणा में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं—(१) किसी एक निर्णय पर पहुँचने के लिये लोगों का काफी संख्या में एकत्रित होकर आपस में सहयोग करना; और (२) जो निर्णय हो, उसका सारे समूह के हित को ध्यान में रखकर किया जाना; व्यक्तिगत इच्छाओं या संकल्पों का सन्तुलन मात्र करके किया जाना नहीं।

समालोचना—प्रो० मैकेन्जी द्वारा प्रतिपादित सामान्य संकल्प की धारणा की पहली शर्त कि निर्णय में समूह के सभी सदस्यों का सहयोग हो, यह व्यावहारिक नहीं है, ऐसा सदा सम्भव नहीं होता। साधारणतः निर्णय सभी सदस्यों के मतानुकूल नहीं होता। अतः सभी सदस्यों का सहयोग कैसे प्राप्त हो सकता है? अधिकतर मामलों में निर्णय करने वाले लोग वास्तव में बहुत थोड़े होते हैं, हालांकि जिन लोगों के लिये वे फैसला लेते हैं, उनमें से ज्यादा से ज्यादा लोगों के विचारों और इच्छाओं को जानकर वे उन्हें ध्यान में रख सकते हैं। जैसा कुछ भी हो, जो कुछ भी निर्णय किया जाता है, उसमें सभी लोग या अधिकांश लोग सम्मिलित नहीं होते। साधारणतः समूहों में और विशेष रूप से राज्यों में जो कार्य होते हैं, वे पारस्परिक सहयोग द्वारा प्राप्त बहुमत की सम्मति के आधार पर नहीं, बल्कि बहुत ही थोड़े से लोगों की अनुमति के परिणाम होते हैं।

बार्थ का सिद्धान्त
(Theory of Barth)

श्री कार्ल बार्थ (Karl Barth) का मत है कि व्यक्ति अधिकांशतः अपने ही हित की चिन्ता करता है। अतः समाज की भलाई की बात समाज के लोग तभी सोच सकते हैं, जब वे हर प्रकार से विकास के एक उच्चतर स्तर पर हों। समाज की भलाई की बात जब व्यक्ति के दिमाग में स्थायी रूप से घर कर लेती है, तभी सामान्य संकल्प की स्थापना हो सकती है। ऐसा संकल्प समाज की आत्मचेतना (self-consciousness) का ही प्रतिनिधित्व करता है।

श्री बार्थ ने समाज अथवा राष्ट्र की आत्मचेतना की व्याख्या व्यक्ति की आत्म-चेतना की प्रक्रिया के आधार पर की है। उनका कहना है कि व्यक्ति के विचार, इच्छा और भावना जिस प्रकार कभी-कभी क्षणिक होते हैं, उसी प्रकार समाज के भी जीवन में कभी-कभी कुछ ऐसी घटनाएँ घटती हैं, जिनसे उसके विचार, इच्छा और भावना क्षणिक ही प्रतीत होने हैं। ऐसी अवस्था में समाज और व्यक्ति, दोनों की आत्म-चेतना निम्न कोटि की होती है। इसके विपरीत, व्यक्ति और समाज के जीवन में कुछ ऐसे भी क्षण आते हैं, जब उनके विचार, इच्छा और भावना अपेक्षाकृत अधिक

एकता है, जो मनुष्य की सामान्य आध्यात्मिक सम्पत्ति का स्रोत और उसकी प्राप्ति की व्यवस्था है।

समालोचना—श्री वुण्ट का सिद्धान्त अत्यधिक अस्पष्ट है और इसके आधार पर सामान्य संकल्प के विषय में कोई निश्चित धारणा बनाना सम्भव नहीं है। श्री वुण्ट के अनुसार वैयक्तिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जब कुछ क्रियात्मक "विचार" हमारे मन में जड़ पकड़ लेते हैं तो उस स्थिति को हम वैयक्तिक संकल्प कहते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विचार करना ही संकल्प है। पर, संकल्प के इस अस्पष्ट अर्थ को स्वीकार करना हमारे लिए सम्भव नहीं है। यह सच है कि वैयक्तिक विचार के आधार पर अनेक सामाजिक क्रियाएँ घटित होती हैं, पर इन विचारों या क्रियाओं से आत्मा, चेतना या स्वतन्त्र मन का निर्माण कैसे हो सकता है, यह समझ में नहीं आता।

इसी प्रकार धार्मिक चेतना को अन्तिम और सर्वोच्च कहकर श्री वुण्ट ने वही गलती की है, जो श्री दुर्खीम ने 'समाज ही वास्तविक देवता' कह कर की है। सामूहिक चेतना को, चाहे उसका अस्तित्व वास्तव में हो या न हो, सर्वशक्तिमान् मान लेने में कोई युक्ति नहीं है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह मत खोखला प्रतीत होता है। यही कारण है कि श्री वुण्ट के सिद्धान्त को मूल रूप में स्वीकार करना सम्भव नहीं है।

बोसांके का सिद्धान्त

(Theory of Bosanquet)

श्री बर्नार्ड बोसांके (Bernard Bosanquet) दर्शन के क्षेत्र में आदर्शवाद के प्रतिपादक थे। आपके मतानुसार, सृष्टि की प्रत्येक भौतिक वस्तु सम्पूर्ण (whole) का ही एक अंश मात्र है। उनका कहना है कि प्रत्येक वस्तु हमें अपूर्ण दीखती है, क्योंकि संसार में व्यवस्था का अभाव है। केवल भौतिक वस्तु ही नहीं, व्यक्ति भी *पूर्ण का ही एक भाग है और वह पूर्ण की प्राप्ति के लिये ही सचेष्ट रहता है।* व्यक्ति से श्रेष्ठ समाज है। समाज पूर्ण है, क्योंकि इसके सभी सदस्य एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं और इस 'पूर्ण' की रचना करते हैं। जब व्यक्ति का विकास समाज की पूर्णता के बोध की सफलता की सीमा तक हो जायगा, तो उस अवस्था में वह सामान्य संकल्प की विशेषताओं को भी उपलब्ध कर लेगा।

श्री बोसांके के सिद्धान्त में तीन मुख्य तत्त्व हैं, जिन्हें हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

(1) वास्तविक संकल्प (real will) और यथार्थ संकल्प (actual will) में विरोध है। यथार्थ संकल्प व्यक्ति का संकल्प है, जिसे वह नित्य अपनी साधारण जीवन-क्रियाओं द्वारा व्यक्त करता है। पर, यह यथार्थ संकल्प अपूर्ण होता है। इसीलिए वह पूर्णता प्राप्त करने को प्रयत्नशील रहता है। पर पूर्णता प्राप्त करना उसके अकेले के लिये सम्भव नहीं होता, क्योंकि वह व्यक्तिगत है और कोई भी व्यक्ति अपने आप में पूर्ण नहीं है। इतना ही नहीं, यथार्थ संकल्प व्यक्ति तक ही अपने को सीमित रखता है, इसीलिए इसका विरोध वास्तविक संकल्प से होता है, क्योंकि वास्तविक संकल्प आदर्श संकल्प है। आदर्श संकल्प का सम्बन्ध सामाजिक जीवन के उच्चतर आदर्शों तथा सिद्धान्तों से होता है। यह व्यक्ति को आदर्श जीवन की विशेषताओं का ज्ञान कराता है। इसकी व्याख्या करते हुए श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने लिखा है, "अतः यह संकल्प सात्त्विक या शुभ संकल्प है, यह एक ऐसा संकल्प है जैसा कि होना चाहिए, साथ ही, यह एक ऐसा संकल्प है जो पूर्णता के विचार के

द्वारा निर्धारित होता है'''एकमात्र यह आदर्श संकल्प ही व्यावहारिक जीवन को सार्थकता प्रदान कर सकता है।''[3]

(2) श्री बोसांके के मतानुसार, वास्तविक संकल्प विवेकसंगत और उचित होता है, और गुण और मात्रा की दृष्टि से लगभग सभी व्यक्तियों में समान रूप से पाया जाता है। अतः वास्तविक संकल्प ही सामान्य संकल्प है। सामान्य संकल्प सभी सदस्यों के संकल्पों का योग मात्र नहीं होता, वरन् यह एक ऐसा संकल्प होता है, जो व्यक्तिगत संकल्प के रूप में प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान रहता है। यह किसी भी व्यक्ति के वैयक्तिक संकल्प से कहीं अधिक श्रेष्ठ होता है।

(3) श्री बोसांके ने सामान्य संकल्प को राज्य में मूर्तिमान माना है।

समालोचना—(क) श्री बोसांके के सम्पूर्ण सिद्धान्त के आदर्शवादी दार्शनिक आधारों पर आश्रित होने के कारण आधुनिक मनोवैज्ञानिक इसे स्वीकार करने में बहुत ही हिचकिचाते हैं। व्यक्ति पूर्ण नहीं है, समाज पूर्ण है—इन सब दार्शनिक व आदर्शवादी कथनों का वैज्ञानिक अर्थ क्या हो सकता है, यह समझ में नहीं आता।

(ख) वास्तविक संकल्प आदर्श संकल्प है—केवल इतना कह देने मात्र से ही ऐसा होने का प्रमाण नहीं मिलता। इतना ही नहीं, यथार्थ तथा वास्तविक संकल्प की अलग-अलग प्रकृति क्या है, इसे भी श्री बोसांके ने स्पष्टतः नहीं समझाया है। श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने उचित ही लिखा है, "यह दलील दी जा सकती है कि नैतिक दृष्टि से जो कर्त्तव्य है, उसे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संकल्प का विषय बनने योग्य होना चाहिए, फिर भी जैसे ज्ञात वस्तु और उसका ज्ञान एक ही चीज नहीं है, वैसे ही नैतिक कर्त्तव्य और उसका संकल्प का विषय बनना, एक ही चीज नहीं है।''[4]

(ग) श्री बोसांके का कथन है कि सामान्य संकल्प व्यक्तिगत संकल्प के रूप में प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान रहता है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि व्यक्तिगत मस्तिष्कों के बीच एकरूपता होती है और वैयक्तिक संकल्प पूर्ण (सामान्य) संकल्प के अंग होने के नाते एक ही प्रकार की विचार-सम्बन्धी प्रक्रियाएँ करते हैं तो भी इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि व्यक्ति का संकल्प अस्तित्व में समाज के संकल्प के समान होता है। श्री गिन्सबर्ग ने उचित ही लिखा है, "मेरे उद्देश्य की पूर्ति अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व पर और दूसरों के उद्देश्यों की पूर्ति मेरे अस्तित्व पर आधारित है। पर, इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे (they) 'मैं' हैं और मैं 'वे' हूँ।''[5]

निष्कर्ष
(Conclusion)

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सामान्य संकल्प की धारणा में इस बात पर बल दिया गया है कि इस प्रकार के संकल्प में उद्देश्य सामान्य होते हैं। सामान्य उद्देश्यों के लिए विचारों का स्पष्टीकरण होना आवश्यक है; पर जनता में विचार स्पष्ट नहीं होते। स्पष्ट विचार तो समाज में कुछ ही व्यक्तियों के होते हैं। यदि यह मान लिया जाय कि उद्देश्य सम्पूर्ण जनता का है, तो भी सामान्य संकल्प का सिद्धान्त लागू नहीं होता, क्योंकि एक समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो संगठित संकल्प किया जाता है, उसे सामान्य संकल्प न कहकर 'सामूहिक संकल्प' कहा जा सकता है। इसी प्रकार यदि यह मान भी लिया जाय कि व्यक्ति के संकल्प विवेकपूर्ण हैं और

इसीलिए एक सामंजस्यपूर्ण शुभ को अपना लक्ष्य बनाते हैं, तो भी इन्हें सामान्य संकल्प नहीं कहा जा सकता, ये तो 'शुभ' के एक सम्मिलित संकल्प ही होंगे। अतः हम कह सकते हैं कि सामान्य संकल्प जैसी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

पर, जैसा कि श्री गिन्सबर्ग ने लिखा है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्ति एक-दूसरे से पृथक् सत्ताएँ हैं, स्वतंत्र चीजें हैं, और उनके विकास के लिये आवश्यक सभी बातें उनके अन्दर निहित हैं। यह स्पष्ट है कि अनुभव की अन्तर्वस्तु, और अनुभव का रूप, इन दोनों के लिये व्यक्ति अधिकतर सामाजिक वातावरण का ऋणी होता है, और जो शक्तियाँ उसके कार्यों को निर्धारित करती हैं, वे सामाजिक सम्बन्ध की उपज होती हैं, और समाज के अन्दर के व्यक्तियों की पारस्परिक क्रिया से पैदा होती हैं. लेकिन किसी समाज मे काम करने वाली मनोवैज्ञानिक शक्तियों का ताना-बाना एकता नहीं रखता, यद्यपि अपनी उच्चतम अवस्था मे वे शक्तियाँ एकता और एकता के अन्दर एकता रखती हैं। सामान्य संकल्प की "कल्पना" कुछ सीमा तक आदिम समाजों के संदर्भ में को आ सकती है, क्योंकि वहाँ सामाजिक परिस्थितियाँ सभी सदस्यों के लिये बहुत-कुछ एक-सी होती हैं, सदस्यों का स्वभाव बहुत कुछ समान होता है. और उनकी अनुभूतियाँ, विचार, रुचियाँ आदि एक प्रकार की होती हैं। पर, आधुनिक समाजों में पग-पग पर केवल विभिन्नता, विविधता और अन्तर ही देखने को मिलता है, ऐसे मे वहाँ सामान्य संकल्प की "कल्पना" भी कल्पनातीत ही है। ऐसे समाजों में कुछ सामूहिक शक्तियाँ स्थायी संस्था का रूप ले सकती हैं; लेकिन अन्य सभी शक्तियाँ केवल एक अस्पष्ट, निराकार प्रकार का ही अस्तित्व रखती हैं। ऐसी हालत में सामान्य संकल्प के सिद्धान्त को स्वीकार करना असम्भव-सा ही लगता है।

अन्तिम निष्कर्ष के रूप में श्री गिन्सबर्ग ने लिखा है, "इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य एक सम्मिलित जीवन मे हिस्सा लेते हैं और एक सामूहिक उपलब्धि में योगदान करते हैं, फिर भी इस जीवन का वास्तविकीकरण करने का, और व्यक्ति एक-दूसरे से सम्बन्ध जोड़कर जिस प्रकार का जीवन व्यतीत करते हैं, उससे भिन्न और ऊँची किस्म के किसी जीवन की कल्पना करने का परिणाम एक उलझन को पैदा करने के सिवाय और कुछ भी नही हो सकता।"

REFERENCES

1. "What is important about general will is that it wills general, that is, common *interest*, and not that *it is willed by generality, that is,* the majority of the members of society"—*Rousseau.*
2. "What makes the will general is less number of voters than the common interest uniting them"—*Rousseau.*
3. "It is, therefore, the rational or goodwill, the will as it ought to be, and will as determined by an idea of perfection ..., it alone can give significance to the practical life."—*M. Ginsberg The Psychology of Society* (Methuen and Co. Ltd.,) 1954, p. 80.
4. "...it might be well argued that what is ethically obligatory must be psychologically capable of being willed, ethical obligation does not *consist in being willed any more than an object known* consists in its being known."—*Ibid.*, p. 81
5. "The fact that the realization of my purposes is dependent on the existence of other human beings and the realization of their purposes, on mine does not involve that They must be I or I They."—*Ibid.*, p. 87.

नेतृत्व

[LEADERSHIP]

"नेता नेतृत्व करता है; मानवीय सुझाव देता है, रास्ता दूसरों के लिए आदर्श के रूप में कार्य करता है।"

नेतृत्व एक सार्वभौमिक (universal) या विश्वव्यापी
ही कहा गया है कि जहाँ कहीं भी जीवन है, वहाँ समाज भी है;
वहाँ नेतृत्व के भी दर्शन होते हैं। यही कारण है कि पशु-पक्षिय
विकास होता है और नेता व अनुयायियों के बीच सम्बन्ध पाये
में तो नेतृत्व का अस्तित्व आदि काल से ही चला आ रहा है
रहता था और सम्य.. के स्पर्श से भी वंचित था, उस सम
नेतृत्व का विकास हुआ था। वास्तव में समाज-व्यवस्था
व्यवस्था नहीं है। समाज के अनेक अंग होते हैं, और इन
सम्बन्धित रखते हुए समाज-व्यवस्था को कायम रखने की म
की एक उल्लेखनीय समस्या रही है। यदि समाज के सभी अं
से काम करने की स्वतन्त्रता दे दी जाय तो समाज की सर
दिन में तार-तार हो जाय। इसीलिए सामाजिक नियन्त्र
की जाती है। नेतागण सामाजिक नियंत्रण के साधन के रूप में महत्वपू
हैं, और एक अर्थ में समाज-व्यवस्था के एक महत्वपूर्ण अंग समझे जाते हैं। यह
कारण है कि बहुधा सामाजिक व्यवस्था की भाँति नेतृत्व का विकास भी स्वाभाविक ढंग से ही होता है। इसका एक सटीक उदाहरण छोटे बच्चों के खेल का समूह है। यदि उनके खेलने की व्यवस्था पर ध्यान दिया जाय तो हमें ज्ञात होगा कि उनमें से कोई एक बालक दूसरों को खेल से सम्बन्धित तरह-तरह से निर्देश दे रहा है, और बाकी सभी तदनुसार उसका पालन कर रहे हैं। व्यवस्था और निर्देशन के भार को वहन करने वाला बालक ही इस खेल के समूह का नेता कहा जा सकता है, परन्तु व्यवस्था और निर्देशन के भार को वहन करने की आवश्यकता केवल बच्चों के खेल के समूह में ही नहीं, अपितु समाज के अन्य समूहों—यहाँ तक कि सम्पूर्ण राष्ट्र में भी समान रूप से अनुभव की जाती है। इसीलिए तो समाज के विभिन्न क्षेत्रों में हमें विभिन्न प्रकार के नेतृत्व के दर्शन होते हैं। अतः स्पष्ट है कि किसी भी समूह के सामाजिक व्यवहारों के नियन्त्रण और उसके सुसंचालन के लिए नेता की आवश्यकता पड़ती है, और इसीलिए नेतृत्व का विकास होता है। पर इस विषय में और कुछ कहने से पूर्व यह आवश्यक होगा कि हम यह जान लें कि नेतृत्व का वास्तविक अर्थ क्या है।

नेतृत्व का अर्थ व परिभाषा

(Meaning and Definition of Leadership)

सर्वश्री लापीयर तथा फार्न्सवर्थ (Lapiere and Farnsworth) के अनुसार, "नेतृत्व वह व्यवहार है, जो दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार को उससे कहीं अधिक प्रभावित करता है, जितना कि उन दूसरे लोगों का व्यवहार नेता को प्रभावित करता है।" इस प्रकार जब एक सेनाध्यक्ष आदेश देता है, और उस आदेश का पालन

होता है, तो वह नेतृत्व का निर्देशन है। इसी प्रकार जब शिक्षक बोलते हैं और विद्यार्थीगण सुनते हैं, तो शिक्षक नेतृत्व करते हैं, और जब माँ बच्चे को पैर धोने के लिए कहती है और बच्चा तदानुसार व्यवहार करता है, तो माँ का व्यवहार नेतृत्व का ही परिचायक होता है।[2]

उपर्युक्त परिभाषा से यह स्पष्ट है कि नेतृत्व के दो पक्ष होते हैं—एक तो वह जो कि नेतृत्व करता है अर्थात् नेता (Leader); और दूसरे वे लोग जो कि उस नेतृत्व को ग्रहण करते हैं, अर्थात् अनुयायी लोग (followers)। लोकप्रिय धारणा यह है कि केवल नेता का व्यवहार ही अनुयायियों को प्रभावित करता है और चूंकि प्रथम पक्ष "नेता" है, इसलिए वह दूसरों के प्रभावों से विमुक्त है, अर्थात् नेता पर अनुयायियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि नेता के पद पर आसीन व्यक्ति अधिक कुशल, योग्य, ज्ञानी और अनुभवी होता है, परन्तु यह धारणा, जैसा कि उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है, गलत है। नेतृत्व, नेता और अनुयायियों के बीच पाये जाने वाले विशिष्ट सम्बन्धों का परिचायक है। यह सम्बन्ध एकतरफा (one-sided) नहीं होता। अर्थात्, नेतृत्व उभयपक्षीय या दोतरफा विषय है (leadership is two-way affair)। नेतृत्व के सम्पूर्ण प्रतिमान में नेता और अनुयायियों का पारस्परिक सम्बन्ध अभिव्यक्त होता है। यदि नेता अनुयायियों के व्यवहारों को प्रभावित करता है, तो अनुयायियों के व्यवहारों द्वारा नेता स्वयं भी प्रभावित रहता है। पर इतना अवश्य है कि इस पारस्परिक प्रभाव की मात्रा में अन्तर होता है। नेता पर अनुयायियों के व्यवहारों का प्रभाव जितना पड़ता है, उससे कहीं अधिक प्रभाव अनुयायियों पर नेता के व्यवहारों का पड़ता है और नेतृत्व की अवधारणा के बने रहने के लिए यह आवश्यक भी है। कोई भी व्यक्ति नेता इसलिए कहलाता है, क्योंकि उसमें दूसरों के व्यवहारों को प्रभावित करने की क्षमता या कुशलता अधिक है। यदि नेता और अनुयायियों का पारस्परिक प्रभाव एकसमान हो, तो न कोई नेता हो, और न कोई अनुयायी। 'नेता' का अर्थ ही यह है कि उसका प्रभाव दूसरों पर अधिक पड़े। पर नेता पर पड़ने वाले इन दूसरे लोगों के प्रभावों के सन्दर्भ में ही नेतृत्व को समझा जा सकता है। यदि नेता पूर्ण या निरंकुश प्रभुत्व (domination) के लिये प्रयास करेगा, तो नेता के रूप में अधिक समय तक बना रहना उसके लिये सम्भव न होगा। नेता को हमेशा यह ध्यान रखना पड़ता है कि अनुयायियों (followers) की उसके शब्दों तथा क्रियाओं के प्रति प्रतिक्रिया किस प्रकार की है और उसी अनुपात में वह अपने व्यवहार का अनुकूलन करता है। इसलिए यह उचित ही कहा गया है कि अनुयायी भी नेता का नेतृत्व उसी भाँति करते हैं, जैसे कि नेता अनुयायियों का।

श्री पिगर (Pigor) ने नेतृत्व को एक विशिष्ट परिस्थिति के सन्दर्भ में परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार, "नेतृत्व व्यक्तित्व और पर्यावरण के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध को दर्शाने के लिये प्रयोग की जाने वाली एक अवधारणा है। यह अवधारणा उस परिस्थिति का वर्णन करती है, जिसमें एक व्यक्ति किसी पर्यावरण में इस प्रकार स्थान ग्रहण किये हुए हो कि उसकी इच्छा, अनुभूति तथा अन्तर्दृष्टि एक सामान्य हित की पूर्ति के हेतु दूसरों को निर्देशित तथा नियंत्रित करें।"[3]

इस परिभाषा से भी नेतृत्व की विशिष्ट प्रकृति का स्पष्टीकरण होता है। श्री पिगर के अनुसार नेतृत्व के दो प्रमुख आधार हैं और वे हैं—व्यक्तित्व (अर्थात्

नेता) और पर्यावरण (जिसमें कि वे लोग भी सम्मिलित हैं, जिनका नेतृत्व किया जाता है)। नेता अपनी क्षमताओं, गुणों या विशिष्ट ज्ञान के आधार पर एक पर्यावरण विशेष में एक विशिष्ट स्थान या स्थिति को प्राप्त करता है; और उसी के बल पर उसकी अपनी इच्छा, अनुभूति तथा अन्तर्दृष्टि दूसरों को निर्देशित तथा नियंत्रित करती है, ताकि एक सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति की जा सके। एक निश्चित पर्यावरण, उस पर्यावरण में एक व्यक्ति की एक विशिष्ट स्थिति, उस व्यक्ति के साथ अन्य लोगों का सम्बन्ध, उस स्थिति तथा सम्बन्ध के आधार पर उस व्यक्ति की इच्छा, अनुभूति तथा अन्तर्दृष्टि द्वारा दूसरे के व्यवहारों का निर्देशन व नियंत्रण और उसके फलस्वरूप एक उद्देश्य की पूर्ति—ये सब मिलकर जिस परिस्थिति को जन्म देते हैं, उसे नेतृत्व कहते हैं। एक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के विशिष्ट गुणों के कारण ही एक पर्यावरण विशेष में, एक विशिष्ट स्थान या स्थिति को प्राप्त करता है, और उसी के बल पर उस पर्यावरण से सम्बन्धित अन्य व्यक्तियों के आचरणों पर अपना प्रभाव डालता है। अतः स्पष्ट है कि नेतृत्व व्यक्तित्व व पर्यावरण के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। इससे नेतृत्व की प्रकृति के सम्बन्ध में एक बात और स्पष्ट हो जाती है, और वह यह कि नेतृत्व का सम्बन्ध एक विशिष्ट पर्यावरण से होता है, अर्थात् नेतृत्व का अपना एक विशिष्ट क्षेत्र होता है। एक ही व्यक्ति हर क्षेत्र का नेता नहीं हो सकता। कोई धार्मिक क्षेत्र का नेता होता है, कोई राजनैतिक क्षेत्र का, कोई व्यापारिक क्षेत्र का, कोई शिक्षा-सम्बन्धी क्षेत्र का, तो कोई 'श्रमिक-जगत्' का। इनमें से प्रत्येक क्षेत्र में नेता के उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिए अलग-अलग व्यक्तित्व या गुणों, मनोभावों, कुशलताओं और अनुभवों की आवश्यकता होती है। अतः एक ही व्यक्ति सभी क्षेत्रों का नेतृत्व नहीं कर सकता। यदि वे क्षेत्र एक-दूसरे से सम्बन्धित और बहुत कुछ समान प्रकृति के हैं तो एक व्यक्ति एकसाथ एक-दो क्षेत्रों का हो नेता बन सकता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नेतृत्व एक क्षेत्र-विशेष में नेता तथा अनुयायियों के बीच पाये जाने वाले उस पारस्परिक-सम्बन्ध-प्रतिमान का बोध कराता है, जिसमें अनुयायियों के द्वारा प्रभावित होते हुए भी नेता अपने अनुभव, ज्ञान, कुशलता व अन्तर्दृष्टि के बल पर एक प्रतिष्ठित पद (prestige position) पर रहते हुए अपने अनुयायियों के व्यवहारों को निर्देशित व नियंत्रित करता है।

'प्रभुत्व' और 'नेतृत्व' में अन्तर
(Distinction between Dominance and Leadership)

वास्तव में रोज की बोलचाल में हम 'प्रभुत्व' और 'नेतृत्व' को एक ही मान लेते हैं। पर वास्तव में यह उचित नहीं है। प्रभुत्व में कुछ आधारभूत अन्तर है, जिसके सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा रखने की आवश्यकता है, परन्तु इस अन्तर को तभी समझा जा सकता है जब हम पहले यह समझ लें कि प्रभुत्व का वास्तविक अर्थ क्या है श्रीकिम्बल यंग (Kimball Young) के अनुसार, "हम प्रभुत्व को एक ऐसे कार्य या प्रतिक्रिया (response) के रूप में परिमापित करते हैं जो दूसरे की मनोवृत्ति तथा क्रिया को प्रभावित करती है।"[6] प्रभुत्व में सत्ता या शक्ति का तत्व छिपा होता है। यदि किसी एक अफसर का प्रभुत्व अपने क्लर्कों पर है, या एक मिल-मालिक का प्रभुत्व अपने मजदूरों पर है, या पिता का प्रभुत्व अपने बच्चों पर है तो इसका कारण यह है कि अफसर, मिल-मालिक या पिता के हाथ में कुछ शक्ति या सत्ता है। इसीलिए

किम्बल यंग के अनुसार "प्रभुत्व को एक ऐसे शक्ति-साधन (power device) के रूप में देखा जा सकता है, जिसका प्रयोग एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों की मनोवृत्तियों और क्रियाओं को नियन्त्रित करने अथवा परिवर्तित करने के लिये किया जाता है।"[5] जब इस शक्ति का एक निश्चित रूप विकसित हो जाता है और वह संस्कृति के एक अंग के रूप में समाज द्वारा मान्य हो जाता है, तो हम उसे एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के ऊपर अधिकार या सत्ता (authority) कहते हैं, जैसे पिता का पुत्र पर, शिक्षक का विद्यार्थियों पर। इतना ही नहीं, "प्रभुत्व सामाजिक अन्तःक्रिया के ढाँचे के अन्तर्गत ही उत्पन्न होता और कार्य करता है। यदि हम यह कह सकते हैं कि एक व्यक्ति प्रभुत्वशाली है तो इसका तात्पर्य यह भी हुआ कि कोई दूसरा व्यक्ति उसके अधीन है। अधीनता के बिना प्रभुत्व वैसे ही नहीं हो सकता, जैसे अनुयायियों के बिना नेता नहीं हो सकता।"[6] इस दृष्टि से कुछ विद्वानों ने प्रभुत्व तथा नेतृत्व में कोई विशेष अन्तर नहीं माना है। कीम्बल यंग ने भी लिखा है, "जिसे हम आमतौर पर नेतृत्व कहते हैं उसकी विवेचना यथार्थतः प्रभुत्व के रूप में ही करनी चाहिए।"[7]

परन्तु नेतृत्व तथा प्रभुत्व एक ही चीज नहीं हैं। इनमें थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य है—

(1) श्री स्प्रॉट (Sprott) के अनुसार, "नेतृत्व की अवधारणा *अनुयायियों के विषय में सम्मति प्रकाशन करती हुई प्रतीत होती है, जबकि प्रभुत्व में* शक्ति या सत्ता के आधार पर एक प्रकार का दबाव उन लोगों पर होता है, जो प्रभुत्वशाली व्यक्ति के अधीन होते हैं।"

(2) प्रभुत्व में अनिवार्यता और डर की भावना निहित होती है। मिल-मालिक का प्रभुत्व श्रमिकों पर; सेनाध्यक्ष का प्रभुत्व सैनिकों पर और अफसर का प्रभुत्व क्लर्कों पर होता है। इन सभी प्रकार के प्रभुत्वों में अधीन रहने वाले व्यक्ति के लिये अनिवार्य हो जाता है कि वह प्रभुत्वशाली व्यक्ति के आदेशों व निर्देशों का पालन करे। प्रभुत्वशाली व्यक्ति के हाथ में जो सत्ता या शक्ति है, उसका भी डर उसे रहता है। इसके विपरीत, नेतृत्व में अनुयायियों के स्वेच्छापूर्वक समर्पण का भाव निहित है। यद्यपि ऐसी भी परिस्थितियाँ हो सकती हैं, जबकि नेता बलपूर्वक अथवा अनिवार्य रूप से अनुयायियों पर अपना प्रभाव डाले, फिर भी सदैव ऐसा नहीं होता है, किन्तु, प्रभुत्व में केवल बाध्य होकर ही अनुसरण करना पड़ता है।

3. नेतृत्व में नेता और अनुयायियों का पारस्परिक प्रभाव जिस प्रकार का होता है, वैसा प्रभुत्व की स्थिति में नहीं होता। नेता पर अनुयायियों के व्यवहार तथा प्रतिक्रियाओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है—यहाँ तक कि अनुयायियों पर पूर्ण *नियंत्रण पाने के लिये नेता स्वयं अनुयायियों के नियन्त्रण में चला जाता है,* अर्थात् अपने नेतृत्व को सफल बनाने के लिये, उसकी कीमत के रूप में, उसे अपनी स्वतंत्रता की बलि चढ़ानी पड़ती है, पर प्रभुत्वशाली व्यक्ति दूसरे पक्ष द्वारा अप्रभावित रहते हुए भी अपना प्रभुत्व बनाये रख सकता है, जबकि नेतृत्व में नेता को अनुयायियों के मनोभाव, प्रतिक्रिया एवं इच्छा-अनिच्छा का निरन्तर ध्यान रखना पड़ता है। श्री पिगर (Pigor) ने लिखा है, "नेतृत्व पारस्परिक उत्तेजना (mutual stimulation) की प्रक्रिया है, जबकि प्रभुत्व नियन्त्रण की एक प्रक्रिया है, जिसमें एक व्यक्ति या समूह योग्यता को प्राप्त करके अपनी स्वेच्छा से चुने हुए उद्देश्यों की पूर्ति के लिये दूसरों के व्यवहारों को नियमित करता है।"[8]

4. श्री एण्डरसन (Anderson) ने भी 'प्रभुत्वशील व्यवहार' (dominative behaviour) तथा 'समन्वयात्मक व्यवहार' (integrative behaviour)

क्यों न हो, पर इस प्रकार का कोई भी एक कौशल या क्षमता नहीं हो सकती, जो एक व्यक्ति को सभी प्रकार की परिस्थितियों में और सभी प्रकार के मनुष्यों पर नेतृत्व की क्षमता प्रदान कर सके।[9] राजनैतिक नेता 'सिने-जगत्' में अपने समस्त कौशलों को अर्थहीन पा सकता है, और कलाकारों के नेता के सारे गुण श्रमिक-जगत् में बेकार सिद्ध हो सकते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि उच्च कोटि के नेताओं के व्यक्तित्व में अत्यधिक प्रेरणा-शक्ति, आत्म-विश्वास, बुद्धि आदि कुछ सामान्य गुण (common attributes) सदा ही पाये जाते हैं। इन गुणों के विषय में हम अगले पृष्ठों में चर्चा करेंगे।

नेतृत्व के सामान्य गुण

(Common Attributes or Traits of Leadership)

नेतृत्व के सामान्य गुण क्या हैं, इस विषय पर अनेक मनोवैज्ञानिकों ने अपने-अपने अध्ययन के आधार पर अपने-अपने मत व्यक्त किये हैं। श्री टीड (Tead) ने दस सामान्य गुणों का उल्लेख किया है, जबकि श्री ऑलपोर्ट (Allport) ने अट्ठारह और श्री बरनार्ड (Bernard) ने बत्तीस। इन विभिन्न विद्वानों के निष्कर्षों के आधार पर हम नेतृत्व के निम्नलिखित सामान्य गुणों का वर्णन कर सकते हैं—

1. शारीरिक गुण (Physical Attributes)—विद्वानों का कथन है कि नेता बनने के लिये कुछ शारीरिक गुणों का भी होना परमावश्यक है। ये गुण इस प्रकार हैं—(क) ऊँचाई (height) नेतृत्व का एक गुण बन सकती है। श्री स्टागडिल (Stogdill) के अध्ययन से पता चलता है कि नेताओं की ऊँचाई सामान्य रूप में अधिक होती है। सर्वश्री काल्डवैल (Caldwell) तथा वेलमैन (Wellman) के मतानुसार, ऊँचाई अलग-अलग नेताओं में अलग-अलग हो सकती है। खिलाड़ियों के नेता लम्बे होंगे, जबकि साहित्यिक समूह के नेता की लम्बाई कम भी हो सकती है। श्री गोविन (Gowin) का कहना है कि लम्बाई नेतृत्व का एक महत्वपूर्ण गुण है, क्योंकि लम्बाई व्यक्ति को असाधारणता प्रदान कर देती है, और व्यक्ति दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में सरलता से सफल होता है, पर इस मत से पूर्णतया सहमत होना कठिन है, क्योंकि अनेक प्रसिद्ध नेता कम ऊँचाई के भी हुए हैं। इसका सबसे उत्तम उदाहरण, स्वर्गीय प्रधान मन्त्री श्री लाल बहादुर जी शास्त्री हैं। (ख) वजन (weight) भी नेतृत्व का एक गुण माना गया है। सर्वश्री बेलिंग्रेथ (Bellingreth), गोविन, पेट्रिज (Patridge) आदि के अध्ययन इस ओर संकेत करते हैं कि नेता बड़े और भारी शरीर वाले होते हैं, पर ऐसा नहीं भी हो सकता है। महात्मा गाँधी इसके उदाहरण हैं। (ग) स्फूर्ति एवं स्वास्थ्य (energy and (halth) को सामान्यतः ऊँचाई एवं वजन से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अधिकतर अध्ययन इस मत की पुष्टि करते हैं कि साधारण व्यक्तियों से नेताओं में अधिक स्फूर्ति होती है, और उनका स्वास्थ्य भी अधिकांशतः अच्छा ही होता है।

(2) बुद्धि (Intelligence)—सामान्यतः नेता को अपने अनुयायियों से अधिक बुद्धि वाला होना चाहिए, क्योंकि उसे उनका निर्देशन तथा नियमन दोनों ही करना होता है। लगभग सभी अध्ययनों से पता चलता है कि बुद्धिमान् व्यक्ति ही नेता बन पाते हैं। श्री वेब ने अपने अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि जिन सामूहिक उद्देश्यों की पूर्ति में ज्ञान और मानसिक योग्यता की आवश्यकता पड़ती है, उन क्षेत्रों में बुद्धिमान व्यक्ति ही नेता बनते हैं, पर जहाँ व्यावहारिक व औद्योगिक कार्य होते हैं, उन क्षेत्रों (fields) में बौद्धिक योग्यता नेतृत्व का महत्वपूर्ण आधार

नहीं होती, परन्तु इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि नेता और अनुयायियों की बुद्धि में बहुत अधिक अन्तर नहीं होता। यदि ऐसा होगा तो उनमें पारस्परिक अन्तःक्रियात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पायेगा। श्री होलिंगवर्थ (Holling Worth) ने अपने अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि नेतृत्व की सफलता के लिए नेता और अनुयायियों की बुद्धि-लब्धि में ३० अंकों से अधिक का अन्तर नहीं होना चाहिए।

(3) आत्म-विश्वास (Self-confidence)—आत्म-विश्वास को नेतृत्व का एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण गुण माना जाता है। नेता को जनता के पथ-प्रदर्शक के रूप में कार्य करना पड़ता है, और स्वयं कठिन से कठिन परिस्थितियों के बीच से गुजर कर जनता को निरन्तर प्रोत्साहित करना होता है। यदि नेता में स्वयं ही आत्म-विश्वास की कमी होती है, तो अनुयायी नेता पर विश्वास खो बैठते हैं। सर्वश्री कॉक्स (Cox), ड्रेक (Drake), गिब, आदि विद्वानों ने आत्म-विश्वास और नेतृत्व में घनिष्ठ सम्बन्ध का उल्लेख किया है, क्योंकि जो व्यक्ति आत्म-विश्वास के साथ बोलता और आचरण करता है, उसका दूसरों पर भी प्रभाव शीघ्रता से पड़ता है।

(4) सामाजिकता (Sociability)—श्री गुड एनफ (Good Enough) ने नेतृत्व और सामाजिकता के बीच बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध पाया है। नेता के लिये मिलनसार होना आवश्यक है, क्योंकि इस गुण के बिना वह न तो अपने अनुयायियों के मनोभावों, विचारों, प्रतिक्रियाओं आदि को समझ सकेगा और न आवश्यक रूप से ही अपने व्यवहार का अनुकूलन कर सकेगा। सर्वश्री कैटेल तथा स्टाइस (Cattle-and Stice) के मतानुसार सामाजिकता के आधार पर नेता और अनुयायियों के पारस्परिक सम्बन्ध दृढ होते हैं, और इस प्रकार नेतृत्व का स्थायित्व बढ़ता है। सर्वश्री मूर तथा न्यूकॉम्ब (Moore and Newcomb) का कहना है कि व्यक्ति में जब तक सामाजिकता का गुण नहीं होगा, तब तक न तो वह समाज या जनता की नब्ज पर हाथ रख सकेगा, और न समाज का वास्तविक 'रोग' समझ सकेगा। सफल नेता बनने के लिये ये दोनों ही गुण आवश्यक हैं, जो प्रायः सामाजिकता के आधार पर ही पनपते हैं। इसीलिए सफल और उच्चकोटि के नेता सदैव मित्रता, सहयोग और सामाजिक जमघट पसन्द करते हैं।

(5) संकल्प-शक्ति (Will Power)—नेता को 'अग्नि-परीक्षाएँ' देनी होती हैं। कठिन से कठिन परिस्थितियों में संकल्पच्युत न होना नेता का एक बहुत बड़ा गुण है; और यही गुण उसे अनुयायियों की निगाहों में आदर्श बना देता है। इस मत की पुष्टि सर्वश्री हेनावाल्ट (Hanawalt), हैमिल्टन (Hamilton), मॉरिस (Morris), स्टागडिल (Stogdill), हेनरी (Henry) आदि विद्वानों के अध्ययन से होती है। प्रो० स्टागडिल ने लिखा है कि नेता में निर्णय करने, उत्तरदायित्व सँभालने, आत्म-संयम रखने और प्रौढ़ता और संकल्पशीलता से काम करने के गुण साधारण व्यक्तियों से अधिक होते हैं।

(6) परिश्रमप्रियता—नेता वे ही बन सकते हैं, जो परिश्रम से कभी जी नहीं चुराते। अधिकांश नेता आज इसीलिये नेता हैं, क्योंकि वे अपने को अपने ही परिश्रम द्वारा सुप्रतिष्ठित करने में सफल हुए हैं। दुनिया के अनेक महान् नेता बहुत साधनहीन परिवारों में पैदा हुए, पर वे अपने ही कठोर परिश्रम व लगन के कारण उच्चकोटि के नेता बनने में सफल हुए। आलसी और कामचोर व्यक्ति कभी नेता बना हो, ऐसा उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता।

(7) कल्पना (Imagination)—नेता को अपने कर्त्तव्यों को सफलतापूर्वक निभाने में कल्पना-शक्ति से बहुत सहायता मिलती है। इस शक्ति के आधार पर वह भविष्य की सम्भावित परिस्थितियों के विषय में अन्दाज लगा सकता और उसी के हिसाब से अपने को उनका सामना करने के लिये तैयार कर सकता है। योजना बनाने तथा हल ढूंढने के कार्य में भी कल्पना नेता की मदद करती है।

(8) अन्तर्दृष्टि (Foresight)—अन्तर्दृष्टि भी नेतृत्व का एक आवश्यक गुण है, क्योंकि इसकी सहायता से ही वह अपने अनुयायियों की प्रतिक्रियाओं को सरलता से समझ सकता है, और अपना अनुकूलन उसके साथ कर सकता है। नेता की अन्तर्दृष्टि राष्ट्र के लिये भी हितकर होती है, क्योंकि इसी के बल पर वह भविष्य-वाणी करता, और राष्ट्र को आने वाले खतरों से सचेत करता है। फिर, राष्ट्र के लिये पहले से ही सुरक्षात्मक कदम उठाना सम्भव व सहज हो जाता है।

(9) परिवर्तनशीलता (Flexibility)—रूढ़िवादिता नेता का एक दुर्गुण है। उसके व्यक्तित्व में लचीलापन होना ही चाहिए, ताकि वह नवीन आवश्यकताओं के अनुसार अपने विचारों व आचरणों को बदल सके। नेता का प्रगतिवादी होना जरूरी है। नेता परिवर्तनों का स्वागत करता है, यदि उनसे जनहित की आशा हो तो जिन गतिशील आधुनिक समाजों में सामाजिक परिस्थितियां व आवश्यकताएं तेजी से बदलती रहती हैं, वहाँ नेता के लिये यह गुण और भी आवश्यक हो जाता है।

(10) उद्दीपकता (Surgency)—उद्दीपकता के अन्तर्गत, जैसे बातचीत में कुशलता, स्फूर्ति, तत्परता, स्पष्टता, मौलिकता, प्रसन्नचित्तता, उत्साह आदि व्यक्तित्व के अनेक गुण सम्मिलित किये जाते हैं। अनेक विद्वानों ने अपने-अपने अध्ययनों द्वारा दर्शाने का प्रयत्न किया है कि उद्दीपन और नेतृत्व में बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है।

उपर्युक्त गुण नेतृत्व के सामान्य गुण हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नेता में और दूसरे गुण होते ही नहीं। उसमें विशेष-विशेष परिस्थितियों में अनेक अन्य गुणों का समावेश भी देखा जा सकता है। पर, उपर्युक्त वर्णन से यह न समझना चाहिए कि सभी नेताओं में उपर्युक्त दसों गुण समान रूप या मात्रा में पाये जाते हैं। अवस्था-विशेष के अनुसार इनमें हेरफेर भी हो सकता है। इन सामान्य गुणों में अन्तर्विरोध नहीं होता। ये सभी अथवा अधिकतर गुण किसी भी नेता में विद्यमान हो सकते हैं। पर, स्मरण रहे कि कुछ विशेषताओं या गुणों के आधार पर ही कोई व्यक्ति नेता नहीं बन जाता। नेता तो वह तभी बनता है जब उन विशेषताओं का मेल या अर्थपूर्ण सामंजस्य समाज या समूह के उद्देश्यों, आदर्शों तथा मूल्यों के साथ हो जाता है। विशिष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थिति के सन्दर्भ में ही नेतृत्व को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

नेतृत्व में प्रतिष्ठा का महत्त्व
(Role of Prestige in Leadership)

नेता अपने अनुयायियों की दृष्टि से एक प्रतिष्ठित पद (prestige position) का ही अधिकारी होता है। उसी प्रतिष्ठा के कारण वह अगुवाई रहता, दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता, सुझाव देता, पथ-प्रदर्शन करता, दूसरों के लिये आदर्श का कार्य करता, विचार प्रकट करता या अपनी ओर से ऐसे आदेश देता है, जिनका आदर और पालन किया जाता है। इस अर्थ में नेतृत्व का वास्तविक

की ही कमी है तो नेता कभी सफल नहीं हो सकता। यही बात अन्तर्दृष्टि के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अन्तर्दृष्टि के आधार पर ही नेता अनुयायियों को समझने का प्रयत्न करता है, और उनके साथ अनुकूलन करता है, जिससे उसके नेतृत्व की निरन्तरता बनी रहती है। इतना ही नहीं, प्रत्यक्षीकरण भी एक अन्य मनोवैज्ञानिक कारक है, जो नेता को विभिन्न परिस्थितियों के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष ज्ञान कराता है। सामाजिक समस्याओं से उत्पन्न परिस्थितियों, अनुयायियों के व्यवहार से उत्पन्न परिस्थितियों तथा अन्य विशिष्ट परिस्थितियों के विषय में सार्थक ज्ञान जब तक नेता को न होगा तब तक वह सफलतापूर्वक अपनी स्थिति पर बना नहीं रह सकेगा। यहाँ प्रत्यक्षीकरण से हमारा मतलब किसी भी उत्तेजना या प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में स्पष्ट और पूर्ण ज्ञान से है। इस ज्ञान पर ही नेतृत्व की सफलता आश्रित है। उसी प्रकार प्रेरणा (motivation) भी नेतृत्व में अन्तर्निहित एक मनोवैज्ञानिक कारक है। प्रेरणा ही नेता में प्रयासों का आविर्भाव करती, और उसकी क्रियाओं को एक निश्चित लक्ष्य की ओर निर्देशित करती है। व्यक्तिगत प्रेरकों (motives) में हम जीवन के उद्देश्य (aim of life), आकांक्षा के स्तर (level of aspiration) तथा अभिरुचि व मनोवृत्ति (interest and attitudes) को सम्मिलित करते हैं। इनमें से प्रत्येक का महत्त्व नेतृत्व के विकास पर पड़ता है।

कहना न होगा कि नेता अपने अनुयायियों पर सुझाव, अनुनय, निर्देश तथा कभी-कभी आदेश के आधार पर नियंत्रण करता है। इसके लिये उसे उनके मनोभावों विचारों, अभिरुचियों, आदर्शों तथा मूल्यों आदि वैज्ञानिक तथ्यों का ध्यान रखना पड़ता है। दूसरी ओर, अनुयायी-वर्ग के सदस्य भी सुझाव ग्रहण करते हैं तथा अनुकरण के द्वारा नेता के व्यवहारों को सीखने का प्रयत्न करते हैं। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक कारकों पर ही निर्भर करती है। इस प्रकार सुझाव तथा अनुकरण की प्रक्रियाएँ नेतृत्व में अन्तर्निहित महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक कारक बनती हैं। यह भी देखा गया है कि नेता प्रायः अपने नेतृत्व को केवल उस समय तक कायम रख सकता है, जिस समय तक उसके अनुयायी बिना अधिक आलोचना के उसके सुझाव को स्वीकार करते रह सकते हैं।

नेतृत्व में मनोवैज्ञानिक कारकों का महत्त्व इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि एक व्यक्ति नेता है, क्योंकि उसने अपनी विशिष्ट विशेषताओं या गुणों के आधार पर दूसरे लोगों को मनोवैज्ञानिक तौर पर इस भाँति प्रभावित किया है कि वे उसे उस रूप में ग्रहण करते हैं। यह बात नेता को निम्नलिखित व्यवहारात्मक प्रवृत्तियों (behaviour tendencies) से और भी स्पष्ट हो जायेगी—(1) नेता अपने विचारों और क्रियाओं को जनता के सामान्य संवेगों, भावनाओं तथा मनोवृत्तियों के अनुकूल रखने का प्रयत्न करता है। (2) वह जनता या समूह के सदस्यों में यह विश्वास भरता है कि उसके द्वारा अधिक से अधिक सामाजिक उत्तरदायित्व की रक्षा सम्भव है। (3) वह कुछ आदर्शों को प्रस्तुत करता है; और जो कुछ अनुयायियों के हित का है या उनमें से अधिकांश की दृष्टि में उचित व सत्य है, उसका साथ देता है और उसके लिये लड़ने-मरने को तैयार रहता है। (4) नेता शीघ्र एवं प्रभावपूर्ण ढंग से सहयोग स्थापित करने की कुशलता का प्रदर्शन करता है और लोगों में यह विश्वास भर देता है कि वह वास्तव में सहयोग कर रहा है। (5) वह ईमानदारी पर बल देता है और इसी आधार पर दूसरों से सम्मान प्राप्त करने में सफल होता है। (6) जो सदस्य समूह की क्रियाओं में भाग नहीं लेते या गलत ढंग से भाग लेते हैं,

उनको वह सही रास्ते में लाने का प्रयत्न इस रूप में करता है कि दूसरे लोगों के मन में भी उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो। (7) और, वह दूसरों में यह विश्वास उत्पन्न करता है कि वह उनकी समस्याओं को हल करने में अपना सब कुछ त्याग सकता है—हो सकता है कि इसके लिये उसे अपने परिवार से दूर रहना पड़े, या उसे छोड़ना पड़े, या पिता-माता, पत्नी, सन्तान आदि के प्रति अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना करनी पड़े या जीवन के साधारण सुखों को त्याग कर दुःखों की माला पहननी पड़े। संक्षेप में, जैसा कि सर्वश्री लॉपीयर तथा फार्न्सवर्थ (Lapiere and Farnsworth) ने लिखा है, 'जो व्यक्ति नेता का पद प्राप्त कर लेता है, वह आवश्यक रूप में अनेक कर्त्तव्यों व उपकारों की अवहेलना करता है और जीवन के अनेक "सहज" (simple) सुखों से अपने को वंचित कर लेता है।"[10]

नेता के कार्य
(Functions of Leader)

नेता के पद के साथ बड़े उत्तरदायित्व जुड़े होते हैं; और यदि वह उन उत्तर-दायित्वों को ईमानदारी से निभाता है, तो उसे अनेक प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। नेतृत्व का महत्त्व वास्तव में नेता द्वारा किये गये इन कार्यों में ही निहित है। पर, इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय तथ्य (fact) यह है कि हम किसी भी नेता के कार्यों की विवेचना, उसे उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों से अलग करके नहीं कर सकते। नेता भी समाज-व्यवस्था की एक इकाई है और इसलिये उसकी क्रियाएँ संस्कृति के प्रतिमान (pattern of culture) से सम्बन्धित होती हैं। संस्कृति जनता के आदर्शों, मूल्यों, विचारों तथा परम्पराओं को एक निश्चित स्वरूप प्रदान करती है और नेता को कोई भी कार्य करते समय इन सभी बातों का पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता है। यदि नेता इनके विरुद्ध काम करता है तो उसका नेतृत्व खतरे में पड़ जाता है। इसीलिये यह कहा गया है कि "जन-समूह संस्कृति को वहन करता है, और उसी में नेतृत्व के विशिष्ट कार्य निहित होते हैं" (The masses carry the culture within which the special functions of leadership rest)। इस कथन का तात्पर्य यही है कि नेता जो विशिष्ट (special) कार्य करता है, वे सभी उस समाज की सांस्कृतिक व्यवस्था या परिस्थितियों से सम्बन्धित होते हैं। फिर भी सभी संस्कृतियों में नेता के कुछ सामान्य कार्य भी होते हैं। उन कार्यों की विवेचना हम यहीं कर सकते हैं। पर, इससे भी पहले यह जान लेना आवश्यक है कि नेता कहते किसे हैं?

साधारणतः यह सोचा जाता है कि नेता वह व्यक्ति है, जो एक निश्चित पद पर आसीन है और जो उस रूप में कार्य करता है। सर्वश्री शार्टल (Shartle) तथा स्टॉगडिल (Stogdill) ने लिखा है कि नेता वह व्यक्ति है, जो एक ऐसे पद (position) पर आसीन है जिसके सम्बन्ध में यह सोचा जाता है कि नेतृत्व की क्षमता रखने वाले व्यक्ति ही वहाँ ठीक रहेंगे। इसके विपरीत, श्री रेडिल (Redle) का मत है कि नेता वह व्यक्ति होता है, जिसके ऊपर समूह के सदस्यों का व्यवहार केन्द्रित रहता है। आपने नेता को ऐसा 'केन्द्रीय व्यक्ति' (central person) कहा है, जिसे समूह के सदस्यों का प्रेम, श्रद्धा आदि प्राप्त होती है। नेता की एक अन्य परिभाषा इस प्रकार है—"नेता समूह का वह सदस्य है, जो अपने सहयोगियों (colleagues) द्वारा उस रूप में चुना जाता है।" इसी प्रकार कुछ विद्वानों के मतानुसार "नेता समूह

का वह सदस्य है, जो अपने अनुयायियों पर सबसे अधिक प्रभाव डालता है।" इन समस्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि नेता अपने समूह के अन्य सदस्यों के बीच एक उच्च पद को प्राप्त होता है, सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है, और कुछ निश्चित उत्तरदायित्वों को निभाते हुए दूसरों के व्यवहारों को निर्देशित व नियंत्रित करता है। वह अपने गुणों और कार्यों के कारण ही उस पद में सम्मान प्राप्त करता है। नेता के प्रमुख कार्य निम्नलिखित माने गये हैं —

(1) प्रबन्धकारी कार्य करना (Executive Functions)—नेता को प्रबन्धकर्ता के रूप में महत्वपूर्ण कार्य करने पड़ते हैं। वह समूह के सदस्यों की क्रियाओं में सहसम्बन्ध स्थापित करता है, ताकि समूह के उद्देश्यों की अधिकतम पूर्ति हो। समूह के नियम, नीति, आदर्श व परम्परा, चाहे नेता द्वारा निर्धारित हों या किसी और के द्वारा, इन सब को कार्यान्वित कराने का उत्तरदायित्व वास्तव में नेता पर ही होता है। यह बिल्कुल आवश्यक नहीं कि हर कार्य नेता स्वयं ही करे। वह पूरे कार्यों का उचित विभाजन अन्य लोगों के बीच भी कर सकता है। इसमें केवल नेता ही नहीं, अनुयायी भी सदैव सक्रिय रहते हैं। इसका एक और परिणाम यह होता है कि अनुयायियों में पारस्परिक सम्बन्ध बना रहता है, तथा उनके और नेता के बीच का सम्बन्ध घनिष्ठ होता है, क्योंकि उनके बीच प्रकार्यात्मक सम्बन्ध (functional relationship) पनप जाते हैं।

(2) योजना बनाना (Formation of Plans)—कोई भी व्यक्ति जिस समूह का नेता होता है, उसके कुछ उद्देश्य होते हैं। उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये विस्तृत योजना बनाना भी नेता का ही एक महत्वपूर्ण कार्य है। वही यह निर्णय लेता है कि समूह के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये कौन-कौन से रास्ते अपनाये जायें। उसे यह भी ध्यान में रखना पड़ता है कि ये रास्ते या साधन व्यावहारिक और समूह की कार्यक्षमता की सीमाओं के अन्दर के हैं या नहीं? वह प्रायः दो प्रकार की योजनायें बनाता है—तात्कालिक योजनायें और दीर्घकालीन योजनायें। जो समूह की तात्कालिक आवश्यकतायें हैं, उनकी पूर्ति तात्कालिक योजनायें बनाकर की जाती है, जब कि समूह के स्थायी विकास व कल्याण के लिये कुछ दीर्घकालीन योजनाओं की आवश्यकता होती है।

(3) नीति का निर्धारण करना (Policy Making)—नेता का सबसे महत्वपूर्ण कार्य समूह के आदर्श, उद्देश्य और नीति निश्चित करता है। वह स्वयं नीतियाँ निर्धारित कर सकता, उन्हें किसी अन्य स्रोत से प्राप्त कर सकता, या अपने से ऊपर के किसी नेता के निर्देशानुसार निश्चित कर सकता है। उदाहरणार्थ, उत्तर प्रदेश काँग्रेस के सभापति अखिल-भारतीय-काँग्रेस अध्यक्ष से निर्देश प्राप्त करके उसी के अनुसार नीति का निर्धारण कर सकते हैं। पर, नेता का महत्व तो तभी अधिक बढ़ता है, जबकि वह स्वयं ही नीति-निर्धारण करता है। केवल नीति का निर्धारण ही नहीं, वरन् उसे लागू करने का उत्तरदायित्व भी उसे स्वयं ही अपने ऊपर लेना पड़ता है। वह नीति को लागू करने के बाद उसके प्रति अनुयायियों की प्रतिक्रियायें बहुत ध्यान से देखता है, और यदि प्रतिक्रियाएँ अत्यधिक प्रतिकूल हुईं तो नीति में आवश्यक संशोधन भी स्वयं ही करता है।

(4) विशेषज्ञ के रूप में कार्य करना (To Act as an Expert)—अपने समूह से सम्बन्धित समस्त विषयों तथा कार्यों के मामले में नेता को सभी लोग विशेषज्ञ मानते हैं—विशेषकर नीति या योजना को क्रियान्वित करने के सम्बन्ध में

जो भी अड़चनें (technical difficulties) सामने आती हैं, उन्हें दूर करना नेता का ही महत्वपूर्ण कार्य है। नेता बहुधा समूह के सदस्यों के लिये तैयार सूचना और तैयार हल (ready made solution) का स्रोत होता है, और इस उत्तरदायित्व को उसे ईमानदारी से निभाना होता है। इसी के आधार पर नेता पर अनुयायियों की श्रद्धा व विश्वास उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है।

(5) समूह का प्रतिनिधित्व करना—कोई भी समूह समाज के अन्य समूहों से पृथक् नहीं रह सकता। इनमें आपस में एक अन्तःसम्बन्ध किसी न किसी रूप में अवश्य ही होता है। अपने समूह का दूसरे समूहों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य भी नेता को ही करना पड़ता है, क्योंकि समूहों के सदस्यों के लिए आपस में सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव नहीं होता। इस कारण बाह्य समूहों (out groups) व सदस्यों से मिलते समय या विचार-विनिमय करते समय नेता ही पूरे समूह का प्रतिनिधित्व करता है। यह भी हो सकता है कि समूह-विशेष की अपनी कुछ माँगें हों, जिनकी पूर्ति उच्चाधिकारियों द्वारा ही की जा सकती हो। उस अवस्था में नेता ही समूह की माँगों को उच्चाधिकारियों के सम्मुख प्रस्तुत करता है और समूह का प्रतिनिधित्व करते हुए उन माँगों के औचित्य के सम्बन्ध में अपने विचार सामने रखता है। श्री लेविन (Levin) ने नेता को समूह का 'द्वार-रक्षक' (gate-keeper) कहा है, यानी नेता समूह के स्वार्थों की रक्षा करते हुए बाहर की सूचना भीतर और भीतर की सूचना बाहर तक पहुँचाता है।

(6) आन्तरिक सम्बन्धों का नियंत्रण करना (Controlling of Internal Relations)—नेता का महत्वपूर्ण कार्य यह भी है कि वह अपने समूह के सदस्यों के व्यवहारों को नियंत्रित करे। वह इस बात का ध्यान रखता है कि समूह के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का ताना-बाना टूटने न पाये। साथ ही, वह यह प्रयत्न भी करता है कि उसका समूह प्रगति करे और सदस्यों के बीच सहयोग और सद्भावना बनी रहे। अपने इस कर्तव्य को निभाने के लिये उसके लिये यह जरूरी हो जाता है कि वह अपने समूह के सदस्यों के साथ अधिकाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखे। इसीलिए मेल-मिलाप की प्रवृत्ति को नेता का आवश्यक गुण माना जाता है।

(7) पुरस्कार और दण्ड की व्यवस्था करना (To Arrange for Reward and Punishment)—समूह के सदस्यों की दृष्टि में नेता का महत्त्व इस कारण भी होता है कि उसे पुरस्कार तथा दण्ड देने की शक्ति भी प्राप्त होती है। समूह उन लोगों को पुरस्कार देता है जो कि समूह के हित में सराहनीय कार्य करते हैं। इस प्रकार वह दूसरों को भी समूह के कल्याण के लिये कार्य करने की प्रेरणा देता है। दूसरी ओर, जो लोग समूह के स्थापित नियमों का उल्लंघन करते या समूह के सामान्य हित को चोट पहुँचाते हैं, उन्हें नेता दण्ड देने की व्यवस्था करता है। इस दण्ड और पुरस्कार की किसी भी पद्धति को नेता अपने निर्णय के अनुसार अपना सकता है—जैसे कर्तव्यों का प्रशंसनीय पालन करने पर एक सदस्य को पद-सोपान में उच्च पद प्रदान करना, अथवा समूह में विशेष रूप से प्रतिष्ठित करना। इसके विपरीत, कर्तव्यों का पालन न करने पर सदस्य को पदच्युत करना, अथवा अपमानित करना, आदि।

(8) पंच एवं मध्यस्थ के रूप में कार्य करना (To Act as Arbitrator and Mediator)—समूह के अन्दर सदस्यों में संघर्ष या तनाव की स्थिति पैदा हो जाने पर नेता पंच एवं मध्यस्थ का कार्य करता है। संघर्ष के समय में वह न केवल

एक निष्पक्ष न्यायाधीश का कार्य करता है, बल्कि समूह के सदस्यों में अच्छे सम्बन्धों को फिर से स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इस दृष्टि से नेता समूह के भीतर ही शक्ति व अन्य किसी आधार पर पनपने वाली गुटबन्दी, या ऐसी किसी अन्य प्रवृत्ति को पनपने नहीं देता, जिससे समूह के संगठन में दरार पड़ने की सम्भावना हो।

(9) आदर्श बनना (To place Himself as an Exemplar)—अनुयायियों के इस विश्वास को कि नेता एक आदर्श पुरुष होता है, बनाये रखने का प्रयत्न करना भी नेता का ही एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसके लिये नेता सदस्यों के सम्मुख आदर्श व्यवहार करता है, और सर्वोच्च चाल-चलन, चरित्र एवं लक्ष्यों के आदर्श प्रस्तुत करता है। नेता के व्यवहार को देखकर ही वैसा ही व्यवहार करने की प्रेरणा अन्य सदस्य पाते हैं। और सेनापति के लिये ही यह सम्भव होता है कि वह अपने सैनिकों को वीरता के परम निदर्शनों को प्रस्तुत करने को प्रेरित कर सके। नेता का अपने को आदर्श रूप में पेश करना, अनुयायियों तथा समाज, दोनों के लिये ही कल्याणकारी सिद्ध होता है।

(10) समूह का प्रतीक बनना (To Act as a Symbol of the Group)—नेता का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी है कि उसे समूह का प्रतीक बनना पड़ता है। इसका तात्पर्य यह है कि नेता के आचरण, व्यवहार आदि को देखकर दूसरे लोग उसके अपने समूह की प्रकृति के बारे में स्पष्ट धारणा बना सकते हैं। समूह की आधारभूत विशेषताओं का मूर्तिमान रूप नेता ही होता है। इसीलिए विभिन्न सदस्यों के बदल जाने पर भी समूह की उन आधारभूत विशेषताओं को नेता ही स्थिरता प्रदान करता है।

11 समूह के पथ-प्रदर्शक के रूप में कार्य करना (To Act as a Guide of the Group)—नेता का एक और महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह समूह के सदस्यों को निरन्तर राह दिखलाता है। वह प्रत्येक संकटकालीन परिस्थिति में अपने अनुयायियों के साथ रहता है, प्रत्येक अन्धकार-भरे पथ पर उनको अपने अनुभव तथा ज्ञान का दीपक दिखाता है, और प्रत्येक रचनात्मक कार्य में उनका शिक्षक बनता है। आधुनिक जटिल समाजों में नेता का यह कार्य शास्त्र में उल्लेखनीय है, क्योंकि इन समाजों में समस्याएँ अत्यधिक जटिल, परिस्थितियाँ अत्यधिक अनिश्चित तथा समाज-व्यवस्था अत्यधिक परिवर्तनशील होती है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति स्वयं कुछ भी निर्णय नहीं कर पाता। ऐसे मौके पर नेता का पथ-प्रदर्शन का कार्य और भी महत्त्वपूर्ण हो उठता है।

12. पिता का स्थान ग्रहण करना (To Act as a Father)—समूह के सदस्यों की संवेगात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नेता को उनके लिये पिता का स्थान ग्रहण करना पड़ता है। सदस्यों के स्नेह, श्रद्धा, आदर, आत्मीयता तथा अन्य संवेगात्मक भावनाएँ नेता के ही चारों ओर केन्द्रित हो जाती हैं। अनुयायियों के लिये नेता पिता-तुल्य हो जाता है। पिता की भाँति ही नेता के आदेश का भी प्रभाव सदस्यों पर पड़ता है और उसके साथ विनयपूर्वक व्यवहार करते हैं। दूसरी ओर नेता को भी पिता की भाँति ही अपनी भूमिका अदा करनी पड़ती है—वह उन्हें स्नेह करता है, सुरक्षा प्रदान करता है, मार्ग दिखलाता है, सान्त्वना देता है, प्रेरणा प्रदान करता है, और उनके दुःख-दर्द का साझीदार बनता है। वह अपने अनुयायियों के यदि सुख का साथी है, तो दुःख का हिस्सेदार भी—वह उनसे सम्मान व

पड़ता लेता है, तो बदले मे देता भी बहुत कुछ है। लेकर देना और देकर जीना ही नेता के जीवन का आधार है।

नेतृत्व के प्रकार
(Types of Leadership)

नेतृत्व के अनेक प्रकार हैं। इसका कारण यह है कि नेतृत्व में नेता की उत्पत्ति, उसके व्यवहार तथा नेता व अनुयायियों के बीच के सम्बन्ध के अनेक सम्भावित रूप निहित हो सकते हैं; और बिलकुल उसी क्रम से नेताओं के प्रकारों में भी अन्तर देखने को मिलते हैं। इस सत्य को कुछ उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। वैसे नेता व अनुयायियों के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर नेतृत्व मुख्यत: चार प्रकार का माना गया है—(1) हृदयग्राही नेतृत्व (persuasive leadership), (2) प्रभुत्वशाली नेतृत्व (dominant leadership), (3) संस्थागत नेतृत्व (institutional leadership) तथा (4) विशेषज्ञों का नेतृत्व (leadership of the experts)। उसी प्रकार नेता की मान्यता के आधार पर नेतृत्व के भी तीन प्रमुख प्रकारों का उल्लेख किया जा सकता है—(अ) स्वत:नियुक्त (self-appointed); (ब) समूह-नियुक्त (group-appointed) तथा (स) कार्यकारिणी द्वारा नियुक्त (executive appointed)। समूह की रुचियों के आधार पर भी नेतृत्व के तीन मुख्य प्रकार हो सकते हैं—(क) बौद्धिक (intellectual); (ख) कलात्मक (artistic); और (ग) प्रबन्धकारी (executive)। इसके अतिरिक्त अनुयायियों को प्रभावित करने की विधि के आधार पर भी नेतृत्व के दो मुख्य प्रकार किये जाते हैं—पहला, प्रजातन्त्रात्मक (democratic) और दूसरा निरंकुश (authoritarian)।

इसी प्रकार विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से नेतृत्व के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ, श्री मार्टिन कानवे (Martin Conway) ने नेतृत्व के चार प्रकारों का उल्लेख किया है, जबकि श्री बार्टलेट ने तीन, श्री यंग ने सात, और श्री बोगार्डस ने नेतृत्व को पाँच श्रेणियों में रखते हुये १४ प्रकार के नेतृत्वों की चर्चा की है। नेतृत्व के प्रकारों के विषय में कुछ और स्पष्ट ज्ञान करने के लिए हम इन विद्वानों में से अन्तिम दो विद्वानों द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण की विवेचना कर रहे हैं।

किम्बल यंग का 'नेतृत्व का' वर्गीकरण
(Young's Classification of Leadership)

नेता पर उसके व्यक्तित्व का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है, और वह अपनी रुचि, मनोवृत्ति एवं विश्वासों के आधार पर ही कार्य करता है। इस व्यक्तित्व का सामाजिक कार्य से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। श्री यंग ने अपना वर्गीकरण इसी आधार पर किया है। उनके अनुसार नेता के निम्नलिखित सात प्रकार होते हैं—

(1) राजनैतिक नेता (Bolitical Boss)—प्रत्येक राजनैतिक पार्टी में कुछ नेता होते हैं। ये नेता दल का संगठन करते हैं और यह देखते हैं कि दल का काम ठीक ढंग से चल रहा है या नहीं। राजनैतिक क्षेत्र में तनाव तथा सत्ता के लिये संघर्ष बहुत बड़ी मात्रा में देखने को मिलता है। अत: इस क्षेत्र में वे ही व्यक्ति नेता बन सकते हैं, जो इन परिस्थितियों का डटकर सामना करने की क्षमता व कुशलता रखते हैं। इस प्रकार के नेता सत्ता चाहने वाले होते हैं, संघर्ष व गुटबन्दी करने में माहिर

होते हैं, तथा दूसरों के द्वारा विरोध किये जाने पर भी अपनी नेतागीरी को बनाये रखने की कला अच्छी तरह जानते हैं।

(2) प्रजातन्त्रात्मक नेता (The Democratic Leader)—ऐसा नेता समझौता करवाने वाला होता है, और राजनैतिक दल से अपने को अधिक सम्बन्धित नहीं रखता। उसमें सहानुभूति दूसरों को समझने की योग्यता और उनमें समन्वय लाने की कुशलता होती है। वह अपने निर्णयों को दूसरों पर थोपता नहीं। आदमी सहनशील व प्रगतिवादी होता है, और परिवर्तनों का स्वागत करता है।

(3) नौकरशाही नेता (The Bureaucrates)—नौकरशाही नेता वह व्यक्ति होता है, जो सरकार चलाता है। ऐसे लोग लकीर के फकीर होते हैं। वे निश्चित नियमों और निर्धारित कानूनों के अनुसार यंत्रवत् कार्य करते रहते हैं, अपने विभाग के काम को खूब समझते हैं और उनमें कुशलता, बुद्धि तथा अनुराग का परिचय देते हैं। किन्तु वे निर्णय स्वयं लेना पसन्द नहीं करते—इसके लिए वे कुछ तो निर्भर रहते हैं नियमों व कानूनों पर, और अधिकांशतः निर्भर रहते है अपने ऊपर के अधिकारियों पर। इसीलिए वे अपने अफसरों तथा राजनैतिक नेताओं की जी भर चापलूसी करते हैं। वे शक्ति तो चाहते हैं, पर बिना किसी खतरे के चाहते हैं।

(4) कूटनीतिज्ञ (The Diplomat)—कूटनीतिज्ञ सरकार के प्रतिनिधि के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्य करते हैं। इन्हें 'सत्ता का प्रतिनिधि' (agent of authority) भी कहा जाता है। इसलिए जिस सरकार या संस्था का वह प्रति-निधित्व करता है, उसके द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार ही कूटनीतिज्ञ काम करता है। उसके समक्ष एक विशिष्ट उद्देश्य होता है। वह उसको प्राप्त करने के लिए ठण्डे दिमाग से काम करता है और वांछित उद्देश्य की ओर ले जाने वाली किसी भी योजना पर कार्य करता है। वह अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफलता पाने के लिये दोहरी नीति भी अपना सकता है। वह अपने शब्दों का बड़ी कुशलता से प्रयोग करता है, और अपना उद्देश्य शब्दों के पीछे छिपाकर रखता है। एक प्रसिद्ध समालोचक ने उचित ही कहा है, "जब एक कूटनीतिज्ञ "हाँ" कहता है तो उसका मतलब "शायद" होता है; और, जब वह "शायद" (perhaps) कहता है तो उसका मतलब "ना" (no) होता है। पर, अगर वह स्पष्ट "ना" कहता है तो समझो कि वह कूटनीतिज्ञ ही नहीं है।"[1]

(5) सुधारक (The Reformer)—सुधारक आदर्शवादी होता है। वर्तमान व्यवस्था और संसार में उसे अनेक दोष दिखाई पड़ते हैं, और वह इन दोषों को दूर करने और एक नये संसार का निर्माण करने का स्वप्न देखता रहता है। वह व्यावहारिक नहीं होता। उसमें संवेगों का आधिक्य होता है, इसीलिए वह सोचता है कि सभी कुछ सम्भव है। ऐसा व्यक्ति भावुक होता है।

(6) आन्दोलक (The Agitator)—आन्दोलक कट्टर सुधारक होता है। अपने आधारभूत उद्देश्यों या सिद्धान्तों के सम्बन्ध में वह बहुत ज्यादा उत्तेजित हो जाता है, और उस उत्तेजना को दूसरों तक भी संचारित करना चाहता है। वह हिंसा में विश्वास करता है, और उसका प्रयोग अपने उद्देश्यों की प्रगति की दिशा में कर सकता है। क्रान्ति में भी उसकी बड़ी आस्था होती है। वर्तमान संस्थाओं में उसे कोई भरोसा नहीं होता, वह उन्हें तुरन्त बदलने या समाप्त करने के पक्ष में होता है। वह समझौता करना नहीं जानता। उसमें सहनशीलता नहीं होती, और इसीलिए वह अपने विचारों के आगे दूसरों के विचारों को तुच्छ समझता है।

(7) सिद्धान्तवादी (The Theorist)—सिद्धान्तवादी तर्क में अत्यधिक आस्था रखता है। वह तर्क के संसार मे ही रहता है, और अपने विचारो को सदैव तर्क पर आधारित करता है वह अव्यावहारिक होता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध सिद्धान्तो से होता है। वह दूसरों को अपने विचारों को मानने के लिये बाध्य नही करता और न कभी इस बात की चेष्टा करता है कि उसके विचारो को व्यावहारिक तौर पर अपनाया जाय।

बोगार्डस का वर्गीकरण
(Classification of Bogardus)

श्री बोगार्डस ने नेतृत्व का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया है—

(1) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नेतृत्व (Direct and Indirect Leadership)—प्रत्यक्ष नेतृत्व वह है जिसमें कि नेता अपने समूह के सभी सदस्यों से प्रत्यक्ष सम्पर्क रखता है। इसीलिए वह उनकी समस्याओं व आवश्यकताओं को अच्छी तरह समझता है, और उन्हे दूर करने या हल करने का प्रयास करता है। वह मौलिक शब्दो द्वारा समूह पर नियंत्रण करता है। समूह के व्यक्ति उसको देख सकते, सुन सकते और उससे अपनी बात कह सकते हैं। प्रत्यक्ष नेता अपने वाक्-चातुर्य से लोगो के हृदय पर अधिकार करने का प्रयत्न करता है। इसीलिए वह एक ही समय मे समर्थन या विरोध दोनो ही प्राप्त कर सकता है।

अप्रत्यक्ष नेतृत्व वह है जिसमे नेता का सम्पर्क समूह के सदस्यो के साथ प्रत्यक्षतः नही होता। इस प्रकार के नेता व्यक्तियो के कार्यों और विचारों को अप्रत्यक्ष ढंग से अपने आविष्कारों, खोजों या अन्य मौलिक विचारो द्वारा प्रभावित करते है। श्री एडिसन (Thomas A. Edison) इसी प्रकार के नेता थे।

(2) सपक्षीय और वैज्ञानिक नेतृत्व (Partisan and Scientific Leadership)—सपक्षीय नेतृत्व वह है, जिसमे नेता अपने समूह के पक्ष में कार्य करता है। इस प्रकार के नेता का गुण यह होता है कि वह अपने समूह के प्रशंसाजनक और अच्छे पहलुओ को ही दूसरे समूहो के सम्मुख प्रस्तुत करता है, और बुरे पहलुओं को छिपा जाता है। उसका प्रयत्न यही रहता है कि उसका समूह दूसरे समूहो की तुलना मे सबसे अच्छा समझा जाय। राजनैतिक नेता सपक्षीय नेता ही होते है, क्योंकि वे जनता के सामने अपनी पार्टी के गुणों को ही प्रस्तुत करते हैं।

वैज्ञानिक नेतृत्व सपक्षीय नेतृत्व का विपरीत रूप है। इस प्रकार के नेतृत्व में नेता सत्य में विश्वास करता, और सत्य की खोज मे ही लगा रहता है। वह अपने समूह की अच्छाई और बुराई दोनो का ही मूल्यांकन करता है। तथ्य चाहे सत्य हो या असत्य, वह दोनों को प्रकाश में लाता है, 'सत्य की खोज करो, चाहे वह स्वर्ग हो या नर्क—वैज्ञानिक नेता का यही मूलमंत्र होता है। वैज्ञानिक नेता न तो समाज-सुधारक होता है और न ही सत्ताधारी। विज्ञान के क्षेत्र मे उसकी अपनी अनुपम देन होती है, और इसी कारण वह नेता की स्थिति को प्राप्त करता है।

(3) सामाजिक, अधिशासी व मानसिक नेतृत्व (Social, Executive and Mental Leadership)—सामाजिक नेतृत्व में नेता समूह के लिये सामाजिक एवं सार्वजनिक कार्य करता है। सामाजिक नेतृत्व मे प्रायः प्रत्यक्ष सम्पर्क पाया जाता

है, और सामाजिक समस्याएँ तथा उनका निराकरण इसका अपना क्षेत्र होता है। समाज-सेवा के गुणों के कारण ही इस क्षेत्र का नेता जनप्रिय होता है।

मानसिक नेतृत्व में नेता अच्छे से अच्छे कार्य करने के लिये एकाकी और शान्तिपूर्ण वातावरण की माँग करता है। वह अपने विचारों द्वारा दूसरों के मस्तिष्क पर अधिकार करता, और फिर उसी के अनुसार उनकी क्रियाओं तथा विचारों में परिवर्तन लाता है। इस प्रकार के नेताओं के विचारों का प्रभाव लोगों पर सदा ही पड़ता है, क्योंकि उन विचारों द्वारा उनकी किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति होती है।

प्रबन्धक या अधिशासी नेतृत्व में नेता के व्यक्तित्व में सामाजिक और मानसिक, दोनों प्रकार के नेताओं के गुणों का समावेश होता है। उसमें समाज-सेवा की भावना होती है, और वह अच्छे विचारों को भी प्रस्तुत कर सकता है। इसके अतिरिक्त अधिशासी नेता में शासन-प्रबन्ध-सम्बन्धी योग्यता का होना भी परम आवश्यक है।

(4) पैगम्बर, सन्त, विशेषज्ञ व मालिक (Prophets, Saints, Experts and Boss)—पैगम्बर ऐसा नेता होता है, जिसका विषय-क्षेत्र आध्यात्मिकता है, जो ईश्वर या किसी अलौकिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है, और लोगों में यह विश्वास उत्पन्न करता है कि उस शक्ति की सारी शक्ति उसमें आ गई है। व्यक्ति उसकी इस प्रकार की अलौकिक शक्ति को देखकर प्रभावित हो जाते, और उसके अनुयायी बन जाते हैं। पैगम्बर ईश्वर का दूत होता है, और लोग उसे ईश्वर की भाँति ही मानते हैं।

सन्त ईश्वर के सच्चे भक्त होते हैं, और अपने पवित्र जीवन-आदर्श द्वारा लोगों को प्रभावित करते हैं। उनमें कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं, जो साधारण व्यक्तियों में नहीं पाई जातीं।

विशेषज्ञ वह है जो कि किसी विशिष्ट विषय के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान रखता है। वह किसी विशेष कार्य, कला या कौशल में दक्ष होता है, और उससे सम्बन्धित अपने अनुभवों तथा ज्ञान के आधार पर दूसरों को प्रभावित करता है। उसमें उच्च-कोटि का विशेषीकरण होता है, और वह अपने प्रतिस्पर्धियों (competitors) से उस क्षेत्र में अधिक कुशल होता है। वह अपने क्षेत्र में सर्वोच्च होता है।

मालिक एक ऐसा नेता होता है जो अपनी चतुराई के कारण दूसरे व्यक्तियों के विचारों को अपनी ओर खींच लेता है। इस प्रकार का नेता सपक्षीय एवं निरंकुश हो सकता है। नेताओं की इस श्रेणी में कारखानों, फैक्ट्रियों या दफ्तरों के बड़े अफसर या मालिक, और देश के सत्ताधारी राजनीतिज्ञ आते हैं।

(5) स्वेच्छाचारी, करिश्माई, पैतृक तथा प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व (Autocratic, Charismatic, Paternal and Democratic Leadership)—स्वेच्छाचारी नेता मनमाने ढंग से शासन करता है, और जनता की इच्छा-अनिच्छा को कोई महत्व नहीं देता। इस प्रकार के नेता के हाथ में शासन-सत्ता होती है, और उसी के बल पर वह स्वेच्छापूर्वक कार्य करता है। उसे कभी चिन्ता नहीं होती कि किसी को लाभ होता है, अथवा हानि।

करिश्माई नेता का नेतृत्व न तो किसी विधि-विधान पर, और न ही परम्परा पर, बल्कि कुछ करिश्मों या चमत्कारों पर आधारित होता है। जिन व्यक्तियों में कोई विलक्षणता, करामात या चमत्कार दिखाने की वास्तविक या काल्पनिक शक्ति होती है, वे इस प्रकार के नेतृत्व के अधिकारी होते हैं। ऐसे नेतृत्व को प्राप्त करने में किसी भी व्यक्ति को काफी समय लग जाता ; और पर्याप्त साधना, प्रयत्न और कभी-प्रचार के बाद ही उसका नेतृत्व लोगों द्वारा स्वीकृत होता है। करिश्माई के नेता अपने प्रति या अपने लक्ष्य या आदर्श के प्रति निष्ठा के नाम पर, आज्ञापालन तादावा करता है। जादूगर, पीर, धार्मिक नेता, सैनिक, योद्धा आदि इसी प्रकार का ता होते हैं। ऐसे व्यक्तियों के नेतृत्व को लोग स्वीकार करते हैं, क्योंकि इनमें कुछ अद्वितीय, विलक्षण और असाधारण गुण पाये जाते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में इन गुणों के लिये स्वभावतः श्रद्धा का भाव होता है, और इन्हें बहुधा दैवी या ईश्वरीय गुणों के समान या उनके अंश के रूप में ही माना जाता है। इस कारण ऐसे नेता की आज्ञा का पालन श्रद्धा-भक्ति के साथ किया जाता है। दूसरी ओर, चमत्कारी नेता को चमत्कार द्वारा अपनी विलक्षणशक्ति का प्रदर्शन करना पड़ता है, या युद्ध में विजय या अन्य दूसरी अपूर्व सफलताओं द्वारा दूसरे लोगों के हृदय में यह विश्वास दृढ़ करना पड़ता है कि उसमें वास्तव में कोई न कोई अद्भुत शक्ति है। इस प्रकार का नेतृत्व मूलतः अस्थायी होता है, क्योंकि ऐसा नेता ज्योंही अपनी विलक्षण शक्ति का प्रभावपूर्ण प्रदर्शन करने में असफल होता है, त्योंही उसका पतन आरम्भ हो जाता है।

पैतृक नेतृत्व में नेता अपने अनुयायियों के लिये पिता-तुल्य होता है, और उसका सम्बन्ध समूह के सदस्यों से अत्यधिक घनिष्ठ होता है। लोगों के हृदय में इस प्रकार के नेता के प्रति अपूर्व श्रद्धा व आदर का भाव होता है। नेता भी सदा जन-कल्याण के लिये ही प्रयत्नशील रहता है।

प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व स्वेच्छाचारी या निरंकुश नेतृत्व के विपरीत होता है। इस प्रकार के नेतृत्व में नेता समूह के विचारों, सुख-सुविधाओं, भावनाओं आदि के प्रति सदा जागरूक रहता है, और अपने विचारों को उन पर जबरदस्ती कभी नहीं थोपता। वह तो सबका, सबके द्वारा और सबके लिये होता है। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी।

निरंकुश तथा प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व में अन्तर

(Distinction between Authoritarian and Democratic Leadership)

निरंकुश नेतृत्व में, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, नेता स्वेच्छाचारी होता है और अपनी इच्छानुसार प्रत्येक काम को करने के लिये अधिकतर सत्ता व प्रभुत्व अपने पास रखता है। जनता की भावनाओं, सुख-सुविधाओं या समस्याओं का उसके लिये कोई भी मूल्य नहीं होता। निरंकुश नेता तो केवल आदेश देना जानता है, और अनुयायियों को केवल 'आदेश के दास' के रूप में देखना चाहता है। 'सर्वश्री क्रेच और क्रचफील्ड (Krech and Crutchfield) ने निरंकुश नेतृत्व की कुछ आधारभूत विशेषताओं का वर्णन करते हुए लिखा है—"निरंकुश नेता प्रजातन्त्रात्मक नेता की अपेक्षा अत्यधिक निरंकुश शक्ति रखता है, और वह स्वयं समूह की सारी नीतियों का निर्धारण करता है। वही प्रमुख योजनाओं को बनाता है। वह, अकेला ही

(9) निरंकुश नेतृत्व में नेता अपना महत्व इतना बढ़ा देता है कि समूह के सदस्य उस पर एकदम निर्भर हो जाते हैं, और उसके अभाव में सम्पूर्ण समूह-संरचना छिन्न-भिन्न हो जाती है। इसके विपरीत, प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व में नेता की अनुपस्थिति में भी समूह का काम ठीक ढंग से ही चलता रहता है, क्योंकि वह अधिकार और पद अनेक व्यक्तियों के बीच इस तरह बाँट कर रखता है कि वे भी आवश्यकता पड़ने पर कार्यभार सँभाल सकते हैं।

अन्त में हम सर्वश्री क्रेच और क्रचफील्ड के इस मत से सहमत हैं कि निरंकुश नेतृत्वों और प्रजातन्त्रात्मक नेतृत्व, दो सर्वथा भिन्न प्रकार के नेतृत्वों का बोध कराते हैं; फिर भी इनको एक-दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता। ऐसा हो सकता है कि कुछ विषयों में प्रजातन्त्रात्मक नेता का व्यवहार भी निरंकुश शासक की भाँति हो, और निरंकुश शासक भी कुछ मामलों में प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों से प्रभावित हो। साथ ही, इन दो प्रकार के नेतृत्वों के स्वरूप में विभिन्न संस्कृतियों में भी हेर-फेर हो सकता है, क्योंकि नेतृत्व का सम्बन्ध सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों से भी घनिष्ठ ही होता है।

नेतृत्व की उत्पत्ति : नेता जन्मजात होते हैं या बनाये जाते हैं ?
(Origin of Leadership : Are Leaders born or made)

नेता की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हम दो प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख कर सकते हैं—व्यक्ति-सिद्धान्त (Man Theory), और समय-सिद्धान्त (time theory) श्री ब्राउन आदि प्रथम सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं। उनके अनुसार नेता में जो भी गुण पाये जाते हैं, वे ईश्वरीय देन होते हैं, और इसीलिए नेता लोग जन्मजात होते हैं। दूसरी ओर, सर्वश्री जेंकिन्स तथा केसर आदि समय-सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं और यह विश्वास करते हैं कि नेता समाज द्वारा बनाये जाते हैं। नेता वास्तव में जन्मजात होते हैं या बनाये जाते हैं, इसे समझने के लिये इन दो सिद्धान्तों का विवेचन कुछ और विचारपूर्वक कर लेना उपयोगी सिद्ध होगा।

(क) व्यक्ति-सिद्धान्त (Man Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार नेता जन्मजात होते हैं। श्री गाल्टन (Galton) का मत है कि व्यक्ति जन्मजात प्रतिभाशाली होते हैं। नेता बनने के लिये जिन शारीरिक और मानसिक गुणों की आवश्यकता होती है, उन सभी को व्यक्ति वंशानुसंक्रमण (heredity) की प्रक्रिया द्वारा अपने माता-पिता से प्राप्त करता है। पर्यावरण (environment) का इस विषय में कोई भी हाथ नहीं होता। पर्यावरण चाहे कैसा ही क्यों न हो, पर यदि व्यक्ति में नेतृत्व के जन्मजात गुण नहीं हैं तो वह नेता का पद कभी प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए, नेता जन्म से ही शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक गुणों से सम्पन्न होता है।

परन्तु, इस सिद्धान्त से हम सहमत नहीं हो सकते, क्योंकि दुनिया के इतिहास में ऐसे कितने ही उदाहरण मिलते हैं, जबकि ऐसे लोग उच्च कोटि के नेता बन गये हैं जिनके माता-पिता में नेतृत्व के गुण नाम को भी नहीं थे। गरीब परिवारों के बच्चे बड़े होकर नेता कैसे बन बैठते हैं, इसकी व्याख्या व्यक्ति-सिद्धान्त से नहीं हो सकती।

(ख) समय-सिद्धान्त (Time Theory)—यह सिद्धान्त नेता को परिस्थिति या पर्यावरण की उपज मानता है। यदि पर्यावरण अनुकूल नहीं हुआ तो वंशानुसंक्रमण की प्रक्रिया द्वारा प्राप्त गुण किसी भी रूप में सहायता नहीं कर सकता। इतना ही नहीं, नेता बनने के लिये जिन गुणों की अपेक्षा होती है, उनमें से अधिकांश की प्रकृति सामाजिक ही होती है। समय और परिस्थिति में ही नेतृत्व का जन्म होता है (The great man is a product of his time and place)। सर्वश्री चर्चिल, सुभाष बोस आदि इसकी शानदार मिसालें हैं।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि आधुनिक विद्वानों का मत यह है कि, उपर्युक्त दोनों ही सिद्धान्त दोषपूर्ण हैं। नेतृत्व का विकास न तो केवल जन्मजात गुणों के कारण होता है, और न ही केवल पर्यावरण या परिस्थिति से सम्बन्धित कारकों के कारण। नेता का जन्म वंशानुसंक्रमण तथा पर्यावरण-सम्बन्धी दोनों ही प्रकार के कारकों की अन्तःक्रियाओं के फलस्वरूप होता है। नेता निश्चय ही जन्मजात नहीं होते; वे बनाये जाते हैं—बनाये जाते हैं समाज के "कारखाने" में, वंशानुसंक्रमण द्वारा उपलब्ध "कच्चे मालों" (raw materials) से। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वंशानुसंक्रमण से व्यक्ति को जो गुण प्राप्त होते हैं, वे कच्चे माल की तरह होते हैं। उनका वास्तविक विकास सामाजिक परिस्थितियों में ही होता है। यानी, नेतृत्व के उभरने के लिये सामाजिक परिस्थितियाँ भी आवश्यक हैं। इस सम्बन्ध में श्री हुलयालकर (Hulyalkar) तथा उनके साथियों द्वारा संकलित निम्नलिखित निष्कर्ष उल्लेखनीय हैं[15] —

(1) इतिहास बतलाता है कि नेतृत्व का विकास तभी होता है, जब एक व्यक्ति कुछ उच्च कोटि के व्यक्तियों की विशेषताओं के साथ अपने को एक ऐसी सामाजिक परिस्थिति में पाता है, जहाँ ये विशेषतायें ठीक बैठती हैं। पहले लेनिन केवल एक विद्रोही थे, पर सन् १९१७ में जब रूस की क्रान्ति हुई, तो वे विश्व-विख्यात नेता बन पाये। अतः आवश्यक बात एक अवसर (chance) पाने की है कि जन्मजात गुण उभर कर सामने आ सकें।

(2) समूह तथा व्यक्ति में होने वाली अन्तःक्रियाओं का भी अपना महत्व होता है। कभी तो समूह व्यक्ति को नेता बनने में सहायता करता है, और कभी व्यक्ति अपनी क्षमताओं व गुणों के बल पर परिस्थिति को अपने पक्ष में कर लेता है।

(3) श्री जेनिंग्स (Jennings) के मतानुसार नेता और गैर-नेता में अन्तर आयु, शिक्षा, बुद्धि और संवेगात्मक प्रौढ़ता (emotional maturity) का उतना नहीं होता, जितना कि अन्तःक्रियात्मक व्यवहार का। जो व्यक्ति अपने समूह के सदस्यों के साथ होने वाले अपने अन्तःक्रियात्मक व्यवहार में जितना सफल होता है, उसके लिये नेता बनने की सम्भावनाएँ उतनी अधिक होती हैं।

(4) श्री जेनकिन्स (Jenkins) का कथन है कि नेतृत्व का सम्बन्ध एक विशिष्ट परिस्थिति से है। जिस व्यक्ति में जिस विषय या कला से सम्बन्धित गुण हैं, वह उसी का नेता बन सकता है, मात्र राजनैतिक क्षेत्र का नेता नहीं।

(5) प्रत्येक नेता को कुछ सामाजिक सीमाओं को स्वीकार करना ही पड़ता है। कानून, संस्था, नैतिकता तथा प्रथाएँ आदि के निर्देशों को व्यक्ति को मानना ही पड़ता है। इनको लाँघ कर कोई व्यक्ति नेता नहीं बन सकता।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नेतृत्व की उत्पत्ति में हमें व्यक्ति के व्यक्तित्व, समाज, संस्कृति आदि सभी को ध्यान में रखना चाहिए। नेतृत्व वंशानुसंक्रमण तक पर्यावरण (heredity and environment) का सम्मिलित प्रयत्न है।

नेता और अनुयायियों का सम्बन्ध
(Relation between Leader and Followers)

नेतृत्व की अवधारणा में नेता और अनुयायियों का पारस्परिक सम्बन्ध सबसे महत्वपूर्ण होता है। नेता बिना अनुयायी के बिना पतवार की नाव की भाँति है और अनुयायी बिना नेता के अर्थहीन। नेता और अनुयायी, दोनों ही एक-दूसरे के विचारों तथा भावनाओं को प्रभावित करते हैं। अनुयायी नेता के विचारों से ग्रहण करता है, उसके आदेशों का पालन करता है तथा उसके सुझावों को स्वीकार करता है। दूसरी ओर, नेता को भी सदैव अपने अनुयायियों की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, उनके विचार, भावना, इच्छा, अभिरुचि आदि का ध्यान रखना होता है। साधारणतया नेता अपने अनुयायियों की मनोवृत्तियों, विचारों, भावनाओं, समस्याओं आदि को ही मुखरित करता है, और उसी के अनुसार समूह की क्रियाओं के लिए योजना बनाता है। दूसरी ओर, जब अनुयायी यह देखते हैं कि उन्हीं के हितों की रक्षा के लिये नेता प्रयत्नशील है, तो वे नेता के साथ सहयोग करते हैं और उसके एक इशारे पर मर मिटने के लिये तैयार हो जाते हैं। समूहों के सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति नेता और अनुयायियों के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध, सद्भावना तथा सहयोग के आधार पर ही सम्भव हो पाता है।

नेता को समूह से अलग नहीं समझा जा सकता और न ही उसके नेतृत्व की योग्यता को उसके सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से अलग करके देखा जा सकता है। सबसे सफल नेता वह होता है, जिसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अनुयायियों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के समान ही होती है। वह उनके अनुभवों में साथ देता है और उनके भावों में हिस्सा बँटाता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि नेता अपने अनुयायियों के विचारों व भावनाओं का वास्तविक प्रतिनिधि होता है। इसी से नेता और अनुयायियों का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट है।

सामान्यतः नेता और अनुयायियों का पारस्परिक सम्बन्ध विश्वास और आस्था का होता है। अनुयायियों की अनेक आशाएं नेता पर केन्द्रित रहती हैं और इस दृष्टि से वे नेता पर आश्रित हो जाते हैं। ली बोन (LeBon) ने लिखा है, "भीड़ में एकत्रित व्यक्ति अपनी सारी इच्छा-शक्ति खो देते हैं, और स्वभावतः उस व्यक्ति की ओर आकर्षित हो जाते हैं जिसमें वे गुण हैं, जो स्वयं उनमें नहीं हैं।

नेता अपने अनुयायियों के द्वारा प्रदर्शित श्रद्धा, आदर और विनय भाव को स्वीकार करता है, और उनकी रुचि का आदर्श बनने का प्रयत्न करता है। वह अनुयायियों के लिये पिता-तुल्य बनना चाहता है। अनुयायी उसे पिता मान कर सुरक्षा और पथ-प्रदर्शन की भावना करते हैं, और नेता भी पिता की भाँति उन्हें सुरक्षा प्रदान करता, सान्त्वना देता तथा उनके साथ सहयोग करता है। नेता और अनुयायियों के पारस्परिक सम्बन्ध का यह एक महत्वपूर्ण आधार है।

नेतृत्व के सिद्धान्त
(Theories of Leadership)

नेतृत्व के कुछ प्रमुख सिद्धान्त निम्नवत् हैं—

(1) सन्तुलन का सिद्धान्त (The Theory of Balance)—इस सिद्धान्त के अनुसार नेतृत्व के सफल विकास के लिये व्यक्तित्व के लक्षणों का सन्तुलन आवश्यक है। यदि व्यक्तित्व के किसी गुण का अत्यधिक विकास हो जाता है तो नेतृत्व पर उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, नेता बनने के लिये स्फूर्ति (energy) आवश्यक है; पर, यदि वह इतनी बढ़ जाय कि व्यक्ति उचित-अनुचित का ज्ञान ही खो बैठे तो उससे नेतृत्व छिन भी सकता है। सफल नेता में आशावाद, निराशावाद, विशेषीकरण, अद्वितीय विचार-शक्ति आदि गुणों का सन्तुलन होना ही चाहिए।

इस सिद्धान्त की कमजोरी यह है कि यह दो-चार इने-गिने गुणों के सन्तुलन के आधार पर ही नेतृत्व की व्याख्या करता है। नेतृत्व जैसी जटिल अवधारणा की इतनी सरल व्याख्या अवैज्ञानिक है।

(2) समूह-प्रक्रिया का सिद्धान्त (The Group-process Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार नेतृत्व की उत्पत्ति समूह के सदस्यों के बीच होने वाली प्रक्रियाओं के फलस्वरूप होती है। समूह की आधारभूत आवश्यकताओं या हितों की पूर्ति करने में जो व्यक्ति समूह के सदस्यों के लिये सबसे अधिक सहायक होता है, लोग उसी का आदर करने लगते हैं, और उसे ही नेता मान लेते हैं। इस प्रकार सामूहिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये समूह-प्रक्रिया में सफल व्यक्ति ही नेता बन सकता है।

(3) संयोग का सिद्धान्त (The Conjuncture Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार जब तीन परिस्थितियों का संयोग घटित होता है, तब नेतृत्व पनपता है। वे तीन परिस्थितियाँ हैं-(अ) नेता की व्यक्तिगत योग्यता, (ब) किसी प्रकार की समस्या या संकट का उठ खड़ा होना; और (स) व्यक्ति को अपनी योग्यता-प्रदर्शन का अवसर मिलना। जब ये सब कारण एक साथ मिल जाते हैं तो नेता का प्रादुर्भाव हो जाता है।

(4) योग्यता में अयोग्यता का सिद्धान्त (The Theory of Ability in Disability)—यह सिद्धान्त क्षतिपूर्ति (Compensation) के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित है। जब व्यक्ति के व्यक्तित्व में कोई कमी या अयोग्यता होती है तो वह उस कमी की क्षतिपूर्ति अन्य किसी विषय में योग्यता प्राप्त करके करता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई विद्यार्थी शारीरिक दुर्बलता के कारण अच्छा खिलाड़ी नहीं बन पाता, तो वह इस कमी को अध्ययन में विशेष परिश्रम करके परीक्षा में उच्चतम स्थान प्राप्त करके पूरा करने का प्रयत्न करता है। यही बात नेता के बनने के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

(5) विलक्षणता का सिद्धान्त (The Theory of Uniqueness)—इस सिद्धान्त के अनुसार कभी-कभी व्यक्ति अपने अनोखे गुणों और अपनी योग्यताओं के कारण नेता बन जाता है। वास्तव में जब किसी व्यक्ति में कोई विशेष योग्यता अन्य लोगों की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा में होती है तो वह समूह की समस्याओं के कारकों और समाधान के उपायों को सबसे पहले समझ कर उन्हें हल कर देता है, और इसीलिए उसे नेता का पद प्राप्त हो जाता है।

परन्तु, उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों की एक बहुत बड़ी कमी यह है कि यह नेतृत्व के विकास के केवल एक पक्ष पर ही आवश्यकता से अधिक बल देता है। इन सिद्धान्तों के प्रवर्तक इस सत्य को भूल जाते हैं कि नेतृत्व नेता तथा अनुयायियों के बीच के सम्बन्धों तथा अन्तःक्रियात्मक व्यवहारों का एक जटिल प्रतिमान (complex pattern) है, और इसीलिए इसे किसी एक कारक के आधार पर समझाने का प्रयत्न करना अनुचित ही नहीं, अवैज्ञानिक भी होगा। अन्य जटिल मानव-व्यवहारों की भाँति नेतृत्व को समझने के लिये भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण को विकसित करने की आवश्यकता है।

REFERENCES

1. "Leadership is behaviour that affects the behaviour of other people more than their behaviour affects that of the leader."—*R.T. Lapiere and P.R. Farnsworth*, Social Psychology, (McGraw Hill Book Co New York), 1949, p. 257.
2. Ibid. p, 257.
3. "Leadership is a concept applied to the presonality environment relation to describe the situation when a personality is so placed in the environment that his will, feeling and insight direct and control others in pursuit of a common cause."—*Pigor.*
4. "We define dominance as an act or, response which affects the attitude and act of another."—*Kimball Young*, Handbook of Social Psychology, (Routledge and Kegan paul Ltd., London), 1957, p. 251.
5. "This may be viewed as a power device used by one person to control or modify theatitudes and actions of another or others."—*Ibid.*, p. 251.
6. "...dominance arises and functions within the framework of social interaction. To say that a person is dominant implies that there is another individual in a submissive position towards him. There is no superordination without subordination; in Popular parlance no leaders without followers."—*Kimball Young, Ibid.*, P. 251.
7. "What is popularly called leadership is more accurately to be discussed in terms of dominance."—*Kimball Young, Ibid* P. 251.
8. "Leadership is a process of mutual stimulation, while domination is a process of control in which, by the assumption of superiority, a person or group regulates the activities of others for purposes of his own "choosing."—*Pigor.*
9. "It is meaningless, therefore, to say of a man that be is a leader. A "leader in what"? Leadership presupposes some sort of skill, if only the ability to talk louder and faster than others. But there is no single kind of skill that will give an individual leadership in all kinds of circumstances and over all kinds of people."—*R.T. Lapeire and P.R. Farnsworth* op. cit., p. 261.

10. "...the man who achieves a position of leadership necessarily ignores many duties and obligations and misses many of the "single pleasure of life."—*Ibid.*, p. 262.
11. "If a diplomat : says, "yes" he means "perhaps", if he says "perhaps" he means "no"; if he says "no", he is no diplomat."—*Kimball Young. op. cit.*, p. 273.
12. "The authoritarian leader wields more absolute power than the democratic leader; he alone determines policies of the group, he alone makes major plans; he alone is fully cognizant of the successing of future steps in the group's activities; he alone dictates the activities of he members and the pattern of inter relations among the members; he alone serves as the ultimate agent and judge of rewards and punishments for the individual members and hence the fate of each individual within the group structure."—*David Krech and Richard S. Crutchfield.* Theory *and Problems of Social Psychology.* (McGraw Hill Book Co., New York), 1948, p. 423.
13. "Where as the authoritarian leader is the keystone of the group, without whom the whole structure may collapse, the democratic leader may judge his success in terms of the degree to whch the group is able to go along without his success in terms of the degree to which the group is able to go along without him when he is termporarily removed from the group strucure."—*Ibid.*, p. 426.
14. "R. Lippitt, *An Experimentel Study of the Effect of Democratic and Authoritarian Group Atmosphere*, 1940, pp. 43- 198.
15. S G. Hulyaker, Jiandani and Kale. *Outlines of Social Psychology.* (Kitab Mahal, Allahabad), 1956, pp. 145-146.

अध्याय 20

जनमत

[PUBLIC OPINION]

"किसी निश्चित समय में जनता के द्वारा दिये गये मत को ही जनमत कहते हैं।"
—Kimball Young.

मोटे तौर पर जनता का मत ही जनमत कहलाता है। जनता सामाजिक जीवन का एक आवश्यक अंग है, और जनमत उसी सामाजिक जीवन की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया। यह सहज सत्य है कि प्रजातन्त्रात्मक और सरल समाजों में जनमत के महत्त्व को कोई अस्वीकार कर ही नहीं सकता। छोटे और सरल समुदायों में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को व्यक्तिगत रूप में पहचानता है, इसलिये प्रत्येक का व्यवहार दूसरे व्यक्तियों द्वारा प्रभावित होता है। हमारे भारतीय ग्राम इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। गांव की पंचायत-व्यवस्था जनमत का ही प्रतीक होती है, और इसीलिये पंच को 'परमेश्वर' के तुल्य माना जाता है। दूसरी ओर, प्रजातन्त्र में प्रजा या जनता का राज्य होता है। इसीलिए शासक-वर्ग को जनता के विचारों का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। जनमत जनता के विचारों का ही प्रतीक होता है। यदि जनमत पूर्णतया विरोध में हो जाता है तो शासक-वर्ग के लिये शासन करना ही असम्भव हो जाता है। इसीलिए यह कहा गया है कि 'प्रजातन्त्र में जनमत ही राज्य होता है।' यह कथन पूर्णतया सत्य है अथवा नहीं, यह तर्क का एक दूसरा विषय है, पर, इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि आधुनिक सामाजिक जीवन में जनमत के महत्त्व को अस्वीकार करना सत्य की अवहेलना करना ही होगा। परन्तु, इस सम्बन्ध में और कुछ विवेचना करने से पहले यह आवश्यक होगा कि हम 'जनता' तथा जनता के मत, अर्थात् 'जनमत' के वास्तविक अर्थ को समझ लें।

जनता का अर्थ
(Meaning of Public)

'जनता' बहुत ही छोटा और लोकप्रिय शब्द है, परन्तु इसकी परिभाषा देना बहुत ही कठिन। साधारणत बड़े मानव-समूह के लिये इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। दैनिक जीवन में भी कभी कभी जनता और भीड़ को एक समझ लेने की गलती की जाती है। पर, इस प्रकार के प्रयोग से कोई वैज्ञानिक अर्थ नहीं निकाला जा सकता। अत यह आवश्यक है कि 'जनता' के अर्थ को वैज्ञानिक दृष्टि से समझ लिया जाये।

जनता का अंग्रेजी रूपान्तर "public" शब्द लैटिन शब्द "publicus" से निकला है, जिसका अर्थ है जन-समूह (people)। पर, मनोविज्ञान में इस शब्द का प्रयोग और भी सीमित अर्थ में किया जाता है। श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) के शब्दों में, 'जनता एक असंगठित और आकृतिरहित (amorphous) जन-समूह है, जिसके सदस्य सामान्य अभिलाषाओं और मतों के आधार पर एक-दूसरे से सम्बद्ध या बँधे हुए होते हैं, परन्तु जिनकी संख्या इतनी बड़ी होती है कि वे एक-दूसरे के साथ प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं बनाये रख सकते।'[1]

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) के मतानुसार, "सामान्य रुचि वाले व्यक्तियों के एक ढीले-ढाले रूप से संगठित और संयुक्त समूह को जनता कहते हैं।"[2]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम जनता की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं—

(i) जनता असगठित व आकारहीन जन-समूह होता है, जिसकी सदस्य-संख्या काफी अधिक होती है। 'परिवार' जनता नहीं है, क्योंकि इसकी सदस्य-संख्या सीमित होती है, अर्थात् यह संख्या सैकड़ों तक भी नहीं पहुँचती, जबकि जनता की सदस्य-संख्या लाखों की गिनती पार कर सकती है।

(ii) चूंकि जनता में व्यक्तियों की संख्या अत्यधिक होती है, इस कारण उनके लिये यह सम्भव नहीं होता कि वे एक-दूसरे के साथ प्रत्यक्ष और व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करें या उसे बनाये रखें।

(iii) जनता के सदस्यों मे समान मत, इच्छा या रुचि का होना आवश्यक है। इसी के आधार पर वे एक-दूसरे से सम्बन्धित या मानसिक आधार पर बँधे हुए होते हैं।

(iv) जनता का कोई ठोस आकार नहीं होता। यह तो एक मनोवैज्ञानिक समूह होता है, जो सामान्य मत, इच्छा या रुचि के आधार पर पनप जाता है। दूसरे शब्दों में, सामान्य मत, अभिलाषा या रुचि अनेक लोगों में यह जागरूकता उत्पन्न कर देती है कि वे एक ही समूह के सदस्य हैं, भले ही देश भर में छिटके हुए हों। इस प्रकार छिटके होने पर भी वे समाचार-पत्र, पत्रिका, रेडियो, सिनेमा आदि के माध्यम से एक-दूसरे से अपना सम्बन्ध स्थापित कर ही लेते हैं।

(v) जनता एक असगठित समूह होता है। जनता के विभिन्न सदस्य किस प्रकार व्यवहार करेंगे, इसका कोई नियम, आदर्श और मापदण्ड निश्चित नहीं होता। जनता के बीच, सामाजिक व्यवस्था की भांति, सदस्यों की स्थितियाँ, भूमिकायें या कार्य निश्चित नहीं होते।

जनता और भीड़ में अन्तर
(Difference between Public and Crowd)

श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने जनता और भीड़ के बीच निम्नलिखित अन्तरों का उल्लेख किया है—

(क) भीड़ मे सदस्यों की शारीरिक उपस्थिति आवश्यक होती है, पर जनता में नहीं। जनता व्यक्तिगत शारीरिक सम्पर्क पर आधारित नहीं होती, बल्कि समाचार-पत्रों, रेडियो, सिनेमा आदि के माध्यम से किये गये विचारों के आदान-प्रदान पर आधारित होती है। इसके विपरीत, भीड़ का निर्माण तभी होता है जब बहुत से लोग एक विशेष स्थान पर एकत्रित हो जाते हैं। इस प्रकार सदस्यों की शारीरिक उपस्थिति के कारण भीड़ में अधिक 'जीवन' तथा उत्तेजना रहती है, पर इस उत्तेजना का जनता मे नितान्त अभाव होता है। जनता के अस्तित्व के लिये शारीरिक व व्यक्तिगत सम्पर्क आवश्यक नहीं होता।

(ख) एक समय में एक व्यक्ति एक ही भीड़ का सदस्य हो सकता है, क्योंकि भीड़ का सदस्य होने के लिये शारीरिक उपस्थिति अनिवार्य है; और, भीड़ एक समय में एक ही जगह हो सकती है। इसके विपरीत, सदेश-वाहन के साधनों की सुविधा के कारण एक समय में एक व्यक्ति अनेक प्रकार की जनता का सदस्य बन सकता है।

(ग) भीड मे उत्तेजना की मात्रा अधिक होती है, इसलिये भीड़ के सदस्यों मे केवल संवेगशीलता ही नही, अपितु सुझाव-ग्रहणशीलता भी काफी बढ जाती है। इसके विपरीत, जनता के सदस्यो मे उत्तेजना और सुझाव-ग्रहणशीलता अधिक नहीं होती, यद्यपि संचार के अत्यधिक द्रुतगामी साधनो के द्वारा समाचारो को, जनता तक जल्दी पहुँचाया जा सकता है।

(घ) यद्यपि जनता स्वय असगठित होती है, फिर भी वह सगठनो को जन्म देती है। जनता के सदस्य आपस मे वाद-विवाद या विचार-विनिमय कर सकते हैं, और किसी उद्देश्य की प्राप्ति के उपायो के सम्बन्ध मे अपने मत प्रस्तुत कर सकते हैं। इसके विपरीत भीड़ मे, विशेषकर क्रियाशील भीड़ मे, विचार-विमर्श की सम्भावना बिलकुल ही नही होती, और उसके सदस्यों का व्यवहार सभी प्रकार के नियमो को अनदेखा कर सकता है।

(ङ) श्री गिन्सबर्ग द्वारा उल्लिखित उपर्युक्त चार आधारभूत अन्तरो के अतिरिक्त कुछ अन्य अन्तरो का भी उल्लेख किया जा सकता है, जैसे (i) भीड का प्रभाव सदस्यो पर अस्थायी होता है, जबकि जनता का प्रभाव अपेक्षाकृत स्थायी होता है, (ii) भीड की उत्पत्ति आकस्मिक घटना के आधार पर हो सकती है, पर जनता कोई आकस्मिक अवधारणा नही है; (iii) भीड़ की क्रियाएँ बहुधा विवेकपूर्ण नहीं होती, पर जनता की क्रियाओ मे तार्किक आधार भी ढूँढा जा सकता है; और, (iv) जनता की सदस्य-सख्या कहीं अधिक होती है, पर भीड की कहीं कम।

मत क्या है ?
(What is Opinion)

जनमत जनता का मत है। अत. जनमत को समझने के लिये 'जनता' और 'मत' दोनो का ही अर्थ हमारे लिये स्पष्ट होना चाहिए। 'जनता' के अर्थ का स्पष्टीकरण हम ऊपर कर चुके हैं। अब 'मत' का तात्पर्य भी समझ लेना उपयोगी होगा।

श्री कुप्पूस्वामी (Kuppuswamy) का कथन है कि किसी विवादास्पद विषय से सम्बन्धित विश्वासो को ही मत कहा जाता है। इसी आधार पर मतो को स्थायीभाव (sentiment) से पृथक् किया जाता है। स्थायीभाव सवेगात्मक भावनाएँ हैं, और इनका सम्बन्ध ऐसी वस्तुओ या परिस्थितियों से होता है, जो विवादास्पद (controversial) नहीं होती। पर, मत (opinion) का सम्बन्ध किसी न किसी विवादास्पद विषय से ही होता है। इसी प्रकार मत, मनोवृत्ति (attitude) से भी भिन्न है। मनोवृत्ति क्रिया करने की एक प्रवृत्ति है, जब कि मत विशेष रूप से मौखिक (verbal) और प्रतीकात्मक (symbolic) होता है।

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) ने लिखा है, "मत ऐसा विश्वास है, जो केवल विचार अथवा धारणा से अधिक तीव्र एवं प्रबल होता है, परन्तु जिसमें पूर्ण एवं उपयुक्त प्रमाणों पर आधारित निश्चित ज्ञान की दृढ़ता नहीं होती। वस्तुतः मत किसी विवादास्पद विषय से सम्बन्धित विश्वास है।"[3] इसी को संक्षेप मे, श्री यंग ने अपनी एक अन्य कृति मे, इस प्रकार प्रस्तुत किया है—" 'मत' शब्द एक ऐसे विचार, आस्था या विश्वास की ओर संकेत करता है, जिसमें पूर्ण निश्चितता का अभाव होता है।"[4]

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि ऐसे विषय के सम्बन्ध में प्रकट किये गये विचारो को हम मत नहीं कह सकते, जिसके विषय में एक मे अधिक पारस्परिक

विरोधी विचार सामने न हों। उपर्युक्त लेखकों का कथन है कि यदि कोई ऐसा विषय है जिस पर कोई विवाद ही नहीं है, अर्थात् जिस विषय के सम्बन्ध में सब लोगों या या अधिकांश लोगों का विचार एक-सा ही है, तो उसे 'मत' न कहकर रूढ़ि (more) कहना अधिक उचित होगा। परन्तु, जनमत की उत्पत्ति तो तभी होती है जब प्रचलित रूढ़ियों के विषय मे कोई विवाद उठ खड़ा होता है।

सर्वश्री स्प्रॉट (Sprott) और कूले (Cooley) आदि विद्वान् उपर्युक्त मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि यदि 'मत' को हम केवल विवादास्पद विषयों तक ही सीमित रखेंगे, तो हमें ऐसे अनेक विषयों पर प्रकट किये गये विचारों को 'मत' के घेरे से निकाल देना पड़ेगा, जिनके विषय में आरम्भ में तो विवाद था, पर अब नहीं है। उदाहरणार्थ, अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा या विधवा-विवाह (widow re-marriage), या अन्तर्जातीय विवाह के प्रश्नों को ही लीजिए। आज सभी पढ़े-लिखे व्यक्ति इनके पक्ष में ही अपना मत प्रकट करेंगे, और इनकी उपयोगिता को स्वीकार करेंगे। तो, क्या इन विषयों मे सम्बन्धित मत को हम 'मत' नहीं कहेंगे? यदि हम ऐसा करते हैं तो निश्चय ही 'मत' का बहुत संकुचित अर्थ मे प्रयोग करते हैं।

वास्तव में 'मत' किसी विषय के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ सोच-समझ कर व्यक्त किया गया विचार है। अतः यह स्पष्ट है कि मत कोई चिरस्थायी, रूढ़िवादी या स्थिर (static) धारणा नहीं है कि हम दृढ़ता से कहें कि यह केवल विवादास्पद विषयों के ही सम्बन्ध मे हो सकता है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से हम 'मत' के अन्तर्गत पारस्परिक विरोधी विचारों तथा सर्व सम्मत विचारों, दोनों को ही सम्मिलित कर सकते हैं। विरोधी विचार सदा ही विरोधी बने रहेंगे, ऐसी कोई बात नहीं। ऐसे विचार भी धीरे-धीरे आपस मे अनुकूलन कर सकते हैं। अनुकूलन कर लेने या विरोध को समाप्त कर देने के बाद भी विचार 'मत' हो सकता है। अतः यह कहना उचित नहीं कि जब तक किसी विषय पर विवाद बना रहे, तभी तक उस पर प्रकट किये गये विचारों को हम 'मत' की संज्ञा दे सकते हैं। पर, हो सकता है कि इतने विस्तृत अर्थ मे 'मत' शब्द का प्रयोग वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत अधिक उचित या समीचीन न हो।

'जनमत' का अर्थ व परिभाषा
(Meaning and Definition of Public Opinion)

सामाजिक जीवन मे अनेक ऐसे विषय होते हैं, जिन्हे सामूहिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यह सामूहिक विषय यदि ऐसे होते हैं जिनसे कि समाज के सदस्यों के किसी उद्देश्य या उनकी किसी आवश्यकता की पूर्ति होती है तो अधिकाधिक सदस्य उनमें रुचि लेते हैं, और अपने-अपने मत व्यक्त करते हैं। अतः आरम्भ में एक ही विषय के सम्बन्ध मे अनेक मत प्रकट होते हैं, और प्रायः इनमें आपस में विरोध भी होता है। पर, सामाजिक अन्त.क्रियाओं, विचारों के आदान-प्रदान, समालोचना आदि के दौरान उन विषयों से सम्बन्धित मत अधिक स्पष्ट, समन्वित व सुस्थिर हो जाते हैं। यह एक ऐसा मत या मतों का संयुक्त रूप होता है, जिसे जनता अपना मानती है या अपना कह कर स्वीकार करती है। मोटे तौर पर इसी को 'जनमत' कहते हैं।

जनमत जनता का मत है। पर, इसका तात्पर्य यह नहीं कि जनमत जनता के सभी या अधिकांश सदस्यों का मत होता है। जनमत के लिये केवल बहुमत अपर्याप्त है, परन्तु एकमत भी अनिवार्य नहीं है। अनिवार्य है जनहित या जन-कल्याण की भावना। जो मत जनता के हितों के रक्षार्थ सार्वजनिक विचारों को प्रकट करता है, वही जनमत है। वैसे तो इस विषय से सम्बन्धित अनेक छोटे-छोटे विचार जनता के विभिन्न समूहों में प्रचलित होते हैं, पर जिसे हम जनमत कहते हैं, वह उन विचारों में "प्रधान" और लोकप्रिय विचार होता है। निम्नलिखित परिभाषाओं से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी—

श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, "जनमत का अर्थ समाज मे प्रचलित उन विचारों एवं निर्णयों का समूह है, जो बहुत कुछ निश्चित रूप से प्रतिपादित है, जिसमें कुछ स्थायित्व है, और जिसके प्रतिपादक उसे सामाजिक समझते हैं, क्योंकि वह अनेक मस्तिष्कों के सामूहिक विचार का परिणाम है।"[5]

श्री क्लेक का कथन है—"जनमत किसी विशेष समय या स्थान में प्रचलित, प्रभावपूर्ण विरोधी विचारधाराओं के आधार पर निर्मित सार्वजनिक मत है।"

श्री जेम्स यंग (James Young) के अनुसार, "एक आत्म-चेतन समुदाय के द्वारा सार्वजनिक विवेकपूर्ण वाद-विवाद के बाद किसी सामान्य महत्त्व के विषय पर किये गये सामाजिक निर्णय को 'जनमत' कहते है।"[6]

श्री जॉन डीवी (John Dewey) के शब्दो मे, "जनमत एक निर्णय है, जो जनता का निर्माण करने वाले लोगो द्वारा बनाया और स्वीकार किया जाता है तथा जो सार्वजनिक कार्यों से सम्बन्धित होता है।"[7]

श्री कुप्पूस्वामी (Kuppuswamy) के मतानुसार, "एक समय विशेष मे, किसी विशिष्ट समस्या के सम्बन्ध मे एक छोटे या बड़े समुदाय के लोगो द्वारा स्वीकृत मत को जनमत कहते हैं।"[8]

'जनमत' की प्रमुख विशेषतायें
(Characteristics of Public Opinion)

उपर्युक्त परिभाषाओ का विश्लेषण कर चुकने के बाद हम 'जनमत' की निम्नलिखित विशेषताओ का उल्लेख कर सकते हैं—

1. जनमत का सम्बन्ध किसी सार्वजनिक विषय या समस्या से होता है। किसी व्यक्ति-विशेष या वर्ग-विशेष के हित के प्रश्नो को लेकर जनमत का निर्माण नही होता।

2. जनमत उस समूह मे व्यापक रूप से फैला हुआ मत होता है, जिसे रुचियो की आधारभूत एकता की अनुभूति हो। इसका तात्पर्य यह है कि केवल बहुसख्यकों के मत को ही हम तब तक जनमत नहीं कह सकते, जब तक कि अल्पसख्यक लोगों मे भी उस मत के प्रति एकता की अनुभूति न हो।

3. जनमत किसी एक महान् अथवा प्रभावशाली व्यक्ति के मत की उपज नही होता। उसकी उत्पत्ति सामूहिक आधार पर होती है। जब समुदाय के अनेक व्यक्ति किसी सार्वजनिक प्रश्न, विषय अथवा समस्या पर गम्भीर चिन्तन करते हैं, सम्मिलित अश-ग्रहण द्वारा एक मत स्थापित करते हैं, और समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति यह समझने लगता है कि वह 'सामान्य मत' है, तभी उस मत को 'जनमत' कहा जा सकता है।

4. 'जनमत' समाज के अधिक सक्रिय सदस्यों की उत्तेजना के प्रति, कम सक्रिय सदस्यों की प्रतिक्रियाओं से बनता है। लेकिन ये प्रतिक्रियाएँ बहुत ही भिन्न-भिन्न स्वरूप वाली होती हैं। प्रो० श्मोलर (Schmoller) का कहना है—"जनमत लाखों तारवाली एक वीणा की तरह है, जिसके तारों को सभी दिशाओं से आनेवाली हवाएँ छेड़ती हैं। इस वीणा से जो स्वर निकलते हैं, वे आपस में हमेशा मिले ही नहीं होते। ऐसे में भिन्नता रखनेवाली स्वर-धाराएँ एक-दूसरी को काटती हैं।"[9]

5. जनमत कोई स्थिर धारणा नहीं है। इसका विचार एक निश्चित समय के सन्दर्भ में ही करना चाहिए। एक विषय पर जो जनमत है, एक माह के बाद भी वह वैसा ही बना रहेगा, इसका कोई निश्चय नहीं हो सकता। प्रो० श्मोलर ने लिखा है, "जनमत निरन्तर बदलता रहता है—जिन चीजों को वह अपना विषय बनाता है, उनकी दृष्टि से भी; और, जिन मानसिक तत्त्वों के माध्यम से वह कार्य करता है, उनकी दृष्टि से भी। कभी इसकी एक माँग है, कभी दूसरी हो जाती है। आज वह संवेगों को उभारता है तो कल धैर्य के साथ विचार करने को कहता है।"[10]

6. प्रो० गिन्सबर्ग ने लिखा है कि जनमत एक सामाजिक उपज होती है और कई मनों की परस्पर क्रिया से पैदा होती है। लेकिन, यह ध्यान रखना चाहिए कि इस संघर्ष के बाद जिन विचारों का उदय होता है, वे हमेशा तर्क की दृष्टि से सर्वोत्तम ही नहीं होते। जनमत की तर्कहीनता कभी-कभी तो बड़ी आश्चर्यजनक होती है। इसके निर्माण में विचारों का एक तरह से प्राकृतिक "चुनाव" या प्रवरण (natural selection) होता है; लेकिन, उनमें जो "योग्यतम" (fittest) होते हैं, वे तर्कनीति की दृष्टि से सदा सर्वोत्तम नहीं होते, और अधिकांशतः केवल समय की विशेष परिस्थितियों के अनुकूल होते हैं। प्रो० डाइसी (Dicy) का कहना है, "विश्वास में परिवर्तन विशेष परिस्थितियों के आने पर ही होता है। ये परिस्थितियाँ दुनिया के अधिकतर लोगों को विशेष सिद्धान्तों को सुनने और मानने की ओर झुकाती हैं, और ये सिद्धान्त वही होते हैं, जिन्हें कभी मामूली अक्ल के लोगों ने वाहियात बता दिया था, या विरोधाभास से भरा हुआ करार दिया था। इस प्रकार जनमत के विवेक-संगत और निर्भ्रान्त होने की बात कही तो जाती है, पर उसके पक्ष में हमको कोई प्रमाण नहीं मिलता। हाँ, प्रो० हीगल (Hegel) के मत से हम भी सहमत हो सकते हैं कि किसी वस्तु के महान् और विवेकसंगत होने की पहली शर्त यह है कि वह जनमत के प्रभाव से मुक्त हो। जनमत का कोप और कृपा, दोनों ही समझ में न आनेवाली चीजें हैं, उनमें शायद ही कभी विवेक और बुद्धि को स्थान मिलता हो।

7. यद्यपि जनमत किसी भी जनता का सर्वमान्य मत नहीं होता, फिर भी इस मत में सम्पूर्ण जनता को क्रियाशील बनाने की शक्ति होती है।

8. जनमत सदैव वाद-विवाद के पश्चात् पारस्परिक मत-अनुकूलन के आधार पर बनता है, अर्थात् विरोधी विचारधाराओं के जो भी महत्त्वपूर्ण, लाभदायक और आवश्यक अंग होते हैं, जनमत में वे सभी आत्मसात् कर लिये जाते हैं। जनमत किसी विशेष मत का प्रतिनिधित्व न कर, समस्या-सम्बन्धी सभी मतों के अनुकूलन के आधार पर विकसित, मान्य या स्वीकृत सामान्य मत का प्रतिनिधित्व करता है।

9. जनमत जनता में प्रचलित विश्वासों, मान्य आदर्शों, मूल्यों, मान्यताओं स्थायीभावों (sentiments) और स्थापित पक्षपातों (prejudices) के आधार पर विकसित, स्थापित और प्रसारित होता है। संक्षेप में, प्रत्येक जनमत का एक

सांस्कृतिक आधार होता है, और उसी आधार पर वह फलता, फूलता और पनपता है।

10. बहुधा यह देखा गया है कि जनमत की स्थापना पर प्रायः समाज के प्रतिष्ठित, प्रभुतासम्पन्न और शक्ति-प्राप्त वर्गों की रुचियों, हितों और उद्देश्यों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। ये वर्ग प्रचार-साधनों और संदेशवाहन के साधनों की सहायता से अपने अनुकूल जनमत स्थापित करने में सफलता प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

11. सर्वश्री बर्ड और मेरविन (Bird and Merwin) के विचारानुसार जनमत दो प्रकार के होते हैं—स्थिर और गतिशील। स्थिर (static) जनमत के उदाहरण परम्पराओं, रूढ़ियों एवं प्रथाओं में मिलते हैं। इसके विपरीत, गतिशील (dynamic) जनमत परिवर्त्तनशील होते हैं, क्रमबद्ध प्रचार पर आधारित होते हैं और जनता की परिवर्त्तनशील आवश्यकताओं के कारण विकसित होते हैं।

क्या जनमत बहुसंख्यकों का मत होता है ?
(Is Public Opinion Views of the Majority)

कुछ विद्वानों का मत है कि वास्तविक रूप में जनमत का निर्माण करने के लिये यह आवश्यक है कि समाज के समस्त व्यक्तियों या कम-से-कम अधिकांश सदस्यों के विचार और भावनायें सामान्य हों और उन व्यक्तियों में विचारों की एकता हो। परन्तु, जनमत का अभिप्राय यह नहीं है कि देश की सम्पूर्ण जनता एकमत हो, क्योंकि सार्वजनिक विषयों में विरोध का पूर्ण अभाव एक असम्भव आदर्श है। देश की बहु-संख्यक जनता के मत को भी जनमत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बहुसंख्यक जनता को भी झूठे तथा कुशल प्रचार से धोखे में डाला जा सकता है, अथवा वह किन्हीं स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से प्रभावित की जा सकती है। उदाहरण के लिये, बहुसंख्यकों की अनेक धारणायें ऐसी भी होती हैं जो अल्पसंख्यकों के हित की उपेक्षा करती हैं। इन विचारों या धारणाओं को बहुमत कहा जा सकता है, जनमत नहीं। परन्तु, यदि अल्पसंख्यक दल बहुमत से असहमत होते हुए भी उसका मत इसलिए स्वीकार कर लेता है कि उसमें जनहित का तत्त्व सम्मिलित है, तो बहुमत जनमत का रूप धारण कर लेता। श्री लोवेल (Lowell) ने लिखा है, "किसी भी मत के जनमत होने के लिये केवल बहुमत ही पर्याप्त नहीं है, और न ही एकमत (unanimity) आवश्यक; वरन् मत का ऐसा होना भी आवश्यक है कि अल्पसंख्यक उसमें हिस्सेदार न बनते हुए भी उसे स्वीकार कर लेने के लिये बाध्य हों। और, वह भी डर के कारण नहीं अपितु विश्वास (conviction) के आधार पर होना चाहिए। फिर, यदि प्रजातन्त्र अपने आप में पूर्ण है तो अल्पसंख्यक की यह स्वीकृति उसकी प्रसन्नता या स्वेच्छा से प्राप्त होनी चाहिए।'[1] स्पष्ट है कि अल्पसंख्यकों की इस स्वीकृति के पीछे विश्वास (conviction), प्रसन्नता या स्वेच्छा की प्रेरणा तभी हो सकती है जब उसमें उनका भी हित सम्मिलित हो। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि जनमत का सच्चा आधार सम्पूर्ण समाज का सामान्य कल्याण ही हो सकता है। सत्ता के आदर, भय अथवा किसी बाह्य प्रेरणा से सच्चे जनमत का जन्म नहीं हो सकता; उसकी उत्पत्ति तर्कसंगत धारणाओं के परिणामस्वरूप ही होती है।

अतः स्पष्ट है कि जनमत में संख्या का प्रश्न बहुत ज्यादा प्रासंगिक नहीं है; क्योंकि अल्पसंख्यक (minority) अपने आपको बहुसंख्यक (majority) के मत को मानने के लिये तब तक बाध्य नहीं समझ सकते जब तक कि वे रुचियों की इतनी आधारभूत समानता को स्वीकार न करें जो अस्थायी अन्तरों को भुलाने के लिए काफी हो। इससे, श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, यह निष्कर्ष निकलता है कि अगर सबकी स्वीकृति सम्मिलित नहीं है तो किसी मत को जनता

का मत होने के लिये बहुसंख्यकों द्वारा उसका स्वीकारा जाना मात्र ही पर्याप्त नहीं है। जैसा कि श्री लोवेल (Lowell) ने कहा है, यह मानी हुई बात है कि अल्पसंख्यक बहुसंख्यकों के मत को मानने की बाध्यता तभी अनुभव कर सकते हैं जब उन दोनों की रुचियों में काफी साम्य हो, अर्थात् समरूपता (homogeneity) की एक निश्चित मात्रा तथा ऐसे अन्तरों का अभाव हो, जिनके विरोध को दूर करना असम्भव हो।

श्री लोवेल का यह भी कथन है कि किसी विचार को जनमत की संज्ञा देने के लिये वास्तव में जनता की इच्छाओं एवं हितों को प्रकट करना चाहिये। जनमत का वास्तविक सम्बन्ध लोकहित से होना चाहिए, चाहे वह बहुसंख्यकों का मत हो और चाहे अल्पसंख्यकों का। वास्तव में सच्चा जनमत "बहुसंख्यक वर्ग के सामान्य कल्याण के आदर्श पर आधारित, तर्कयुक्त तथा सचेत मत होता है। किसी भी देश के जनमत का निर्माण बहुमत द्वारा प्रतिपादित सामान्य कल्याण की उन धारणाओं से होता है, जिन्हें अल्पसंख्यक वर्ग भी उनकी अच्छाई में विश्वास करते हुए स्वीकार कर लेते हैं।"

उपर्युक्त विवेचना का विश्लेषण करने पर हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

(1) जनमत केवल बहुसंख्यक मत नहीं है। इसके लिये किसी भी प्रश्न पर सम्पूर्ण जनता का एकमत होना भी आवश्यक नहीं है। जनमत को बहुसंख्यक मत केवल इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि इसमें अल्पमत द्वारा बहुमत के अधिकार की स्वीकृति निहित रहती है।

(2) जनमत का सम्बन्ध केवल सामान्य सार्वजनिक हित के प्रश्नों से ही हो सकता है। जिन विषयों में अल्पसंख्यक-वर्ग बहुमत के सामने झुकना अस्वीकार कर दे, वहाँ जनमत का प्रश्न ही नहीं उठता। उदाहरणार्थ, अल्पसंख्यक-वर्ग यदि अपने धार्मिक आचार-विचार के सम्बन्ध में बहुसंख्यक-वर्ग के मत को मानने से इंकार कर देता है तो जनमत का निर्माण नहीं हो पाता।

(3) जनमत के लिये केवल वही प्रश्न महत्वपूर्ण हो सकता है, जिसके सम्बन्ध में जनता अपना तर्कसंगत मत बना सकती हो।

(4) जनमत का निर्माण बहुमत द्वारा प्रतिपादित सामान्य हित की उन धारणाओं से होता है, जिनमें अल्पसंख्यक-वर्ग अपने कल्याण की भी परछाईं स्पष्टतः देखते हैं।

जनमत प्रजातन्त्र की एक प्रक्रिया के रूप में
(Public Opinion as a Process of Democracy)

सच्चे जनमत का निर्माण वास्तव में प्रजातन्त्रात्मक राज्य में ही सम्भव होता है, क्योंकि, जैसा कि श्री गिडिंग्स (Giddings) ने कहा है, प्रजातन्त्र राज्य, शासन, समाज अथवा तीनों के योग का एक स्वरूप है। इसका तात्पर्य यही है कि प्रजातन्त्र राज्य, शासन और समाज, तीनों का प्रतीक होता है; और, इस रूप में इसमें अपनी कुछ ऐसी विशेषता होती है जो जनमत के निर्माण में सहायक होती है। यह बात प्रोफेसर पुन्ताम्बेकर (Puntambekar) द्वारा प्रस्तुत प्रजातन्त्र के विवरण से और भी स्पष्ट हो जायगी। उन्होंने लिखा है, "प्रजातन्त्र शासन का वह स्वरूप है, जिसमें समाज स्वयं अपनी इच्छा तथा शक्ति को कार्यान्वित करने के लिए एक निश्चित

एव संगठित रूप धारण कर लेता है। यद्यपि उसकी शक्ति थोड़े से लोगों के हाथों में हो सकती है, किन्तु वे लोग समस्त जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं, जनता के द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं, तथा जनता द्वारा अपने पद से अलग भी किये जा सकते हैं। उनके अपने कोई अधिकार नहीं होते। उनका अस्तित्व समस्त जनता के लिये होता है। वे उसी से उत्पन्न होते हैं और उसी के प्रतीक होते हैं। वे शासन चलाने में इसलिये समर्थ होते हैं कि उन्हें बहुसंख्यक-वर्ग का सहयोग तथा सहमति प्राप्त होती है।" श्री सीले (Seeley) के शब्दों में, "प्रजातन्त्र वह शासन है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का अपना हिस्सा होता है।" श्री अब्राहम लिंकन (Abraham Lincoln) के अनुसार, "प्रजातन्त्र वह शासन है जो जनता का हो, जनता के लिये हो, और जनता के द्वारा चलाया जाता हो।" प्रजातन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचारों को व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है, साधारण शिक्षा का स्तर ऊँचा होता है, समाचारपत्र व रेडियो तथा सिनेमा को संवादों व विचारों को फैलाने व उनका आलोचनात्मक विश्लेषण करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है, सार्वजनिक भाषण पर प्रतिबन्ध नहीं होता, राजनैतिक दलों को स्वतन्त्रतापूर्वक पनपने का अधिकार दिया जाता है, शिक्षा-संस्थायें भी स्वतन्त्र वातावरण में कार्य करती रहती हैं, और धार्मिक, सांस्कृतिक व अन्य संस्थाओं पर भी प्रतिबन्ध नहीं होता। यह सम्पूर्ण परिस्थिति एक ऐसे वातावरण की सृष्टि करती है, जो जनमत के निर्माण में सहायक सिद्ध होती है।

हम यह देख चुके हैं कि जनमत सामाजिक अन्त:क्रिया की प्रक्रिया की उत्पत्ति होता है। किसी सार्वजनिक समस्या या विषय के सम्बन्ध में आरम्भ में नाना प्रकार के मत या विचार होते हैं। पर, धीरे-धीरे सामाजिक वाद-विवाद, समालोचना और विचार-विमर्श के दौरान कुछ विचार नागरिकों द्वारा स्वीकृत होकर एक निश्चित रूप धारण करके उभर आते हैं। जब किसी कल्याणकारी विचार को जनता का सामान्य समर्थन और विश्वास प्राप्त हो जाता है तो वह जनमत का रूप धारण कर लेता है। विचारों में परिवर्तन होने के साथ-साथ जनमत में भी परिवर्तन हो सकता है। इस अर्थ में जनमत एक प्रक्रिया है, और इस प्रक्रिया की स्वाभाविक गति प्रजातन्त्र में ही सम्भव है, क्योंकि इस प्रकार के शासन-तन्त्र में ही उपर्युक्त परिस्थितियाँ पायी जा सकती हैं। प्रजातन्त्र में (अ) सामुदायिक और राजनैतिक नियन्त्रण का उत्तरदायित्व वयस्क नागरिकों के हाथों में होता है; (ब) इन वयस्क नागरिकों को यह अधिकार होता है तथा उनका यह कर्त्तव्य भी होता है कि सार्वजनिक हित के विषयों पर समुदाय के कल्याण के लिये वाद-विवाद किया करें; (स) इन वाद-विवादों से 'एक अंश तक' ऐकमत्य (consensus) का विकास होता है, अर्थात् सामाजिक जीवन के सामान्य विषयों को समान दृष्टिकोण से देखने और विचारने तथा सामान्य प्रयत्नों द्वारा उनका एक उचित हल ढूँढने के प्रति सामान्य जागरूकता या विचारों की कुछ-न-कुछ एकता व समानता पनप जाती है, क्योंकि प्रजातन्त्र में विचार-विमर्श व विचार-विनिमय के सम्बन्ध में समस्त सुविधाएँ व स्वतन्त्रताएँ उपलब्ध होती हैं; (द) यह ऐकमत्य या विचारों की एकता जनमत के निर्माण में सहायक होती है। अतः, स्पष्ट है कि जनमत प्रजातन्त्र की एक प्रक्रिया है।

श्री कुप्पूस्वामी (Kuppuswamy) ने भी लिखा है कि "एक प्रजातन्त्र में यह मान लिया जाता है कि प्रत्येक जिम्मेदार नागरिक सार्वजनिक विषयों या प्रश्नों

का उत्तर ढूंढने में अपनी एक निश्चित भूमिका अदा करता है। दूसरे शब्दों में, प्रजातन्त्र यह मानता है कि लोगों का यह अधिकार और साथ ही कर्त्तव्य भी है कि वे ऐसे विषयों के सम्बन्ध में वाद-विवाद करें, जो समुदाय के कल्याण को प्रभावित करते हैं। विधान-मण्डल (legislature) के अन्दर तथा बाहर होने वाले वाद-विवादों के आधार पर कुछ ऐसे ऐकमत्य (consensus) पनप जाते हैं, जो सार्वजनिक क्रिया का आधार बन जाते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जनता के बहुसंख्यकों द्वारा स्वीकृत मत वह आधार बन जाता है, जिसके अनुसार प्रजातन्त्र में क्रिया के कार्यक्रम निर्धारित होते हैं।" इस प्रकार किसी भी प्रजातन्त्र में एक ऐसा अल्पसंख्यक-वर्ग होता है जो बहुसंख्यकों के विचार से सहमत नहीं होता। पर, इस अल्पसंख्यक को भी बहुसंख्यकों के निर्णयों द्वारा अनुशासित होना पड़ता है। फिर भी, अल्पसंख्यकों को सदा यह स्वतन्त्रता रहती है कि वे जनमत को इस भाँति परिवर्तित कर दें कि परिवर्तित मत को जनता की एक बड़ी संख्या स्वीकार कर ले। उस अवस्था में जो पहले केवल मात्र अल्पसंख्यकों का एक मत होता है, वही फिर से बहुसंख्यकों का मत हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप वही मत क्रिया के कार्यक्रम (programme of action) का आधार बन जाता है।[12]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जनमत प्रजातन्त्र की एक ऐसी प्रक्रिया है, जो निरन्तर परिवर्तित होती रहती है क्योंकि (अ) विवादास्पद विषय स्वयं समय-समय पर बदलता रहता है; और (ब) एक विषय-विशेष के सम्बन्ध में प्रचलित मत भी परिवर्तित होता जाता है।[13] उदाहरणार्थ, भारत में मद्य-निषेध (prohibition) इस सामान्य मत (general opinion) पर निर्भर है कि नशाखोरी, विशेष कर शराबखोरी, व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिये ही हानिकारक है। इस मत के जोर पकड़ने पर नशाखोरी को रोकने के लिये विभिन्न राज्यों में कानून पास किये गये, उन्हें लागू किया गया, और उनके सामाजिक-आर्थिक परिणामों का मूल्यांकन किया गया। आज फिर से यह विषय एक विवादास्पद समस्या के रूप में सामने आ खड़ा हुआ है। कुछ राज्य नशाबंदी के पक्ष में हैं, तो कुछ इसके विरुद्ध। इस विवाद के परिणामस्वरूप हो सकता है कि मद्य-निषेध की नीति को पूर्णतया अपना लिया जाय या त्याग दिया जाय। पर, जो कुछ भी होगा, वह शक्तियों (forces) पर निर्भर होगा जो जनमत को बदलने में क्रियाशील हैं।"[14]

प्रजातन्त्रवादी व सर्वाधिकारवादी राज्य में जनमत का निर्माण
(Formation of Public Opinion in Democratic and Totalitarian State)

सर्वाधिकारवादी राज्य में जनमत के निर्माण की प्रक्रिया उस प्रकार की नहीं होती, जैसी कि प्रजातन्त्र राज्य में, जिसके सम्बन्ध में अभी ऊपर हम लिख चुके हैं। प्रजातन्त्र राज्य में पहले एक समस्या के विषय में विभिन्न मत जनता के अनेक सदस्यों द्वारा व्यक्त किये जाते हैं। इसके लिये हर सदस्य को चूंकि विचार व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता संवैधानिक तौर पर प्राप्त होती है, इस कारण सभी लोग अपने-अपने मतों को खुले तौर पर प्रस्तुत करने में संकोच या डर का अनुभव नहीं करते। इन विभिन्न विचारों को सारे समाज में आपसी बात-चीतों, वाद-विवादों, सार्वजनिक सभाओं, समाचार-पत्रों, रेडियो, टेलीविजन आदि के माध्यम से प्रसारित किया जाता है। चूंकि प्रजातन्त्र में प्रकार के इन साधनों पर कोई नियन्त्रण या प्रतिबन्ध नहीं होता, इसलिये समस्या के पक्ष और विपक्ष में मत सरलता से पैमने हैं, उनका स्पष्टीकरण होता है, और उन विविध मतों में कुछ महत्त्वपूर्ण मत अधिक स्पष्ट अथवा दृढ़ हो

जाते हैं। इसके बाद विधान-मण्डलों में जनता के प्रतिनिधि स्वतन्त्रतापूर्वक उन अधिक स्पष्ट व दृढ़ मतों को मुखरित करते हैं। फिर, मुक्त वाद-विवाद होता है, समाचार-पत्रों, रेडियो, आदि के द्वारा उसे जनता तक पहुँचाया जाता है, और जनता स्वतन्त्रतापूर्वक उनके प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करती है; सम्पादक अपने-अपने समाचार-पत्रों में सम्पादकीय लिखकर अपने-अपने विचार प्रस्तुत करते हैं; विभिन्न राजनैतिक दल व समाज-सुधारक आदि अपने-अपने लेखों और व्याख्यानों, आदि के द्वारा सामान्य प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं; और सुझाव दिये जाते हैं। साथ ही विरोधी सुझाव भी आते हैं। इस प्रकार किसी विशेष समस्या व उसके सम्भावित हल के सम्बन्ध में जनता में जागरूकता उत्पन्न की जाती है। सामाजिक वातावरण संवेगों से भरा रहता है; और, इसीलिये सामान्य निर्णय न केवल विवेकपूर्ण ढंग से, अपितु अविवेकपूर्ण ढंग से भी किया जा सकता है। इसके उपरान्त एक ऐकमत्य स्थापित हो जाता है, और उसी को हम 'जनमत' कहते हैं।

सर्वाधिकारी राज्य में परिस्थिति बिल्कुल ही विपरीत होती है। इसमें सर्वाधिकारवादी शासक समस्त शक्तियों को अपने ही हाथों में केन्द्रित कर लेता है। अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये वह जनता के हित का कुछ भी ध्यान नहीं रखता, वही स्वयं राजकीय नीति का निर्धारण करता, योजना बनाता और उसे लागू करता है। वह परिवर्तन से डरता है, क्योंकि उसमें उसकी शक्ति व प्रभुत्व को ठेस पहुँचने की सम्भावना है, ऐसा उसे विश्वास रहता है। इसीलिये वह न तो अपने अन्य अधिकारियों को और न ही आम जनता को यह अधिकार देता है कि वह अपने विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त कर सके। वास्तव में, वह विभिन्न अधिकारियों के बीच अधिक मेलजोल भी पनपने नहीं देता, न ही उन्हें संयुक्त रूप में किसी काम में लगाता है। इसके फलस्वरूप उनमें विचारों का आदान-प्रदान और सामान्य समस्याओं के प्रति जागरूकता पनप नहीं पाती। जनता को भी स्वतन्त्रतापूर्वक समिति व संघ बनाने का अधिकार नहीं होता—यहाँ तक कि प्रेस, रेडियो, सिनेमा आदि जन-प्रचार के समस्त साधनों पर शासक का अधिकार होता है, और उन्हें यह अधिकार नहीं होता कि वे किसी भी समाचार को, बिना राजाज्ञा के प्रकाशित या प्रसारित कर सकें। विशेष कर जो समाचार शासक-वर्ग के हितों के विपरीत होते हैं, उनके मामले में तो उन्हें बहुत ही जागरूकता बरतनी पड़ती है। ऐसी परिस्थिति में सर्वाधिकारवादी राज्य में जनमत-निर्माण की प्रक्रिया भी प्रजातन्त्रवादी राज्य की प्रक्रिया से विपरीत होती है। शासक स्वयं ही समस्या और उसका हल उपस्थित करता है, और उसे इस प्रकार जनता में फैलाता है कि लोग उसी को सही मान लेते हैं। इसके लिये शासक प्रचार के समस्त साधनों का इस प्रकार प्रयोग करता है कि जनता शासक द्वारा प्रस्तुत सुझाव को सहज ही ग्रहण कर लेती है। वास्तव में सर्वाधिकारवादी राज्य में जनता शासक पर इतना अधिक निर्भर हो जाती है कि उस शासक को अलग कर वह अपने अस्तित्व की कल्पना तक नहीं कर सकती। अतः उसके विचारों, धारणाओं या सुझावों का प्रभाव जनता पर बहुत ही अधिक पड़ता है। कोई प्रभावपूर्ण विरोधी दल न होने के कारण शासक द्वारा प्रस्तुत सुझावों के दोषों के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित करने वाला भी कोई नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति, संघ या समिति राज्य द्वारा प्रसारित विचारों या सिद्धान्तों का विरोध करती है, तो उसे फौरन दबा दिया जाता है, और जनता में यह झूठा विश्वास पैदा कर दिया जाता है कि शासक जो कुछ कर रहा है, वह जनता के कल्याण के लिये ही कर रहा है। प्रचार के साधनों पर शासक का पूर्ण अधिकार होने के कारण ही इस प्रकार का विश्वास जनता के मन में

जमा देना सम्भव हो पाता है। इस प्रकार सर्वाधिकारी राज्य मे शासक ही समस्या खड़ी करता है, वही उसके हल के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत करता है, उसे जनता में फैलाता और जनता मे तथाकथित ऐकमत्य को उत्पन्न करता है और उसी को जनमत की सज्ञा देकर उसी के आड़ में अपने स्वार्थों की पूर्ति करता है।

प्राथमिक समाज में जनमत का निर्माण
(Opinion Formation in Primary Society)

प्राथमिक समाज वे होते हैं, जहाँ तुलनात्मक दृष्टि से सामाजिक एकरूपता, अनौपचारिकता, घनिष्ठ और वैयक्तिक सम्बन्ध, प्राथमिक समूहों की प्रधानता और जनसंख्यात्मक दृष्टि से छोटा आकार पाया जाता है। गाँव इसी प्रकार का प्राथमिक समाज है। इस प्रकार के प्राथमिक समाज में जनमत का निर्माण एक विशिष्ट ढंग से होता है, और, यह तरीका उस तरीके से भिन्न होता है, जो द्वैतीयक समाज (mass society) में देखने को मिलता है। प्राथमिक समाज का आकार छोटा होता है, इस कारण प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को व्यक्तिगत रूप में जानता-पहचानता है, और उसे प्रभावित भी करता है। चूँकि ऐसे समाज में सब अपने को एक-दूसरे से सम्बन्धित मानते हैं, इस कारण अपने समुदाय से सम्बन्धित समस्त विषयों में वे अत्यधिक रुचि लेते हैं, और दुःख-सुख में एक-दूसरे का साथ देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इतना ही नहीं, समुदाय का आकार छोटा होने के कारण, हर व्यक्ति किसी भी समस्या के सम्बन्ध में विचार-विनिमय आमने-सामने कर सकता है, अधिकांश सदस्य एक स्थान पर एकत्रित होकर वाद-विवाद कर सकते हैं, और समस्या के हल के सम्बन्ध में विभिन्न विचारों को प्रत्यक्ष रूप में सुन सकते हैं। वे उसकी समीक्षा कर सकते हैं और एक सामान्य मत या ऐकमत्य (concensus) की स्थापना कर सकते हैं। प्राथमिक समाज को जनमत के निर्माण में समाचार-पत्रों, रेडियो, पत्र-पत्रिकाओं, इश्तहारों, आदि प्रचार के साधनों का प्रयोग नहीं करना पड़ता। इस प्रकार के समाजों में जनमत-निर्माण करने का मुख्य माध्यम आमने-सामने की बातचीत, समुदाय के बड़े-बूढ़ों के विचार तथा पंचायत होती है। किसी भी समस्या के सम्बन्ध में लोगों के मन में जागरूकता इन्हीं साधनों द्वारा उत्पन्न होती है। जो लोग किसी समस्या या विषय में रुचि रखते हैं या उससे किसी भाँति सम्बन्धित होते हैं, वे किसी चबूतरे या चौपाल मे बैठकर, जाड़े की शामों को आग के चारो ओर बैठकर या बाजार की ओर जाते समय रास्ते मे या मन्दिर आदि में उस समस्या के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श करते हैं, अपने-अपने मत व्यक्त करते हैं, और उन्हें अन्य लोगों के भी सामने रखते हैं। फिर, वह विषय धीरे-धीरे पंचायत के सामने लाया जाता है, जहाँ कि सामूहिक आधार पर उस पर विचार-विमर्श या वाद-विवाद होता है। इसमें गाँव के बड़े-बूढ़े अपने पूर्व-अनुभवों से युवकों को परिचित कराते हैं, और उनके विचारों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। युवक-वर्ग भी नये परिवर्तनों और विचारों से लोगों को आगाह करता है। इन सब के परिणामस्वरूप समस्या व उसके हल के सम्बन्ध में एक आम निर्णय करने का प्रयत्न किया जाता है। इस निर्णय में समाज के बड़े-बूढ़ों और सम्मानित व्यक्तियों (जमींदार, साहूकार आदि) का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। इस सामान्य निर्णय या ऐकमत्य के माध्यम से ही जनमत अभिव्यक्त होता है।

द्वैतीयक समाज में जनमत-निर्माण
(Opinion Formation in Mass Society)

द्वैतीयक समाज विशाल समाज होता है, जहाँ सामाजिक विभिन्नता, घनी आबादी, अवैयक्तिक सामाजिक सम्बन्ध, सामाजिक गतिशीलता, द्वैतीयक समितियों की बहुलता आदि विशेषतायें देखने को मिलती हैं। संक्षेप में, द्वैतीयक समाजों में प्राथमिक समाजों से बहुत कुछ विपरीत अवस्था या विरोधी सामाजिक परिस्थितियाँ पायी जाती हैं। अतः द्वैतीयक समाजों में जनमत के निर्माण की प्रक्रिया भी भिन्न होती है। इन समाजों में आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक समस्यायें अत्यधिक जटिल व विविध प्रकार की होती हैं। इसीलिए इन समस्याओं या विषयों से सम्बन्धित जनमत के निर्माण की प्रक्रिया भी बहुत जटिल होती है। चूंकि इन समाजों में व्यक्तिगत व आमने-सामने के सम्बन्धों का नितान्त अभाव होता है, इस कारण किसी भी समस्या के सम्बन्ध में विचार-विमर्श प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। विचार-विनिमय करने, सूचनाओं को समाज के सदस्यों तक पहुँचाने तथा समस्याओं के प्रति लोगों को सचेत करने के लिये समाचार-पत्रों, पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो, चलचित्रों, सार्वजनिक सभाओं, तथा इश्तहार आदि को काम में लाना आवश्यक हो जाता है। प्राथमिक समाजों की पंचायतों का स्थान द्वैतीयक समाजों में विधान-मण्डल ले लेते हैं, जहाँ जनता के प्रतिनिधि विविध समस्याओं पर वाद-विवाद करते और निर्णयों पर पहुँचते हैं। द्वैतीयक समाजों में ऐसी किसी भी सामाजिक या सार्वजनिक सभा आदि का आयोजन नहीं किया जा सकता, जिसमें समुदाय के सभी सदस्य भाग ले सकें, और मत के निर्माण में अपने को हिस्सेदार बना सकें। इसीलिये जनमत के निर्माण में हिस्सेदार बनने के लिये उन्हें समाचार-पत्रों, रेडियो, पत्र-पत्रिकाओं, सिनेमा, आदि की सहायता लेनी पड़ती है। द्वैतीयक समाजों में जनमत-निर्माण के यही प्रमुख साधन होते हैं। इन साधनों के द्वारा तथा अपने प्रतिनिधियों की मार्फत जनता जनमत के निर्माण में भाग लेती है। आधुनिक समाजों में विविध प्रकार की समितियों, संघों, और राजनैतिक दलों आदि के निर्माण में भी जनता अपनी भूमिका अदा कर सकती है। समस्या के सम्बन्ध में जनता का ध्यान बहुधा ये विशिष्ट समितियाँ, संघ और राजनैतिक पार्टियाँ ही आकर्षित करती हैं; और न केवल समस्या के सम्बन्ध में अपितु उसके सम्भावित हलों (solutions) के सम्बन्ध में भी जनता को सुझाव देना इन समितियों, संघों और राजनैतिक पार्टियों का ही एक प्रमुख कार्य होता है। इसीलिये जनमत के निर्माण की प्रक्रिया ऐसे समाजों में कुछ अपने ढंग से ही होती है, और कई स्तरों से गुजरती हुई जनमत के स्तर तक पहुँच पाती है। निम्नलिखित विवेचना से द्वैतीयक समाजों में जनमत के निर्माण की प्रक्रिया और भी स्पष्ट हो जायेगी।

प्रजातन्त्र में जनमत-निर्माण की प्रक्रिया या मनोविज्ञान
(Process or Psychology of Opinion Formation in Democracy)

श्री लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) के मतानुसार, आरम्भ में किसी सामान्य हित से सम्बन्धित विषय पर समाज में अनेक मत पनप जाते हैं, और लोगों के सामने अनेक प्रश्न आ उपस्थित होते हैं। "परन्तु, इस विभिन्नता और अव्यवस्था के बीच जैसे ही कोई प्रश्न महत्व प्राप्त करने लगता है, वैसे ही सग्रहीकरण तथा वर्गीकरण की प्रक्रिया का प्रयोग आरम्भ हो जाता है, और वह तब तक चलता रहता है जब तक कि नागरिकों द्वारा स्वीकृत तथा प्रतिपादित कुछ धारणायें अथवा सम्बन्धित

धाराओं की शृंखलायें, एक निश्चित रूप धारण कर उभर नहीं आतीं। जब हम यह कहते हैं कि जनमत अमुक सिद्धान्त अथवा प्रस्ताव का समर्थन अथवा विरोध करता है, और इस प्रकार एक नियंत्रणकारी शक्ति बन जाता है, तब हमारा तात्पर्य नागरिकों के एक स्पष्ट बहुमत द्वारा स्वीकृत इसी प्रकार की किन्हीं धारणाओं के प्रभाव से होता है। अथवा, हम भावनाओं की धाराओं से निर्मित किसी सम्पूर्ण राष्ट्र के एक ऐसे मत की कल्पना करते हैं, जिसमें राष्ट्र की प्रत्येक भावना किसी धारणा, सिद्धान्त अथवा व्यावहारिक प्रस्ताव की सूचक अथवा समर्थक होती है। इनमें कुछ धारणायें या विचार अपेक्षाकृत अधिक शक्ति ग्रहण कर लेते हैं, क्योंकि उनके पीछे समर्थकों की अधिक संख्या अथवा विश्वास की अधिक गहराई होती है। और, जब इनमें से कोई धारणा या कोई विचार स्पष्ट रूप से प्रबलतम हो जाता है, तब उसे जनमत की संज्ञा दी जाने लगती है, और उसे उन धारणाओं का सूचक मान लिया जाता है जो अधिकांश जनता द्वारा स्वीकृत समझी जाती हैं।"

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) ने लिखा है कि जनमत के निर्माण के निम्नलिखित चार प्रमुख स्तर होते हैं[15]—

(i) जनमत के निर्माण के प्रथम स्तर पर सदैव ही कोई ऐसा विषय या समस्या होती है, जो सम्पूर्ण समुदाय या उस समुदाय के अधिकतर सदस्यों से सम्बन्धित होती है। इस विषय या समस्या को उस समुदाय के कुछ लोग सार्वजनिक समस्या मान लेते हैं तथा उसके हल की माँग करते हैं। यह समस्या जन-स्वास्थ्य की समस्या हो सकती है, या शिक्षा, धर्म, जनसंख्या या रोजगारी से सम्बन्धित कोई समस्या हो सकती है। किसी भी अवस्था में, प्रथम स्तर का सार-तत्त्व (essence) यह है कि विषय या समस्या को इस प्रकार व्यक्त किया जाता है कि उस पर व्यक्ति और समूह के द्वारा वाद-विवाद हो सके।

(ii) इसके बाद प्रारम्भिक तथा छानबीन-सम्बन्धी विचार-विमर्श आरम्भ होता है। इस विचार-विमर्श में ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न किया जाता है, जैसे समस्या कितनी गम्भीर है; क्या इस समस्या के सम्बन्ध में विचार करने का यही उचित समय है; और क्या इसका हल निकल सकता है? इन प्रश्नों को और उनसे सम्बन्धित उत्तरों को बातचीत, समाचार-पत्रों, और पत्र-पत्रिकाओं आदि में प्रकाशित संवादों, लेखों, सम्पादकीयों आदि के माध्यम से, तथा रेडियो और टेलीविजन के द्वारा प्रसारित सूचनाओं या टिप्पणियों द्वारा मुखरित व स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है। इसके साथ-साथ इस स्तर पर कुछ व्यक्तियों या समूहों द्वारा इस प्रकार का अध्ययन किया जाता है, जिससे समस्या से सम्बन्धित वास्तविक तथ्यों (facts) तथा सम्भावित समाधानों (solutions) का पता चल सके। सार्वजनिक वाद-विवाद में भाग लेने वाले लोगों के लिये सूचना तथा ज्ञान प्रदान करने में, इस स्तर पर, विशेषज्ञ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। कभी-कभी तो किसी व्यापारिक समूह या श्रमिक-समूह या किसी सुधार-संगठन जैसी अल्पसंख्यक समूह की कोई इकाई समस्या को अधिक स्पष्ट रूप से परिभाषित करने में ही नहीं, अपितु विस्तृत रूप में उस पर विचार करने के लिये भी लोगों को प्रेरित करने में अत्यधिक सक्रिय भाग ले सकती है।[16]

(iii) इस आरम्भिक तथा छानबीन-सम्बन्धी विचार-विमर्श के आधार पर ही हम अधिक व्यवस्थित सार्वजनिक वाद-विवाद के स्तर पर पहुँचते हैं। इस स्तर पर समस्या को हल करने के सम्बन्ध में अनेक विकल्प (alternative), सुझाव या हल

भी प्रस्तुत किये जाते हैं। फिर तो इन विकल्पों के सम्बन्ध में वाद-विवाद और जोर-शोर से आरम्भ हो जाता है, और प्रस्तुत सुझावों या हलों के विरुद्ध प्रतिवाद और विरोध, और साथ ही साथ समर्थन भी व्यक्त किया जाता है। इन प्रतिवादों और विरोधों को कम करने के लिये कुछ अन्य विकल्प या सुझाव भी दिये जा सकते हैं। कभी-कभी भीड़ की भाँति व्यवहार भी 'प्रकट' होता है। ऐसी अवस्था में अतार्किक रूढ़ियुक्तियों (*stereotypes*), नारों तथा संवेगात्मक अपीलों की बाढ़ में विषय या समस्या का तार्किक पक्ष बह जाता है। यह स्तर (stage) महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि यहाँ तक पहुँच जाने पर समस्या अत्यधिक स्पष्ट हो जाती है, और मुख्य निर्णय न केवल तार्किक, अपितु अतार्किक कारकों द्वारा भी नियन्त्रित हो सकता है।[17]

(iv) इन बातचीतों, भाषणों, वाद-विवादों और लेखों आदि के आधार पर लोग एक अंश तक ऐकमत्य पर पहुँच जाते हैं। ऐकमत्य (consensus) का तात्पर्य आवश्यक रूप से पूर्ण सहमति नहीं है। वास्तव में, ऐसा प्रायः नहीं होता है। प्रजातंत्र मुख्यतः बहुमत (majority vote) द्वारा क्रियाशील होता है। इस कारण चुनाव और मत व्यक्त करने के अन्य वैधानिक स्वरूपों को अपनाने के बाद बहुसंख्यक वोट प्राप्त करने वाले उस विचार या प्रार्थी (candidate) को हम उस समय के लिये प्रभुता-सम्पन्न मान लेते हैं। इसी आधार पर अल्पसंख्यक-समूह के लोग भी बहुसंख्यकों द्वारा प्रतिपादित नियम और कानून को मान लेते हैं, और प्रजातन्त्रात्मक साधनों द्वारा बहुमत के उस निर्णय को बदलने का प्रयत्न करते हैं। इस बीच अल्पसंख्यक-समूह परिवर्तन के लिये दबाव डालते हैं, तथा बहुसंख्यक द्वारा की गई आलोचना के भागीदार बनते हैं।[18]

जनमत-निर्माण के साधन अथवा माध्यम
(The Agencies or Media of P. O. Formation)

इतना अधिक वाद-विवाद होता रहता है कि जनमत-निर्माण की प्रक्रिया बहुत ही जटिल हो जाती है। इस सम्बन्ध में हम विस्तृत विवेचना, 'द्वैतीयक समाजों में जनमत-निर्माण' शीर्षक के अन्तर्गत कर चुके हैं। इससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन समाज की भाँति आधुनिक समाज मे जनमत-निर्माण की प्रक्रिया सादी और सरल नहीं है। वास्तव मे पहले छापने की कला का आविष्कार और बाद में टेलीग्राफ, टेलीफोन व रेडियो का आविष्कार हो जाने से जनमत-निर्माण की प्रक्रिया अब स्पष्टतः अप्रत्यक्ष और विविध प्रकार के प्रभावों के अधीन हो गई है। निम्नलिखित विश्लेषण द्वारा हम इसी कथन का स्पष्टीकरण करेंगे, यद्यपि द्वैतीयक समाजों में जनमत-निर्माण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में विवेचना करते समय इस विषय पर हम काफी प्रकाश डाल चुके हैं।

(1) **प्रेस और समाचार-पत्र**—जनमत-निर्माण के साधनों में प्रेस का महत्त्व स्वीकार करना ही पड़ता है। प्रेस के द्वारा ही इश्तहार, पत्र-पत्रिकायें, पुस्तकें आदि छापी जाती हैं, जिनके द्वारा सामान्य तथा विशिष्ट सूचनायें जनता को प्राप्त होती रहती हैं। इश्तहारों के द्वारा विशेष समस्या के प्रति हर आम व ख़ास जनता का ध्यान सरलता से आकर्षित किया जा सकता है और उन समस्याओं से सम्बन्धित सम्भावित समाधानों से भी उनको अवगत कराया जा सकता है। इसी से लोगों को विचार-विनिमय तथा वाद-विवाद करने का काफी मसाला मिल जाता है। जनमत के निर्माण के लिये विशाल समाजों में आज जिस प्रकार की आवश्यकता होती है, उसकी छापाखानों के अभाव में कल्पना तक नहीं की जा सकती। इन्हीं छापाखानों में समाचार-पत्र भी छापे जाते हैं। जनमत के निर्माण में स्वतन्त्र, निष्पक्ष तथा न्यायप्रिय समाचार-पत्रों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। ऐसे समाचार-पत्र देश के लिये वरदान होते हैं। वे जनता को सार्वजनिक महत्त्व की घटनाओं की सूचना देते, तथा उन घटनाओं के सम्बन्ध में अपने ठोस व तार्किक मत प्रदान करते हैं। इस प्रकार समाचार-पत्र वास्तव में जनता को सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व अन्य सभी प्रकार की समस्याओं का बोध कराते हैं, और उनके सम्बन्ध में विचार करने को विवश कर देते हैं। समाचार-पत्रों के माध्यम से कोई भी व्यक्ति इच्छानुसार किसी भी विषय पर अपने विचार जनता के सामने रख सकता है। समाचार-पत्र स्वयं भी जनमत के निर्माण में सक्रिय भाग लेते हैं। वे शासन की भूलों तथा अनुचित कार्यवाहियों पर दृष्टि रखते हैं, और उनकी तीव्र आलोचना करते हैं। इन समाचार-पत्रों के द्वारा ही शासन को जनमत के प्रवाह व प्रभाव का ज्ञान होता है, और उसे अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ता है।

पर, कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि पूँजीपति-वर्ग या शासक राजनैतिक दल समाचार-पत्रों पर अपना अधिकार कर लेते हैं, और ऐसी बातों का प्रचार करते हैं, जिनसे उनके अपने स्वार्थों की ही अधिकतम पूर्ति हो सके। वे जनता को वास्तविक सूचनाएँ नहीं देते, बल्कि उन्हें तोड़-मोड़कर या अतिरंजित करके, जनता को भ्रम में डालकर स्वयं शक्ति, सम्मान अथवा व्यापारिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से समाचार-पत्रों का उपयोग करते हैं। यह बात काफी सीमा तक पूंजीवादी समाजों पर तथा पूर्ण रूप से सर्वाधिकारवादी राज्यों पर लागू होती है। यह सच है कि समाचार-पत्रों पर इतना नियंत्रण अवश्य रखना चाहिए कि वे अपनी शक्ति का दुरुपयोग न कर सकें। परन्तु, इसके साथ-साथ समाचार-पत्रों का स्वतन्त्र होना भी अत्यन्त आवश्यक है। उनका पूर्णतया सरकार के अधीन होना स्वस्थ जनमत के विकास

के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। उस दशा में अपने आदर्श को भूल कर वे सरकारी प्रचार के साधन मात्र बन जाते हैं।

(2) टेलीफोन तथा टेलीग्राफ (Telephone and Telegraph)—छापने की कला के आविष्कार की भांति टेलीफोन तथा टेलीग्राफ के आविष्कार ने भी जनमत के निर्माण में एक नया अध्याय जोड़ा है। टेलीफोन और टेलीग्राफ दोनों ही संदेश-वाहन के द्रुत साधन हैं। इनके द्वारा समाचार कुछ ही मिनटों में देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल जाते हैं। इसके फलस्वरूप विचारों का आदान-प्रदान सरल हो जाता है। टेलीफोन के द्वारा जनता के प्रतिनिधि व नेतागण एक-दूसरे से बातचीत करते हुए विचारों का आदान-प्रदान कर सकते हैं। टेलीफोन और टेलीग्राफ (जिसका एक विशिष्ट रूप टेलीप्रिन्टर है) के द्वारा समाचार-पत्रों के संवाददाता व समाचार-एजेन्सियाँ दुनिया-भर के समाचार, टिप्पणियाँ, समालोचनायें व जनता के विविध विचार समाचार-पत्रों व अनेकानेक पत्र-पत्रिकाओं को भेजते रहते हैं। अतः स्पष्ट है कि टेलीफोन तथा टेलीग्राफ के आविष्कार से जनमत-निर्माण की प्रक्रिया अत्यधिक अप्रत्यक्ष (indirect) हो गयी है, क्योंकि इनके कारण अब यह जरूरी नहीं रह गया है कि दो लोग या दो पक्ष आमने-सामने ही बातचीत करें या व्यक्तिगत रूप से ही सम्पर्क स्थापित करें।

(3) रेडियो व टेलीविजन (Radio and Television)—आधुनिक युग में, जनमत के निर्माण में, रेडियो व टेलीविजन की महत्त्वपूर्ण भूमिका को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। रेडियो में खास बात यह है कि इसके द्वारा पल भर में ही समाचार सारी दुनिया में प्रसारित किया जा सकता है, और इससे प्रभावित होने के लिये शिक्षा आदि की भी कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती। समाचार-पत्रों का प्रयोग केवल शिक्षित लोग ही कर सकते हैं, पर रेडियो अशिक्षित लोगों के लिये भी होता है। रेडियो को सुनकर ही लोग नाना प्रकार की समस्याओं, सूचनाओं को जान सकते हैं। अतः भारत जैसे देश में जनमत-निर्माण के साधन के रूप में रेडियो के महत्त्व को स्वीकार करना ही पड़ेगा। रेडियो के कारण विचारों का आदान प्रदान तथा प्रचार बहुत सरल हो गया है। इसके द्वारा देश के नेताओं, विशेषज्ञों, समाज-सुधारकों आदि के भाषण, विचार, आलोचनात्मक विश्लेषण आदि देश के कोने-कोने में सुने जा सकते हैं। रेडियो जनता का नेताओं के साथ सम्पर्क स्थापित कर सम्पूर्ण राष्ट्र को राजनैतिक व सामाजिक शिक्षा तथा जनमत निर्माण की क्षमता प्रदान करता है। कुछ लोगों का ऐसा भी विश्वास है कि समाचार-पत्रों की अपेक्षा रेडियो कम पक्षपातपूर्ण तथा कम पूर्वाग्रहयुक्त तथ्यों को प्रसारित करता है। अतः समाचार-पत्रों की सूचनाओं की अपेक्षा रेडियो द्वारा प्रसारित सूचना पर अधिक विश्वास किया जाता है। पर, यदि रेडियो प्रोग्रामों के अधीन प्रसारित किये जाने वाले विषयों पर सरकार का अत्यधिक नियन्त्रण रहता है (जैसा कि सर्वाधिकारवादी राज्यों में होता है) तो उस व्यवस्था में, जनमत के निर्माण में रेडियो अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा नहीं कर पाता।

रेडियो का ही सबसे आधुनिक रूप टेलीविजन (television) है, जिसमें संवादों या अन्य कार्यक्रमों को न केवल सुना जा सकता है, अपितु सिनेमा की भांति टेलीविजन के पर्दे पर उनका चित्र भी देखा जा सकता है। इससे रेडियो के समस्त गुण से फायदा उठाने के अतिरिक्त सिनेमा के गुणों का भी फायदा जनता को मिलता है। इस प्रकार इससे जनमत के निर्माण में बहुत सुविधा होती है, क्योंकि टेलीविजन के माध्यम से विद्युत्-यंत्र द्वारा दुनिया के किसी भी कोने में स्थित वस्तु, या कहीं भी

होने वाले कार्यक्रम का पर्दे पर चित्रण हो सकता है, और जनता उसे देखने के साथ-साथ उससे सम्बन्धित सारी बातें सुन भी सकती है। जनमत-निर्माण की यह एक अत्यधिक सहायक परिस्थिति है।

(4) सिनेमा या चलचित्र (Cinema or Movies)—जनमत-निर्माण में सिनेमा के महत्त्व को सभी लोग किसी न किसी रूप में निश्चय ही स्वीकार करते हैं। इसमें भी सुनना और देखना साथ-साथ होने के कारण लोगों के मस्तिष्क पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। वास्तव में सिनेमा संवेश-वाहन का ऐसा साधन है, जिससे समाचार-पत्र आदि न पढ़ने वाले अशिक्षित व्यक्ति भी लाभ उठा सकते हैं। सम्पूर्ण जनता को राजनैतिक तथा सामाजिक शिक्षा देने के लिये सिनेमा एक महत्वपूर्ण एवं प्रभावपूर्ण साधन है। सिनेमा के माध्यम से जनता को सामयिक घटनाओं तथा समाचारों से परिचित कराया जा सकता है। साथ ही इसके माध्यम से विभिन्न सामाजिक समस्याओं के प्रति जनता में न केवल जागरूकता उत्पन्न की जा सकती है, बल्कि उनके वास्तविक समाधानों (solutions) के सम्बन्ध में भी सुझाव व निर्देश प्रभावपूर्ण ढंग से दिये जा सकते हैं। सिनेमा के पर्दे पर देश और दुनिया के नेताओं और विशेषज्ञों से, उनके विचारों से जनता का परिचय होता है। वह उन्हें सुनती है, देश में होने वाली प्रगति की झलक साक्षात् देखती है, और समाज पर आने वाली आपत्तियों का आभास प्राप्त करती है। ये सभी साधन जनमत के निर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं।

भारत की बात यदि हम विशेष रूप से करें और समाचार-पत्रों, रेडियो तथा चलचित्रों को जनमत-निर्माण के प्रमुख साधन के रूप में लें, तो हम यही पायेंगे कि इनमें सिनेमा का स्थान प्रमुख है, क्योंकि यहाँ की जनता अशिक्षित और गरीब है। पर, जिस रूप में 'बम्बइया फिल्में' विषय-वस्तु को प्रस्तुत करती हैं, उससे विकृत मनोवृत्तियाँ ही अधिक पनपती हैं।

(5) सार्वजनिक भाषण (Public Speeches)—जनमत के निर्माण तथा संगठन में सार्वजनिक सभाओं में दिये गये भाषणों का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक अर्थ में तो इनका प्रभाव समाचार-पत्रों से भी अधिक पड़ता है। समाचार-पत्र केवल थोड़े से शिक्षित व्यक्तियों तक ही पहुँच सकते हैं, परन्तु सार्वजनिक भाषणों द्वारा निरक्षर जनता को भी सार्वजनिक जीवन की समस्याओं से परिचित कराया जा सकता है। सार्वजनिक सभाओं में सार्वजनिक हित के प्रश्न उठाये जाते हैं, और वाद-विवाद के माध्यम से उन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाता है। इस सन्दर्भ में जनता की असुविधाओं का वर्णन करते हुए सरकार के कार्यों की आलोचना की जा सकती है। इस प्रकार सार्वजनिक भाषण सामाजिक-राजनैतिक शिक्षण का एक साधन बन जाता है। इतना ही नहीं, अपने व्यक्तित्व तथा भाषण के प्रभाव से वक्ता जनता में एक ऐसी सबल भावना भी जगा सकता है जो आगे चलकर जनमत का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन जाये। अत: स्पष्ट है कि सार्वजनिक भाषण जनमत-निर्माण का एक उल्लेखनीय साधन है। पर, यह तभी सम्भव है जब देश में भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता हो।

(6) राजनैतिक दल (Political Parties)—जनमत के निर्माण की दृष्टि से राजनैतिक दलों के महत्त्व की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रजातन्त्रात्मक राज्य में राजनैतिक दलों को दो प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है—एक तो वह दल

जिसके हाथ में शासन की बागडोर रहती है; और, दूसरा विरोधी दल (opposition party)। ये दोनों ही प्रकार के राजनैतिक दल जनमत के निर्माण को अपने-अपने ढग से प्रभावित करते रहते हैं । जनमत को सशक्त बनाने तथा जनता में राजनैतिक व सामाजिक चेतना को जागृत करने के कार्यों में राजनैतिक दलों का स्थान महत्त्वपूर्ण होता है। राजनैतिक दल केवल नीतियों तथा सिद्धान्तों को निर्धारित करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते, बल्कि उन्हें संवैधानिक उपायों से शासन के आधारभूत तत्त्वों के रूप में ढालने का भी प्रयत्न करते हैं। अतएव, वे अपनी नीतियों और योजनाओं के समर्थन में प्रचार करते हैं, और इस रूप में जनमत को एक निश्चित दिशा प्रदान करते हैं। उनका यह प्रचार जनता के सामान्य ज्ञान की वृद्धि करके समाज के स्तर को ऊँचा उठाता है। वे अपने प्रयत्नों द्वारा जनमत को इतना ठोस तथा प्रभावपूर्ण बना देते हैं कि सरकार को बहुधा उसे स्वीकार करना पड़ता है। श्री लॉवेल (Lowell) के शब्दों में, "यदि राजनैतिक दल कुछ सीमा तक जनमत को सदैव मरोड़ते हैं, तो वे उत्तेजना के आकस्मिक लहरों द्वारा उत्पन्न ऐंठन को भी रोकते हैं।"[19]

जनतन्त्रात्मक देशों में विरोधी दल शासन की आलोचना करके ऐसे जनमत को जागृत करने में सहायक सिद्ध होते हैं जिससे बहुमत दल के अत्याचारों को रोकने में मदद मिलती है। विरोधी दल शासक दल के कार्यक्रमों में स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की झलक खोज निकालते हैं, और शासन की भूलों तथा उसके भ्रष्टाचारों पर प्रकाश डालकर विभिन्न समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करते हैं। ये सभी परिस्थितियाँ जनमत के निर्माण में सहायक सिद्ध होती हैं।

(7) शिक्षा-संस्थायें (Educational Institutions)—जनमत के निर्माण व संगठन में इनका स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। शिक्षण-संस्थाओं में प्रचारित विचारों एवं आदर्शों का विद्यार्थी के चरित्र तथा भावी सामाजिक जीवन पर अमिट प्रभाव पड़ता है। ये संस्थाएँ विद्यार्थियों में नागरिक चेतना जागृत करती हैं, और नागरिकों के चरित्र-निर्माण में सहायक होती हैं, जिससे वे अन्य व्यक्तियों के मत को स्वीकार न कर स्वयं अपनी विवेक-बुद्धि तथा निर्णय से काम ले सकते हैं और न्याय, देशहित एवं उचित अधिकार व स्वतन्त्रता के लिये लड़ सकते हैं। जिस समाज में शिक्षा-संस्थाएँ अपने कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों को निभाने में सफल होती हैं, वहाँ जनमत के निर्माण में जनता भी सक्रिय भाग लेने की अधिकाधिक योग्यता प्राप्त करती है।

(8) धार्मिक, सांस्कृतिक तथा अन्य संस्थाएँ (Religious, Cultural and Other Institutions)—इन संस्थाओं से भी जनमत-निर्माण में सहयोग प्राप्त होता है। लोग समान हित के प्रश्नों पर विचारों का आदान-प्रदान करने के लिये इन संस्थाओं में सम्मिलित होते हैं। यहाँ अनेक मस्तिष्क मिलते और टकराते हैं, अर्थात् उनमें अन्तःक्रिया होती रहती है, जिसके फलस्वरूप नये-नये विचारों का जन्म होता है। ये विचार ऐसे होते हैं जो इस प्रकार जन्म नहीं लेते और अप्रसून ही रह जाते हैं। इस प्रकार ये संस्थाएँ अपने सदस्यों की मानसिक प्रक्रिया को गति तथा गम्भीरता प्रदान करती हैं, जिससे जनमत के निर्माण में सहायता मिलती है, लोग समस्याओं के सम्बन्ध में सही ढग से सोच सकते हैं, और ठोस हल तलाश सकते हैं।

जनमत-निर्माण के उपर्युक्त साधनों में भारत के लिये कौन-सा साधन सर्वोत्तम है—इस प्रश्न के उत्तर में हम अपनी राय सिनेमा के पक्ष में देते हुए श्री मार्क-

जनिक भाषण के महत्त्व को अस्वीकार नहीं कर सकते । भारत की जनता अन्य प्रगतिशील देशों की तुलना में बहुत अधिक अशिक्षित और बहुत ज्यादा गरीब है। वह अशिक्षित होने के कारण समाचार-पत्रों तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं आदि से लाभ उठा नहीं सकती। दूसरी ओर, गरीबी के कारण रेडियो खरीदना भी अधिकांश जनता के लिये आज भी एक सपना ही है। अतः रेडियो को भी सर्वोत्तम साधन नहीं माना जा सकता। उसके बाद सार्वजनिक भाषण का ही स्थान महत्त्वपूर्ण है—विशेषकर ग्रामीण जनता के लिये निश्चय ही। और, भारत गाँवों का ही देश है। गाँवों में सार्वजनिक भाषण न केवल राजनैतिक नेताओं द्वारा आयोजित किये जाते हैं, बल्कि इस सम्बन्ध में पंचायतों द्वारा बुलाई गई सभाओं का भी उल्लेख किया जा सकता है। इन पंचायतों तथा सार्वजनिक सभाओं में जो वाद-विवाद होते हैं, उनका प्रभाव जनमत के निर्माण पर बहुत ही अधिक पड़ता है। शहर में रहने वाली जनता के लिये सिनेमा न केवल मनोरंजन का सबसे सस्ता साधन है, बल्कि जनमत-निर्माण का भी माध्यम है। व्यक्तियों की मनोवृत्तियों एवं मूल्यों को निर्धारित करने एवं उनमें परिवर्त्तन करने का काफी श्रेय चलचित्रों को है। दहेज, छुआछूत, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह आदि भारतीय सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित अनेक चित्र बनाये जाते हैं, और उन्हें सभी वर्गों के लोग देखते हैं। इसमें विचारों को एक निश्चित दिशा मिलती है, और जनमत-निर्माण की प्रक्रिया में सहायता प्राप्त होती है। भारत-सरकार द्वारा प्रदर्शित जो 'न्यूज रील' हर सिनेमा-हाल में मुख्य चित्र के आरम्भ होने के पहले दिखाई जाती है, उससे लोगों को अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ या समाचार मिलते हैं। चल-चित्रों के द्वारा लोगों को अनेक प्रत्यक्ष सुझाव भी मिलते हैं, जिससे जनमत को बदल देने के प्रति झुकाव स्थायी रूप से बढ़ता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जनमत-निर्माण के साधन के रूप में भारत में सार्वजनिक भाषण और सिनेमा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं, यद्यपि रेडियो तथा समाचार-पत्रों के महत्त्व को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्रमुख जनमत के विकास के लिये आवश्यक परिस्थितियाँ
(Conditions for the Growth of Enlightened Opinion)

उसी समाज में प्रबुद्ध या उच्चकोटि के जनमत का विकास सम्भव है, जिसमें निम्नलिखित आवश्यक परिस्थितियाँ पायी जाती हैं—

1. सर्वसाधारण जनता सार्वजनिक मामलों में सक्रिय होती है और बुद्धि से रुचि लेती है। परन्तु, यह तभी सम्भव है जब देश के सभी नागरिक साक्षर हों। बिना उचित तथा पर्याप्त शिक्षा के मनुष्य में सामाजिक जीवन में पूर्ण योग देने की क्षमता नहीं आती। साथ ही, यह भी आवश्यक है कि शिक्षा-प्रणाली भी इस प्रकार की हो कि हर प्रकार की संकीर्णता से मुक्त हो और जनता के सर्वाङ्गीण विकास में सहायक हो।

2. देश में सम्पत्ति का न्यायोचित वितरण होना चाहिए। यदि देश की अधिकांश जनता निर्धन रहेगी तो उसका सारा समय दो जून रोटी-कपड़े को जुटाने की चिन्ता में ही लग जायेगा, और राजनैतिक विषयों में रुचि लेने के लिये उसके पास न तो समय होगा, और न उत्साह। निर्धन जनता के नैतिक पतन की भी सम्भावना बराबर रहती है। इस कारण निर्धनता का उन्मूलन तथा देश के

प्रत्येक नागरिक के लिये एक न्यूनतम आर्थिक स्तर की व्यवस्था उचित जनमत के निर्माण की एक अनिवार्य शर्त है।

3. देश की जनता के सदस्यों में हितों की समानता होना आवश्यक है। उनमें समान आकांक्षाओं तथा परम्पराओं से अनुप्राणित होने की क्षमता एवं विचारों के आदान-प्रदान तथा पारस्परिक सहानुभूति एवं सहिष्णुता की प्रवृत्ति होनी चाहिए। साथ ही, उनमें सार्वजनिक कार्यों में हिस्सा लेने का उत्साह होना चाहिए।

4. देश के समाचार-पत्रों, रेडियो आदि संदेश-वाहन के साधनों का निष्पक्ष तथा ईमानदार होना भी आवश्यक है। यदि समाचार-पत्र, रेडियो आदि धार्मिक, पूँजीवादी अथवा साम्प्रदायिक हितों के अधीन रहेंगे तो वे जनता को सही समाचार नहीं दे सकेंगे। नतीजा यह होगा कि जनता के पास किसी समस्या के सम्बन्ध में सही धारणा बनाने का कोई साधन नहीं होगा।

5. देश के राजनैतिक दलों के समस्त कार्यक्रमों का उद्देश्य जनता का सर्वाधिक हित होना चाहिए। यदि ये दल धार्मिक, जातीय अथवा साम्प्रदायिक विभिन्नताओं पर आधारित होंगे तो वे साम्प्रदायिक घृणा, धार्मिक अन्धविश्वास तथा जातीय अनुदारता का प्रचार करके सामाजिक जीवन के सम्पूर्ण वातावरण को दूषित बना देंगे, और ऐसे वातावरण में सही जनमत का निर्माण असम्भव हो जायेगा।

6. अन्त में, अल्पसंख्यकों को समस्त वैधानिक एवं शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा अपने विचारों के प्रचार की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस अधिकार के बिना अल्पसंख्यकों को यह विश्वास नहीं होगा कि शासन की नीति बहुमत की सुनिश्चित इच्छाओं के अनुसार है, तथा उस सच्चे जनमत की अभिव्यक्ति करने वाली है, जिसका उन्हें आदर करना चाहिए।

जनमत का महत्व
(Importance of Public Opinion)

जनमत का महत्त्व विशेषकर उन समाजों में अत्यधिक होता है जहाँ प्रजा-तन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था होती है। वास्तव में सबल तथा प्रभावपूर्ण जनमत के बिना प्रजातन्त्र सार्थक नहीं हो सकता। पर, बहुधा देखा ऐसा गया है कि जनमत की निन्दा या गुणगान करने में लोग इतने अधिक संवेगात्मक मनोभाव का परिचय देते हैं कि उनके कथन में वैज्ञानिकता रह ही नहीं जाती। उदाहरणार्थ, श्री वर्ड्सवर्थ ने जनता को 'अनैतिक जानवर' कहा है, जिसमें न समझ है और न सूझबूझ। हाल में कुछ लेखकों ने जनमत को मूल्यहीन कहकर इस आधार पर टाल दिया है कि यह अस्थिर होता है और प्रायः सुझावों के कारण ही अस्तित्व में आता है। दूसरी ओर ऐसे भी विद्वान् हैं जिनका यह दावा है कि जनमत श्रेष्ठ से श्रेष्ठ व्यक्ति के मत से अधिक दूरदर्शितापूर्ण और विश्वास के योग्य होता है। श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) का कथन है कि इन परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों पर विचार करते समय हमें इस बात को याद रखना चाहिए कि जनमत को अनैतिक व अर्थहीन कहना उतनी ही बड़ी भूल है जितनी कि उसे हमेशा सर्वोच्च मान लेना। वास्तव में सच्चाई कहीं इन दोनों के बीच में स्थित है।

जनमत शासक के कार्यों पर नियंत्रण और उनका नियमन इस प्रकार करता है कि उससे नागरिकों के सर्वोच्च कल्याण में अभिवृद्धि होती है। जनमत के द्वारा जनता को सरकार पर नियन्त्रण रखने का अवसर मिलता है। जनमत स्वेच्छाचारी शासक के अत्याचार के विरुद्ध ही नहीं, अपितु किसी भी राजनैतिक बहुमत के अत्याचार के विरुद्ध भी ढाल का काम करता है। इस अर्थ में जनमत एक निषेधक तत्त्व भी है। यह विभिन्न संस्थाओं के सदस्यों को लोकहित के विरुद्ध कार्य करने से रोकता है।

जनमत जनता को प्रगति के पथ पर अग्रसर करता है। जनमत के परिणाम-स्वरूप लोग उदासीनता की नींद से जाग जाते हैं, उनकी राजनैतिक तथा सामाजिक प्रगतिहीनता का नाश हो जाता है, और वे सामाजिक कल्याण के कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेने लगते हैं। जनमत जनता की स्वतन्त्रता की रक्षा करता है क्योंकि उससे शासन को स्वेच्छाचारी बनने का अवसर नहीं मिल पाता।

प्रजातन्त्र की परिभाषा करते हुए इसे 'जनमत का शासन' बताया गया है, और यह सत्य भी है। प्रजातन्त्र में जनमत जनता की नाड़ी के समान होता है। उसके बल पर ही जनता जीवित रहती तथा प्रगति की ओर बढ़ती है। जनता के साथ चलने के लिये प्रत्येक शासक को अपनी उँगली जनता की इस नाड़ी पर रखनी पड़ती है। वास्तव में प्रत्येक आधुनिक राज्य में शासन की सफलता जनता के निर्माण तथा अभिव्यक्तीकरण की प्रणाली पर निर्भर करती है। श्री गैसेट का कथन है—"जनमत के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को शासन का भौतिक आधार बनाकर धरती पर कोई कभी शासन कर ही नहीं सका है।"

सरकार को सफलतापूर्वक चलाने में जनमत के महत्त्व की चर्चा करते हुए श्री गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने लिखा है[20]—

(i) जनमत का महत्त्व मत होने में नहीं, बल्कि 'जनता का मत' होने में है। जनता की स्वीकृति और अस्वीकृति एक जबर्दस्त ताकत है, और यद्यपि वह हमेशा ही बुद्धि से काम नहीं लेती, फिर भी जो लोग समाज में सत्ताधारी व प्रभावशाली होते हैं, उनके इरादों पर लगाम लगाने का काम वह अवश्य ही करती है। इस दृष्टि से जनमत का मूल्य नयी बात पैदा करने में नहीं है, अपितु उसके नियंत्रित रखने की शक्ति में है।

(ii) जनमत का सरकार के लिये महत्त्व इस कारण भी है कि जनता एक बहुत बड़े आकार का जीवित तथ्य होता है, और उसकी उपेक्षा करना कभी खतरे से खाली नहीं हो सकता। शासन, सम्मति से होना चाहिए। जनमत इसी सम्मति की सजीव अभिव्यक्ति है।

(iii) जनता ही वास्तव में जनमत के माध्यम से, यह बतला सकती है कि शासन में क्या कमियाँ हैं, क्योंकि वह उसी के द्वारा शासित होती है। जूता पहनने वाला ही जानता है कि जूता कहाँ काट रहा है; मेहमान किसी दावत के पकवानों के बारे में पकाने वाले की अपेक्षा कहीं अच्छा निर्णय दे सकता है।

(iv) जनमत के द्वारा ही जनता के शासन की सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि इसके द्वारा जनता को शिक्षा मिलती है। जनता सोचना केवल तभी सीख सकती है, जब वह सोचे, बिलकुल उसी तरह जैसे वह अपने ऊपर शासन करना तभी सीख सकती है, जब वह अपने ऊपर शासन करे।[21] श्री बर्न्स (Burns) ने भी लिखा

है, "शासन की सभी प्रणालियाँ शिक्षा के स्रोत हैं, परन्तु सर्वोत्तम शिक्षा स्वशिक्षा है। इसलिये सर्वोत्तम शासन स्वायत्त शासन, अर्थात् प्रजातंत्र है।"[22]

जनमत की माप
(Measurement of Opinion)

जनमत की माप विभिन्न तरीकों से हो सकती है। उनमें से कुछ लोकप्रिय विधियाँ हैं—

1. अनौपचारिक विधि (Informal Method)—जनमत की माप करने का यह सबसे सरल तरीका है। इस विधि के अन्तर्गत लोगों के साथ अनौपचारिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है, और फिर उनसे बातचीत करने के दौरान समस्या-विशेष के सम्बन्ध में उनके विचारों को जानने का प्रयत्न किया जाता है—विशेष रूप से उनके विचारों को जागृत करने के लिये समस्या से सम्बन्धित कुछ प्रश्न पूछे जाते हैं। नेता प्रायः इस विधि का प्रयोग करते हैं, और लोगों से बातचीत करते-करते यह जान लेते हैं कि उनके विचारों से कितने लोग सहमत हैं, और कितने असहमत।

2 पोल विधि (Poll Method)—जनमत को मापने की सबसे महत्त्वपूर्ण एवं आधुनिक विधि यही पोल विधि है। अमेरिका के राष्ट्रपति के चुनाव की भविष्यवाणी करने के लिये इस विधि का सर्वप्रथम डॉ० गैलप (G. H. Gallup) ने प्रयोग किया था। तब से इस विधि की लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। इसमें समस्या या विषय से सम्बन्धित कुछ प्रश्नों की एक अनुसूची बनाई जाती है। ये प्रश्न इस प्रकार से तैयार किये जाते हैं कि उनका उत्तर, उत्तरदाताओं की भावनाओं पर आघात किये बिना, 'हाँ' या 'नहीं' में या ऐसे ही कुछ अल्प शब्दों में पाया जा सके। इन प्रश्नों को पहले डाक द्वारा अनेक लोगों को भेज दिया जाता था। पर, यह देखा गया है कि जिन्हें प्रश्नावली भेजी गयी, उनमें से अनेक लोगों ने जवाब तो यथास्थान भरे, पर प्रश्नावली लौटाई नहीं। इस कारण अब जनसंख्या में से कुछ ऐसे व्यक्तियों को चुन लिया जाता है जो उस समूह का वास्तविक प्रतिनिधित्व करते हैं। फिर साक्षात्कार-विधि द्वारा उन चुने हुए लोगों से उन प्रश्नों के उत्तर ले लिए जाते हैं। फिर, इन उत्तरों का वर्गीकरण करके कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाल लिये जाते हैं। यदि व्यक्तियों का चुनाव ठीक ढंग से किया जाता है तो इस विधि से निकले हुए निष्कर्ष बहुत ही सही उतरते हैं।

वास्तव में जनमत एक अमूर्त (abstract), जटिल तथा परिवर्तनशील घटना (phenomenon) है। अतः इसकी यथार्थ माप यदि असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य ही है।

REFERENCES

1. "The public may be described as an unorganized and amorphous aggregation of individuals who are bound together by common opinion and desires, but are too numerous for each to maintain personal relations with the others."—*Morris Ginsberg*, Psychology of Society, (Methuen and Co. Ltd.), 1954, p. 137.

2. . .'public' refers to a rather loosely organized and conjoined grouping of people with a common interest."—*Kimball Young*, Handbook of Social Psychology, (Routledge and Kegan Paul, London), 1957, p. 333
3. "An opinion is a belief somewhat stronger or more intense than a mere notion or impression but less stronger than positive knowledge based on complete or adequate proof. Opinions are really beliefs about a controversial topic."—*Kimball Young*, op. cit., 1953 edition, pp. 430-431.
4. "The term "*opinion*" refers to an idea, conviction, or belief which is short of complete certainty."—*Kimball Young*, op. cit., 197 edition, p. 333
5. "By public opinion is meant the mass of ideas and judgments operative in a community which are more or less definitely formulated and have a certain stability and are felt by the people, who entrtain or hold them to be social in the sense that they are a result of many minds acting in common."—*Morris Ginsberg*, op. cit., p. 141.
6. "Public opinion is the social judgment of self-conscious community on a question of general importance after rational public discussion."—*James T. Young*, Quoted by W.B. Graves (ed.), Readings in Public Opinion, p. 102.
7. "......public opinion is judgment which is formed and entertained by those who constitute the public and is about public affairs."—*John Dewey*, The Public and its Problems, p 177.
8. "Thus Public opinion consists of opinions held by people of a smaller or a larger community about a particular problem at a cetain time."—*B. Kuppuswamy*, op. cit. p. 222.
9. "Public opinion is like a harp of a million strings upon which there play winds from all directions. The sounds that emerge are not always unitary or harmoneous. The most varied streams of melody cut through each other."—*Ginsberg*, op. cit., p. 143.
10. "It is subject to constant change both in regard to the objects on which it is directed and in regard to the mental elements, through which it works. Now it demands this, now that. To-day it works on the passions : tomorrow it makes appeal to calm deliberation." *Ibid.*, p. 143.
11. "In order that an opinion may be public a mojority is not enough, and unainmity is not required, but the opinion must be such that while the minority may not share it, they feel bound, by conviction not by fear, to accept it ; and if democracy is complete the submission of the minority must be given ungrudingly."—*A. Lawrence Lowell*, Public Opinion and Popular Govenment, p. 15.

12. *Ibid.*, p. 223.
13. "Thus public opinion is a process which is continually changing both because the issues of controversy may change from time to time and because the prevailing opinion regarding particular issues may also change from time to time."—*Ibid.*, p. 223.
14. *Ibid.*, p. 223
15. Kimball Young, op. cit., pp. 334-335.
16. "In any case, the essence of the first stage is an attempt to state the issue in such terms as will permit its discussion by individuals and groups."—*Ibid.*, p. 334.
17. "This stage is important because by this time the issue is usually sharply drawn and the major decisions may be controlled not only by rational but by irrational factors."—*Ibid.*, p. 335
18. "With the invention of printing and later of the telegraph, telephone and radio, opinion formation became distinctly indirect and subject to greater variety and influences."
19. "If political parties always distort public opinion in some degree, they also prevent the still large distortion caused by sudden waves of excitement."—***Lowell***.
20. Morris Ginsberg, op. cit., Hindi edition, pp. 221-224
21. "The public can only learn to think by thinking just as it can only learn to govern itself by governing itself."—*Ibid.*, p. 223
22. "All government is a method of education, but the best education is self-education, therefore the best government is self-government which is democrat."—***C.D. Burns***.

अध्याय 21

प्रचार तथा प्रेस

[PROPAGANDA AND PRESS]

"प्रचार एक अच्छा शब्द है जो बुरा बन गया है।"

—Katherin Gerould.

आधुनिक युग प्रचार का युग है। सत्य को झूठ और झूठ को सच बनाने का यह साधन अपने रूप में अनूठा है। यह बात स्पष्ट है कि आदिकालीन समाजों में आवश्यकतायें व वस्तुएँ दोनों ही सीमित होती थी। इसलिये चुनाव (selection) की समस्या कोई समस्या ही नहीं थी। क्योंकि मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति उपलब्ध साधनों से ही सम्भव थी। अतः ऐसे समाजों में प्रचार की भी आवश्यकता नहीं होती थी। परन्तु, आधुनिक समाजों में परिस्थितियाँ बिलकुल ही भिन्न हैं। इन समाजों का आकार बहुत बड़ा होता है और स्वरूप अत्यन्त जटिल। असंख्य लोगों की असंख्य आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये असंख्य प्रकार की चीजों का उत्पादन किया जाता है। धर्म भी एक नहीं अनेक हैं। प्रथाओं, परम्पराओं समूहों और उपसमूहों में बँटा हुआ है। सब अपने-अपने स्वार्थों की अधिकतम पूर्ति चाहते हैं। इस अधिकतम पूर्ति के भी हजारों उपाय हैं। संक्षेप में, आधुनिक सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चुनाव के लिये अनेक विकल्प (alternative) सामने हैं। इनमें से किसको चुना जाय, यह एक बहुत बड़ी समस्या है। प्रचार इसी समस्या का समाधान है। प्रचार के द्वारा हमारे मन में एक वस्तु या विषय के दोषों या गुणों के बारे में कुछ निश्चित धारणाएँ पनपा दी जाती हैं, जिससे हम एक विशेष वस्तु या विषय को चुन लें या बुरा समझकर उसे त्याग दें। संक्षेप में, आधुनिक मानव के व्यवहार को नियंत्रित करने में प्रचार की शक्ति को आज कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। पर, इस सम्बन्ध में और कुछ लिखने से पहले, यह बता देना आवश्यक होगा कि प्रचार कहते किसे हैं?

प्रचार का अर्थ व परिभाषा
(Meaning and Definition of Propaganda)

प्रचार का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द Propaganda है। यह शब्द लैटिन शब्द Propagare से निकला है, जिसका अर्थ उगाना, बढ़ाना या विकास करना है। इस अर्थ में प्रचार एक कृत्रिम विधि है, जिसके द्वारा हम किसी भी चीज को जान-बूझ कर उत्पन्न करते हैं या उसे फैलाते हैं। यह काम स्वाभाविक रूप में या प्राकृतिक ढंग से नहीं होता, बल्कि अस्वाभाविक तथा सभ्यतामूलक ढंग से किया जाता है। श्री लूमले (Lumley) ने प्रचार के इस शाब्दिक अर्थ को समझाते हुए लिखा है, "प्रचार अपने आप जन्म नहीं लेता; वरन् यह विधान उत्पत्ति है।"[1] इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रचार के द्वारा कुछ विचारों, विश्वासों या व्यवहार-प्रतिमानों को पनपाने तथा उनको प्रसारित करने का सचेत प्रयत्न किया जाता है।

वास्तव में प्रचार वह विधि है, जिसके द्वारा अन्य लोगों के विचार, मत; या व्यवहार को परिवर्तित करने के उद्देश्य से, सुझाव इस भाँति प्रस्तुत

किये जाते हैं कि वह प्रभावपूर्ण हो और प्रचार के उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव हो।

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) के अनुसार, "पहले मतों, विचारों तथा मूल्यों को बदलने व नियंत्रित करने और अन्तिम रूप में बाह्य क्रियाओं को पूर्व-निश्चित दिशाओं में परिवर्तित करने के उद्देश्य से मुख्यत: सुझावों व उससे सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक प्रविधियों (techniques) के माध्यम से प्रतीक के बहुत-कुछ जान-बूझकर आयोजित व क्रमबद्ध प्रयोग को प्रचार कहते हैं।"[2] और भी सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रचार जान-बूझकर आयोजित व क्रमबद्ध रूप में किया गया प्रतीक का प्रयोग है। यह प्रतीक सुझाव व उससे सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक प्रविधियों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, और इसका उद्देश्य पहले तो दूसरे लोगों के मतों, विचारों तथा मूल्यों को बदलना व नियन्त्रित करना होता है, ताकि अन्तिम रूप में उनकी बाह्य क्रियाओं को भी पूर्वनिश्चित दिशाओं की ओर मोड़ा जा सके।

श्री डूब (Doob) के शब्दों में, "प्रचार सम्बन्धित व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के द्वारा, सुझावों की सहायता से, व्यक्तियों के समूहों की मनोवृत्तियों तथा क्रियाओं को नियंत्रित करने का एक क्रमबद्ध प्रयत्न है।"[3] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि श्री डूब ने प्रचार को एक क्रमबद्ध प्रयत्न या जान-बूझकर किया जाने वाला एक कार्य माना है। यह प्रयत्न वे लोग ही करते हैं, जिनका कोई स्वार्थ (interest) होता है। प्रचार किसी न किसी स्वार्थ या उद्देश्य की पूर्ति के लिये व्यक्ति या व्यक्तियों द्वारा जान-बूझकर किया जाने वाला एक प्रयास है। इस प्रयास में सम्बन्धित व्यक्ति दूसरों के सम्मुख कुछ सुझाव प्रस्तुत करता है, और यह प्रयत्न करता है कि उनके द्वारा दूसरे लोगों की मनोवृत्ति को नियंत्रित कर ले, जिससे उसकी क्रियाओं को भी नियं-त्रित करना सम्भव हो सके।

श्री लास्वेल (Lasswell)[4] ने लिखा है कि किसी उद्देश्य के लिये एक अथवा एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा अन्य व्यक्तियों के विचारों और रुचियों को, सुझाव की सहायता से, नियंत्रित करके मनोनीत कार्य कराने की योजना ही प्रचार है। श्री लास्वेल ने प्रचार की परिभाषा को एक दूसरे प्रकार से भी प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार "सर्वाधिक विस्तृत अर्थ में, प्रचार प्रतिनिधित्वों (representations) के कुशलतापूर्वक प्रयोग द्वारा मानव-क्रिया को प्रभावित करने की प्रविधि है।"[5]

श्री ऐश (Asch)[6] का कहना है कि प्रचार संगठित शक्तियों द्वारा स्था-भावों (sentiments) और मतों में परिवर्तन लाने का संकल्पित (determined) प्रयास है। ये संगठित शक्तियाँ एक अथवा अनेक व्यक्तियों द्वारा विचारों और क्रियाओं का इस प्रकार प्रदर्शन कराती हैं कि अन्य व्यक्तियों के विचार और क्रियायें बहुत अधिक प्रभावित हो जाती हैं और इनके उन शक्तियों के संकल्पित तथा पूर्व-निश्चित उद्देश्यों का ही समर्थन होने लगता है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम प्रचार के मनोविज्ञान के निम्नलिखित तत्वों का उल्लेख कर सकते हैं—

1. प्रचार व्यक्तियों के विचारों, रुचियों, मतों और अन्तिम रूप में क्रियाओं के बदलने की एक निश्चित विधि, प्रयास या संकल्प है।

2. इस संकल्प, प्रयास या विधि का प्रयोग अचेतन रूप में नहीं, अपितु जान-बूझकर या सचेत रूप में, पहले से ही योजना बना कर, एक क्रमबद्ध ढंग से किया

जाता है। प्रचार एक सगठित प्रयास है।

3. प्रचार कभी भी उद्देश्यविहीन नहीं होता। प्रचार की प्रेरक शक्ति कोई न कोई उद्देश्य, हित या स्वार्थ होता है। वास्तव मे प्रचार में उस व्यक्ति या समूह के स्वार्थ की बू ही अधिक आती है, जो इस प्रचार-कार्य में अपने को लगाता है। इस प्रचार-कार्य को आरम्भ करने से पहले ही स्वार्थ-विशेष या उद्देश्य निश्चित कर लिया जाता है।

4. प्रचार के लिये एक आवश्यक शर्त यह है कि जिस विषय, वस्तु या व्यक्ति के सम्बन्ध में प्रचार किया जा रहा होगा, उसके एकाधिक विकल्प (alternatives) अवश्य ही होंगे। जिसका कोई विकल्प नहीं होगा, उस वस्तु, विषय या व्यक्ति के सम्बन्ध में प्रचार का कोई प्रश्न ही नहीं उठेगा।

5. प्रचार की सबसे प्रमुख मनोवैज्ञानिक प्रविधि सुझाव है। सुझाव देने के मनोवैज्ञानिक तरीकों से ही एक पक्ष दूसरे पक्ष के सम्मुख, एक पूर्वनिर्धारित प्रस्ताव इस भाँति रखता है कि वह प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्ति को अपील करे और वह प्रस्ताव को ग्रहण कर ले।

6. प्रचारकर्त्ता सबसे पहले दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों के विचार, मत, व मूल्य आदि को परिवर्तित व नियन्त्रित करने का प्रयत्न करता है। पर, अन्तिम रूप मे वह उस व्यक्ति या उन व्यक्तियों की बाह्य क्रियाओं को ही बदलना चाहता है। इसके लिये वह संवेगात्मक अपील करता है, वाक्य-चातुरी का प्रयोग करता है, लोगों का ध्यान कुशलतापूर्वक अपने विषय की ओर आकर्षित करके उस आकर्षण को बनाये रखने का प्रयत्न करता है तथा लोगों को यह समझने नहीं देता कि वह अपने ही किसी उद्देश्य या स्वार्थ की पूर्ति के हेतु सुझाव प्रस्तुत कर रहा है।

7. श्री बिडिल (Biddle)[7] ने लिखा है, "दूसरों को बाध्य करने की अनेक विधियों द्वारा व्यक्ति के मन में संवेगात्मक बाधाओं, अवरोध-विरोध की भावनाओं व क्षतिपूर्ति के प्रयासों का विकास हो जाता है। प्रचार इन विधियों से भिन्न है। प्रचार, एक ओर, अन्य व्यक्तियों के भावों का नियंत्रण करता है, तो दूसरी ओर, विरोधी संवेगों का संचार नहीं होने देता। प्रचार के फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति ऐसा व्यवहार करता है जैसे कि उसकी प्रतिक्रियायें स्वयं उसके अपने ही निर्णय के आधार पर हुई हों। प्रचार द्वारा अनेक व्यक्तियों को समान कार्य के लिये बाध्य किया जा सकता है, और बाह्य रूप में प्रत्येक व्यक्ति यही समझ सकता है कि वह अपने ही निर्णय के आधार पर कार्य कर रहा है।"

सुझाव प्रचार की क्रियाशीलता की कुन्जी है
(Suggestion is the Key to the Operation of Propaganda)

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) के मतानुसार, "सुझाव (suggestion) प्रचार की क्रियाशीलता की कुंजी (key) है।"[8] जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, प्रचार की सबसे प्रमुख मनोवैज्ञानिक प्रविधि (technique) सुझाव ही है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि प्रचार वह प्रभावपूर्ण सुझाव है, जो व्यक्ति के विचारों, मनोवृत्तियों और क्रियाओं को परिवर्तित करने में सफल होता है। अर्थात्, सुझाव वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा किसी विश्वास अथवा क्रिया के प्रस्ताव को बिना किसी तार्किक या प्रामाणिक आधार के स्वीकार कर लिया जाता

है। प्रचारकर्ता भी यही चाहता है कि जो भी प्रस्ताव वह प्रस्तुत कर रहा हो, उसे लोग, बिना किसी छानबीन के, उचित मानकर स्वीकार कर लें। इसलिए वह *सुझाव की प्रविधि को ही अपनाता है। प्रचार में सुझाव को संवेग का बाना पहनाकर* प्रस्तुत किया जाता है। प्रचार मे संवेगात्मक सुझावों के द्वारा ही प्रेरणाओं, इच्छाओं और आवश्यकताओं को जागृत किया जा सकता है। साथ ही, व्यक्ति के मन में पहले से ही विद्यमान प्रेरणाओं, इच्छाओं आदि को और भी अधिक प्रबल बनाया जा सकता है। इसके लिये भी सुझाव की प्रविधियों को अपनाया जाता है। सुझाव की भाँति प्रचार मे भी एक प्रस्ताव को बार-बार दोहराया जाता है, ताकि लोग उसे सच मान लें। यही कारण है कि व्यावहारिक प्रचार में विज्ञापन को बार-बार समाचार-पत्र, पत्रिकाओं मे प्रकाशित कराया जाता है। प्रचार में इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि सुझाव या प्रस्ताव ऐसे व्यक्तियों के द्वारा लोगों के सामने प्रस्तुत किये जायें, जो समाज में मान्य, प्रतिष्ठित व प्रभुतासम्पन्न हों। पिछले आम चुनाव के पहले कांग्रेस-दल का प्रचार करने के लिये श्री नेहरू को सारे देश का भ्रमण करना पड़ा था, क्योंकि उनके लिये देश की जनता के दिल में बहुत आदर था। इसी प्रकार विज्ञापनों मे माला सिन्हा, शर्मिला टैगोर, हेमा मालिनी, जीनत अमान आदि चित्रपट की श्रेष्ठ तारिकाओं के चित्र तथा उनकी सम्मति देकर साबुन या क्रीम आदि की श्रेष्ठता व उपयोगिता का प्रचार किया जाता है। इस प्रकार प्रतिष्ठा-सुझाव (prestige suggestion) प्रचार का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रचार के विषय को अक्सर लोगों की सामान्य आवश्यकताओं से सम्बन्धित कर दिया जाता है, ताकि जो सुझाव प्रस्तुत किया जाय, उसे लोग तत्परता के साथ स्वीकार कर लें। इस रूप में भी सुझाव ही प्रचार की क्रियाशीलता का आधार है। इतना ही नहीं, प्रचार मे भी सुझाव की भाँति यह प्रयत्न किया जाता है कि लोग यह न समझें कि प्रचारकर्ता कुछ निश्चित हितों *की पूर्ति के उद्देश्य को लेकर ही कार्य कर रहा है।* प्रचार में सुझाव को इस प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है कि लोग अपने को एक निश्चित उलझी हुई, जटिल परिस्थिति में पायें और उस अवस्था मे उन्हें यह विश्वास हो जाय कि प्रचारकर्ता ही उनका वास्तविक त्राणकर्ता है। इस प्रकार प्रचारकर्ता लोगों की उलझनों, अज्ञानता, अन्धविश्वास आदि से फायदा उठाकर सुझाव इस भाँति प्रस्तुत करता है कि उसे सहज ही स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रकार हम इसी अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सुझाव प्रचार की क्रियाशीलता की कुंजी है। सुझाव जितना प्रभावपूर्ण होगा, उसकी सफलता भी उतनी ही अधिक सुनिश्चित होगी।

सुझाव प्रचार की क्रियाशीलता की कुंजी है, यह बात इस तथ्य से भी प्रमाणित होती है कि प्रचार की सफलता सुझाव की प्रकृति पर ही निर्भर है। दूसरे शब्दों में यदि हमें सफल प्रचार की आवश्यक शर्तों (conditions for successful propaganda) का विश्लेषण करना है तो वह विश्लेषण वास्तव में सफल सुझाव का ही विश्लेषण होगा, जिसे कि सर्वश्री क्रेच और क्रचफील्ड (Krech and Crutchfield) ने 'प्रचार का सिद्धान्त' (principle of propaganda) कहा है। इन विद्वानों के अनुसार सुझाव और प्रचार का पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार दर्शाया जा सकता है—

(1) वह सुझाव जो किसी वर्तमान आवश्यकता की पूर्ति करने वाला प्रतीत होता है, उस, सुझाव की अपेक्षा जल्दी स्वीकार कर लिया जाता है जो आवश्यकता की पूर्ति करने वाला नहीं होता।[9] एक सफल प्रचारक अपने प्रचार को किसी वर्तमान आवश्यकता से जोड़ने का प्रयत्न करता है, चाहे वह सम्बन्ध कितना ही तर्कहीन क्यों न हो। जहाँ प्रचार के साथ जोड़ी जा सकने वाली कोई तात्कालिक आवश्य-

कता नहीं होती, वहाँ प्रचारक पहले आवश्यकता उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है। उदाहरणार्थ, यदि विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता से सम्बन्धित किसी अधिनियम (legislation) की कोई जगह नहीं होती, तो प्रचारक पहले विद्यार्थियों द्वारा अक्सर ही की गई हड़तालें, दंगा-फसाद आदि की ओर लोगों का ध्यान समाचार-पत्रों, लेखों, रेडियो आदि के द्वारा निरन्तर आकर्षित करता है, और विद्यार्थियों के व्यवहार को नियंत्रित करने के लिये अधिनियम की आवश्यकता के पक्ष में जनमत जागृत करता है। उसके बाद ही कहीं जाकर अधिनियम से सम्बन्धित अपने सुझाव प्रस्तुत करता है।

(2) एक स्पष्ट स्थिति से सम्बन्धित सुझाव की अपेक्षा एक अस्पष्ट स्थिति से सम्बन्धित सुझाव अधिक सरलता से स्वीकार किया जाता है।[10] अच्छा प्रचारक उचित अवसर की तलाश में रहता है। सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन के फलस्वरूप जब लोग एक गड़बड़ी की स्थिति में होते हैं और उन्हें इस नयी, अस्पष्ट व अनिश्चित परिस्थिति से सामंजस्य करने के लिये दूसरों की सहायता की आवश्यकता होती है तो उस नाजुक स्थिति का पूरा-पूरा फायदा प्रचारक उठाता है, क्योंकि वह जानता है कि उस हालत में लोग उसके सुझाव को बहुत ही तत्परता से स्वीकार कर लेंगे। अतः स्पष्ट है कि प्रचारक दूसरों की परेशानी का फायदा उठाता है, अर्थात् जैसा कि सर्वश्री क्रेच और क्रचफील्ड का कथन है, 'वह गन्दे पानी में शिकार करता है' (He fishes in muddy waters)।

(3) वह सुझाव अधिक सरलता से स्वीकार किया जाता है, जो लोगों के विश्वासों व विचारधाराओं के अनुकूल होता है, बनिस्बत उन सुझावों के जो ऐसे नहीं होते।[11] एक अच्छा प्रचारक सबसे पहले अपने प्रचार के केन्द्र—लक्ष्य-समूह (target group) के सामान्य विश्वासों, मनोवृत्तियों, आदर्शों तथा जीवन-दर्शन—को जानने का प्रयत्न करता है, और फिर अपने सुझावों की रचना इस प्रकार करता है कि वे इन विश्वासों, आदर्शों आदि के अनुकूल पड़ें। जहाँ ऐसा करना सम्भव नहीं होता, वहाँ वह पहले लोगों की विश्वास-प्रणाली को बदलने का प्रयत्न करता है, और फिर उसके अनुकूल सुझाव सामने रखता है।

(4) वह सुझाव अधिक सरलता से स्वीकार किया जाता है, जो व्यक्ति की दृष्टि में परिचित वस्तु की नयी विशेषतायें जोड़ सके, बनिस्बत उस संकेत के जो ऐसा नहीं कर पाता।[12] कोई भी अच्छा प्रचारक विश्वास की वस्तु के अनुसार अपने सुझाव की रचना करने का प्रयत्न करता है, बजाय इसके कि वह स्वयं उस विश्वास पर चोट करे। वह उस वस्तु की विस्तारपूर्वक व्याख्या करता है, और उसकी उन विशेषताओं के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित करता है, जो उसके प्रचार के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक सिद्ध हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, किसी विशेष चलचित्र का प्रचार करने वाला प्रचारक उस चित्र की विशेषताओं व अच्छाइयों की चर्चा करता है, इसके दो-एक गीतों की झलक दिखाकर उस चित्र की संगीत-सम्पदा के प्रति लोगों का ध्यान खींचता है, और चित्र में सम्मिलित हास्य-विनोद की बातें कहकर लोगों में यह विश्वास उत्पन्न करता है कि यह चित्र उनका मनोरंजन करने में सचमुच सफल होगा। अगर प्रचारक इतना कर पाता है तो उसका प्रचार सार्थक होता है।

(5) वह सुझाव अधिक सरलता से स्वीकार किया जाता है, जो इस ढंग से प्रस्तुत किया जाता है कि लोग दूसरे लोगों से समीकरण करने की आवश्यकता का अनुभव करने लगते हैं, बनिस्बत उस संकेत के जो ऐसा सामाजिक समर्थन प्राप्त

नहीं कर पाता।[13] कोई भी अच्छा प्रचारक अपने संकेतों को प्रतिष्ठित व्यक्तियों के द्वारा कहलवाने का प्रयत्न करता है, या लोगों के दिल में यह विश्वास उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है कि अधिकतर व्यक्ति उससे सहमत हैं या सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति ऐसा ही करते हैं। प्रचारक हमेशा यह दिखलाने का प्रयत्न करता है कि जो कुछ वह कह रहा है, वह उसका व्यक्तिगत मत नहीं है; वह तो जनता की पुकार है। अतः हर किसी को उस गौरव में हिस्सेदार बनने का प्रयत्न करना चाहिए। उदाहरणार्थ "बीस लाख व्यक्ति आज 'हिन्द' साइकिल का प्रयोग कर रहे हैं; आप भी आज ही एक हिन्द साइकिल खरीद कर देखिए।"

(6) वह सुझाव अधिक सरलता से स्वीकार किया जाता है, जो संवेग उत्पन्न करने के सिद्धान्तों का प्रभावपूर्ण प्रयोग करता है, बनिबस्त उस सुझाव के जो इन सिद्धान्तों की अवहेलना करता है।[14] संवेगात्मक स्थिति सुझाव-ग्रहणशीलता को बहुत अधिक बढ़ा देती है। इस कारण एक अच्छा प्रचारक अपने सुझाव को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि संवेग जागृत हो सके। वह संवेगों को उभारने वाले शब्दों का प्रयोग करता है, पौराणिक कथाओं को दोहराता है, और कुछ बीती हुई संवेगपूर्ण परिस्थितियों का उल्लेख करता है, जिससे लोगों में उत्तेजना उत्पन्न हो और वे उसके सुझाव को तत्परता से ग्रहण कर लें। यदि प्रचारक को किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा प्रचार-कार्य करवाना होता है तो वह ऐसे वक्ताओं और लेखकों को चुनता है, जिनकी आवाज, शक्ल-सूरत, वेशभूषा, शब्दों का प्रयोग, स्वर का उतार-चढ़ाव, उच्चारण आदि लक्ष्य-समूह (target group) को पसन्द होते हैं।

(7) विरोधी प्रचार का सामना सर्वाधिक प्रभावपूर्ण ढंग से किया जा सकता है।[15] एक अच्छा प्रचारक अपने विरोधी प्रचारक की प्रविधियों का भण्डाफोड़ करने में समय नष्ट करने के बजाय प्रभावपूर्ण विरोधी सुझावों (counter suggestions) को प्रस्तुत करता है। उसका विरोधी संकेत भी सभी प्रभावपूर्ण हो सकता है, जब वह उपर्युक्त छः शर्तों को, विशेषकर प्रथम शर्त को पूरा करे, अर्थात् वर्तमान-आवश्यकता की पूर्ति करने वाला मालूम पड़े। सर्वश्री क्रेच और क्रचफील्ड ने कहा है कि "सर्वोत्तम प्रचार का विरोधी प्रचार वह सामाजिक और आर्थिक प्रणाली है, जो सर्वाधिक अवसरों पर सर्वाधिक लोगों की सर्वाधिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है।"[16]

प्रचार का मनोवैज्ञानिक आधार या प्रचार का मनोविज्ञान (Psychological Basis or Psychology of Propaganda)

श्री किम्बल यंग के मतानुसार प्रचार के किसी भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के सिलसिले में निम्नलिखित चार आधारों को याद रखना चाहिए—(1) एक उद्देश्य या प्रेरणा जो कि प्रचार से सम्बन्धित होती है; (2) प्रतीकात्मक सामग्री (symbol content); (3) सुझाव तथा अन्य मनोवैज्ञानिक प्रविधियाँ; तथा (4) प्रचार का प्रभाव।[17] इन आधारों की हम अब संक्षेप में, क्रमशः विवेचना करेंगे।

(1) उद्देश्य या प्रेरणा (Purpose or Motivation)—कोई भी प्रचार उद्देश्यविहीन नहीं होता, अर्थात् प्रत्येक प्रचार किसी न किसी उद्देश्य से ही प्रेरित होता

है। उद्देश्य की पूर्ति प्रचारकर्ता तथा प्रचार का लक्ष्य समझे जाने वाले लोगों के लिये प्रेरणा का काम करती है। अतः प्रचारकर्त्ता को लोगों की उन आवश्यकताओं का पता लगाना पड़ता है, जिनकी सन्तुष्टि अब तक नहीं हो पायी है। प्रचार इन अतृप्त आवश्यकताओं की पूर्ति का आश्वासन देता है। यह प्राचीन परम्परागत कथाओं, आदर्शों व आवश्यकताओं को उभारता है, साथ ही नयी आवश्यकताओं व मान्यताओं की भी स्थापना करता है। प्रचार द्वारा जनता में सर्वप्रथम कुछ ऐसी इच्छाओं व आवश्यकताओं का विकास किया जाता है, जो पुरानी होते हुए भी व्यक्ति को क्रियाशील बनाने में महत्वपूर्ण प्रेरणा का काम करती हैं; जैसे आर्थिक सुरक्षा की इच्छा, व्यक्तिगत व सामूहिक सुरक्षा की अभिलाषा, प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा, प्रेम में सफल होने की आकांक्षा, और परिवार के सदस्यों तथा आत्म-परिजनों के सुख व कल्याण की इच्छा, आदि। ये सभी इच्छाएँ, अभिलाषाएँ व आकांक्षाएँ प्रभावपूर्ण प्रेरणाएँ हैं, और व्यक्ति से कुछ भी करवा सकती हैं। प्रेम में सफलता पाने के लिये तथाकथित महात्मा द्वारा प्रचारित उस विज्ञापन का प्रभाव अनेक नवयुवकों व युवतियों पर पड़ता है, जिसमें चमत्कार दिखाने वाली एक अलौकिक अँगूठी धारण करने का सुझाव दिया जाता है और यह कहा जाता है कि अंगूठी को धारण करते ही प्रेमी या प्रेमिका पालतू कुत्ते की भाँति वश में हो जायेगा या हो जायेगी। इसी प्रकार फिल्म-तारिका माला सिन्हा से लक्स-टॉयलेट साबुन में छिपे हुए 'सौन्दर्य के रहस्य' को, समाचारपत्रों या पत्रिकाओं में प्रकाशित विज्ञापन के माध्यम से, जानकर अनेक लोग अपने सौन्दर्य को निखारने के लिये लक्स साबुन का प्रयोग करने लगते हैं। जीवन बीमा-कारपोरेशन जब अपने विज्ञापनों द्वारा लोगों में आर्थिक सुरक्षा की यह भावना भर देता है कि जीवन-बीमा आपके लिये ही नहीं, बल्कि आपके परिवार के प्रियजनों के लिए भी आर्थिक सुरक्षा का सन्देश लाता है, तो लोग बीमा करवाने को सहज ही तैयार हो जाते हैं। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार, मनुष्य की आवश्यकतायें संवेगात्मक होती हैं। इसीलिये सफल प्रचारकर्त्ता वही होता है, जो इन आवश्यकताओं के साथ प्रेम, क्रोध, भय, आशा आदि संवेगों, भावों और स्थायीभावों को जोड़ने में सफल होता है। उदाहरणार्थ, जब किसी बैंक के विज्ञापन को देखकर निम्न-मध्यम वर्ग के सदस्यों में यह आशा जागृत हो जाती है कि बैंक में एक 'बचत खाता' (savings bank account) खोलने से भविष्य में उनका भी 'अपना' एक घर होगा, उनके बच्चे भी उच्च शिक्षा पा सकेंगे आदि, तभी विज्ञापनदाता का प्रचार-कार्य सफल माना जाता है। श्री ब्रन्ट्ज (Bruntz) के मतानुसार प्रचारक सुझाव तथा अन्य प्रभावोत्पादक विधियों का सहारा लेकर निराशा (frustration) के क्षेत्र में भी नये विश्वास उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है, और यदि इस काम में उसे सफलता मिलती है तो उसका प्रचार-कार्य सफल होता है। इसी प्रकार राष्ट्रीयता की प्रेरणा देकर या धार्मिक प्रेरकों (religious motives) को उभारकर भी प्रचार को सफल बनाया जाता है।

(2) प्रतीकात्मक सामग्री (Symbolic Content)—प्रचारक अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये व्यक्तिगत भाषणों, समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं, रेडियो और चलचित्रों आदि का प्रयोग करता है, और दूसरों को प्रभावित करने के लिये अनेक प्रकार के प्रतीकों को भी व्यवहार में लाता है। नेताओं, अनुयायियों अथवा विरोधियों को प्रतीकात्मक उपाधियाँ देना, किसी वस्तु, चित्र अथवा पुस्तक के पक्ष या विपक्ष में प्रचार करने के लिये इश्तहार, कैलेण्डर, प्रतीकात्मक चिह्न आदि से सहायता लेना, जनसाधारण की दृष्टि से सामग्री का साधारणीकरण करना, जनता

की अज्ञानता व अन्धविश्वासों से लाभ उठाकर ईश्वरीय प्रतीकों का उपयोग करना, जलूस निकालना, और नारे लगाना, आदि अनेक ऐसी विधियाँ हैं, जिनकी सहायता से प्रचार की सामग्री को प्रतीक के रूप मे जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। ये प्रतीकात्मक सामग्री इस रूप में भी प्रस्तुत की जा सकती है कि लोगों के हृदय मे प्रचारक के सदुद्देश्य के सम्बन्ध मे एक विश्वास पनप जाय। इसके लिये बड़े-बड़े संस्थान कुछ निश्चित प्रतीक अपना लेते हैं। उदाहरणार्थ, जीवन-बीमा कार्पोरेशन का अपना प्रतीक है दो हाथों के बीच एक जलता हुआ दीप। इस प्रतीक का तात्पर्य शायद यह है कि मानव-जीवन एक जलते हुए दीपक की भाँति है और वह किसी भी समय, किसी भी कारण से बुझ सकता है। उसे बुझने से बचाने के लिये दो हाथों की आड़ की आवश्यकता है, और वह आड़ जीवन-बीमा ही है। इस प्रकार के प्रचारात्मक प्रतीकों को विकसित करते समय इन बातों का ध्यान विशेष रूप से रखा जाता है—(क) प्रतीक जनता की मुख्य इच्छाओं व आवश्यकताओं से सम्बन्धित हो। (ख) प्रतीक लोगों में विशिष्ट संवेगों को जागृत करने में सफल हो सके; (ग) प्रतीक को सब लोग सरलता से समझ सकें, अर्थात् प्रतीक सरल और बोधगम्य हो; और (घ) प्रतीक प्रचलित मूल्यों, आदर्शों आदि के विपरीत न हो।

(3) प्रचार की मनोवैज्ञानिक प्रविधियाँ (*Psychological Techniques of Propaganda*)—प्रचार की सबसे प्रमुख प्रविधि सुझाव है। प्रचार में सुझाव-प्रविधि का प्रयोग किस भाँति होता है, इस विषय में हम पहले ही बहुत कुछ कह चुके हैं। यहाँ हम श्री किम्बल यंग (Kimball Young) द्वारा उल्लिखित निम्नलिखित सात प्रविधियों मात्र की चर्चा करेंगे[13]—

(क) नाम देने की विधि (Name-calling Device)—इस विधि के अनुसार प्रचारक स्वयं अपने तथा अपने विचारों या कार्यक्रमों के लिये अच्छे नाम चुनता है, और अपने विरोधी दल और उनके विचारों या कार्यक्रमों को बुरे नाम देता है। इस विधि के समर्थक यह मानते हैं कि अगर किसी को बदनाम करना है तो उसे एक खराब नाम दे दो। खराब नाम अच्छे नामों से कहीं अधिक तेजी से दौड़ते हैं। इसीलिये विरोधी पक्ष को बदनाम करने के लिये या अपने पक्ष को लोगों के ध्यान का केन्द्र बनाने के लिए प्रचारक इस विधि का सहारा लेता है, जैसे पूँजीपतियों या मिल-मालिकों के विरुद्ध प्रचार करने के लिये उन्हें 'गरीबों का खून चूसने वाले खटमल' की संज्ञा दी जाती है।

(ख) प्रमाणपत्र विधि (*Testimonial Device*)—इस विधि के अनुसार सुझाव किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति के द्वारा प्रस्तुत करवाया जाता है, जैसे "विश्व कवि रवीन्द्रनाथ का कहना है कि 'सुलेखा' स्याही से लिखने का आनन्द ही कुछ और है।" चूँकि किसी एक वस्तु या विषय के सम्बन्ध में प्रमाण-पत्र देने वाला एक प्रतिष्ठित व्यक्ति होता है, इस कारण लोग उसके कथन पर सहज ही विश्वास कर लेते हैं। व्यापारिक विज्ञापनों में इस विधि का प्रयोग प्रायः किया जाता है।

(ग) प्रभावपूर्ण सामान्यता विधि (The Glittering Generality Device)—इस विधि के अन्तर्गत कुछ ऐसे चमकीले व प्रभावपूर्ण शब्दों या विचारों का प्रयोग किया जाता है कि लोग भुलावे में आ जाते हैं। प्रचारक अपने प्रोग्राम को आदर्श बताता है, और अपने सेवाभाव का डंका पीटता है। वास्तव में इस विधि से प्रचारक वास्तविकता को सावधानी से छिपा लेता है, और अपने सुझाव को प्रेम, सत्य, न्याय आदि का जामा पहना कर प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ, साम्प्रदायिक आधार पर

बने कुछ राजनैतिक दल अपने को 'हिन्दू धर्म के रक्षक' कहकर प्रचार करते, और अपने संकीर्ण राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति करते रहते हैं।

(घ) सरल लोक विधि (The Plain Folk Device)—सरल लोक विधि साधारण जनता को प्रभावित करने की एक सहज प्रणाली है। इस विधि के अन्तर्गत प्रचारक इस प्रकार का व्यवहार करता है जो साधारण जनता को पसन्द हो और जिसके द्वारा उसके मन को जीता जा सके। इस विधि का उद्देश्य जनता में यह विश्वास भर देना होता है कि प्रचारक भी उन्हीं में से 'एक' है, और उसके हित से भी ऊपर सबका हित है। उदाहरणार्थ, चुनाव के दिनों में नेतागण मजदूरों की गन्दी बस्तियों में जाते हैं, उनकी गन्दी खटियों पर बैठते हैं, उनके नंगे, गन्दे बच्चों को गोद में उठा लेते हैं, उन्हें खिलाते हैं, और मजदूरों के घर के पान या 'दोहरा' तक खा लेते हैं। मजदूरों पर इन व्यवहारों का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है, और वे उन्हीं को अपना वास्तविक हितैषी मानकर उनके सुझावों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेते हैं।

(ङ) सार्वभौमिकता की विधि (Band-wagon Device)—इस विधि मे प्रचारक जनता के हृदय मे यह विश्वास जमा देने का प्रयत्न करता है कि जो कुछ वह कह रहा है, वह उसका अपना मत नहीं है, बल्कि बहुमत का विचार है। 'सब लोग यही कर रहे हैं, आप भी वैसा ही कीजिए' यह कहकर लोगों से अपील की जाती है, भले ही सभी लोग या अधिकांश लोग वास्तव में वैसा न कर रहे हों। इस अपील का परिणाम यह होता है कि लोगों में भीड़-जैसा मनोविज्ञान काम करने लगता है, और लोग प्रचारक के बहकावे में आ जाते हैं। इसीलिये श्री ऑलपोर्ट ने इस विधि को 'सार्वभौमिकता की माया' (the illusion of universality) कहा है।

(च) छल-विज्ञापन विधि (The Card-stalking Device)—इस विधि मे छल या धोखे से काम लिया जाता है। जो वास्तविकता है, उसे तोड़-मोड़ कर इस भाँति प्रस्तुत किया जाता है कि लोग असली और नकली के बीच अन्तर समझ नहीं पाते और धोखे में आ जाते हैं। व्यापारिक क्षेत्र में इस विधि का प्रायः प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, 'Capital' मार्का कापी बाजार मे बहुत बिकती है। लोगों को धोखे में डालने के लिये एक दूसरी कम्पनी Capitol मार्का कापी बना कर बेचना आरम्भ कर देती है। दोनों प्रकार की कॉपियों में कवर (cover) पर छपाई आदि सब समान रहती है, बस अन्तर केवल एक अक्षर 'a' और 'o' का है। इससे जनता, जल्दी में, असली और नकली के बीच अन्तर नहीं कर पाती।

(छ) हस्तान्तरण विधि (The Transference Device)—इस विधि मे सुझाव की स्वीकृति को किसी अलौकिक शक्ति, देवता आदि को हस्तान्तरित कर दिया जाता है। इसीलिये इस विधि में प्रचारक अपने को सामने न लाकर, उस अलौकिक शक्ति को जनता के सामने प्रस्तुत करता है। जब कोई 'महात्मा जी' तथाकथित जनकल्याण के हेतु, किसी देवता के स्वप्नादेश के आधार पर बनाये गये 'महाशक्ति तावीज' का प्रचार समाचारपत्रों में विज्ञापन देकर करते हैं तो वे इसी विधि को अपनाते हैं।

4. प्रचार की स्वीकृति और उसका प्रभाव (Acceptance and the Effects of Propaganda on Recipients)—जब व्यक्ति एक प्रचार को स्वीकार कर लेता है तो उसका व्यक्ति के विचारों, रुचियों, भावनाओं, आदतों

और अन्तिम रूप में उसकी क्रियाओं पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। प्रो० एनिस तथा माइर (Annis and Mier) ने अपने अध्ययन द्वारा प्रमाणित किया है कि किसी नेता के चित्र और उसके विचारों को समाचारपत्रों में जैसे प्रसारित किया जाता है, वैसा ही समाचार पढ़ने वालों पर प्रभाव भी पड़ता है। इसी प्रकार यह भी देखा गया है कि प्रचार का जनता पर सफल प्रभाव तभी पड़ता है जब प्रचार में अन्तर्निहित सुझाव लोगों के पूर्वस्थापित विचारों, प्रवृत्तियों, आदर्शों तथा भावनाओं के अनुकूल होता है। साथ ही, उस प्रचार का प्रभाव भी जनता पर अत्यधिक पड़ता है, जो किसी वर्तमान समस्या या संकट में जनता की सहायता करने वाला प्रतीत होता है। प्रो० हार्टमैन (Hartmann) ने राजनीतिक प्रचार के प्रभाव का अध्ययन करके बताया कि जिन मतदाताओं ने सन् 1962 में आर्थिक संकट के कारण एक व्यक्ति को अपने मत प्रदान करके विजयी बनाया, उन्होंने ही सन् 1936 में आर्थिक संकट के समाप्त होने पर अपने मत दूसरे उम्मीदवार को दिये। इसी प्रकार जनता के बीच प्रचलित आदर्श यदि कांग्रेस-दल के आदर्शों से मिलता-जुलता है तो कांग्रेस-दल द्वारा किये गये प्रचार का प्रभाव जनता पर कम्युनिस्ट पार्टी के द्वारा किये गये प्रचार की तुलना में अधिक पड़ता है। इसका तात्पर्य यह है कि राजनैतिक प्रचार का प्रभाव भी जनता पर तभी अधिक पड़ता है जब वह स्थापित मान्यताओं के अनुकूल हो। सर्वश्री लास्वेल तथा ब्लूमेनस्टोक (Lassnell and Blumenstock) ने अपने अध्ययन द्वारा इसी तथ्य की पुष्टि की है। विभिन्न अध्ययनों से यह भी पता चलता है कि जानबूझ कर जनमत स्थापित कराने की प्रक्रिया सामान्यतः उस समय सरल होती है, जब जनता या कोई समूह विशेष रूप से अपेक्षाकृत अधिक *पूर्वाग्रहयुक्त, पक्षपाती (prejudiced), अशिक्षित और निराश हो। हिटलर (Hitler)* का राजनैतिक प्रचार जर्मनी में इस कारण सफल हुआ कि वहाँ के लोग यहूदियों के विरुद्ध पूर्वाग्रहयुक्त और प्रथम महायुद्ध की पराजय के कारण निराश थे, यद्यपि उस समय जर्मनी संसार का सबसे अधिक शिक्षित राष्ट्र था। अमेरिका में किये गये अध्ययन से भी पता चलता है कि निम्न स्तर की शिक्षा, अशिक्षा, अल्प बुद्धि और अत्यधिक पक्षपात वे अवस्थाएँ हैं, जिनमें प्रचार अधिक सफल होता है चाहे उस प्रचार की विषय-वस्तु तार्किक हो अथवा अतार्किक। प्रचार का प्रभाव उस अवस्था में भी लोगों पर पड़ता है, जब प्रचारक केवल अपने विचारों या विषय के गुणों को ही नहीं, अपितु विरोधी पक्ष के दोषों को भी खूब बढ़ा-चढ़ाकर पेश करता है। प्रायः प्रचार का प्रभाव धीरे-धीरे ही पड़ता है, और उसे प्रभावशाली बनाने के लिये प्रचार की विषय-वस्तु को बार-बार दोहराने की भी आवश्यकता होती है।

प्रचार के सिद्धान्त
(Principles of Propaganda)

प्रो० डूब (Doob) ने प्रचार के कुछ ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जिनके विषय में विस्तारपूर्वक विवेचना करना बहुत आवश्यक है, क्योंकि जैसा कि श्री क्लाइनबर्ग (Klineberg) ने लिखा है, "ये सिद्धान्त प्रचार के आवश्यक तत्त्वों के सम्बन्ध में अब तक किये गये समस्त प्रयत्नों में सर्वाधिक तार्किक तथा क्रमबद्ध प्रयत्न का प्रतिनिधित्व करते हैं।"[19] ये सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

1. **प्रचारक के इरादे का सिद्धान्त** (Principle of Intention of Propagandist)—*यह सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि यदि प्रचार जान-बूझ*

कर किया जाता है तो प्रचारक अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्य के प्रति सचेत रहता है। पर, जब प्रचार अनजाने में किया जाता है तो प्रचारक प्रायः अपने कार्यों के सामाजिक परिणामों को पहले से समझ नहीं पाता है।

2. बोध का सिद्धान्त (Principle of Perception)—श्री डूब ने लिखा है कि "प्रचारक अपनी उद्दीपक स्थिति को उसकी प्रतिस्पर्धात्मक पृष्ठभूमि से अलग रखता है", अर्थात् वह अपने सुझाव को या प्रचार की विषय-वस्तु को ऐसे निराले ढंग से प्रस्तुत करता है कि वह अन्य सभी प्रचारकों की विषय-वस्तु से अलग या अनूठी लगे, ताकि अधिकाधिक लोगों का ध्यान उस ओर आकर्षित हो, और वह उन लोगों में उद्दीपन या उत्तेजना जागृत करने में सफल हो। इसके लिये वह नाना प्रकार के उपाय अपना सकता है।

3. प्रचार के प्रकार का सिद्धान्त (Principle of the Type of Propaganda)—प्रचारक निम्नलिखित में से किसी एक या सभी प्रकार के प्रचारों का प्रयोग करता है—प्रकट (revealed); देर से प्रकट किया हुआ (delayed revealed); तथा अप्रकट (concealed) प्रचार। (अ) प्रकट प्रचार में प्रत्यक्ष रूप से सुझाव दिये जाते हैं और प्रचारक का उद्देश्य आरम्भ से ही स्पष्ट रहता है। समाचार-पत्रों में विज्ञापन देकर किसी चीज का प्रचार करना प्रकट प्रचार ही है। (ब) देर से प्रकट किया हुआ प्रचार वह प्रचार है, जिसमें प्रचारक का उद्देश्य कुछ समय के बाद प्रकट होता है। उदाहरणार्थ, युद्धकाल में पहले युवकों में प्रचार के द्वारा देशप्रेम की भावना भर दी जाती है और फिर उन्हें फौज में भर्ती होने के लिये कहा जाता है। (स) अप्रकट प्रचार अप्रत्यक्ष इस अर्थ में होता है कि प्रचारक अपने प्रचार के उद्देश्य को कभी प्रकट नहीं होने देता। दीवाली के अवसर पर यदि कोई बिजली-कम्पनी अपने भवन को इस प्रकार सजाती है कि बिजली की विभिन्न उपयोगिताएँ प्रकट हो सकें तो वह अप्रत्यक्ष रूप में विद्युत्-शक्ति का प्रयोग करने का ही सुझाव लोगों को देती है।

4. वांछित संगठन का सिद्धान्त (Principle of Desired Integration)—प्रचारक अपने कार्यों को इस प्रकार संगठित करता है कि वांछित उद्देश्यों के प्रति लोगों को प्रवृत्त किया जा सके। कोई भी प्रचारक शत-प्रतिशत निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि वह अपने प्रचार-कार्य में पूर्णतया सफल होगा ही। पर, सफलता की कुछ-न-कुछ आशा वह अवश्य ही करता है और इसी आशा से वांछित क्रियाओं का संगठन करता है। उदाहरणार्थ, चुनाव में एक उम्मीदवार इश्तहार लगवाता है, घोषणा-पत्र छपवा कर बँटवाता है, साइनबोर्ड रँगाकर लगवाता है, सार्वजनिक सभाओं का आयोजन करता है, और अन्य प्रतिष्ठित नेताओं से अपनी प्रशंसा करवा देता है, आदि।

5. भविष्यवाणी न कर सकने के क्षेत्र का सिद्धान्त (Principle of the Sphere of Unpredictability)—जब तक मनोवांछित फल प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक यह भविष्यवाणी नहीं की जा सकती कि सफलता प्राप्त होगी अथवा नहीं। इसका कारण यह है कि प्रचार की प्रकृति अस्थायी होती है, साथ ही लोगों के मनोभाव, विचार आदि भी स्थिर नहीं होते। उनमें भी परिवर्तन होता रहता है और इस परिवर्तन का प्रभाव प्रचार की सफलता पर पड़ता है। इस सफलता की सम्भावना को बढ़ाने के लिये विविध तरीके अपनाये जाते हैं। प्रतिष्ठा-सुझाव

इसी प्रकार का एक उल्लेखनीय तरीका है। यों ही पूंजीपति-वर्ग, शासक-वर्ग आदि कुछ समूह समाचार-पत्र, रेडियो आदि प्रचार के महत्वपूर्ण साधनों पर नियंत्रण करके प्रचार में सफलता की सम्भावना को बढ़ा लेते हैं।

6. विरोधी प्रचार का सिद्धान्त (Principle of Counterpropaganda)—जब विरोधात्मक मनोवृत्तियाँ वाछित फल की प्राप्ति में बाधा पहुँचाती हैं, तब प्रचारक विरोधी प्रचार की शरण लेता है। उदाहरणार्थ, चीन में कम्यूनिस्ट विचार-धाराओं का प्रचार ही पर्याप्त नहीं समझा जाता, बल्कि उन विचारधाराओं की ओर बल देने के लिये अमेरिकन व हिन्दुस्तानी पूंजीपतियों, यहाँ तक कि अब रूसी कम्यूनिज्म के विरुद्ध भी प्रचार किया जाता है।

7. अनुनय का सिद्धान्त (Principle of Persuasion)—प्रचारक नाना प्रकार से लोगों की अनुनय करते तथा उन्हें बहकाने का प्रयत्न करते हैं। इसका एक सरल तरीका यह है कि किसी प्रतिष्ठित या विख्यात व्यक्ति के द्वारा प्रचारक अपने सुझाव को प्रस्तुत करवाता है, जिससे उसका प्रभाव अधिकाधिक लोगों पर पड़े। इसके लिये बहुधा उस विख्यात व्यक्ति को पर्याप्त धन प्रदान किया जाता है।

प्रचार के प्रकार
(Types of Propaganda)

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) ने प्रचार के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं[22]——

(अ) परिवर्तनात्मक प्रचार (Conversionary Propaganda)—इस प्रकार के प्रचार में अनुनय तथा तर्क के आधार पर एक वस्तु या विचार से सम्बन्धित व्यक्ति की मनोवृत्तियों, मूल्यों और अन्तिम रूप में उसकी क्रियाओं को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया जाता है। आजकल के अधिकतर व्यापार-सम्बन्धी विज्ञापन इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। इन विज्ञापनों में लोगों को वस्तु के उच्चकोटि के गुणों, उचित मूल्यों आदि के सम्बन्ध में बताकर चीजों को खरीदने के लिये प्रेरित किया जाता है।

(ब) विभेदात्मक प्रचार (Divisive Propaganda)—इस प्रकार के प्रचार की मुख्य प्रविधि 'फूट डालो और विजय प्राप्त करो' है। इस प्रकार के प्रचारों का प्रयोग एक ही देश की राजनैतिक पार्टियों द्वारा तथा युद्ध के समय अलग-अलग राष्ट्रों द्वारा शत्रु-पक्ष में फूट डालने के लिये किया जाता है। पिछले दिनों भारत और पाकिस्तान के बीच होने वाले गम्भीर संघर्ष में पाकिस्तान ने इसी प्रकार के प्रचार की सहायता ली थी।

(स) एकीकरणात्मक प्रचार (Consolidation Propaganda)—इस प्रकार के प्रचार का उद्देश्य प्रचलित आदर्शों, मूल्यों, मनोवृत्तियों को उभारना तथा दृढ़ करना होता है। युद्धकाल में देश के अन्दर एकता, संगठन तथा जनता के नैतिक स्तर को ऊँचा बनाये रखने के लिये इस प्रकार के प्रचार से सहायता ली जाती है।

औद्योगिक समाज में प्रचार के साधन
(Tools or Media of Propaganda in Industrial Society)

आधुनिक औद्योगिक समाज विशाल या द्वैतीयक समाज का ही सजीव रूप है। इनका आकार बड़ा होता है और नौकरी, व्यापार, वाणिज्य, शिक्षा आदि की सुविधाएँ उपलब्ध होने के कारण ऐसे समाजों में विभिन्न जातियों, प्रजातियों, धर्मों, राष्ट्रों, सम्प्रदायों, तथा वर्गों आदि के लोगों का अच्छा-खासा जमघट देखने को मिलता है। इसीलिए ऐसे समाजों में व्यक्तिगत सम्बन्धों का अभाव होता है। लोगों का एक-दूसरे के साथ सम्पर्क समाचारपत्रों, चलचित्रों, रेडियो आदि के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में ही स्थापित हो पाता है। अतः ऐसे समाजों के प्रचार के साधन भी यही हैं। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी—

1. प्रेस प्रचार के एक प्रमुख साधन के रूप में (Press as an Important Medium of Propaganda)—प्रचार के साधन के रूप में प्रेस के महत्त्व को सभी स्वीकार करते हैं। प्रेस उन छपी हुई वस्तुओं को प्रकाशित करता है, जिनके द्वारा प्रचार के कार्य में अत्यधिक सहायता मिलती है। प्रेस के द्वारा ही ऐसे समाचार-पत्र, पत्रिकायें, इश्तहार, पुस्तकें, पुस्तिकायें, विज्ञापन-पत्र आदि प्रकाशित किये जाते हैं जिनमें से प्रत्येक का महत्त्व प्रचार के क्षेत्र में होता है। बड़े-बड़े इश्तहारों के द्वारा प्रचार की विषय-वस्तु को नाना ढंग से प्रस्तुत करके लोगों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। 'सिनेमा-पोस्टर' इसका सबसे उत्तम उदाहरण है। इश्तहार के साथ-साथ विज्ञापन-पत्र (hand-bills) भी बाँटे जाते हैं। इन विज्ञापन-पत्रों में प्रचारक अपने विषय का गुणगान करता है, विरोधी पक्ष के दोष उजागर करता है, जनता में संवेगों को जागृत करने का प्रयत्न करता है, और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये आवश्यक सुझाव, जिसमें प्रतिष्ठा सुझाव भी सम्मिलित है, को प्रस्तुत करता है। प्रेस के द्वारा छापी गई पत्रिकाओं (magazines) में विज्ञापन देकर, लेख प्रकाशित करके या कार्टून छापकर प्रचार का कार्य चलाया जा सकता है। पर, इन सबसे महत्वपूर्ण साधन समाचार-पत्र (newspaper) होते हैं। समाचार-पत्र व्यावसायिक दृष्टि से प्रकाशित किये जाते हैं, और इसीलिए इनमें व्यावसायिक विज्ञापन को विशेष महत्त्व दिया जाता है। इन विज्ञापनों के द्वारा विभिन्न वस्तुओं का प्रचार प्रत्यक्षतः किया जाता है। इसके अलावा लेखों, सम्पादकीय, आदि के द्वारा भी अप्रत्यक्षतः प्रचार-कार्य किया जाता है। चूँकि समाचार-पत्रों की पहुँच सभी शिक्षित व्यक्तियों तक हो सकती है, इस कारण इनमें प्रचार के एक साधन के रूप समाचारपत्रों का महत्त्व वास्तव में अत्यधिक होता है। श्री लुण्डबर्ग (Lundberg)[21] ने समाचारपत्रों द्वारा प्रचारित राजनैतिक प्रचार का अध्ययन किया था। समाचारपत्रों में प्रमुख राजनैतिक विचार मुखपृष्ठ पर दिये जाते हैं, पर उनमें शासक-वर्ग के राजनैतिक विचारों का ही प्रचार प्रमुख रूप से किया जाता है। चुनाव के दिनों में समाचार-पत्र चुनाव-सम्बन्धी प्रचार का मुख्य साधन बन जाते हैं, पर जो समाचार-पत्र जिस राजनैतिक दल के प्रभुत्व में रहता है, उसी को उससे अधिक लाभ होता है। समाचारपत्रों पर पूँजीपति-वर्ग का अधिकार होना भी एक सामान्य विषय है। यह वर्ग शासक-वर्ग का ही समर्थक होता है। इस कारण शासक-वर्ग के सिद्धान्तों, मूल्यों तथा आदर्शों का तथा पूँजीपति-वर्ग के हितों का प्रचार समाचारपत्रों द्वारा खूब होता है। पुस्तकों का प्रकाशन भी प्रेसों द्वारा ही किया जाता है। ये पुस्तकें

प्रचार का एक बहुत प्रभावशाली साधन होती है। किसी भी नये विचार का स्थायी रूप से प्रचार पुस्तकों के माध्यम से ही सम्भव है। प्रत्येक धार्मिक व राजनैतिक दल अपने मतों, नीतियों, सिद्धान्तों व विचारों का प्रचार अपनी विशेष पुस्तकों के द्वारा ही करता है।

2. चलचित्र (Motion Picture)—आधुनिक युग में प्रचार के साधन के रूप में, सिनेमा का महत्त्व बढ़ता ही जा रहा है, क्योंकि इसकी पहुँच उस अशिक्षित जनता तक भी होती है, जहाँ समाचारपत्र, पुस्तकें, पत्रिकायें आदि पहुँच ही नहीं पातीं। दूसरा कारण यह है कि चलचित्र में देखना और सुनना चूँकि साथ-साथ होता है, इस कारण प्रभाव मस्तिष्क पर अधिक पड़ता है। साथ ही सिनेमा के माध्यम से हमारा सम्पर्क कुछ प्रमुख या प्रख्यात व्यक्तियों से होता है और उनके द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावों या सुझावों को हम तत्परता से स्वीकार कर लेते हैं। इनमें प्रमुख रूप से कुछ प्रतिष्ठित अभिनेता व अभिनेत्रियों का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है, जिनके द्वारा सुझाव प्रस्तुत करवा कर व्यापारिक फर्में अपनी वस्तुओं का प्रचार करती हैं। मूल चित्र आरम्भ होने से पहले संक्षिप्त सिनेमा शो के द्वारा भी प्रचार का कार्य किया जाता है। सरकार की ओर से जो 'न्यूजरील' दिखाई जाती है, वह भी सरकारी कार्यों का ही प्रचार है। जो मूल चित्र दिखाया जाता है, उसके द्वारा भी नये विचारों और आदर्शों का प्रचार अधिक मूर्तिमान् और सजीव ढङ्ग से किया जाता है। 'अस्पृश्यता देश के माथे पर एक कलङ्क है', 'विधवा-पुनर्विवाह का अपना नैतिक औचित्य है', 'बाल-विवाह हानिकारक है, 'दहेज-प्रथा बर्बादी की जड़ है', 'देश की आन और शान अपने प्राण से भी प्यारी है' आदि उच्च कोटि के आदर्शों का प्रचार चलचित्रों के द्वारा जितने प्रभावपूर्ण ढग से हो सकता है, उतना और किसी साधन से नहीं। इसी प्रकार फैशन के प्रसार व प्रचार, दोनों के ही मुख्य साधन सिने-चित्र व सिने पत्र-पत्रिकाएँ हैं।

3. रेडियो—आधुनिक औद्योगिक समाजों में रेडियो भी प्रचार का एक बहुत प्रभावशाली साधन बन गया है। श्री बार्टलेट (Bartlett) का मत है कि रेडियो कार्य-क्रम का दो-तिहाई भाग मनोरंजन और एक-तिहाई भाग शुद्ध प्रचारात्मक कार्यों के लिये निश्चित कर दिया जाता है। कोई-कोई रेडियो-स्टेशन तो प्रमुख रूप से प्रचार-कार्य ही करता है, यद्यपि लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिये संगीत आदि के द्वारा मनोरंजन के कार्यक्रम भी साथ-साथ चलाये जाते रहते हैं। 'रेडियो सीलोन का व्यापार विभाग' इसका सबसे उत्तम उदाहरण है। रेडियो के द्वारा आवाज कुछ ही सेकेण्डों में सारी दुनिया में फैल जाती है। टेलीविजन द्वारा आवाज के अतिरिक्त चित्र भी देखने को मिलता है। रेडियो पर शासक-वर्ग का ही अधिकार होता है, इस कारण इस वर्ग के आदर्श, नीति व सिद्धान्तों के प्रचार का सबसे प्रमुख व प्रभावशाली साधन भी यही होता है। रेडियो के द्वारा व्यापारिक प्रचार की भी व्यवस्था होती है। युद्ध के दिनों में रेडियो प्रचार का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण साधन बन जाता है। हिटलर, चर्चिल, नेताजी आदि ने गत युद्ध के समय अपने व्यवहार द्वारा इस मत की पुष्टि कर दी है।

4. मंच (Platform)—मंच के माध्यम से भी प्रचार का कार्य किया जाता है। बहुधा प्रचार के लिये सभाओं का आयोजन होता है। इन सभाओं में वक्ता अपने भाषण के दौरान किसी विशेष वस्तु, विचार या सिद्धान्त का प्रचार करते हैं। इन सभाओं के द्वारा किया गया प्रचार कितना सफल होगा, यह निर्भर करता है वक्ता

की अपनी प्रतिष्ठा पर। इस कारण ऐसी सभाओं मे सुझाव बहुधा प्रतिष्ठित व्यक्तियों के माध्यम से ही प्रस्तुत किया जाता है। चुनाव के समय तो मंच प्रचार का एक बहुत ही लोकप्रिय व प्रभावपूर्ण साधन बन जाता है। ऐसा भी देखा गया है कि दवा तथा अन्य वस्तुओं को बेचने वाले एजेन्ट लोग सड़क के किनारे मजमा इकट्ठा करके चीजों का प्रचार बड़े उत्साह से करते हैं। पर, मंच द्वारा प्रचार का कार्य राजनीतिक दलों तथा श्रमिक-संघों द्वारा बहुत अधिक किया जाता है। विद्यार्थी-संघ भी प्रचार के इस साधन पर बहुत भरोसा करते हैं। प्रचार के साधन के रूप में मंच की सबसे बड़ी विशेषता व गुण यह है कि इसमें प्रचारकर्त्ता व जनता का सम्बन्ध प्रत्यक्ष और आमने-सामने का होता है। अतः उसे अपने हाव-भाव, वाक्-चातुर्य, वेशभूषा, व्यक्तित्व आदि के द्वारा जनता को प्रभावित करने का अवसर मिल जाता है। यह गुण उपर्युक्त अन्य किसी साधन में नही होता।

5. लाउडस्पीकर (Loudspeaker)—भारत में प्रचार का एक बड़ा सस्ता साधन लाउड-स्पीकर है। किसी रिक्शे, तांगे या मोटर पर लाउड-स्पीकर लगाकर यहाँ प्रचारक को सड़क-सड़क, गली-गली, घूम-घूमकर प्रचार करते देखा जा सकता है। इस साधन मे सुविधा यह है कि इस यन्त्र की सहायता से वक्ता की आवाज काफी दूर तक जा सकती है, और यह आवाज जोर से प्रसारित होने के कारण लोगों का ध्यान सहज की वक्ता की ओर आकर्षित कर देती है। शिक्षित और अशिक्षित, धनी और निर्धन, सभी तक प्रचारक का सन्देश पहुँच जाता है और कुछ ही घण्टों में एक शहर का पूरा चक्कर लगा कर कोई भी सन्देश दूर-दूर तक पहुँचाया जा सकता है। साथ-साथ पर्चा बाँटा जाता है, संगीत के रिकार्ड बजाये जाते हैं, और नारे लगाये जाते हैं, आदि। चुनाव के समय इस साधन का प्रयोग बहुत ही अधिक किया जाता है।

'प्रचार' एक अच्छा शब्द है, पर बुरा बन गया है (Propaganda is a Good Word Gone Wrong)

'प्रचार' शब्द का प्रयोग नकारात्मक और सकारात्मक दोनो ही अर्थों मे किया जा सकता है। सकारात्मक दृष्टिकोण से इसकी परिभाषा देते हुए श्री न्यूकॉम्ब (Newcomb) ने लिखा है कि "प्रचार सन्देश-संचार के द्वारा मनोवृत्तियों को प्रभावित करने का क्रमबद्ध प्रयत्न है।"[22] इसके विपरीत नकारात्मक दृष्टिकोण से प्रचार को 'झूठ' के प्रचार एवं प्रसार का एक साधन माना जाता है, क्योंकि प्रचार लोगो को बहका कर या भ्रम मे डालकर उनके व्यवहार को नियंत्रित कर देता है। पर, वैज्ञानिक दृष्टि से प्रचार न तो बुरा हो सकता है और न ही अच्छा, क्योंकि जैसा कि श्री कुप्पूस्वामी (Kuppuswamy) ने लिखा है, प्रचार तो केवल एक प्रविधि (technique) है, जिसका प्रयोग व्यक्ति तथा समष्टि रूप मे समूह के कल्याणार्थ या व्यक्ति तथा समग्र रूप में दलों को पथभ्रष्ट करने तथा उनका शोषण करने के लिये किया जा सकता है। अतः दोष प्रचार के तरीके मे नही है, बल्कि उस तरीके मे है, जिससे कुछ व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह सामाजिक उन्नति के लिये नहीं, बल्कि अपने स्वार्थों

की सिद्धि के लिये इस प्रविधि का प्रयोग करते हैं।"[23] वास्तव में यदि सही तरीके से और समाज-कल्याण को सामने रखकर प्रचार की प्रविधि का प्रयोग किया जाय तो उससे व्यक्ति तथा समाज को बड़ा लाभ पहुँचे। प्रचार के द्वारा हमें एक ही विषय पर विभिन्न प्रकार के विचार प्राप्त होते हैं, जिससे उस विषय के दोष और गुण दोनों का ही ज्ञान होता है। नये-नये आदर्शों तथा मूल्यों से परिचय करवाने, आवश्यक चीजों के सम्बन्ध में अनेक विकल्पों (alternatives) को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करने, तथा शान्ति व युद्ध दोनों ही परिस्थिति में हमारे नैतिक स्तर व प्रयत्नशीलता को ऊँचा बनाये रखने का उत्तरदायित्व प्रचारक ही अपने ऊपर लेता है। परन्तु दुर्भाग्यवश इससे लाभ उठाने के बजाय हम इसका प्रयोग व्यक्तिगत या समूह-विशेष की संकीर्ण स्वार्थ-सिद्धि के साधन के रूप में करते हैं। इसीलिए प्रो० कैथरीन जिराल्ड (Katherine Gerould) ने उचित ही लिखा है, "प्रचार एक अच्छा शब्द है, जो बुरा बन गया है।"[24] निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी—

सन् 1920 से सन् 1930 तक लगभग सभी लोग यह समझते रहे कि प्रचार चालाकी और धूर्तता से अन्य व्यक्तियों के विचारों व क्रियाओं को प्रभावित करने का एक साधन मात्र है। इसीलिए जब कभी भी किसी समूह को अपने स्वार्थों की सिद्धि करनी हुई, उसने प्रचार का सहारा लिया। फलतः 'प्रचार' शब्द बहुत बदनाम हो गया। इस बदनामी के तीन प्रमुख कारण रहे[25]—प्रथम, प्रथम युद्ध के समय दोनों ही पक्षों ने, एक-दूसरे के विषय में, तरह-तरह की झूठी बातें, प्रचार की प्रविधियों की सहायता से, फैलाईं। द्वितीय, इसी युद्धकाल में रूस, इटली तथा जापान ने अपने-अपने राज्य में 'प्रचार तथा संस्कृति मंत्रालयों' की स्थापना की, जिनका मुख्य कार्य प्रचार द्वारा अपने देशवासियों के अन्दर यह विश्वास उत्पन्न करना था कि सम्पूर्ण संसार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना उनका जन्मसिद्ध अधिकार है। हिटलर ने तो प्रचार के माध्यम से अपने देशवासियों के मन में यह विश्वास कूट-कूट कर भर ही दिया कि केवल जर्मनी के मूल निवासी ही विशुद्ध व सर्वश्रेष्ठ आर्य प्रजाति के लोग हैं, और इसीलिए केवल उन्हीं को दुनिया पर शासन करने का अधिकार है। इन देशों के प्रचार-मंत्रालयों ने अन्य देशों के निवासियों की बौद्धिक, शारीरिक तथा नैतिक हीनता को लेकर भरसक कटु प्रचार किया। तृतीय, प्रजातन्त्र के विकास के साथ-साथ इस धारणा का भी विकास हुआ कि व्यक्तियों को अपने विषय में स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय लेने की स्वतन्त्रता है। प्रचार इस स्वतन्त्रता के रास्ते का रोड़ा है। इन सब कारणों से 'प्रचार' शब्द बहुत बदनाम हो गया। आज भी यह बदनाम ही है, क्योंकि राजनैतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में प्रचार की प्रविधियों का प्रयोग राजनैतिक दलों, विशेषकर शासक-वर्गों तथा पूँजीपति-वर्गों द्वारा उनके संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति के लिये ही किया जाता है। प्रचार के बल पर ही अयोग्य व्यक्ति चुनाव जीत रहे हैं; शासन के दोषों, शोषणों तथा अत्याचारों को दबाया जा रहा है; और, 'समाजवाद' या जनकल्याण का गला घोटा जा रहा है। प्रचार की सहायता से ही खराब चीज भी बेची जा रही है; अश्लील पुस्तकों तथा चलचित्रों को सफलता प्राप्त हो रही है, तथा अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर राजनैतिक अन्याय, शोषण व हत्याकाण्डों को उचित ठहराया जा रहा है। अतः यह उचित ही कहा गया है कि प्रचार एक अच्छा शब्द है जिसे बेजा ढंग से इस्तेमाल करके खराब कर दिया गया है। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी साफ हो जायगी—

1. युद्ध और प्रचार (War and Propaganda)—आधुनिक युद्ध की प्रकृति ने प्रचार को युद्ध का एक महत्त्वपूर्ण अस्त्र बना दिया है। आज युद्ध से सारा राष्ट्र ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व प्रभावित होता है। प्रचार के द्वारा निजी राष्ट्र की जनता और विशेषकर सैनिकों को प्रोत्साहित तथा विरोधी पक्ष को निरुत्साहित किया जाता है। प्रचार के द्वारा ही ऐसी बातें फैला दी जाती हैं जिनसे विरोधी पक्ष घबड़ा जाता है। यदि प्रचार ठीक तरह से किया जाता है तो विरोधी पक्ष को वास्तविक शक्ति का पता नहीं चल पाता और वह अपने को एक अनिश्चित परिस्थिति में पाने लगता है। इस स्थिति का फायदा स्वदेश उठा सकता है। प्रचार के द्वारा, युद्ध की स्थिति में, आम जनता के साहस व नैतिक स्तर को भी सुदृढ़ बनाये रखा जा सकता है। हिटलर ने आर्य-प्रजाति की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में प्रचार किया, जिससे जर्मनों का विश्व का सामना करने का साहस हुआ। इतना ही नहीं, प्रचार के द्वारा तटस्थ (neutral) राष्ट्रों से मित्रता बनाये रखना व उनका नैतिक सहयोग प्राप्त करना भी सम्भव हो जाता है। प्रचार के द्वारा ही अपने देश की जनता को यह बताया जा सकता है कि युद्ध के समय या आक्रमण होने पर उन्हें कौन-कौन-सी सतर्कताएँ बरतनी हैं। अतः युद्ध के समय (अ) शत्रु के प्रति घृणा उत्पन्न करने तथा शत्रु का साहस तोड़ने के लिये; (ब) अपने देश तथा सेना में साहस तथा धैर्य की भावना उत्पन्न करने के लिये; (स) अपनी मित्रता को विकसित करने तथा बनाये रखने के लिये; (द) तटस्थ देशों से मित्रता बनाये रखने और यदि सम्भव हो तो उनका सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के लिये; तथा (य) युद्ध के समय आवश्यक सतर्कताओं के अपनाये जाने के सम्बन्ध में जनता को प्रशिक्षित करने व सजग रखने के लिये प्रचार का महत्त्व वास्तव में असाधारण है।

2. शान्ति और प्रचार (Peace and Propaganda)—प्रचार का महत्त्व केवल युद्धकाल में ही नहीं, बल्कि शान्ति के काल में भी रहता है। प्रचार के आधार पर स्वस्थ जनमत का निर्माण सम्भव है; और यह स्वस्थ जनमत शान्ति, सुव्यवस्था, एकता व संगठन को बनाये रखने में सहायक सिद्ध होता है। व्यापार-चक्र, बेरोजगारी और निर्धनता के सम्बन्ध में फैलाई जाने वाली अनेक अफवाहें सामाजिक जीवन को तार-तार कर सकती हैं, पर प्रचार द्वारा इन सभी अफवाहों को काटा जा सकता है। इसी प्रकार धार्मिक भेदभाव, जातिवाद, अस्पृश्यता, मद्यनिषेध, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, दहेज-प्रथा आदि सामाजिक कुरीतियों को प्रचार के द्वारा स्वस्थ जनमत को जागृत करके दूर किया जा सकता है। प्रचार की सहायता से जनता को प्रोत्साहित किया जा सकता है कि वह राज्य द्वारा बनाई गई योजनाओं को सफल बनाने में सहायता करें, तथा राज्य द्वारा दी गई सुविधाओं का प्रयोग करके अपने व्यक्तित्व का विकास करें।

3. प्रजातन्त्र और प्रचार (Democracy and Propaganda)—प्रजातन्त्र के स्वस्थ विकास की दृष्टि से प्रचार का अपना महत्त्व है। प्रचार प्रत्येक व्यक्ति, राजनैतिक दल आदि को यह अवसर प्रदान करता है कि वह अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करे। परन्तु, यह तभी सम्भव है जब यह प्रचार-कार्य सदुद्देश्यों के साथ किया जाये। इसमें सन्देह नहीं कि यदि विविध विचारों की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति, वाद-विवाद तथा विशिष्ट ज्ञान को सीमाओं के अन्दर ही रक्खा जाय तो उससे प्रजातन्त्र को काफी लाभ हो सकता है। पर, यदि विभिन्न राजनैतिक दलों में प्रचार की सहायता से अपने ही स्वार्थों की अधिकतम पूर्ति के लिये दौड़ होती रही तो प्रजातन्त्र

के वास्तविक आदर्शों की प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं। अनुचित तथा अप्रकट प्रचार (concealed propaganda) द्वारा प्रजातन्त्र-विरोधी समूह प्रजातन्त्र से प्राप्त स्वतन्त्रताओं के लाभ उठाकर अन्त में उन्हीं को नष्ट कर देते हैं। फिर भी, प्रचार के महत्त्व को एकदम अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसकी सहायता से ही लोगों को नागरिकता की शिक्षा दी जा सकती है, जिससे वे राज्य को कल्याण-राज्य के साँचे में ढालने के काम में सहयोग दे सकते हैं। राजनैतिक क्षेत्र में प्रचार का एक और महत्त्व अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के लिये भी है। प्रचार की सहायता से संसार के विभिन्न राष्ट्रों के साथ मित्रता व सद्भावना बनाई रक्खी जा सकती है; और इससे अपने देश की प्रगति की योजनाओं को सफल बनाने में उनसे भरपूर सहायता मिल सकती है।

4. व्यापार और प्रचार (Business and Propaganda)—प्रचार की प्रविधियों का बहुत-बहुत प्रयोग व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में होता है। व्यापारी प्रचार की सहायता के बिना सफल नहीं हो सकता, क्योंकि आज इस क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा का बोलबाला है। समाचारपत्रों, पत्र-पत्रिकाओं आदि के अनेक पृष्ठ व्यापारिक विज्ञापनों से भरे रहते हैं, और हमारे व्यवहार को वह इस अर्थ में निरन्तर प्रभावित करते हैं कि हमारे क्रय-विक्रय की अधिकाधिक क्रियायें इन व्यापारिक प्रचारों के द्वारा ही नियन्त्रित होती हैं। केवल समाचारपत्र, पत्र-पत्रिकायें ही नहीं, अपितु इश्तहारों, पोस्टरों, फिल्मों तथा रेडियो का भी प्रयोग व्यापारिक प्रचार के लिये किया जाता है। रेडियो-सीलोन ने तो इसके लिये एक पृथक् विभाग खोल रक्खा है। हमारे देश में भी आकाशवाणी के विविध भारती तथा टेलीविजन कार्यक्रमों के द्वारा व्यापारिक प्रचार किया जाता है।

5. शिक्षा और प्रचार (Education and Propaganda)—शिक्षा के विस्तार में प्रचार का महत्त्व स्पष्ट है। भारत जैसे देश के लिये तो यह और भी अधिक सार्थक प्रतीत होता है। प्रचार की सहायता से अनपढ़ व्यक्तियों को शिक्षा का महत्त्व समझाया जा सकता है। शिक्षा के प्रसार के लिये प्रचार के ही विभिन्न साधनों को प्रयोग में लाया जाता है और इस दिशा में चलचित्र तथा पुस्तकें, दो महत्वपूर्ण साधन माने जाते हैं। डाकूमेन्टरी फिल्मों का उद्देश्य प्रचार के द्वारा शिक्षा का विस्तार ही होता है। इसी प्रकार कुछ सरकारें ऐसी पुस्तकें प्रकाशित करती हैं, जिनसे जनता को शिक्षित किया जा सके—विशेषकर प्रौढ़ जनों के लिये सामाजिक शिक्षा के प्रसार में प्रचार का बहुत ही अधिक महत्त्व होता है।

प्रचार की सीमाएँ

(Limitations of Propaganda)

अक्सर यह कहा जाता है कि प्रचार की कोई सीमा नहीं है। परन्तु, यह बात वैज्ञानिक सत्यता से परे है। प्रचारकों का यह दावा गलत है कि उनके लिये सभी कुछ करना सम्भव है। प्रत्येक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की अपनी सीमायें होती हैं, और इसीलिए प्रचार की भी अपनी सीमायें होती हैं। निम्न विवेचना से यह बात और स्पष्ट हो जायेगी—

1. प्रचार एक विशेष परिस्थिति द्वारा सीमित होता है। प्रत्येक प्रचार में एक विशेष परिस्थिति कार्य करती है और जब तक यह परिस्थिति प्रचारक के अनुकूल नही रहती है, तब तक प्रचार कदापि सफल नही हो पाता। प्रचारक उस परिस्थिति-विशेष को समझने का प्रयत्न करता है, और उसकी गम्भीरता के सम्बन्ध में लोगों को विश्वास दिलाता है। पर यदि लोग उसकी बातों का विश्वास नही करते, तो प्रचारक का उद्देश्य अपूर्ण ही रह जाता है।

2. प्रचार लोगों के ज्ञान द्वारा भी सीमित होता है। वास्तव में प्रचारक अक्सर लोगों की अज्ञानता से फायदा उठाता है। वह अज्ञानता के अन्धकार में लोगों को हाथ पकड़कर आगे ले जाता है। वास्तव में प्रचारक एक विषय से सम्बन्धित समस्या को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि लोगो की तार्किक शक्ति दब जाती है और वे प्रचारक के सुझाव को तत्परता से मान लेते हैं। यह काम अशिक्षित या एक समस्या विशेष के सम्बन्ध में अज्ञानी जनता में बहुत सरल होता है, पर जहाँ जनता शिक्षित होती है, वहाँ प्रचारक को अपने उद्देश्य की पूर्ति करने के लिये काफी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इस अर्थ में, प्रचार लोगों की तर्कपूर्ण विचार-शक्ति या सोचने की क्षमता द्वारा सीमित होता है।

3. प्रचार समूह के स्वार्थ तथा पक्षपात द्वारा भी सीमित होता है। पक्षपात के कारण कुछ चीजों के प्रति एक दृढ़ मनोभाव पनप जाता है, जिसे बदलना कठिन होता है। उस अवस्था में प्रचारक के प्रचार का प्रभाव बहुत कम पड़ता है, वह प्रचार चाहे कितना ही तर्कपूर्ण क्यों न हो। उदाहरणार्थ, श्वेत-प्रजाति के लोगों के हृदय में काली प्रजाति के प्रति जो पक्षपात की भावना है, उसके कारण उस प्रजाति के अनुकूल किसी विषय से सम्बन्धित प्रचार अधिक प्रभावशाली नही हो सकता। इसी प्रकार समूह-स्वार्थ भी किसी समूह के सदस्यों को दूसरे समूहों के प्रति अन्धा बना देता है। इसीलिए श्रमिकों के हित से सम्बन्धित किसी भी प्रचार का बहुत कम प्रभाव पूँजीवादी वर्ग पर पड़ता है, क्योंकि वह अपने स्वार्थ की बात पहले सोचता है। इसी प्रकार कांग्रेस के नेताओं पर कम्यूनिस्ट पार्टी के प्रचार का प्रभाव नही के समान होगा, क्योंकि उनका स्वार्थ तो कांग्रेस पार्टी के स्वार्थ के साथ जुड़ा हुआ है।

4. अन्त में प्रचार विरोधी प्रचार द्वारा भी सीमित होता है। प्रत्येक प्रचार में यह सम्भावना रहती है कि उसके विपरीत कोई विरोधी प्रचार भी खड़ा हो सकता है। आज जब कि प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा का ही बोलबाला है, इस अवस्था में प्रत्येक प्रचारक को अनेकानेक अन्य प्रचारकों से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में कोई भी प्रचारक मनमाने ढंग से सभी कुछ नही कर सकता, क्योंकि अगर वह ऐसा करेगा तो उसके अन्य विरोधी प्रचारक उसका भण्डाफोड़ कर देंगे। जहाँ तानाशाही राज्य है, वहाँ प्रचार का प्रभाव बहुत अधिक सीमित नहीं होता, क्योंकि सरकारी प्रचार का विरोध करने वाला उस देश में कोई नहीं होता। पर प्रजातंत्रात्मक राज्य में प्रचार, विरोधी प्रचारों से सदा सीमित रहता है; और, जन-कल्याण की दृष्टि से प्रचार को सीमित रहना ही चाहिए।

REFERENCES

1 "The Propaganda is not breeding that would take place of itself, it is forced percolation."—*F.E. Lumley. The Propaganda Menace*, 1933 p. 188.

2. "For our purpose we shall define propaganda as the more or less deliberately planned and systematic use of symbol chiefly through suggestion and related psychological techniques, with a view first to alerting and controlling opinions, ideas and values and ultimately to changing over action along predetermined lines."—*Kimball Young, Handbook of Social Psychology,* (Routledge and Kegan Paul, London), 1953, p. 457.
3. "Propaganda is a systematic attempt by an interested individual or individuals to control the attitudes of groups of individuals through the use of suggestion and consequently, to control the action."—*L.W. Doob, Propaganda, 1925* · pp. 75-76.
4. H.D. Lasswell, *Encyclopaedia of Social Sciences,* Macmillan and Co., New York, 1935.
5. "Propoganda in the broadest sense is the technique of influencing human action by the manipulation of representations."—*Ibid.*
6. "S.E. Asch, *Social Psychology,* 1959
7. W.W Biddle, "A Psychological Definition of Propaganda", *Journal of Abnormal Social Psychology,* Vol XXVI, 1931, pp. 283-295.
8. Kimball Young, *op. cit.,* 1957, edition, p. 461.
9. "Suggestion that seems to meet an existing need will be more readily accepted than one that does not meet a need"—*Krech and Crutchfield, Theory and Problems of Social Psychology,* (McGraw Hill Book Co., New York), 1948, p. 359.
10. "A suggestion concerning an ambiguous situation will be more readily accepted than one concerning a clearly structured situation."—*Ibid.,* p. 358.
11. "A suggestion that fits in with other systems of briefs and frames reference will be more readily accepted than one that does not."—*Ibid.,* p. 358
12. "A suggestion that can readily induce new attributes in the perception of a familiar object will be more readily accepted than one that does not—*Ibid.,* p 359
13. "A suggestion that can be phrased so as to be concequent with the need of people to identify with or be in harmony with other people will be more readily accepted than that does not draw upon such social support"—*Ibid.,* pp. 359-360.
14. "A suggestion that makes effective use of the principles of stimulus presentation will be more readily accepted than one that neglects these considerations."—*Ibid.,* p. 360
15. "Propaganda can be fought most effectively with counter propaganda"—*Ibid.,* p 360

15 "The best kind of counter propaganda, therefore, is a social and economic system that satisfies most of the needs of most of the people most of the time."—*Ibid.*, p. 360.

17 "Kimball Young, *op. cit.*, p 451

18 *Ibid.*, pp. 462-463.

19 ".....they represent the most logical and systematic attempt so far made to reduce propaganda to its essentials."—*Otto Klineberg, Social Psychology*, Revised edition, (Henry Holt and Co., New York), 1957, pp. 505- 507.

20 Kimball Young, *op. cit.*, 460-461.

21. G.A. Lundberg. *The Newspapers and Public Opinion*, 1926, pp. 709-715

22. "Propaganda is a systematic attempt, by means of mass communication, to influence attitudes."—*Newcomb, Social Psychology*, Dryden, 1950, p. 207.

23. ".....we should be very clear in looking upon propaganda as a technique, a technique which could be used for the good of the individual and the group as a whole, or to mislead and exploit the individuals and the group as a whole. So the fault is not with the techniques of propaganda but with the way in which certain individual or groups of individuals use these techniques for their own ends and not for social progress "—*B. Kuppuswamy, An Introduction to Social Psychology*, (Asia Pub. House, Bombay), 1951, p. 85.

24. "Propaganda is a good word gone wrong."—*Katherine Gerould.*

25. B. Kuppuswamy, *op. cit.*, pp. 259-260.

अध्याय 22

फैशन

[FASHION]

"फैशन एक प्रकार का ऐसा सामाजिक संस्कार है जिसके सम्बन्ध में यह आशा की जाती है कि लोग उसका निर्वाह करेंगे।" —Kimball Young.

फैशन एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक विषय है। इसका विस्तार समस्त संसार में है, और इसका सबसे प्रमुख सामाजिक गुण यह है कि यह बहुत "उदार" होता है। फैशन 'उदार' इस अर्थ में होता है कि इसका कोई सम्बन्ध किसी जाति, प्रजाति या धर्म से नहीं होता। एक ही प्रकार के फैशन का विस्तार विभिन्न देशों, प्रान्तों, जातियों, धर्मों व प्रजाति के लोगों में हो सकता है, और होता भी है। इस दृष्टि से फैशन सबसे सम्बन्धित है और सबको प्रभावित करता है। हमारे अधिकांश व्यवहार फैशन पर ही आधारित होते हैं। वेशभूषा के सम्बन्ध में, केश-विन्यास के सम्बन्ध में, मकान बनवाने, मकान सजाने, फर्नीचर खरीदने, जेवर बनवाने, यहाँ तक कि जूता खरीदने के सम्बन्ध में भी हम फैशन द्वारा ही प्रभावित होते हैं। इस रूप में फैशन हमारे व्यवहार पर बहुत अधिक प्रभाव डालता है, और उसे परिवर्तनशील भी बनाये रखता है, क्योंकि फैशन की एक और उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वह बदलता बहुत जल्दी-जल्दी है। हम उस बदलते हुए फैशन का अनुकरण करते फिरते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि हम लोग हमेशा फैशन के पीछे-पीछे भागते हैं, उससे आगे कभी निकल नहीं पाते।

फैशन क्या है?

(*What is Fashion*)

श्री जेम्स ड्रेवर (James Drever) के अनुसार, "फैशन सामाजिक लोक-रीति का एक ऐसा प्रकार या पहलू है, जिसकी मुख्य विशेषता उसकी बदलती हुई प्रतियोगी प्रकृति है।"[1]

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) ने लिखा है, "फैशन वह प्रचलन या फैली हुई रीति, तरीका, कार्य करने का ढंग, अभिव्यक्ति की विशेषता या सांस्कृतिक लक्षणों को प्रस्तुत करने की विधि है, जिसे बदलने की आज्ञा स्वयं प्रथा देती है। यदि हम प्रथा को सामाजिक व्यवहार का एक स्थिर और स्थायी पहलू मानते हैं, तो फैशन को इस सामान्य स्वीकृति के अन्दर होने वाले परिवर्तन के रूप में कल्पना कर सकते हैं।"[2]

श्री रॉस (Ross) के अनुसार, "फैशन किसी भी जनसमूह की रुचि या पसन्द में होने वाले क्रमिक परिवर्तनों को कहते हैं जो उपयोगिता द्वारा निर्धारित नहीं होता, यद्यपि उसमें उपयोगिता का तत्त्व भी सम्मिलित हो सकता है।"[3]

फैशन की प्रकृति या विशेषताएँ
(Nature or Characteristics of Fashion)

उपर्युक्त परिभाषाओं से फैशन की प्रकृति स्पष्ट है, फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिये हम इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित उल्लेख कर सकते हैं—

(1) फैशन का सम्बन्ध किसी भी समूह की पसन्द से होता है। दूसरे शब्दो में फैशन एक वैयक्तिक अवधारणा नही है। जब तक किसी पसन्द का सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष से है तब तक उसे फैशन न कहकर शैली (style) कहना ही उचित होगा। हम अक्सर कहते हैं कि उस लेखक की शैली बहुत अच्छी है, वह गेंद बड़े 'स्टाइल' से फेंकता है, इत्यादि। पर, ये सब व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं, अतः इन्हें फैशन नहीं कहा जा सकता। पर जब कोई शैली व्यक्तिगत शैली न रहकर समूह की शैली हो जाती है, तो उसे फैशन कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, जब किसी एक व्यक्ति की पसन्द अन्य व्यक्तियों पर प्रभाव डालती है तथा उनकी पसन्द भी यदि उस प्रथम व्यक्ति की पसन्द के समान ही हो जाती है, तो हम कह सकते हैं कि उस व्यक्ति की पसन्द, पसन्द-मात्र न रहकर फैशन का रूप धारण कर रही है।

(2) फैशन में परिवर्तनशीलता होती है—फैशन तभी तक फैशन रहता है, जब तक वह बदलता रहता है। कोई भी स्थायी पसन्द फैशन नहीं होती। हाँ, वह प्रथा, परम्परा या रूढि हो सकती है। फैशन की एक उल्लेखनीय विशेषता यह होती है कि कोई भी फैशन बहुत अधिक काल तक एक समूह मे प्रचलित नहीं रहता। इसके स्वरूप में धीरे-धीरे परिवर्तन होता रहता है। वह मनुष्य को नवीनता की ओर ले जाता है।

(3) फैशन में उपयोगिता का तत्त्व वर्तमान हो सकता है, पर उपयोगिता द्वारा फैशन का निर्धारण नहीं होता। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि फैशन की उत्पत्ति में या उसे अपनाने मे उपयोगिता की भावना प्रधान नहीं होती। इसका तात्पर्य यह नही है कि सारे फैशन व्यर्थ या बेकार होते हैं। यह हो सकता है कि फैशन के साथ उपयोगिता का तत्त्व जुड़ा हुआ हो, पर फैशन को इसलिए नही अपनाया जाता कि उससे कुछ हित-लाभ होता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। प्राय. फैशन की उत्पत्ति आकस्मिक होती है। आकस्मिक घटना के साथ उपयोगिता को जोड़ा नही जा सकता। दूसरे शब्दो मे, फैशन के प्रचलन से पहले उपयोगिता के बारे में सचेत रूप से सोचा या विचारा नही जाता। जिस प्रकार फैशन आकस्मिक रूप से या एकाएक पनपता है, उसी प्रकार फैशन के साथ उपयोगिता का होना या न होना भी आकस्मिक ही है।

(4) व्यापक विस्तार—आधुनिक फैशन का विस्तार आज असंख्य वस्तुओ तक हो गया है, अर्थात् अनेक वस्तुएँ जीवन के अनेक अंग और उपकरण फैशन के व्यापक विस्तार के अन्तर्गत आ गये हैं। रहन-सहन के ढंग ही नहीं, छाता, छड़ी, साबुन, तेल, कंघी, हँसी-मजाक, नाम आदि सभी पर फैशन की स्पष्ट छाप दीख पड़ती है।

(5) फैशन की अनुरूपता (Uniformity)—पहले यातायात तथा संचार के साधनों में कमी होने के कारण फैशन एक निश्चित क्षेत्र, नगर या समुदाय तक ही

सीमित रहते थे। पर अब प्रेस, रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा आदि समूह-संचार (mass communication) के साधनों तथा अन्य अनेक यातायात के साधनों में अत्यधिक प्रगति हो जाने से अमेरिका में प्रचलित एक फैशन एक सप्ताह बाद ही कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, आदि में और फिर अन्य शहरों में फैल सकता है। अब फैशन समस्त क्षेत्रीय, जातीय व प्रजातीय सीमा पार करने की क्षमता रखता है। चूंकि एक ही प्रकार का फैशन सारी दुनिया में फैल सकता है। इस कारण अब फैशन में अनुरूपता भी देखने को मिलती है।

(6) परिवर्तन की उन्मादी प्रवृत्ति (The Maddening Tempo of the Changes)—सदैव से ही फैशन में परिवर्तन की प्रवृत्ति पायी जाती है, पर आधुनिक फैशन परिवर्तन की उन्मादी प्रवृत्ति को दर्शाता है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि आधुनिक समय में फैशन इतनी शीघ्रता से बदलता है कि उसके साथ कदम से कदम मिलाकर चलना हमारे लिये असम्भव हो जाता है। श्री रॉबर्ट ई० पार्क (Robert E. Park) ने उचित ही कहा है—"हममें से कुछ लोग फैशन से पीछे रह जाते हैं, पर कोई भी फैशन से आगे नहीं निकल पाता।"[4]

(7) फैशन की तर्कशून्यता (Irrationality of Fashion)—आधुनिक फैशन तर्क व उपयोगिता पर शायद ही निर्भर रहता है। आज का फैशन तर्क की परवाह नहीं करता, न ही लाभ की बात सोचता है। उसका तो अपना एक धारा-प्रवाह होता है, और वह उसी के साथ-साथ बहता चलता है। आधुनिक फैशन का आधार अहंभाव, व्यक्तिवाद, प्रदर्शनवाद (exhibitionism), संवेगात्मक कल्पना और नवीनता की उत्कट अभिलाषा है।

फैशन और प्रथा
(Fashion and Custom)

प्रथा वे जनरीतियाँ हैं, जिन्हें समाज से मान्यता प्राप्त होती है, जो स्थिर और दृढ़ होती हैं और जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं। प्रथा का आधार समाज है, और वह इस अर्थ में कि प्रथा कई पीढ़ियों की सामाजिक अन्त:-क्रियाओं का प्रतिफलन होती है। इसीलिए प्रथा रूढ़िवादी होती है और इसे सरलता से बदला नहीं जा सकता। अतः स्पष्ट है कि फैशन तथा प्रथा में कुछ आधारभूत अन्तर है। फैशन की प्रकृति को भली प्रकार समझने के लिये इन दोनों के बीच के अन्तर को समझ लेना आवश्यक होगा। श्री गिन्सबर्ग ने लिखा है कि कभी-कभी यह कहा जाता है कि फैशन क्रिया की तात्कालिक समानता है, अर्थात् इसके प्रभाव से प्रत्येक व्यक्ति वही करता है जो हर दूसरा व्यक्ति कर रहा होता है; और इस तरह यह अनुकरण पर आधारित होता है। इसके विपरीत, प्रथा क्रिया की क्रमिक समानता है। दूसरे शब्दों में, प्रथा के अनुसार काम करते हुए हर व्यक्ति वही करता है जो हमेशा से किया जाता रहा है; और, यह इस तरह अनिवार्य रूप से आदत पर आधारित होता है। लेकिन, दोनों के बीच इससे अधिक महत्त्वपूर्ण अन्तर भी है। सबसे पहले प्रथा का सम्बन्ध समाज की हमेशा बनी रहने वाली मौलिक आवश्यकताओं से मालूम पड़ता है, जबकि फैशन का प्रभाव जीवन के कम आन्तरिक व कम सामान्य क्षेत्रों पर पड़ता है। फैशन अनिवार्य रूप से गतिशील और परिवर्तनशील होता है। वास्तव में यह बार-बार होने वाले परिवर्तनों की एक शृंखला

होता है, और प्राय. अनुकरण व नवीनता इसकी विशेषताएँ होती हैं। इसके विपरीत, प्रथा अनिवार्य रूप से टिकाऊ और बिना टूटे चलने वाला क्रम होती है, और इसमें परिवर्तन की गति बहुत धीमी होती है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ फैशन ऐसे भी होते हैं, जो बदलते नहीं; लेकिन ऐसा होने पर वास्तव में वे फैशन नहीं रह जाते, प्रथा बन जाते हैं, अर्थात् उन्हें अतीत और वर्तमान, दोनों का ही सम्मान प्राप्त हो जाता है। दूसरी बात यह है कि प्रथा और फैशन के बीच प्रेरक (motive) का अन्तर विशेष होता है। प्रथा का अनुसरण इसलिए होता है कि भूतकाल से उसका अनुसरण होता आ रहा है जबकि फैशन का अनुसरण इसलिए होता है कि वर्तमान में उसका अनुसरण हो रहा है। इसके अतिरिक्त फैशन एक तरह से नवीनता का द्योतक होता है, और इसका अनिवार्य आधार अपने को दूसरों से पृथक् करने की उत्कट अभिलाषा में पाया जाता है। इसके विपरीत, प्रथा की शक्ति बहुत-कुछ इस तथ्य में निहित होती है कि इसके द्वारा समाज नवीनता के खतरों से अपना बचाव कर लेता है। इस तरह प्रथा का अनुकरण और फैशन का अनुकरण दो भिन्न दिशाओं में काम करते हैं—प्रथम (अर्थात् प्रथा) पुराने को स्थिर और जीवित रखती है; और दूसरा (अर्थात् फैशन) नवीनता को लाता है और अनुकरण के द्वारा उसे फैलाता है।[5]

इस प्रकार संक्षेप में, फैशन तथा प्रथा के बीच के निम्नलिखित अन्तरों का उल्लेख किया जा सकता है—(1) प्रथा का सम्बन्ध एक समाज की स्थायी तथा महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं से होता है, जबकि फैशन हमारे जीवन की अस्थायी तथा कम महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं से अपना तार जोड़ता है। (2) फैशन अनुकरण पर आधारित होता है, जबकि प्रथा अपने को आदत पर निर्भर करती है। (3) फैशन में परिवर्तन शीघ्रता से होता है, जबकि प्रथा में परिवर्तन की गति बहुत धीमी होती है। (4) फैशन गतिशील होता है जबकि प्रथा रूढ़िवादी। (5) फैशन को केवल वर्तमान की स्वीकृति प्राप्त होती है, जबकि प्रथा को भूत और वर्तमान दोनों का ही सम्मान मिलता है। (6) फैशन का अनुकरण इसलिये किया जाता है कि वर्तमान में बहुत से लोग उसे स्वीकार कर रहे हैं, पर प्रथा का अनुकरण इसलिये भी किया जाता है कि कई पीढ़ियों से अधिकांश लोग वैसा करते आ रहे हैं। (7) फैशन में कुछ लोगों से समरूपता स्थापित करने के साथ-साथ अन्य अनेक लोगों से भिन्न होने की उत्कट इच्छा होती है, जबकि प्रथा में केवल समरूपता (conformity) स्थापित करने की इच्छा ही प्रबल होती है। (8) श्री रॉस (Ross) ने इन दोनों के बीच के अन्तर को बहुत ही अच्छे ढंग से स्पष्ट करते हुए लिखा है—
"यदि हम समाज के जीवन को एक बहती हुई सरिता मान लें तो प्रथा को निम्नगामी अनुकरण और फैशन को आड़ा अनुकरण कहा जा सकता है।"[6]

फैशन, 'धुन' तथा 'झक'
(Fashion, Fad and Craze)

फैशन से सम्बन्धित और दो शब्द 'धुन' या "फैड" और 'झक' या "क्रेज" हैं। अध्ययन की सुविधा के लिये इनमें पाये जाने वाले अन्तर को भी समझ लेना आवश्यक है। फैशन के कुछ अधिक बनावटी पर कम महत्त्वपूर्ण व अधिक परिवर्तनशील पहलू को 'धुन' (fad) कहते हैं। श्री किम्बाल यंग (Kimball Young) के शब्दों में, "धुन एक प्रथा, मनोरंजन या पोशाक या सजावट का एक ढङ्ग है, जो

कुछ समय के लिये अत्यधिक उत्साह के साथ अपनाया जाता है।" [7] श्री यंग ने यह भी लिखा है कि फैशन परिवर्तन के आडम्बरपूर्ण पक्षों (superficial aspects of fashion change) को ही बहुधा 'झक' (craze) कहते हैं। [8]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि वस्त्र, आभूषण, सजावट, मजाक आदि से सम्बन्धित फैशनों में सम्मिलित छोटे-छोटे तत्त्व धुन कहलाते हैं। वास्तव में धुन फैशन का ही वह अंश है, जो अपेक्षाकृत बहुत कम समय तक प्रचलित रहता है। एक उदाहरण द्वारा इसे और सरलता से समझा जा सकता है। किसी विशेष प्रकार का कोट पहनना आज फैशन है; उसी कोट में किसी विशेष प्रकार के बटन लगाना अथवा उसके कॉलर में फूल खोंसना 'धुन' है। धुन का मुख्य उद्देश्य तड़क-भड़क और दिखावा होता है। इसलिये धुनों में परिवर्तन बहुत ही जल्दी-जल्दी होता है। धुन सामान्यतः ऐसे क्षेत्रों में उत्पन्न होती और तेजी से फैलती है, जहाँ उत्तेजना अधिक होती है, और नित्य नये फैशन को जन्म देने वाले अभिनेता व अभिनेत्रियाँ जैसे लोग रहते हैं, जैसे बम्बई। श्री एल्ड्रिज (Eldridge) का कथन है—"धुन फैशनों का चरम रूप है। धुन-सम्बन्धी व्यवहार फैशन-व्यवहार की अपेक्षा अधिक क्षणजीवी, दिखावे से भरा और अनोखा होता है; साथ ही अधिक खर्चीला व कामोद्दीपक होने के कारण अक्सर सुरुचि और सदाचरण के नियमों के विरुद्ध होता है।' [9]

अधिक विस्तृत रूप में प्रचलित धुन को झक (craze) कहते हैं। फैशन-परिवर्तन के आडम्बरपूर्ण पक्ष को भी 'झक' की संज्ञा दी जाती है। एक विशेष व्यवहार, क्रिया, वस्तु या खेल के प्रति जब समाज के लोगों पर एक सनक सवार हो जाती है तो उसे 'झक' कह सकते हैं। यह बीमारी समाज में बहुत व्यापक रूप से और तीव्र गति से फैलती है। उदाहरणार्थ, आज कॉलेज के विद्यार्थियों में से हर एक पर मनोरंजन-कार्यक्रम में ट्विस्ट-नाच को सम्मिलित करने की झक सवार है, चाहे उस कार्यक्रम में उसका कोई तुक बैठे और चाहे न बैठे। झक अक्सर अतार्किक व मूर्खतापूर्ण ढङ्ग से प्रस्तुत की जाती है, और अनुकरण की प्रक्रिया से बहुत जल्दी लोकप्रिय हो जाती है। इसीलिए इसे 'मानसिक संक्रामक रोग' (mental epidemic) भी कहा जाता है। जब कोई धुन या झक अधिक लोकप्रिय होकर थोड़ी बहुत स्थायी हो जाती है, तो वह अक्सर फैशन बन जाती है। वास्तव में फैशन, धुन और झक में केवल मात्रा, समय तथा विस्तार का ही अन्तर है। प्रायः यह अन्तर स्पष्ट दिखाई नहीं देता।

फैशन का मनोविज्ञान
(Psychology of Fashion)

फैशन की प्रकृति के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि इसकी उत्पत्ति तथा प्रसार में उपयोगिता की भावना प्रधान नहीं होती। यदि ऐसा सत्य ही तो हमारे मन में यह प्रश्न स्वभावतया ही उठेगा कि यदि उपयोगिता की भावना नहीं है, तो वह कौन-सा कारक या शक्ति है जो फैशन की उत्पत्ति तथा विस्तार के लिये उत्तरदायी है। 'फैशन का मनोविज्ञान' ही इस प्रश्न का उत्तर देगा। इसके अन्तर्गत हम उन कारकों की विवेचना करेंगे जो फैशन के आधार और प्रेरक हैं। वे कारक इस प्रकार हैं—

(1) भिन्नता और समरूपता की इच्छा (Desire for Differentiation and Conformity)—फैशन की उत्पत्ति, प्रसार तथा पतन की सम्पूर्ण प्रक्रिया में दो प्रकार की इच्छायें महत्त्वपूर्ण होती हैं—प्रथम, दूसरों से भिन्न होने की इच्छा; और द्वितीय, दूसरों के समान होने की इच्छा। उल्लेखनीय बात तो यह है कि ये दोनों इच्छाएँ एक-दूसरे की विरोधी हैं, फिर भी इन्हीं के कारण फैशन की उत्पत्ति, विस्तार तथा पतन सम्भव होता है। इन दोनों इच्छाओं के महत्त्व को स्वीकार करते हुए श्री जार्ज सिम्मेल ने लिखा है, "किसी फैशन के पनपने के लिये दो सामाजिक प्रवृत्तियाँ आवश्यक हैं और वे हैं एक ओर एकता की आवश्यकता (need of union) और दूसरी ओर, पृथक् होने की आवश्यकता (need of isolation)। इनमें से एक के भी अनुपस्थित होने पर फैशन नहीं पनपता और इसका प्रभाव सहसा ही समाप्त हो जाता है।"[10] इस कथन की सत्यता को बड़ी सरलता से समझाया जा सकता है। जब व्यक्ति यह अनुभव करने लगता है कि वह अपने समाज या समुदाय के आकार जन-समूह में खो-सा गया है और उसका अपना कोई पृथक् महत्त्व या अस्तित्व रह ही नहीं गया है, तो व्यक्ति के मन में दूसरों से भिन्न होने की इच्छा (desire for differentiation) प्रबल होती है। इस इच्छा की तृप्ति के लिये वह अपने में कुछ ऐसे परिवर्तन लाने का प्रयत्न करता है, जिनसे वह दूसरे से भिन्न या अलग हो जाय। वह जानता है कि ऐसा होने पर उसमें कुछ नवीनता, कुछ अनोखापन और कुछ विशिष्टता आ जायगी, जो दूसरों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित करने में सफल होगी। इस प्रकार वह सब लोगों के बीच रहते हुए भी सब लोगों से पृथक् होगा, उसकी अपनी एक विशिष्ट स्थिति होगी, एक विशेष अस्तित्व होगा। इसलिए दूसरों से भिन्न होने की इच्छा से प्रेरित होकर व्यक्ति अपने व्यवहार के ढङ्ग, पोशाक, केश-विन्यास या ऐसे ही अन्य किसी विषय में परिवर्तन लाता है। फैशन की नींव इसी परिवर्तन से पड़ती है।

उपर्युक्त परिवर्तन के कारण जब एक व्यक्ति अलग और दूसरों से भिन्न दिखाई देता है तथा उसकी यह भिन्नता आकर्षक भी होती है, तो दूसरों में उस व्यक्ति के समान होने की इच्छा (desire for conformity) जागृत होती है, अर्थात् दूसरे लोग भी उस व्यक्ति के समान होना चाहते हैं। इस साध को पूरा करने के लिये समाज के अन्य व्यक्ति उस व्यक्ति का अनुकरण करने लगते हैं, तथा उसके समान होने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार दूसरे के समान होने की इच्छा के द्वारा कोई भी परिवर्तित व्यवहार, पोशाक या केश-विन्यास का ढंग आदि एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक फैल जाता है और फिर होते-होते फैशन बन जाता है।

इसीलिए श्री किम्बल यंग ने लिखा है, 'फैशन एक ओर व्यक्तित्व की समरूपता, सुरक्षा व सामाजिक एकता की इच्छा और दूसरी ओर विलक्षणता, व्यक्तिवादिता तथा भिन्नता की इच्छा के बीच एक उत्तम सन्तुलन की व्यवस्था करता है।"[11]

(2) व्यक्तिवाद (Individualism)—आज फैशन की एक उल्लेखनीय विशेषता इसकी अत्यधिक परिवर्तनशीलता है। इतना ही नहीं, नित्य नये फैशन पनपते चले आ रहे हैं, यहाँ तक कि आज जीवन का शायद ही कोई पक्ष ऐसा रह गया हो जो फैशन के प्रभाव से मुक्त हो। इसका सबसे प्रमुख कारण व्यक्तिवादी

भावना, मूल्य व आदर्शों का विकास है। आधुनिक द्वैतीयक समाज (mass society) बहुत विशाल होता है, और इस परिवार में कोई किसी की परवाह नहीं करता। प्रत्येक व्यक्ति केवल अपनी चिन्ता करता है। अतः ऐसे समाज में व्यक्ति अपने को बहुत अकेला पाता है। इसीलिए वह इस बात का प्रयत्न करता है कि वह खुद किसी एक क्षेत्र में 'फैशन का राजा' (the King of fashion) बन जाय, ताकि सबका ध्यान अपनी ओर खींच सके। यह व्यक्तिवादी इच्छा भी फैशन की उत्पत्ति तथा विकास में महत्त्वपूर्ण भाग अदा करती है। दूसरे शब्दों में, आज के द्वैतीयक समाज में व्यक्ति जब अपनी व्यक्तिवादी भावना से प्रेरित होकर अपने को समाज की एक महत्त्वपूर्ण इकाई के रूप में व्यक्त करने का प्रयास करता है तो उसके लिये सरल तरीका नये-नये फैशनों को जन्म देना और उन्हें अपनाना होता है।

(3) परिवर्तन तथा नवीनता की इच्छा (Desire for Change and Novelty)—बहुत दिनों तक एक ही अवस्था में रहने से व्यक्ति अपने जीवन को बहुत ही नीरस अवस्था में पाने लगता है। वह परिवर्तन चाहता है, नवीनता का स्वागत करना चाहता है। तभी फैशन की उत्पत्ति होती है। परिवर्तन व नवीनता की यह इच्छा आधुनिक समाज में और भी अधिक साफ शक्ल में सामने आती है। इसका कारण भी स्पष्ट है। आधुनिक जीवन मशीन का जीवन है और प्रतिस्पर्धा से भरा है। सुबह से शाम तक मशीन पर काम करते-करते आदमी भी मशीन बन जाता है, और इसीलिए उसमें वह कुछ परिवर्तन चाहता है। वह नवीनता का भिखारी बन जाता है। वह अपने नीरस जीवन में फैशन के माध्यम से सरसता लाता है। वह नये फैशनों को जन्म देता है, और पुराने फैशनों में परिवर्तन करता है।

(4) अहं का विस्तार (Ego Expansion)—अनेकानेक विद्वानों के अनुसार फैशन की उत्पत्ति तथा विस्तार का एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक कारण है। फैशन के माध्यम से व्यक्ति के अहम् का विस्तार होता है। श्री किम्बल यंग (Kimball Young) ने लिखा है, "फैशन तथा फैशन-परिवर्तन की सम्पूर्ण अपील अहम् के एक विस्तार का प्रतिनिधित्व करती है।"[12] जब कोई आदमी किसी नये फैशन को जन्म देता है तो स्वभावतः वह अनेक व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित करता है। फैशन-प्रेमियों के लिये मार्गदर्शक बन जाता है, उनकी निगाहों में उसकी स्थिति ऊँची हो जाती है, उसे लोगों का आदर व प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और समाज में उसका भी कोई 'विशेष' स्थान हो जाता है। इन सभी बातों से व्यक्ति में आत्म-गौरव की भावना पनपती है जिसका सरल अर्थ अहम् का विस्तार होता है। अतः स्पष्ट है कि अपने अहम् के विस्तार के लिये भी व्यक्ति नये फैशनों को जन्म देने तथा पुराने फैशनों को बदलने की कोशिश करता है।

(5) क्षतिपूर्ति की इच्छा (Desire for Compensation)—फैशन के विनाश व जन्म की एक मनोवैज्ञानिक प्रेरक शक्ति भी है; और वह यह कि फैशन व्यक्ति की हीनता की भावना की क्षतिपूर्ति करता है। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जो किसी शारीरिक या मानसिक दोष के कारण सामान्य उपायों द्वारा अपने व्यक्तित्व का विकास करने में जीवन में सफलता या सामाजिक श्रेष्ठता प्राप्त करने में अपने को बिल्कुल ही असफल पाते हैं, पर जो फैशन के क्षेत्र में अपनी योग्यता या कुशलता का परिचय देकर अपने उस मानसिक या शारीरिक दोष या कमी की क्षति-

पूर्ति करते हैं और अपनी विशिष्टता अथवा श्रेष्ठता को प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक, दार्शनिक, शिक्षक, साहित्यकार, राष्ट्रीय नेता आदि प्रचलित फैशनों की ओर अधिक आकर्षित नहीं होते। वे साधारण रूप से ही जीवन-निर्वाह करते हैं, क्योंकि उनमें वास्तविक योग्यता होती है और उन्हें सामाजिक पद व प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये फैशन या बाहरी दिखावे का सहारा नहीं लेना पड़ता। इसके विपरीत, जिन लोगों के व्यक्तित्व में कुछ कमी या दोष होता है, उनमें इसी कारण हीनता की भावना पनप जाती है, और वे इस कमी या दोष की क्षतिपूर्ति फैशन के क्षेत्र में नेतृत्व करके करने की बात सोचते हैं। वे आधुनिकतम फैशन के अनुरूप पोशाकें पहनते हैं, अपने घर को सजाते हैं तथा आचरण को वैसे ही ढाँचे में ढालते हैं। श्री जार्ज सिम्मेल (George Simmel) ने लिखा है, "इन सब बातों से हमें यह पता चलता है कि फैशन उन लोगों के लिये एक आदर्श क्षेत्र प्रदान करता है, जो आश्रित प्रकृति के होते हैं जिनकी आत्म-चेतना को किसी न किसी मात्रा में ख्याति, ध्यान तथा विलक्षणता की अपेक्षा होती है। फैशन एक महत्वहीन व्यक्ति तक को एक विशेष वर्ग का प्रतिनिधि और एक विशेष संयुक्त आत्मा का प्रतिमूर्ति बनाकर उसे ऊँचा उठा देता है।"[13]

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) ने भी लिखा है कि "सामाजिक व्यवहार का अध्ययन करने वाले अनेक विद्यार्थियों का मत है कि फैशन में स्त्रियों की अत्यधिक रुचि का कारण 'पुरुषों' की 'दुनिया' में उनके अन्दर विद्यमान हीनता की भावना है।[15] पुराने जमाने में इस हीनता की क्षतिपूर्ति के लिये स्त्रियाँ आभूषण तथा चमकीली पोशाकें पहन कर पुरुषों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती थीं। पर, आज चूँकि वे अपने को पुरुषों के बराबर साबित करना चाहती हैं, इस कारण फैशन के क्षेत्र में आज उनका झुकाव पुरुषों के व्यवहार-प्रतिमानों, पोशाकों, आदतों आदि की नकल करने की ओर है। यह प्रवृत्ति विशेषकर नौकरीपेशा स्त्रियों में अधिक होती है।

6. आकर्षक बनने की इच्छा (Desire for Becoming Attractive)—फैशन मनोविज्ञान का एक और उल्लेखनीय कारक दूसरों की निगाह में आकर्षक बनने की इच्छा है। कुछ लेखक तो इसी इच्छा को फैशन का मुख्य प्रेरक (motive) अथवा कारक मानते हैं। उनका कहना है कि पुरुष स्त्रियों को तथा स्त्रियाँ पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये अपने शरीर के विभिन्न अंगों तथा पोशाकों को अधिक से अधिक आकर्षक बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह प्रवृत्ति स्त्रियों में अधिक देखने को मिलती है। कुछ विद्वानों का तो कथन है कि स्त्रियाँ अधिकतर फैशन इसलिए करती हैं कि पुरुष उनकी ओर आकर्षित हों। पोशाक के मनोविज्ञान (the psychology of dress) के सम्बन्ध में यह बात अधिक उचित प्रतीत होती है। श्री हरलॉक (Hurlock) ने लिखा है कि "पोशाक का एक प्रमुख मूल्य या उपयोगिता यह है कि वह व्यक्ति को अपना विज्ञापन इस रूप में करने योग्य बना देती है कि वह दूसरों के ध्यान तथा प्रशंसा को जीत सके। जिन लोगों में योग्यता की कमी होती है, और जो केवल अपने गुणों के आधार पर 'औसत' से ऊपर जाने की क्षमता नहीं रखते, उनकी प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा की तृप्ति पोशाक के माध्यम से हो जाती है।"

कि फैशन के क्षेत्र में कुछ समय पहले जिन चीजों को सामाजिक मूल्यों तथा आदर्शों के अनुसार अभद्र या अश्लील माना जाता था, आज उन्हीं को सहज ही स्वीकार कर लिया जाता है।

फिर भी हमेशा ही फैशन में होने वाले उग्र परिवर्तनों का सामाजिक मूल्यों के आधार पर विरोध किया जाता है। कभी गर्दन और वक्षस्थल को न ढँकने को, कभी हाथों और पैरों को ठीक से न ढकने को अनैतिक, अशोभन बताकर उसका विरोध किया गया है। सन् 1920 के लगभग अमेरिका में स्त्रियों के हल्के और छोटे 'बेदिंग-सूट' के विरुद्ध अनेक म्यूनिसिपल कानून और रूढ़ियों ने युद्ध किया। अनेक अमेरिकी समुदायों में मोजों (stocking) के बिना स्त्रियों का घर से बाहर निकलना वर्जित था, जबकि जापान और रूस में नग्न स्त्रियों और पुरुषों को एक-साथ स्नान करते हुए देखकर वहाँ के निवासियों की नैतिक भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचती थी। स्त्रियों का सिगरेट पीना अब चाहे अनैतिक न मालूम पड़े, परन्तु कुछ वर्षों पूर्व यह रूढ़ि-विरुद्ध कार्य समझा जाता था। भारतवर्ष में उत्कट आधुनिकाओं द्वारा आज जिन पोशाकों व प्रसाधनों का प्रयोग किया जा रहा है, उनसे भारतीय आदर्शों व मूल्यों के अनुसार जितना सौन्दर्य प्रकट होता है, उससे कहीं अधिक नग्नता और अश्लीलता टपकती है। पर इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि नग्नता, अश्लीलता आदि की धारणाएँ स्वयं ही परिवर्तनशील हैं। वास्तव में जैसा कि श्री यंग ने लिखा है—"दूसरे विषयों की भाँति पोशाकों के मामले में भी अब पुरानी जन-रीतियाँ व रूढ़ियाँ टूट गई हैं। इन पृथक् क्षेत्रों को छोड़कर जहाँ जीवन-यापन की आधुनिक अवधारणाएँ अब भी लोकप्रिय नहीं हुई हैं, अन्य सभी समाजों में पोशाक तथा आभूषणों से सम्बन्धित रूढ़ियाँ पुराने नैतिक मानों (moral standards) से उत्तरोत्तर छुटकारा पाती दिखाई दे रही हैं। फैशन की जनरीतियों में जो कुछ उचित व ठीक माना जाता है, उसी को सामान्यतः स्वीकार कर लिया जाता है।"[13] फिर भी फैशन-परिवर्तन की एक सीमा है। सामान्यतः फैशन उसी सीमा तक बदलते हैं जितनी सीमा समाज की संस्कृति की आधारभूत मान्यताओं द्वारा मान्य होती है। पूर्णतया संस्कृति-विरोधी फैशन की कल्पना तक नहीं की जा सकती।

REFERECES

1. "Fashion is a type of phase of social convention characterized mainly by its changing and competitive character."—*James Drever, Dictionary of Psychology.*
2. "Fashion may be defined as the current or prevailing usage, mode, manner or characteristic on expression, presentation, or conception of those particular cultural traits which custom itself allows to change. If we consider custom as a stable and persistent phase of social behaviour, fashion may be thought of as a variation permissible within this general acceptance."—*Kimball Young, Handbook of Social Psychology*, 1953, p 411.
3. "Fashion is a series of recurring changes in the choices of a group of people which, though they may be accompanied by utility, are not determined by it."—*E.A. Ross, Social Psychology*, p. 941.

4. "Some of us fall behind the fashion, but no one ever gets ahead of it.—*Robert E. Park*
5. Morris Ginsberg, *Psychology of Society*, Hindi edition, 1957, pp. 165-67.
6. "If we figure the life of societies as a flowing steam, then we think of custom as down imitation, and fashion as a cross imitation." E.A. Ross, *op. cit.*, p. 196
7. "A fad is a custom, amusement, or vogue in dress or decoration that is followed for a time with an exaggeratd zeal." Kimball Young, *op. cit.*, 1957, p. 327.
8. "Superficial aspects of fashion change are often called rages or crazes."—*Kimball Young. Ibid.*, p. 327.
9. "Fads are fashions carried to the extreme. Faddish behaviour tends to be more ephemeral, spectacular and bizarre than fashion behaviour ; and being erotic and extravagant the fad often does violence of the prevailing canons of propriety and good taste."—*Eldridge, Fundamentals of Sociology*, p. 436.
10. "Two social tendencies are essential to the establishment of fashion, namely, the need of union, on the one hand, and the need of isolation, on the other. Should one of these be absent, fashion will not be formed.—Its sway will abruptly end ...."—*George Simmel*, "Fashion", *International Quarterly*, Vol. X, 1904-1905, p. 317.
11. "Thus fashion furnishes for the personality a nice balance between the desire for conformity, security and social solidarity, and the desire for distinction, individuality and differentiation."—*Kimball Young, op. cit.*, p. 322.
12. "The whole appeal of fashion and fashion change represents an extension of the self."—*Kimball Young, Ibid*, p. 323.
13. "From all this we see that fashion furnishes an ideal field for individuals of dependent natures, whose self- consciousness, however, requires a certain amount of prominence, attention, and singularity. Fashion raises even the unimportant individual by making him the representative of a class, the embodiment of a joint spirit."—*George Simmell, op. cit.*, p. 140.
14. "Many students of social behaviour have maintained that women's intense interest in fahsion is clearly a case of compensation for their sense of inferiority in the world of men."—*Kimball Young, op. cit.*, p 325.
15. "The modifications and deviations which we asociate with fashions really revolves around changes permissible within the mores and the law. For example the wearing of clothes is required or demanded by social norms. The particular style of clothes or the

amount of clothing worn at a particular time is dictated by the conditions of fashion at the time."—*Kimball Young, op. cit*, p. 311.

16 "As a cultural pattern, in fact, fashion is a kind of social ritual which people are supposed to follow "—*Kimball Young, Ibid.,* p. 311

17 "Fashion and changes in fashion can only be understood within the larger framework of culture of the given society "—*Kimball Young, Ibid.,* p 311

18. *Ibid.*, pp. 311-312

19 "As in any other fields, the breakdown of the old folkways and mores is evident in dress Except in isolated areas where modern concepts of living have not become common, conventions in clothes and ornamentation seem to be escaping more and more from the older moral standards What is considered proper and right in the folkways of fashion is generally accepted "—*Kimball Young, Ibid.*, p 318

चतुर्थ खण्ड

समूह-व्याधिकी का मनोविज्ञान

(PSYCHOLOGY OF GROUP PATHOLOGY)

जनप्रवाद (अफवाह)

[RIMOUR]

"जनप्रवाद एक अप्रमाणित कहानी होता है जो किसी घटना के होने के सम्बन्ध में एक समुदाय में फैलती है।" —James Drever.

बिना सत्यासत्य की जाँच किये हुए जब कोई संवेगात्मक समाचार एक समुदाय के एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक तेजी से फैल जाता है तो उसे जनप्रवाद, जनश्रुति या अफवाह कहा जाता है। जनप्रवाद समुदाय के अन्दर बहुत तेजी से इस कारण फैल जाता है कि उसमे अन्तर्निहित समाचार मे जोश, उत्तेजना या संवेग (emotion) का तत्त्व प्रबल होता है। इसीलिये अफवाह जंगल में लगी आग की भाँति देखते ही देखते पूरे समुदाय मे फैल जाती है। यह विशेष कर उस समय होता है जबकि उस समाचार मे भय का संवेग विशेष होता है, और जनसुरक्षा खतरे में होती है। अफवाह केवल तेजी से फैलती ही नहीं है, बल्कि इस फैलने के हर कदम पर सत्य सूचना को तोड़ा-मरोड़ा और उस पर रंग चढ़ाया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि अफवाह मे अन्तर्निहित समाचार जब पूरे समुदाय में फैलता है तो उसमे अतिरंजना व अतिशयोक्ति ही अधिक होती है। प्रत्येक व्यक्ति मूल समाचार मे अपनी तरफ से कुछ नमक-मिर्च लगाकर ही कहीं दूसरे से कहता है। इसका नतीजा यह होता है कि प्रत्येक पग पर उत्तेजना बढ़ती जाती है, और पूरा समुदाय अफवाह से प्रभावित हो जाता है। पर, इस सम्बन्ध मे और विवेचना करने से पहले यह जान लेना आवश्यक होगा कि विभिन्न विद्वानो ने अफवाह की परिभाषा क्या दी है।

जनप्रवाद की परिभाषा
(Definition of Rumour)

सर्वश्री ऑलपोर्ट तथा पोस्टमैन (Allport and Postman) ने जनप्रवाद की परिभाषा इन शब्दो मे दी है—"जनप्रवाद विश्वास के स्थान पर प्रयोग किये जाने वाला एक विशिष्ट (या विषयगत) अभ्यय या उपसर्ग है, जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक बिना किसी उचित प्रमाण के बहुधा मौखिक शब्दो द्वारा फैलाया जाता है।"[1]

श्री स्प्रॉट (Sprott) द्वारा प्रस्तुत परिभाषा इस प्रकार है, "जो कहानी एक मुँह से दूसरे मुँह तक पहुँचती है, उसे 'जनप्रवाद' कहा जाता है, क्योंकि इस प्रकार पहुँचने के दौरान उस कहानी में कुछ परिवर्तन भी हो सकते हैं।[2]

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि जनप्रवाद एक ऐसी सूचना या कहानी होती है, जो समुदाय के जीवन से सम्बन्धित किसी संवेगात्मक घटना से जुड़ी होने के कारण बहुधा, मौखिक शब्दो द्वारा, रंग बदलती हुई समुदाय के सदस्यों में फैल जाती है, और जिस पर सत्यासत्य की जाँच किये बिना ही लोग विश्वास कर लेते हैं।

जनप्रवाद की विशेषताएँ
(Characteristics of Rumour)

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर जनप्रवाद की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है—

1. जनप्रवाद एक समाचार भी हो सकता है या एक पूरी कहानी का रूप भी धारण कर सकता है। उदाहरणार्थ, एक समाचार के रूप में केवल यह अफवाह उड़ सकती है कि विद्यार्थियों की एक भीड़ ने 'ताज एक्सप्रेस' में आग लगा दी; अथवा एक कहानी के रूप में यह अफवाह फैल सकती है कि कितने ही विद्यार्थियों की एक आक्रमणकारी भीड़ कहाँ सर्वप्रथम इकट्ठी हुई, वहाँ से किन-किन मार्गों से गुजरती हुई आगरा स्टेशन पहुँची, रास्ते में उसने कौन-कौन-सी शरारतें कीं, स्टेशन पर पहुँचने पर सर्वप्रथम क्या किया, किस प्रकार 'ताज एक्सप्रेस' को घेरा, ड्राइवर व गार्ड के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया, कैसे आग लगाई, आग लगाने से ट्रेन के कितने डिब्बे जल गये, उस आग की लपट कहाँ-कहाँ तक दिखाई दी, और 'फायर ब्रिगेड' के कितने ही देर तक प्रयत्न करने पर भी वह आग नहीं बुझी, इत्यादि। इस कहानी में सच कितना है और झूठ कितना, यह बताना कठिन होगा, और कोई इसके सत्यासत्य की जाँच भी नहीं करेगा।

2. जनप्रवाद का सम्बन्ध समुदाय से सम्बन्धित किसी संवेगात्मक घटना से ही होता है: यह संवेगात्मक तत्त्व ही जनप्रवाद की शक्ति होती है। इसीलिये घटना के संवेगात्मक (emotional) या उत्तेजक न होने पर भी उस पर रंग चढ़ा कर उसमें उत्तेजना भर दी जाती है, क्योंकि उसी के आधार पर लोग उसमें रुचि लेते हैं, और प्रत्येक व्यक्ति अपनी ओर से उसमें कुछ-न-कुछ नमक-मिर्च मिला ही देता है।

3. जनप्रवाद की तीसरी विशेषता यह है कि एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक फैलने के दौरान उसमें अन्तर्निहित समाचार या कहानी में नया-नया रंग चढ़ता जाता है, और प्रत्येक व्यक्ति अपनी ओर से उसमें कुछ-न-कुछ नमक-मिर्च मिला ही देता है।

4. जनप्रवाद की एक और विशिष्ट विशेषता यह होती है कि चूँकि इसमें उत्तेजना या संवेगात्मक तत्त्व का आधिक्य होता है, इसलिये इसके असत्य, तर्कहीन और हास्यास्पद होने पर भी उसमें लोग विश्वास कर बैठते हैं, और उसे दूसरों से कहने के लिये आकुल दीखते हैं। चूँकि अफवाह किसी 'जलते हुए विषय' (burning topic) से सम्बन्धित होती है, इस कारण दूसरे लोग भी बिना सत्यासत्य की जाँच किये अफवाह में अन्तर्निहित समाचार को सुनने में असाधारण रुचि लेते हैं।

5. जनप्रवाद की एक और उल्लेखनीय विशेषता यह होती है कि उसके मूल स्रोत को ढूँढना सम्भव नहीं होता। कोई भी निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि अफवाह के उस चक्र को सबसे पहले किसने चलाया। हर आदमी यही कहता है कि उन्होंने ऐसा सुना है। अतः जनप्रवाद को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। वास्तव में जनप्रवाद में उत्तेजना इतनी अधिक होती है कि सत्यासत्य के विषय में सोचना या उसे प्रमाणित करने का प्रयत्न करना किसी के लिये सम्भव नहीं होता, और ऐसा करने की बात भी किसी के दिल में नहीं आती।

6. भीड़ की भाँति जनप्रवाद भी कुछ सामूहिक प्रतिक्रियाओं (collective reactions) को जन्म देता है। भीड़ की ही भाँति अफवाह का भी बौद्धिक स्तर

दुर्बल होता है—और, वह भी इस अर्थ में कि उसे फैलाने वाले कभी इस बात की चिन्ता नहीं करते कि उसका कितना बुरा प्रभाव सामाजिक संगठन व सुरक्षा पर पड़ेगा। अफवाह तो छूत की बीमारी की तरह ही घातक होती है। इस दृष्टि से भीड़ के सदस्यों की भाँति अफवाह फैलाने वालों में भी उत्तरदायित्व की भावना की नितान्त कमी होती है। वे तो भीड़ के सदस्यों की ही भाँति संवेग या आवेग की तरंगों में बहते रहते हैं, और उनसे समाचार के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाता है, उसे वे सत्यासत्य की जाँच किये बिना ही स्वीकार कर लेते हैं। इस अर्थ में भीड़ के सदस्यों की भाँति अफवाह के शिकार बनने वाले लोगों में भी सहज विश्वास (credulity) पाया जाता है।

7. जनप्रवाद में एक प्रकार का निर्देश या सुझाव निहित होता है, जिसका बल क्रमशः विकास और जनप्रवाद की व्यापकता के साथ साथ बढ़ता ही जाता है। प्रारम्भ में जनप्रवाद सम्भवतः एक साधारण बात से ही आरम्भ होता है, परन्तु सुझाव की प्रक्रिया (process of suggestion) में क्रमशः साधारण बात भी इस तरह बढ़ा-चढ़ा कर कही जाती है कि वह उत्तेजक कहानी-सी बन जाती है।

8. जनप्रवाद में भीड़ इकट्ठा करने की शक्ति होती है, क्योंकि उसमें अन्तर्निहित उत्तेजक कहानी में लोगों को आकर्षित करने की शक्ति होती है। यह उत्तेजक कहानी इतनी महत्वपूर्ण बन जाती है कि वह भीड़ को उचित-अनुचित सभी प्रकार के कार्य करने के लिये उत्तेजित कर देती है। भारत-विभाजन के पश्चात् साम्प्रदायिक मतभेदों के नाम पर ऐसे अनेक जनप्रवाद फैल जाते थे, उनके कारण तुरन्त भीड़ एकत्रित हो जाती थी, और कुछ अवांछनीय घटनाएँ तक घट जाती थीं।

9. जनप्रवाद में जिस घटना को आधार माना जाता है, वह सामुदायिक दृष्टि से महत्वपूर्ण तो होती है, पर अफवाह में जिस रूप में उसे प्रस्तुत किया जाता है, वह वास्तव में घटना को बहुत ही अस्पष्ट बना देता है। सामुदायिक दृष्टि से घटना के महत्वपूर्ण होने के कारण लोग उसकी ओर सहज ही आकर्षित हो जाते हैं, पर साथ ही उसके रूप में पर्याप्त अस्पष्टता होने के कारण लोग उसके सत्यासत्य की छानबीन नहीं कर पाते हैं। और, ये दोनों ही विशेषताएँ जनप्रवाद के पनपने और फैलने में सहायक सिद्ध होती हैं।

10. जनप्रवाद की एक अन्तिम विशेषता यह भी है कि इसकी प्रकृति अस्थायी होती है। जैसे ही विश्वस्त सूत्रों (reliable sources) या अधिकारियों द्वारा घटना के चारों ओर की अस्पष्टता के आवरण को हटा दिया जाता है, या सत्यता को प्रकाशित कर दिया जाता है, वैसे ही अफवाह का खात्मा हो जाता है। सामूहिक दृष्टि से जनवाद की यह प्रकृति कल्याणकारी है, क्योंकि जनप्रवाद के कारण जो अनिश्चितता, आतंक या तनाव समाज में फैलता है, वह एक अफवाह के मर जाने से या सत्यता के प्रकट हो जाने से समाप्त हो जाता या घट जाता है।

जनप्रवाद को फैलाने वाली परिस्थितियाँ
(Conditions for Spreading of Rumour)

वैसे तो समाज में किसी-न-किसी विषय से सम्बन्धित जनप्रवाद हमेशा ही प्रचलित रहते हैं, फिर भी हम कुछ ऐसी विशेष परिस्थितियों का उल्लेख कर सकते

हैं जिनके कारण जनप्रवाद को फैलने मे मदद मिलती है। ये परिस्थितियाँ निम्न-लिखित हैं—

1. सामान्य समस्या या विषय (General Issue)—जनप्रवाद उसी अवस्था मे समाज के सदस्यो के बीच तेजी से फैलता है, जब वह किसी व्यक्ति से नही, बल्कि समूह या सामाजिक जीवन से सम्बन्धित सामान्य विषय होता है। इस सामान्य विषय में यदि सामाजिक एकता व सगठन को ठेस पहुँचने की शंका हो या सामाजिक सुरक्षा खतरे मे पड जाने की बात हो तो जनप्रवाद बहुत ही जल्दी पनपता और फैलता है, इसी कारण जनप्रवाद युद्ध, क्रान्ति, दगा-फसाद, हिंसात्मक आक्रमण, अकाल, भूकम्प, डकैती आदि आतकजनक सामान्य समस्याओ या विषयो से सबधित होता है।

2. समस्या का महत्त्व (Importance of the Issue)—जनप्रवाद उस समय तेजी से फैलता है, जब उसका विषय इतना महत्त्वपूर्ण हो कि वह सब लोगो का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने मे सफल हो। जिस परिस्थिति या समस्या के आधार पर जनप्रवाद का प्रसार होता है, वह सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, राज-नैतिक या जान-माल की सुरक्षा के दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। यही कारण है कि क्रान्ति, युद्ध, बाहरी आक्रमण आदि की परिस्थिति मे जनप्रवाद शीघ्रता व सरलता मे फैल जाता है। समस्या के महत्त्वपूर्ण होने के कारण ही लोग उससे सम्बन्धित बातो मे रुचि लेते हैं, और अपने व्यक्तिगत विचारो का रग चढाते हुए बड़े उत्साह से उसे दूसरे या दूसरों तक पहुँचा देते हैं। अत. जनप्रवाद के फैलने के लिये समस्या का महत्त्वपूर्ण होना आवश्यक होता है।

3. अस्पष्टता (Ambiguity)—जनप्रवाद के निर्माण व प्रसार मे तीसरी महत्त्वपूर्ण परिस्थिति समस्या की अस्पष्टता है। यह एक सामान्य मनोवैज्ञानिक सत्य है कि कोई भी विषय महत्त्वपूर्ण होते हुए भी जितना ही अस्पष्ट होगा, उसके प्रति लोगो की *जिज्ञासा भी उतनी ही जागृत होगी। कोई समस्या या कोई विषय* एक व्यक्ति के लिये ही नहीं, समूह के लिये महत्त्वपूर्ण होता है, पर उसके विषय मे कोई स्पष्ट सूचना व्यक्ति को नही मिले तो उस अवस्था मे समाचार जानने के लिये व्यक्ति में एक अजीब बेचैनी-सी होगी, और उसकी उस मानसिक तनाव की परि-स्थिति से पूरा फायदा उठाकर जनप्रवाद उसे संक्रामक रोग की भाँति पकड़ता और अन्य व्यक्तियो मे फैलाता जायेगा। समस्या अस्पष्ट होने से जनप्रवाद को एक और लाभ होता है, और, वह यह कि लोगो के लिये घटना के स्पष्ट होने से हर व्यक्ति को यह मौका मिल जाता है कि वह घटना पर अपना अलग रग चढा सकता और इच्छानुसार नमक-मिर्च लगा सकता है। फलस्वरूप फैलाने के दौरान जनप्रवाद के मूल रूप में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं और कभी-कभी तो मूल रूप का कुछ भी बाकी रह ही नहीं जाता। इस प्रकार जनप्रवाद के फैलने के लिये केवल समस्या का महत्त्वपूर्ण होना ही पर्याप्त नही है, उसका अस्पष्ट होना भी आवश्यक है। इसी-लिये सर्वश्री ऑलपोर्ट व पोस्टमैन ने जनप्रवाद के सिद्धान्त (principle of rumour) को प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि जनप्रवाद समस्या या विषय के महत्त्व तथा अस्पष्टता का गुणक है।

वास्तव मे जनप्रवाद कोई एक कपोल-कल्पित कथा मात्र नहीं होता। सर्वश्री ऑलपोर्ट तथा पोस्टमैन ने लिखा है कि जनप्रवाद में निश्चय ही कुछ न कुछ सत्यता का अंश होता है, परन्तु एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुँचने के दौरान काल्पनिक

भाव-पत्तियों द्वारा वह इतना ढँक जाता है कि उस सत्यता के अंश को पृथक् करना या उसे पहचान सकना सम्भव नहीं रह जाता है।[3]

जनप्रवाद के प्रकार
(Kinds of Rumour)

जनप्रवाद के निम्नलिखित चार प्रकारों का उल्लेख किया जा सकता है—

1. भय-जनप्रवाद (Fear or Bogey Rumours)—भय तथा अरक्षा का भाव इस प्रकार के जनप्रवाद के फैलने का मुख्य आधार होता है। भय या अरक्षा की परिस्थिति में लोगों में उत्तेजना अधिक पायी जाती है, साथ ही लोगों को सही सूचनाएँ नहीं मिल पातीं। ऐसी अवस्था में भय-जनप्रवाद को पनपने का अवसर मिल जाता है। युद्ध, क्रान्ति, साम्प्रदायिक झगड़े आदि के समय इस प्रकार के जनप्रवाद विशेष रूप से फैलते हैं।

2. दिवास्वप्नमय जनप्रवाद (Pipe-dream Rumour)—इस प्रकार के जनप्रवाद व्यक्तियों की इच्छाओं, कामनाओं तथा कल्पनाओं के आधार पर फैलते हैं। इसके अन्तर्गत लोग अपनी कल्पना और इच्छा के अनुसार जिस बात को चाहते हैं, उसे मनमाने रूप में फैलाते हैं। उदाहरणार्थ, नेहरू जी की मृत्यु के बाद यह अफवाह जोरों से उड़ी कि एक साधु श्रद्धांजलि देने उनके निवास-स्थान पर मृत्यु के कुछ घण्टे बाद आये, और वे थे श्री नेताजी सुभाषचन्द्र बोस। उसी प्रकार बीच-बीच में अफवाह उड़ती है कि दो दिन पहले नेताजी इलाहाबाद में आये थे, या अमुक दिन नेताजी फिर प्रकट होने वाले हैं, इत्यादि।

3. युयुत्सात्मक जनप्रवाद (Wedge-driver Rumour)—इस प्रकार के जनप्रवाद में घृणा, हिंसा, शत्रुता, ईर्ष्या आदि नकारात्मक भावनाओं से व्यक्ति को अफवाह फैलाने की प्रेरणा मिलती है। वास्तव में हिंसा, घृणा आदि प्रेरणाएँ अपनी सन्तुष्टि चाहती हैं, और जब किसी वास्तविक क्रिया के द्वारा प्रत्यक्षतः व्यक्ति इन प्रेरणाओं की सन्तुष्टि नहीं कर पाता तो वह अप्रत्यक्षतः अफवाहें फैलाकर उनकी सन्तुष्टि करना चाहता है। उदाहरणार्थ, किसी लड़के को किसी लड़की से घृणा है और वह प्रत्यक्षतः उस घृणा को प्रदर्शित नहीं कर पा रहा है। उस अवस्था में वह उस लड़की के चाल-चलन, व्यवहार, चरित्र आदि के संबंध में गन्दी-गन्दी अफवाहें फैलाकर अपने घृणा-भाव को व्यक्त करता है।

4. औत्सुक्यात्मक जनप्रवाद (Curiosity Rumour)—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इस प्रकार के जनप्रवाद का कारण उत्सुकता है। हम उन चीजों के बारे में सूचना प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, जिनके विषय में जानने की उत्सुकता हमारे मन में होती है। पर जब हमें सही सूचना नहीं मिल पाती तो जो कुछ भी सूचना मिल जाती है, उसी को हम पकड़ लेते हैं और फिर उसमें नमक-मिर्च लगा कर उसे फैलाना शुरू कर देते हैं। उदाहरणार्थ, परीक्षा देने के बाद, परीक्षाफल निकलने के सम्भावित दिनों में विद्यार्थियों को अपना 'रिजल्ट' जानने की बड़ी उत्सुकता होती है। उन दिनों अगर कोई भी कहीं से परीक्षाफल प्रकाशित होने की 'निश्चित' तारीख जान लेता है, तो उस तथाकथित "निश्चित" तारीख को ही विद्यार्थीगण सच मान लेते हैं, और उनमें यह अफवाह तेजी से फैल जाती है कि रिजल्ट परसों आ रहा है।

जनप्रवाद का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण
(Psychological Analysis of Rumour)

सन् 1947 में सर्वश्री ऑलपोर्ट तथा पोस्टमैन ने जनप्रवाद का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया, और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जनप्रवाद में मुख्यतः तीन प्रक्रियायें क्रियाशील होती हैं। वे प्रक्रियाएँ इस प्रकार हैं—

1. चौरस करना (Levelling)—जनप्रवाद में कल्पना, असत्य कथन, अस्पष्टता आदि को इस रूप में सम्मिलित किया जाता है कि वह खूब 'चटपटी, मसालेदार' बन जाये, और लोगों का ध्यान व रुचि को आकर्षित करने में सफल हो। इसके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि सही सूचना से उन चीजों या विचारों को निकाल दिया जाय जो जनप्रवाद को आकर्षक बनाने में बाधा उत्पन्न करते हैं। इस प्रक्रिया को 'चौरस करना' कहते हैं। उदाहरणार्थ, जब-जब चीन को यह अफवाह फैलाने की आवश्यकता होती है कि सीमा-क्षेत्र में भारतीय सेना भड़काने वाले काम कर रही है, तब-तब वह अपने कथनों में, भारत द्वारा किये जाने वाले शान्ति-प्रयत्नों को, बड़ी चतुराई से गोल कर जाता है।

2. तीखा करना (Sharpening)—केवल सत्यता छिपाई ही नहीं जाती, बल्कि उसमें कुछ ऐसी बातें भी जोड़ दी जाती हैं, जिनसे जनप्रवाद खूब नुकीला हो जाय, अर्थात् उसमें संवेग के तत्त्व इस भाँति जुड़ जायें कि वह अपनी गति से लोगों के हृदय में प्रवेश कर जाये। उदाहरणार्थ, यदि दंगे के समय किसी भी पक्ष का एक आदमी किसी कारण से मर जाता है तो यह अफवाह फैला दी जाती है कि विपरीत पक्ष के लोगों ने लोगों को बड़ी संख्या में मार डाला है, और मार डाला है बहुत ही अमानुषिक व निर्दयतापूर्ण ढंग से। इन सब काल्पनिक तत्त्वों को जोड़ने का उद्देश्य जनप्रवाद को उत्तेजक ढंग से व शीघ्रता से जनता में फैलाना होता है।

3. आत्मसात् करना (Assimilation)—जनप्रवाद द्वारा जो सूचना फैलाई जाती है, उसके विषय में यह ध्यान रक्खा जाता है कि अधिक से अधिक व्यक्ति उसे सरलता से आत्मसात् कर सकें, अर्थात् उस कथन को समझ सकें। लोग जितनी सरलता से अफवाह के कथन को पचा सकेंगे या उसे समझ सकेंगे, उतनी ही तीव्रता से वह अफवाह जनता में फैल सकेगी।

लोग जनप्रवाद क्यों फैलाते हैं ?
(Why People Indulge in Rumour-mongering)

लोग जनप्रवादों को क्यों फैलाते हैं या जनप्रवादों के फैलने के क्या कारण होते हैं, इस प्रश्न का उत्तर हम निम्नलिखित विवेचना के आधार पर दे सकते हैं—

1. यौन सन्तुष्टि (Satisfaction of the Sex Impulses)—यौन इच्छा एक बहुत ही सबल प्रेरणा मानी जाती है, पर इस इच्छा की सन्तुष्टि के तरीकों पर समाज में अनेक निषेध होते हैं, जिनके फलस्वरूप यौन इच्छाओं की तृप्ति हो नहीं पाती। जिन लोगों में ये इच्छाएँ अत्यधिक अतृप्त रह जाती हैं, वे जनप्रवादों को फैलाकर अपनी अतृप्त इच्छाओं की सन्तुष्टि करने का प्रयत्न करते हैं। बहुधा लोग स्त्री-पुरुषों के अवैध सम्बन्धों तथा अनैतिक प्रेमकथाओं के सम्बन्ध में नाना प्रकार की अफवाहें उड़ाते रहते हैं। उनको ऐसा करने में मानो बहुत आनन्द का अनुभव होता है।

2 शत्रुता की व्यक्तिगत भावना की सन्तुष्टि (Satisfaction of the Personal Feeling of Rivalry)—ऐसा भी देखा गया है कि जनप्रवाद व्यक्तिगत शत्रुता की भावना की सन्तुष्टि के लिये भी फैलाये जाते हैं। चीन सरकार द्वारा फैलाई गई भारत-विरोधी सारी अफवाहें इसकी जीती-जागती मिसालें हैं।

3. चिन्ता और भय के कारण (Because of Anxiety and Fear)—अफवाहों के फैलने का एक बहुत बड़ा कारण चिन्ता और भय है। यदि व्यक्ति को किसी विषय के सम्बन्ध में चिन्ता या भय होता है, तो वह उसके फलस्वरूप उत्पन्न मानसिक तनाव से अपने को विमुक्त करने का प्रयत्न करता है। इसके लिये एक सरल उपाय अफवाहें फैलाना है। अपनी चिन्ता या भय पर गहरा रंग चढ़ाकर दूसरों से कह देने से व्यक्ति को बड़ी राहत मिलती है। अफवाह में इस उद्देश्य की पूर्ति होती है।

4. प्रक्षेपण (Projection)—इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति जनप्रवादों में अपने भावों का प्रक्षेपण कर देते हैं। बहुधा जनप्रवाद में असर्पाप्तता अथवा असुरक्षा के भावों का प्रक्षेपण होता है। एक जनप्रवाद जो किसी उन्नत ढंग की नयी मशीन को मिल या कारखाने में लगाने से पहले बहुधा फैलाया जाता है, वह यह है कि उस मशीन के लग जाने से बहुत से लोग बेरोजगार हो जायेंगे। यह जनप्रवाद उन श्रमिकों की असुरक्षा की भावना का प्रक्षेपण है, जिन्हें यह मालूम है कि वे सबसे 'जूनियर' हैं, और यदि छँटनी हुई तो सबसे पहले उन्हीं का नम्बर आयेगा।

5 बकवाद (Gossips)—कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि जनप्रवाद बकवाद या गप्पों से आरम्भ होते हैं। व्यक्ति आपस में खाली समय में बैठकर इधर-उधर की गप्पें हाँकते हैं। उसी हाँकने के दौरान कुछ ऐसी बातें भी मुँह से निकल जाती हैं, जो रंग बदलती हुई इस प्रकार फैल जाती हैं, जैसे कि वास्तव में कोई उस तरह की घटना घटित हुई हो। मान लीजिये, किसी ने मजाक में कह दिया कि अमुक व्यक्ति की युवती स्त्री को मैंने पर-पुरुष के साथ सिनेमा-हाल में बैठे देखा है, बस फिर क्या है, शीघ्र ही उस स्त्री के चरित्र के सम्बन्ध में ऐसी-ऐसी रोचक कहानियाँ फैल जायेंगी कि सुनने वाला यही निष्कर्ष निकालेगा कि हो-न-हो वह स्त्री सचमुच ही भ्रष्ट चरित्र की है।

जनप्रवाद फैलने के साधन
(The Media of Propagation of Rumour)

जनप्रवादों को फैलाने वाले मुख्य साधन निम्नलिखित हैं—

1. बकवाद तथा बातचीत (Gossiping and Talking)—जनप्रवाद को फैलाने वाला सबसे महत्वपूर्ण साधन बकवाद तथा बातचीत है। अस्पष्ट और महत्वपूर्ण विषयों तथा समस्याओं के सम्बन्ध में समाचार जानने की उत्सुकता हर व्यक्ति में ही होती है। इसलिये सूचना प्राप्त करने के लिये लोग आपस में बातचीत करते हैं। इसी बातचीत के दौरान अफवाह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुँचती है। होटल, जलपान-गृह, क्लब, मित्र-मण्डली, दफ्तर, आदि में खाली समय में लोग जो बातचीत करते हैं, उसी से अफवाहें आम तौर पर फैलती हैं।

2. तार, टेलीफोन, पत्र आदि (Telegram, Telephone, Letters etc.)—प्रत्येक आधुनिक समाज में सन्देह तथा समाचार भेजने के लिये डाक, तार, टेलीफोन आदि का प्रबन्ध होता है। इन साधनों द्वारा भी जनप्रवाद फैलते हैं। टेलीफोन पर बातचीत करने वाले दो मित्र अन्य बातों के साथ-साथ चीनी हमले की सम्भावनाओं से सम्बन्धित अफवाहें भी उड़ा डालते हैं। इसी प्रकार नाते-रिश्तेदारों में पत्र-व्यवहार करते हुए भी लोग अफवाह फैला देते हैं।

3. प्रेस (*Press*)—प्रेस द्वारा प्रकाशित समाचार-पत्र, पत्रिकायें, पुस्तकें आदि भी प्रचार में बहुत सहायक सिद्ध होती हैं। इन समाचार-पत्रों आदि में कुछ घटनाओं के सम्बन्ध में खबरें खूब नमक-मिर्च लगाकर प्रकाशित की जाती हैं जिसके आधार पर अफवाहें देखते-देखते भर में समाज में फैल जाती हैं।

4. रेडियो और चलचित्र (Radio and Cinema)—रेडियो और चलचित्र द्वारा भी जनप्रवाद का प्रचार होता है। किसी-किसी राज्य में तो सरकार द्वारा रेडियो और चलचित्रों का प्रयोग अपने विरोधी राज्यों के विरुद्ध अफवाहों को फैलाने के लिये ही किया जाता है। रेडियो-पेकिंग का उदाहरण हमारे सामने है।

जनप्रवाद के फैलने पर रोकथाम
(Checks on Propagation of Rumour)

अफवाहों पर रोकथाम करने की आवश्यकता सभी लोग अनुभव करते हैं, क्योंकि इससे बहुधा केवल व्यक्ति को ही नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्र तक को बहुत नुकसान पहुँचता है। अफवाहों का बहुत ही बुरा प्रभाव युद्ध आदि राष्ट्रीय संकटों के अवसर पर पड़ता है। युद्ध के समय अगर हम अफवाह फैलाते हैं, या अफवाहों पर विश्वास करते हैं तो उसके फलस्वरूप जनता में आतंक फैल सकता है, जनता तथा सेना का उत्साह टूट सकता है, उनका नैतिक पतन हो सकता है और शत्रु-पक्ष को इन सब परिस्थितियों से अतिरिक्त लाभ पहुँच सकता है। इसी प्रकार अफवाहों के आधार पर एक निष्कलंक स्त्री को कुलटा, भ्रष्टा, वेश्या आदि सभी कुछ बताया जा सकता है जिसके फलस्वरूप उस पर उसके पति का अविश्वास हो सकता है और दोनों का वैवाहिक जीवन विषमय हो सकता है। अतः जनप्रवादों को फैलने से रोकना चाहिए। इसके लिये निम्नलिखित तरीके सुझाये जा सकते हैं—

(1) कठोर दण्ड के द्वारा सरकार को जनप्रवादों को फैलने से रोकना चाहिए। यदि कठोर दण्ड का भय होगा तो लोग इस प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग नहीं लेंगे। संकटकालीन स्थितियों में जनप्रवादों को रोकने का यह सबसे प्रभावशाली साधन सिद्ध होता है।

(2) सेन्सरशिप के द्वारा भी जनप्रवादों को रोका जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि सरकार द्वारा उचित व्यवस्था होनी चाहिए कि समाचार-पत्र, रेडियो, सिनेमा, टेलीफोन आदि के माध्यम से ऐसी कोई भी सूचना या समाचार फैल न सकें जिससे अफवाहों के पनपने या फैलने की सम्भावना हो। समाचार के प्रसारित होने से पहले ही सरकार को उसकी जाँच कर लेनी चाहिये।

(3) आपसी सम्बन्धों पर लगाई जाने वाली रोक भी अफवाहों को रोकने में सहायक सिद्ध हो सकती है, क्योंकि अधिकतर जनप्रवाद बकवाद या गप्पों से ही

आरम्भ होते हैं। जनप्रवादों को रोकने के लिये ही सरकार संकट के समय दफा 144 लगाकर पाँच व्यक्तियों से अधिक के जमाव पर प्रतिबन्ध लगा देती है।

(4) जनता को सत्य सूचना देने की उचित व्यवस्था करना भी अफवाहों को रोकने का एक उत्तम साधन है। बहुधा ऐसा देखा गया है कि अफवाह तब फैलती है जब लोगों को महत्त्वपूर्ण घटनाओं के सम्बन्ध में सही-सही पता नहीं होता। इसीलिये उन विषयों या घटनाओं के सम्बन्ध में जो कुछ भी कोई व्यक्ति कह देता है, उसी पर लोग विश्वास कर लेते हैं। इसके विपरीत, यदि लोगों को सब सूचनाएँ सही-सही ज्ञात होंगी तो वे कभी भी अफवाहों पर विश्वास नहीं करेंगे, उल्टे अफवाहें फैलाने वालों की निन्दा भी करेंगे।

(5) सत्य को अफवाही समाचारों से अलग करने का प्रशिक्षण भी इस दिशा में सहायक सिद्ध हो सकता है। यह काम सामाजिक शिक्षा के कार्यक्रमों के अन्तर्गत किया जा सकता है। यदि लोगों में अफवाहों को सच्चाई से अलगाने की क्षमता पनप जायेगी तो वे आप ही अफवाहों से बचने की भरसक कोशिश करेंगे।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह याद रखना है कि अफवाहों को फैलने से रोकने के लिये सरकारी तौर पर बहुत ज्यादा सख्ती बरतना उचित नहीं होता, क्योंकि इससे नागरिकों के सामान्य अधिकारों को ठेस पहुँचती है, और उनमें असन्तोष फैलता है। ऐसी अवस्था में स्वयं सरकारी नीतियों के सम्बन्ध में नाना प्रकार की अफवाहें आप ही आप फैलने लगती हैं, और उनको रोकना सरकार की शक्ति के बाहर हो जाता है।

REFERENCES

1. "A rumour is a specific (or topical) proposition for belief, passed along from person to person, usually by word of mouth, without secure standard of evidence being present"—*Allport and Postman. The Psychology of Rumour* 1948, p. 9
2. "It is perfectly plausible to call any story that passes from mouth to mouth a 'rumour' because in the passing it is liable to undergo certain changes."—*Sprott, Social Psychology, 1949*, p. 412.
3. "To be sure, in rumour, there is always some residual particle of news, a kernel of truth but in the course of transmission it has become so overlaid with fanciful elaboration that it is no longer separable or detectable."—*G.W. Allport and L. Postman*, The Psychology of Rumour, 1948, p. 33.

पक्षपात व रुढ़ियुक्तियाँ

[PREJUDICE AND STEREOTYPES]

"पक्षपात जल्दबाजी में किया गया एक ऐसा निर्णय या मत है जो उपयुक्त परीक्षण के बिना ही अस्तित्व में आ सकता है।" —Ogburn.

पक्षपात

(Prejudice)

सामाजिक जीवन में अनुकूल भावना ही नहीं, प्रतिकूल भावनाएँ भी स्वाभाविक रूप में पाई जाती हैं। समाज में रहते हुए हम कुछ लोगों से प्रेम या स्नेह करते हैं, और उसी आधार पर उनके प्रति हमारे हृदय मे सहयोग अथवा सहानुभूति के भाव होते हैं। पर, इसके विपरीत, उसी समाज के कुछ व्यक्तियों या समूहों से हम घृणा करते हैं, या अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं। परिणामतः उनके प्रति हमारे मन में कोई कोमल भाव नहीं होता। हम प्रत्येक विषय में उनको अपने समूह से पृथक् मानते हैं, हेय समझते हैं, तथा उसी के अनुसार अपने व्यवहार मे अपने भावों को ढालते हैं। ऐसा करने का कोई तार्किक कारण नहीं होता, फिर भी दूसरे समूह या समूहों के प्रति जो संवेगात्मक मनोभाव हमारे अन्दर पनप जाता है, उसी के फलस्वरूप हम उनके प्रति विद्वेष, घृणा और कभी-कभी अत्याचारपूर्ण व्यवहार करने को तत्पर होते हैं। अतः समूह व बाह्य समूह के प्रति हमारे इन्हीं मनोभावों तथा व्यवहार-प्रतिमानों को 'पक्षपात' कहते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पक्षपात सकारात्मक (positive) या अनुकूल भी हो सकता है, और नकारात्मक (negative) या प्रतिकूल भी। सकारात्मक या अनुकूल इस रूप मे कि हम दूसरे समूहों की तुलना मे अपने समूह या अन्त.समूह (in-group) के प्रति कुछ विशेष लगाव रखते हैं और उसे अपनी ओर से सहायता करने को तैयार रहते हैं—चाहे हमारा वह काम तार्किक हो अथवा न हो। हम यह मान लेते हैं कि हमारा अपना समूह दूसरे किसी भी समूह की तुलना में प्रत्येक दृष्टि से श्रेष्ठ है, और इसलिये हमारे सहयोग, सहानुभूति, स्नेह, प्रेम, विशेष रुचि और विशेष व्यवहार का हकदार है। इसके विपरीत, किसी बाह्य समूह (out-group) के प्रति हमारे दिल में नकारात्मक (negative) मनोभाव हो सकता है। हम, बिना किसी तार्किक औचित्य के, पहले से ही इस प्रकार की धारणा बना सकते है कि उस बाह्य समूह के सदस्य हमसे हेय हैं, हमारे साथ उठने-बैठने, मेल-मिलाप रखने, वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने या अन्य किसी प्रकार से निकट सामाजिक सम्बन्धों के दायरे में सम्मिलित होने के पूर्णतया अयोग्य हैं। उन्हें हमसे और हमें उनसे सामाजिक दूरी बनाये रखनी चाहिए, और हमसे उन्हे किसी भी प्रकार के सहयोग, स्नेह या सहानुभूति की आशा नहीं करनी चाहिए। इसीलिए यह कहा गया है कि अन्त समूह (in-group) या बाह्य समूह (out-group) के प्रति हमारे अनुकूल या प्रतिकूल मनोभावों तथा व्यवहार-प्रतिमानों को ही 'पक्षपात' कहते हैं। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी।

'पक्षपात' का शाब्दिक अर्थ

(The Etymological Meaning of Prejudice)

पक्षपात का अंग्रेजी रूपान्तर 'prejudice' शब्द लैटिन शब्द prejudicium

का ही अपभ्रंश व प्रचलित स्वरूप है। Prejudicium शब्द का अर्थ है मुकदमे से पहले ही न्यायालय-सम्बन्धी परीक्षा, अर्थात् न्याय की दृष्टि से पूर्वनिर्णय। इसी से यह स्पष्ट है कि पक्षपात एक समूह के उस निर्णय से सम्बन्धित है, जो विषय (subject) से अर्थपूर्ण रूप में सम्बन्धित न हो और जिसका विकास बिना किसी तार्किक (logical) आधार के हुआ हो। इसीलिये prejudice शब्द के हिन्दी-रूपान्तर के तौर पर कुछ लेखक 'पूर्वाग्रह' का, तो अन्य लेखक 'पूर्वनिर्णय' अथवा 'पूर्वधारणा' शब्द का प्रयोग करते हैं। पर, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, prejudice केवल एक मानसिक अवस्था (निर्णय, धारणा आदि) नहीं है, अपितु एक विशिष्ट व्यवहार-प्रतिमान (behaviour pattern) का भी प्रतिनिधित्व करता है। इसी लिए 'पक्षपात' शब्द ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। कुछ भी हो, उपर्युक्त शाब्दिक अर्थ से 'पक्षपात' के सम्बन्ध में दो प्रमुख बातें स्पष्ट हैं—प्रथम तो यह कि पक्षपात में कोई विषय या पक्ष होता है, जिसके प्रति पक्षपात किया जाता है। दूसरे कि उस विषय के अनुकूल या प्रतिकूल निर्णय पहले से ही ले लिया जाता है। अनुकूल निर्णय अन्त:समूह के प्रति और प्रतिकूल निर्णय बाह्य समूह के प्रति होता है। पर, यह अनुकूल या प्रतिकूल निर्णय किसी तर्क पर आधारित नहीं होता। पक्षपात तर्कविहीन ही होता है। साथ ही, प्रतिकूल या अनुकूल निर्णय में कितनी वास्तविकता होती है, यह बताना भी कठिन है; पर, इतना अवश्य है कि इस निर्णय के पीछे संवेगात्मक मनोभाव (घृणा, द्वेष, प्रेम आदि) अत्यधिक दृढ़ होता है। और, इसी संवेगात्मकता (emotionalism) के आधार पर अतिरंजना पक्षपात का एक विशेष अंग बन जाती है। इतना ही नहीं, यही संवेगात्मकता पक्षपात को तर्क की दुनिया से बहुत दूर ले जाती है। अत: स्पष्ट है कि पक्षपात वह अतार्किक व संवेगात्मक मनोभाव है, जो एक समूह के लोगों को दूसरे समूह के लोगों के प्रति कुछ विशिष्ट अनुकूल या प्रतिकूल व्यवहार करने की प्रेरणा देता है।

पक्षपात की परिभाषा
(Definition of Prejudice)

पक्षपात को विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। श्री **जेम्स ड्रेवर** (James Drever) ने लिखा है, "पक्षपात एक ऐसी मनोवृत्ति है, जो सामान्यत: संवेगात्मक रंग से रँगी होती है, और जो किन्हीं क्रियाओं, वस्तुओं, व्यक्तियों और सिद्धान्तों के प्रति या तो विद्वेषपूर्ण होती है, या फिर अनुकूल पड़ने वाली होती है।"[1] इस परिभाषा से पक्षपात की कुछ विशेषताओं का पता चलता है। इनमें पहली विशेषता यह है कि 'पक्षपात' एक मनोवृत्ति होता है, पर यह मनोवृत्ति सामान्य इस अर्थ में नहीं होती कि इस पर संवेगों का रंग चढ़ा होता है। दूसरी बात यह है कि पक्षपात केवल किसी व्यक्ति या समूह के प्रति ही नहीं, अपितु किसी भी क्रिया, वस्तु या सिद्धान्त (doctrine) के प्रति भी हो सकता है। और, अंतिम व तीसरी बात यह है कि पक्षपात में मनोवृत्ति किसी भी विषय, वस्तु, व्यक्ति आदि के पक्ष में भी हो सकती है और विपक्ष में भी।

श्री ऑगबर्न (Ogburn) का कथन है—"पक्षपात जल्दबाजी में किया गया एक ऐसा निर्णय या मत है जो उपयुक्त परीक्षण के बिना ही अस्तित्व में आ सकता है।"[2]

इस परिभाषा की कई आधारों पर आलोचना की जा सकती है। श्री ऑगबर्न ने इस बात पर बल दिया है कि पक्षपात जल्दबाजी में किया गया एक निर्णय है। परन्तु, इस मत से सहमत होना हमारे लिये कठिन है। इसका कारण भी स्पष्ट है। 'पक्षपात' सामान्य रूप से एक ऐसी सामाजिक अवधारणा है जो सामाजिक अन्तः-क्रिया के दौरान पनपती है। कोई भी पक्षपात एक ही रात में पनप गया हो, ऐसा कभी सुना नहीं गया। इस कारण यह कहना उचित न होगा कि पक्षपात जल्दबाजी में किया गया या लिया गया एक निर्णय है। पक्षपात एक निर्णय हो सकता है, पर उस निर्णय तक पहुँचने में समय लगता है, और इस दौरान उस निर्णय को सामाजिक मान्यता प्राप्त हो जाती है—भले ही निर्णय अतार्किक हो। फिर, उस निर्णय को पुष्ट करने के लिये प्रायः पौराणिक कथाओं आदि की भी सहायता ली जाती है। उदाहरणार्थ, हरिजनों के प्रति उच्च जातियों के परम्परागत पक्षपात का उल्लेख किया जा सकता है। उच्च जाति के लोग उन्हें अस्पृश्य क्यों मानते हैं, इसे पौराणिक कथाओं द्वारा समझाया जाता है। कहा जाता है कि अस्पृश्यों की उत्पत्ति ब्रह्मा के पैरों से हुई और इसीलिये उन्हें समाज के निम्नतम पेशे दिये गये। चूँकि ये पेशे गन्दे होते हैं, इस कारण अन्य लोगों की पवित्रता एवं धार्मिक पवित्रता आदि की रक्षा की दृष्टि से अस्पृश्य लोगों को न छूना ही उचित है। अतः, स्पष्ट है कि पक्षपात को अपनाने वाले समूह की निगाह में 'पक्षपात' उचित निर्णय ही होता है।

इसीलिए श्री किम्बल यंग (Kimball Young) ने लिखा है, "पक्षपात रूढ़ियुक्तियों, लोकगाथाओं तथा पौराणिक कथाओं के संगठन से बनता है, जिसमें एक व्यक्ति या समग्र रूप से एक समूह का वर्गीकरण करने, उसकी विशेषता ज्ञापित करने तथा परिभाषित करने के लिये समूह-संज्ञा या प्रतीक का प्रयोग किया जाता है।"[3]

श्री एवं श्रीमती शेरिफ (Shri Sherif and Shrimati Sherif) के अनुसार, "समूह-पक्षपात किसी अन्य समूह तथा उनके सदस्यों के प्रति एक समूह-विशेष के सदस्यों की, उनके अपने स्थापित आदर्श-नियमों से प्राप्त की जाने वाली नकारात्मक मनोवृत्ति है।"[4] इस परिभाषा में इस बात पर बल दिया गया है कि पक्षपात एक समूह के स्थापित आदर्श-नियमों (established norms) से बल प्राप्त करके पनपता है। जब एक अन्तःसमूह के सदस्य अपने आदर्श-नियमों से प्राप्त नकारात्मक मनोवृत्ति को बाह्य समूह तथा उसके सदस्यों के प्रति प्रकट करते हैं तो उसे पक्षपात कहते हैं। पक्षपात की कटुता की मात्रा के आधार पर ही अन्तःसमूह और बाह्य समूह के बीच सामाजिक दूरी (social distance) को नापा जा सकता है। पक्षपात सामाजिक दूरी का ही द्योतक है।

पक्षपात की विशेषताएँ
(Characteristics of Prejudice)

उपर्युक्त परिभाषाओं की विवेचना से ही पक्षपात की अनेक विशेषतायें स्पष्ट हैं। फिर भी उन्हें क्रमबद्ध रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. पक्षपात सीखे जाते हैं (Prejudices Learned)—इसका तात्पर्य यह हुआ कि लोगों का यह विश्वास गलत है कि पक्षपात कोई जन्मजात प्रवृत्ति (inborn tendency) है। अनेक विद्वानों ने 'पक्षपात' को एक मनोवृत्ति माना है क्योंकि प्रत्येक

मनोवृत्ति का विकास सामाजिक अन्तःक्रियाओं के दौरान ही होता है। पक्षपात एक सामाजिक मनोभाव और व्यवहार-प्रतिमान है। इसलिए यह आशा नहीं की जा सकती कि इसका संक्रमण वंशानुसंक्रमण द्वारा होता है। इस विषय में हम आगे और विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

2. पक्षपात मुख्यतः अचेतन होते हैं (Prejudices are Largely Unconscious)—मनोवैज्ञानिकों के अनुसार जिन व्यक्तियों में सबसे अधिक पक्षपात होते हैं, वे यह नहीं जानते हैं कि वे सचमुच इस बीमारी के शिकार हैं। इसके विपरीत, जिन व्यक्तियों में पक्षपात सबसे कम होते हैं, वे उसके विषय में अधिक सचेत होते हैं और उसके लिये अपने को अपराधी भी समझते हैं। अपने इस अचेतन गुण के कारण ही अनेक दयालु व्यक्ति भी हरिजनों के प्रति पक्षपातपूर्ण व्यवहार करते हैं, और उनसे सामाजिक दूरी बनाये रखते हैं।

3. पक्षपात को पक्षपात के सम्पर्क से सीखा जाता है, न कि अन्य समूहों के सम्पर्क द्वारा (Prejudice is Learned through Contact with Prejudice not through Contact with other Groups)—मनोवैज्ञानिक अध्ययनों द्वारा यह प्रमाणित हो चुका है कि एक समूह के प्रति व्यक्ति की जो मनोवृत्ति या धारणा होती है, वह इस बात पर निर्भर नहीं होती कि उस व्यक्ति का उसके साथ कितना घनिष्ठ या दूर का सम्बन्ध है। आज विभिन्न जातियों का पारस्परिक सम्बन्ध पहले से कहीं अधिक घनिष्ठ है, फिर भी जातीय पक्षपात का जो उग्र रूप आज है, वह और वैसा पहले कभी नहीं था। वास्तव में, पक्षपात उस विशिष्ट पर्यावरण की देन होता है, जिसमें पक्षपात का वास होता है और जिसके द्वारा हम प्रभावित होते हैं। उदाहरणार्थ, जब एक ब्राह्मण का लड़का बचपन से ही एक ऐसे परिवार या समूह में पलता है, जहाँ कुछ लोगों को 'अस्पृश्य' कहकर छुआ तक नहीं जाता, और उनके प्रति एक अवहेलनापूर्ण व्यवहार किया जाता है, तो यह मानी हुई बात है कि पक्षपात करने वाले ऐसे लोगों के सम्पर्क में रहते हुए वह बच्चा भी वैसा ही पक्षपातपूर्ण व्यवहार सरलता से ही सीख लेगा।

4. पक्षपात का वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं होता (Prejudice is Unrelated to Reality)—पक्षपात तर्कविहीन होता है। साथ ही, पक्षपात के आधार पर किसी भी विषय या वस्तु या समूह की वास्तविकता की जानकारी हासिल नहीं की जा सकती। इसका कारण भी स्पष्ट है। चूँकि पक्षपात मुख्यतः पक्षपात के सम्पर्क में रहते हुए सीखा जाता है, न कि सम्बन्धित व्यक्तियों या समूहों के सम्पर्क में रहते हुए, इसलिये पक्षपात में सम्बन्धित व्यक्तियों या समूहों से सम्बन्धित वास्तविक तथ्यों का समावेश नहीं हो पाता है। सत्य तो यह है कि जिसके प्रति हम पक्षपात करते हैं, उसे हम हर प्रकार से अपनी तुलना में हेय या निम्न कोटि का ही मानते हैं, चाहे वास्तविकता इससे बिल्कुल उल्टी हो। अमेरिका में कहा जाता है कि नीग्रो द्वितीय श्रेणी के खिलाड़ी हैं, पर वास्तविकता यह है कि वे इतने अच्छे खिलाड़ी हैं कि इस क्षेत्र में दुनिया भर में श्रेष्ठता प्राप्त कर रहे हैं।

5. पक्षपात इसलिये बने रहते हैं कि वे सन्तोष प्रदान करते हैं (Prejudices Exist because they are Satisfying)—पक्षपात एक अर्थ में समूह-विकार का द्योतक है, फिर भी लोग इसे बनाये रखते हैं, क्योंकि इसके माध्यम से उन्हें सन्तोष

तथा निम्न कोटि का मानने को शिक्षा दी गयी है। ब्राह्मणों या हरिजनों का कुछ जातीय नियमों का पालन करना पड़ता है। यह पालन उनके बीच पाई जाने वाली सामाजिक दूरी को बनाये रखने में सहायक सिद्ध होता है।

5. जटिल परिस्थिति—कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि सामाजिक जीवन से सम्बन्धित कुछ जटिल परिस्थितियों के कारण लोग अपने को एक विशिष्ट मानसिक स्थिति में पाते हैं। यह विशिष्ट मानसिक स्थिति पक्षपात को पनपाती है। उदाहरणार्थ, अनाज की कमी होने पर जब व्यक्तियों को अपना पेट भरने तक के लिये अनाज नहीं मिल पाता तो वे अत्यधिक मानसिक उलझन में फँस जाते हैं और मन में सरकार के प्रति, एक विशेष पक्षपातपूर्ण मनोभाव को पालने लगते, और सरकार को ही अनाज की कमी के लिये दोषी ठहराने लगते हैं।

6. श्रेष्ठता की भावना और समाज से अनुकूलन करने की इच्छा—ऐसा भी हो सकता है कि किसी कारणवश एक समूह अपने को दूसरे समूह से श्रेष्ठ मान बैठे। इस श्रेष्ठता की धारणा का आधार तार्किक है या नहीं, यह दूसरा प्रश्न है, पर, यदि इस प्रकार की भावना एक बार पनप जाती है, तो समूह के सदस्य उसकी रक्षा निरन्तर करना चाहते हैं और इसीलिये अन्य समूह के लोगों को निम्न कोटि का मानने लगते हैं। इसी के आधार पर पक्षपात पनप जाता है। उदाहरणार्थ, श्वेत प्रजाति के लोग नीग्रो प्रजाति के लोगों से अपने को श्रेष्ठ मानते हैं। यद्यपि इस धारणा का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है, फिर भी इसी धारणा के आधार पर सफेद व काली प्रजातियों के लोगों में पक्षपात का उग्र रूप देखने को मिलता है। इसी प्रकार समाज के साथ अनुकूलन करने की इच्छा पक्षपात के विकास में सहायक सिद्ध हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह अपने समाज के रीति-रिवाजों या आदर्श-नियमों (norms) के साथ अपना अनुकूलन कर ले, ताकि वह एक सफल नागरिक के रूप में अपने को प्रतिष्ठित कर सके। ऐसी परिस्थिति में एक व्यक्ति अपने समूह के रीति-रिवाज आदि को ही नहीं, अपितु पक्षपात को भी अपना लेता है। उसके मन में प्रायः यह एक गलत धारणा पनप जाती है कि उसकी संस्कृति, प्रथा, परम्परा, धर्म, प्रजाति ही सबसे श्रेष्ठ है, और उस तुलना में दूसरे लोग निम्न कोटि के हैं। यह धारणा ही 'पक्षपात' का एक दृढ़ आधार बनती है। वास्तव में, समाज से व्यक्ति का अनुकूलन तभी सम्भव होता है, जबकि अपने समाज के अन्य सदस्यों की भाँति वह पक्षपात करना भी सीख जाये।

पक्षपात के प्रकार
(Kinds of Prejudice)

पक्षपात कई प्रकार के हो सकते हैं। पर, उनमें से कुछ उल्लेखनीय प्रकार निम्नलिखित हैं—

1. प्रजातीय पक्षपात
(Racial Prejudice)

प्रजातीय पक्षपात उसे कहते हैं, जिसमें एक प्रजाति के सदस्य अपने को दूसरी प्रजाति या प्रजातियों की तुलना में श्रेष्ठ मानते हैं, और इसी आधार पर उस प्रजाति के प्रति घृणा, अवहेलना तथा अनादर की भावना का पोषण करते हैं। अतः हम कह

सकते हैं कि प्रजातीय पक्षपात वह कटु मनोवृत्ति व व्यहार-प्रतिमान है, जो एक प्रजाति के मन में श्रेष्ठता का अन्धविश्वास भर देता है, और उसी आधार पर घृणा, द्वेष, सामाजिक अन्याय तथा कटु ऊँच-नीच की भावना को जन्म देता है। इसीलिये कहा गया है कि प्रजातीय पक्षपात अपने उग्र रूप मे तब व्यक्त होता है, जब एक प्रजाति अपने को अन्य प्रजाति या प्रजातियों की तुलना मे शारीरिक तथा मानसिक गुणों, यथा सृजनशीलता आदि के मामले मे श्रेष्ठ समझने लगती है और उस प्रजाति को अधम मानते हुए केवल अनेकानेक आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक संकीर्ण विभेदों का ही पोषण नही करती, अपितु उस प्रजाति के साथ तरह-तरह के अन्याय और अत्याचार करती है, और उसके मामले मे हर तरह विचारहीनता से काम लेती है।

प्रजातीय पक्षपात का श्रीगणेश आर्य प्रजाति की श्रेष्ठता की धारणा से होता है। इस भ्रान्त धारणा के आधार पर लोगों को यह विश्वास दिलाया गया कि उच्च सभ्यता का विकास 'आर्य प्रजाति' के बिना सम्भव नहीं, क्योंकि सभ्यता को विकसित करने के लिये जिन क्षमताओं और योग्यताओं की अपेक्षा होती है, वे केवल आर्य प्रजाति में ही पायी जाती हैं, अर्थात् आर्य प्रजाति सर्वश्रेष्ठ प्रजाति है। इसी श्रेष्ठता की धारणा के आधार पर नॉर्डिकवाद (Nordicism) का विकास हुआ, जिसके अन्तर्गत यह भ्रान्त धारणा प्रचारित की गयी कि 'विशुद्ध आर्य जाति' यूरोप के उत्तरी भाग में रहती है, और वह यही नॉर्डिक-प्रजाति है। लोगों को यह विश्वास दिलाया गया कि उच्चतम सभ्यता को तथा नेता, कलाकार, वैज्ञानिक आदि सभी महापुरुषों को इसी विशुद्ध नॉर्डिक-प्रजाति ने ही जन्म दिया है। इसी आधार पर जर्मन के नाजियों ने जर्मनी के निवासियों को दुनिया की सर्वश्रेष्ठ शासक प्रजाति घोषित किया। दूसरी प्रजातियों से होने वाले मिश्रण को रोकने और अपनी विशुद्धता को स्थिर रखने के लिये कठोरतम नियम बनाये, और यहूदियों को अपने देश से निकाल बाहर किया। नाज़ी-जर्मनी मे यहूदियों के साथ जो अन्याय और अत्याचार किया गया था, वह शायद पक्षपातपूर्ण व अन्धविश्वासी सभ्य समाज के माथे पर एक भयानक कलंक के रूप में सदा-सदा अजर-अमर रहेगा।

प्रजातीय पक्षपात का आधुनिक रूप यह है कि इस प्रकार के पक्षपात के आधार पर एक प्रजातीय समूह दूसरे प्रजातीय समूह को घृणा की दृष्टि से देखने लगता है, और उसके प्रति ऐसी भ्रान्त और अवैज्ञानिक धारणाओं का पोषण करने लगता है कि उससे विभेदों की सृष्टि होती है तथा अन्याय व अत्याचार का द्वार खुल जाता है। प्रजातीय पक्षपात के आधार पर ही एक प्रजाति अपने से नीची प्रजाति में विवाह आदि नहीं करती, और न ही उनको कोई आर्थिक और राजनैतिक अधिकार ही देना चाहती है। ये पक्षपात सामाजिक जीवन में भी स्पष्ट हो जाते हैं, और सामाजिक अन्याय ऐसा किया जाता है कि तथाकथित (so-called) निम्न प्रजाति के लोगों के लिये होटलों, रेलगाड़ियों और बसों आदि में अलग व्यवस्था की जाती है। उन्हें शिक्षा आदि की सुविधायें भी भिन्न प्रकार की दी जाती हैं। इसका जीता-जागता उदाहरण अमेरिका तथा अफ्रीका मे श्वेत प्रजाति का नीग्रो प्रजाति के प्रति पाया जानेवाला पक्षपात है। नीग्रो लोगों के प्रति अंग्रेजों और अमेरिकनों का मनोभाव न केवल अवहेलना का ही परिचायक है, बल्कि घृणा और घोर सामाजिक अन्याय का द्योतक भी है। अमेरिका का ही उदाहरण लीजिये। वहाँ नीग्रो लोगों के प्रति कटु प्रजातीय पक्षपात देखने को मिलता है। उनके लिये रेलगाड़ियों में अलग डिब्बे (compartments) तथा स्टेशनों पर

पृथक् प्रतीक्षालय (waiting-room) होते हैं। 'कानून के सम्मुख समानता' (equality before law) की सामान्य नीति भी नीग्रो लोगों के लिये उलट-सी जाती है। उन्हें छोटे-मोटे अपराधों के लिये भी जो कठोर सजायें भुगतनी पड़ती हैं, उनकी चर्चा सुनने से भी प्रजातीय पक्षपात का नग्न तथा भयंकर रूप सामने आ जाता है। उदाहरणार्थ, सन् 1951 में एक अमेरिकी स्त्री पर बलात्कार करने के अपराध में सात नीग्रो लोगों को मृत्यु-दण्ड की सजा दी गयी। इसी प्रकार दक्षिणी अफ्रीका में अंग्रेज 'जंगली' नीग्रो लोगों को न केवल शासन के क्षेत्र से दूर रखते हैं, बल्कि अपने सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन से भी उनका बहिष्कार करते हैं। वहाँ, खून की कमी होने पर, रगों में खून पहुँचाये जाने की जरूरत पर किसी भी अंग्रेज मरीज को बिना बताये किस अन्य प्रजाति का रक्त देना अपराध है। उन्हें डर रहता है कि उनका 'विशुद्ध' गोरा रंग कहीं अपवित्र न हो जाय, उस पर कहीं, कोई काली छाया न पड़ जाये।

प्रजातीय पक्षपात के आधारों का मूल्यांकन (Evaluation of the Cases of Racial Prejudices)—प्रजातीय पक्षपात के चार प्रमुख आधार हैं—उत्तम रंग, रक्त की उत्तमता, मानसिक योग्यता तथा सांस्कृतिक श्रेष्ठता का आधार। प्रजातीय पक्षपात के कारणों तथा वास्तविक प्रकृति को समझने के लिये इन आधारों का संक्षिप्त मूल्यांकन आवश्यक है—

(अ) उत्तम रंग का आधार इस बात पर बल देता है कि रंग में भी उत्तम और अधम होता है, अर्थात् रंग के आधार पर भी मानव-समूहों में ऊँच-नीच का संस्तरण किया जा सकता है, पर, केवल रंग किस प्रकार व्यक्ति को या एक प्रजाति को अच्छा या बुरा, उत्तम या अधम बना सकता है, इसे वैज्ञानिक आधार पर शायद ही प्रमाणित किया जा सके। त्वचा का एक विशेष रंग का होना बहुत-कुछ पर्यावरण-सम्बन्धी शारीरिक अनुकूलन है, इस कारण इसके आधार पर व्यक्ति या प्रजाति के मानसिक गुण या उसकी योग्यता का निर्धारण नहीं हो सकता।

(ब) रक्त की उत्तमता और शुद्धता का आधार और भी निर्बल प्रतीत होता है। कहीं रक्त की शुद्धता नष्ट न हो जाय, इस डर से अन्तर्जातीय या अन्तर्प्रजातीय विवाह का विरोध किया जाता है। उदाहरणार्थ, गोरी प्रजाति का सदस्य नीग्रो से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करना नहीं चाहता, क्योंकि उसे डर रहता है कि ऐसा करने पर उसके रक्त की शुद्धता नष्ट हो जायेगी। पर, आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धानों से यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि मानव-रक्त को चार समूहों में विभाजित किया तो जा सकता है, परन्तु इन रक्त-समूहों में उत्तम-अधम का कोई प्रश्न नहीं उठता। कोई भी रक्त-समूह दूसरे किसी रक्त-समूह से श्रेष्ठ है, ऐसा कोई प्रमाण अभी तक नहीं मिला है।

(स) मानसिक योग्यता का आधार उक्त दो आधारों की भाँति ही बेमानी है। कहा जाता है कि नीग्रो लोगों से श्वेत प्रजाति की बौद्धिक क्षमता अत्यधिक है। पर, बुद्धि का प्रजाति से कोई वास्तविक सम्बन्ध है, इसे प्रमाणित नहीं किया जा सका है। इस सम्बन्ध में सभी आधुनिकतम विद्वानों का निष्कर्ष यह है कि यदि पर्यावरण (environment) एक-सा होता तो विभिन्न प्रजातियों में बुद्धि-स्तर में कोई विशेष अन्तर नहीं होगा। प्रत्येक प्रजाति में बुद्धिमान् व्यक्ति पाये जाते हैं। अगर नीग्रो लोगों की बुद्धि लब्धि (intelligence quotient) गोरे लोगों से बहुत कम होती है तो उसका एक प्रमुख कारण यह भी हो सकता है कि नीग्रो लोगों

को गोरे लोगों की अपेक्षा आर्थिक, सामाजिक, जीवन-सम्बन्धी और शिक्षा-सम्बन्धी सुविधायें कहीं अधिक अल्प मात्रा मे प्राप्त हैं, जिसके कारण वे अपने व्यक्तित्व या बुद्धि या मानसिक योग्यताओं का पूर्ण विकास नहीं कर पाते।

(द) सांस्कृतिक श्रेष्ठता के आधार को भी पुष्ट करने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। विभिन्न देशों की संस्कृति और सभ्यता के विकास से सम्बन्धित जो वैज्ञानिक तथ्य उपलब्ध हैं, उनके आधार पर किसी विशेष प्रजाति की सांस्कृतिक श्रेष्ठता प्रमाणित नहीं होती। यह कहा जाता है कि गोरी प्रजाति श्रेष्ठ है, क्योंकि मानवीय सभ्यता के विकास मे गोरी प्रजातियों का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। पर, इस कथन का प्रचार करने वाले यह भूल जाते हैं कि जिस समय यूरोप के लोग नंगे ही जंगलों मे घूमा करते थे, उस समय चीन, मिस्र और भारत की सभ्यतायें पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। मानव-सभ्यता का जो विराट प्रासाद आज खड़ा हुआ है, उसकी नीवों और प्रमुख स्तम्भों को यहाँ के लोगों ने ही चुना है, किसी गोरी प्रजाति ने नहीं।

अतः स्पष्ट है कि वैज्ञानिक आधार पर प्रजातीय पक्षपात का कोई औचित्य हो ही नहीं सकता।

2. धार्मिक भिन्नता के आधार पर पक्षपात

(Preiudice Involviong Religious Differences)

पक्षपात का एक और महत्त्वपूर्ण स्वरूप धार्मिक विभिन्नताओं के आधार पर पनपता है। कहने को धार्मिक पक्षपात उसे कहते हैं, जिसमें धार्मिक विश्वासों के आधार पर विभिन्न धार्मिक समूहों में श्रेष्ठता या अधमता की भावना पनपती है, और उसी के आधार पर एक धार्मिक समूह दूसरे समूह के सदस्यों के प्रति घृणा, अवहेलना या अनादर के भाव प्रकट करता है। वास्तव में प्रत्येक धर्म में एक अलौकिक शक्ति पर विश्वास किया जाता है; और उससे सम्बन्धित अनेक प्रकार के कृत्यों, संस्कारों तथा अन्य धार्मिक आचारों, नियमों, आदर्शों, उपदेशों तथा विश्वासों का विकास व पालन किया जाता है। धार्मिक पक्षपात इन्ही से सम्बन्धित होता है। उदाहरणार्थ, किसी विशेष धर्म के अनुयायी यह विश्वास कर सकते हैं कि जिस अलौकिक शक्ति (भगवान, ईश्वर आदि) पर वे लोग आस्था रखते हैं, वही सर्वश्रेष्ठ शक्ति है, और उसकी तुलना मे अन्य धर्मों में माने जाने वाले भगवान या ईश्वर की शक्ति गौण है। इसी प्रकार प्रत्येक धर्म के अनुयायी यह समझते हैं कि उनके धर्म में सम्मिलित आचार, विचार, सिद्धान्त, आदर्श, धार्मिक कर्मकाण्ड, नियम आदि सबसे अच्छे हैं, और दूसरे धर्म के नियम आदि तो केवल मात्र ढोंग हैं। इस प्रकार के मनोभावों का परिणाम यह होता है कि विभिन्न धार्मिक समूहों में परस्पर, एक-दूसरे के प्रति अश्रद्धा, असहनशीलता, असहयोग तथा अनादर की भावना पनपती है; और, कभी-कभी तो यह इतना उग्र रूप धारण करती है कि धर्म के नाम पर विभिन्न समूहों के बीच तनाव व संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। धार्मिक पक्षपात के आधार पर पनपे हुए झगड़े उस अवस्था में वास्तव में बहुत उग्र रूप धारण कर लेते हैं, जब राजनैतिक दल धार्मिक पक्षपात की आड़ लेकर एक समूह को दूसरे के प्रति उत्तेजित करते हैं। देश का विभाजन होने तक भारतवर्ष में मुस्लिम-लीग द्वारा हिन्दुओं के विरुद्ध आयोजित साम्प्रदायिक झगड़ों को उत्तेजित करने मे 'इस्लाम खतरे में है' नारा बहुत ही महत्त्वपूर्ण था, जिसका तात्कालिक

कायस्थ को भी नियुक्ति के लिये चुन लेगा, पर सचमुच योग्य व्यक्ति को नहीं। जातिवाद का विस्तार आज धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक, यानी जीवन के सभी क्षेत्रों में स्पष्ट है। अपनी जाति के सदस्यों को अधिकतम सुविधा प्रदान करने के लिये ही शिक्षा-संस्थाएँ और अस्पताल खोले जाते हैं, मन्दिरों का निर्माण किया जाता है, और तरह-तरह की नौकरियाँ दी जाती हैं। जाति के आधार पर ही चुनाव में खड़े किये जाने के लिये प्रत्याशी चुने जाते हैं, चुनाव लड़ा जाता है और वोट माँगे जाते हैं।

(ब) राजनैतिक पक्षपात भी पक्षपात का एक दूसरा रूप है। जो जिस राजनैतिक दल का सदस्य है, वह उस दल के आदर्श व सिद्धान्तों को ही सर्वोच्च स्थान देता है, और दूसरे दलों के लोगों को भ्रष्टाचारी या हेय समझता है। राजनैतिक पक्षपात विशेष रूप में उस दल के सदस्यों से बहुत ही कटु होता है, जिसके हाथों में शासन या सत्ता होती है। ऐसे दल का सदस्य अपने स्वार्थों की रक्षा के लिये विरोधी दलों के सदस्यों के प्रति हर दृष्टि से पक्षपात करता है।

(स) भाषा के आधार पर पक्षपात भारतीय सामाजिक जीवन की एक उल्लेखनीय विशेषता बन गयी है। यहाँ अनेक भाषा-समूहों का कथन है कि राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी उन पर जबर्दस्ती थोपी जा रही है; और हिन्दी भाषा से उनकी अपनी भाषा कहीं अधिक समृद्ध है। ऐसे लोग अपने इस पक्षपातपूर्ण मनोभाव को प्रकट करने के लिये हिन्दी-पुस्तकों का बहिष्कार करते हैं, हिन्दी-सिनेमा का प्रदर्शन बन्द करवाते हैं, जलूस निकालते व नारा लगाते हैं, हड़तालें करते हैं, आदि। वास्तव में विभिन्न भाषाओं में अन्तर्निहित 'कलाओं' या 'सौन्दर्य' को न समझ सकने के कारण ही भाषा-सम्बन्धी पक्षपात पनपता है, और नाना प्रकार से व्यक्त किया जाता है। उदाहरणार्थ, कुछ लोग कहते हैं कि एक हँडिया में कुछ कंकड़ भरकर उसका मुख बन्द करके उसे यदि एक विशेष ढंग से नचाया जाय तो दक्षिणी भारत की तमिल, तेलगू, मलयालम आदि भाषाओं की गूँज सुनने का आनन्द प्राप्त हो जायेगा। पंजाबी भाषा के विषय में भी उत्तर प्रदेश के निवासियों का मत है कि इस भाषा में मिठास नहीं है। पंजाबी आपस में जब बातचीत करते हैं तो बात करते हैं या लड़ते हैं, यह समझना मुश्किल होता है। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि मुँह में रसगुल्ला रखकर बातचीत कीजिये, तो जो कुछ भी आप बोलेंगे, वही बंगाली होगी। ये सभी भाषा-सम्बन्धी पक्षपात के ही उदाहरण हैं।

(द) आर्थिक वर्गों में पक्षपात भी एक सामान्य घटना है। सर्वहारा (श्रमिक-) वर्ग के मन में पूँजीपति-वर्ग के विरुद्ध जो कटु मनोभाव देखने को मिलता है, वह आर्थिक पक्षपात का ही उदाहरण है। श्रमिकों की यह सामान्य धारणा है कि उनके समस्त दुःखों और कष्टों का आधार पूँजीपति-वर्ग ही है। श्रमिक, अपने कठोर परिश्रम के बल पर, जो धन उत्पादित करता है, उसका बहुत ही कम अंश पूँजीपति, श्रमिक को वेतन के रूप में देता है, और अधिकांश स्वयं ही हड़प जाता है। धन के इस असमान वितरण के कारण ही श्रमिकों की दशा आज इतनी दयनीय है। इस कारण श्रमिक, पूँजीपतियों को अपना शुभचिन्तक नहीं मानते हैं और उनके विरुद्ध अत्यधिक कटु मनोभाव रखते हैं। इसके विपरीत, पूँजीपति-वर्ग का भी श्रमिकों के प्रति मनोभाव-व्यवहार आदि अवहेलना व अनादर से भरा हुआ होता है।

पक्षपात के कारण देश के उद्योग-धन्धों के विकास या आर्थिक उन्नति के पथ में बाधाएं उत्पन्न हो सकती हैं। पक्षपात के कारण ही जब उत्पादन के दो मुख्य कारक—श्रमिक और पूँजीपति वर्ग—एक-दूसरे से दूर हो जाते हैं तो आर्थिक प्रगति रुक जाती है।

पक्षपात प्रजातन्त्र के स्वस्थ विकास के पथ की एक बहुत बड़ी बाधा है। इसका प्रभाव विशेष रूप से उन लोगों पर पड़ता है, जो अल्पसंख्यक समूह के होते हैं, क्योंकि इस बीमारी के शिकार वे ही सबसे पहले होते हैं। इनका एक स्वाभाविक प्रभाव राष्ट्रीय प्रगति पर भी पड़ता है, क्योंकि अल्पसंख्यक वर्ग के सदस्य अपने को राष्ट्र का एक अभिन्न अंग नहीं मान पाते

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सामाजिक या राष्ट्रीय प्रगति व जन-कल्याण के लिये पक्षपात को दूर करने की आवश्यकता वास्तव में है। पर, इसके लिये यह जरूरी है कि शिक्षा के आधार पर, लोगों के हृदय से समस्त संकीर्ण मनोभावों व अन्धविश्वासों को दूर कर दिया जाय। साथ ही, यह भी जरूरी है कि विभिन्न जातियों, प्रजातियों और वर्गों के बीच विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया जाये। इससे आपसी सम्बन्धों के बीच की कटुता कम होगी। इसके अतिरिक्त धार्मिक कुसंस्कारों व रूढ़िवादिताओं से लोगों को विमुक्त किया जाय, और उन्हें समझाया जाय कि धर्म सभी समान हैं। स्वस्थ जनमत के निर्माण के द्वारा भी प्रजातीय श्रेष्ठता की धारणा को दूर करने की आवश्यकता है। इसके लिये प्रजातियों के सम्बन्ध में लोगों को वैज्ञानिक ज्ञान कराने की अपेक्षा है। पक्षपात समाज के लिये घातक है, और इसीलिये इससे दूर रहना ही उचित है।

रूढ़ियुक्तियाँ
(Stereotypes)

रूढ़ियुक्ति के अंग्रेजी प्रतिरूप stereotype शब्द को सामाजिक मनोविज्ञान में लाने का श्रेय श्री वाल्टर लिपमैन (Walter Lippmann) को है, जिन्होंने सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग अपनी पुस्तक Public Opinion (१९२२) में किया। आपने यह प्रयोग, एक व्यापक अर्थ में, विचारों तथा मनोवृत्तियों के उस संयुक्त रूप के लिये किया, जिसके आधार पर हम किसी व्यक्ति, वर्ग, धर्म, राष्ट्र या वस्तु के सम्बन्ध में एक दृढ़ व स्थायी चित्र अपने मस्तिष्क में अंकित करते हैं। इसीलिए श्री लिपमैन ने इन्हें हमारे मस्तिष्क के चित्रों (picture of our heads) का निर्माता कहा है।

वास्तव में किसी भी व्यक्ति के सम्पूर्ण विचारों या उसकी मनोवृत्तियों के संयुक्त रूप को रूढ़ियुक्ति कहना वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उचित होगा। सच्चाई तो यह है कि रूढ़ियुक्ति वह अवास्तविक या गलत युक्ति, शब्द या सम्बोधन है, जो हम एक व्यक्ति या समूह के लिये प्रयोग में लाते हैं; और, प्रयोग में लाते हैं अपनी समझ, पक्षपात या धारणा के अनुसार उस व्यक्ति-विशेष या समूह-विशेष के प्रति अपने मनोभाव, निर्णय या धारणा को व्यक्त करने के लिये। अर्थात्, रूढ़ियुक्ति वह शब्द या सम्बोधन है, जो संक्षेप में एक व्यक्ति या समूह के प्रति हमारे मनोभावों को व्यक्त करता है, और हमारे शब्दों में उस व्यक्ति या समूह की किसी विशिष्ट विशेषता को प्रकट करता है। उदाहरणार्थ, रूढ़िवादी मुसलमान हिन्दुओं को 'काफिर' कहकर सम्बोधित

करते हैं, और अमेरिकी नीग्रो लोगों के लिये 'निग्गर' (Nigger) शब्द का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार कायस्थों को प्रायः 'मुंशी' कहा जाता है। इसी तरह एक-दो वाक्यों द्वारा भी हम कभी-कभी किसी व्यक्ति या समूह की विशेषताओं को व्यक्त करते हैं, जैसे 'सरदार जी का दिमाग बारह बजे खराब हो जाता है', 'कायस्थ की खोपड़ी', 'बनिया का बच्चा कभी न सच्चा', आदि ऐसे कथनों द्वारा विभिन्न समूहों की प्रमुख विशेषताओं को प्रकट किया जाता है। यानी, इस प्रकार यह बताया जाता है कि दूसरा व्यक्ति या समूह उसके बारे में इस प्रकार सोचता है। ये सभी रूढ़ि-युक्तियों के ही उदाहरण हैं।

रूढ़ियुक्तियों की परिभाषा
(Definitions of Stereotypes)

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) के अनुसार, "सबसे अच्छी परिभाषा इस रूप में की जा सकती है कि रूढ़ियुक्ति एक मिथ्या, वर्गीकरण करने वाली अव-धारणा है, जिसके प्रति रुचि या अरुचि, स्वीकृति या अस्वीकृति की तीव्र संवेगात्मक अनुभूति जुड़ी रहती है।"[5]

श्री चार्ल्स बर्ड (Charles Bird) के शब्दों में, "रूढ़ियुक्ति से सम्बन्धित प्रतिक्रियाएँ प्रत्यक्षीकरण या विचारों का ऐसा अर्थपूर्ण संयोजन होती हैं, जो अपना स्रोत प्रधानतः अनुभूति तथा संवेग में रखती हैं, न कि उद्दीपन का कारण बनने वाली परिस्थितियों की कुछ विशेषताओं में।"[6]

रूढ़ियुक्तियों की प्रकृति
(Nature of Stereotypes)

उपर्युक्त विवेचना से यह बात स्पष्ट है कि रूढ़ियुक्तियाँ मिथ्या या अतार्किक युक्तियाँ होती हैं, जिनका प्रमुख आधार तीव्र संवेग तथा अनुभूति होता है। रूढ़ि-युक्तियों के माध्यम से हम अपने विचारों या मनोभावों को एक क्रमबद्ध रूप में इस भाँति प्रस्तुत करते हैं कि किसी वस्तु, विषय, समूह या वर्ग के प्रति हमारी अपनी रुचि या अरुचि, स्वीकृति या अस्वीकृति व्यक्त हो जाती है। पर, इस रुचि या अरुचि, स्वीकृति या अस्वीकृति का कोई तर्कसंगत कारण नहीं होता। यह तो सामाजिक अन्तःक्रियाओं के दौरान कब और कैसे पनप जाता है, इस सम्बन्ध में कोई भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकता। किसी विशेष रूढ़ियुक्ति का प्रवर्तक कौन है, यह बताना वास्तव में बड़ा ही कठिन है।

फिर भी श्री किम्बल यंग के अनुसार, रूढ़ियुक्तियों तथा विचारों, मनोवृत्तियों एवं अर्थों के बीच एक निश्चित सम्बन्ध होता है।[7] रूढ़ियुक्तियाँ अतार्किक होते हुए भी संवेगात्मक रूप से शक्तिशाली तथा सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस कारण होती हैं कि इनके अध्ययन से ही हम किसी वस्तु, विषय, व्यक्ति या समूह के प्रति लोगों के विचारों तथा मनोवृत्तियों का एक सही अनुमान लगा सकते हैं। इस अर्थ में रूढ़ियुक्तियों की प्रकृति की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वे अतार्किक विचारों तथा मनोवृत्तियों की संक्षिप्त अभिव्यक्ति होती हैं।

रूढ़ियुक्तियों की प्रकृति के सम्बन्ध में यह एक बात और स्मरणीय है कि पक्ष-पात और रूढ़ियुक्ति में प्रकार का ही अन्तर नहीं है, मात्रा का भी है। जब जनसमूह

से सम्बन्धित रूढ़ियुक्ति के साथ पौराणिक कथायें, ऐतिहासिक घटनायें, घृणा, द्वेष या अवहेलना से भरपूर व्यवहार बाह्य समूह के प्रति, व्यवस्थित रूप में व्यक्त होता है तो उसे 'पक्षपात' कहते हैं। अतः रूढ़ियुक्ति केवल एक मानसिक प्रतिमा या चित्र है, जबकि पक्षपात में उसके साथ कुछ बाह्य क्रियाओं का संयोग भी आवश्यक रूप से होता है।

रूढ़ियुक्तियों की प्रकृति अवास्तविक या असंगत होती है। इसे निम्नलिखित दो आधारों पर समझा जा सकता है—

प्रथम तो यह कि रूढ़ियुक्तियाँ इस झूठे विश्वास पर आधारित हैं कि मनुष्य की विशेषताओं को दो-एक शब्दों या वाक्यों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और इस व्यक्त विशेषता के आधार पर मनुष्यों का कुछ विशिष्ट प्रकारों (types) में वर्गीकरण किया जा सकता है। पर, वास्तव में यह वैज्ञानिक सत्यता के विपरीत है। एक विशिष्ट विशेषता के आधार पर एक समूह के सभी व्यक्तियों को एक ही श्रेणी के अन्तर्गत रखना असम्बद्ध-सा प्रतीत होता है, साथ ही अवैज्ञानिक भी। उदाहरणार्थ, 'कायस्थ खोपड़ी' और 'पोंगा पण्डित' जैसी रूढ़ियुक्तियों का प्रयोग करने से यह धारणा पनपती है कि सारे कायस्थ चतुर और सभी ब्राह्मण सरल और मूर्ख होते हैं, जबकि सत्य यह है कि दोनों जातियों में दोनों ही प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। न हर ब्राह्मण मूर्ख और न हर कायस्थ चतुर होता है। इसी प्रकार अन्य जातियों, प्रजातियों, राष्ट्रों, सम्प्रदायों आदि के लिये प्रयोग में लाई जाने वाली रूढ़ियुक्तियों को उन समूहों के प्रत्येक सदस्य पर, समान रूप से, लागू करना असंगत है।

दूसरे, रूढ़ियुक्ति की अवधारणा के अन्तर्गत प्रयोग में आने वाले शब्दों, सम्बोधनों या वाक्यों में परिवर्तन नहीं के बराबर देखने को मिलता है। इससे यह गलत धारणा पनप सकती है कि व्यक्ति हमेशा अपनी किस्म (type) के अन्तर्गत ही रहेगा, और उसके विचारों और व्यवहारों में कभी भी कोई अन्तर नहीं होगा। मानव प्रकृति व व्यवहार का अपरिवर्तनशील स्वरूप असम्भव व अवैज्ञानिक है। शिक्षा, संस्कृति, सामाजिक व आर्थिक परिस्थिति, प्रशिक्षण आदि के आधार पर मानव-व्यवहार, विचार आदि में परिवर्तन निरन्तर ही होता रहता है।

रूढ़ियुक्तियों का प्रयोगात्मक अध्ययन
(Some Experiments of Stereotypes)

रूढ़ियुक्तियों के विषय में प्रयोगात्मक अध्ययन करने वाले विद्वानों में श्री राइस (Rice) का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि हमारे मन में रूढ़ियुक्तियों के रूप में मानसिक प्रतिमायें स्थिर रहती हैं। श्री राइस ने यूरोप के किसी एक देश के प्रधान मन्त्री, श्रमिकों के नेता, रूसी राजदूत, बाड़ीवार, शराबघर, अमेरिकी सीनेट के एक सदस्य तथा एक मिल मालिक के कुछ चित्रों को चुना। फिर इन चित्रों को तथा विभिन्न व्यवसायों की एक सूची को कुछ लोगों का दिखाया, और उनसे पूछा कि इनमें से कौन-सा चित्र किस व्यवसाय वाले का चित्र है। श्री राइस का विचार था कि समाचार-पत्रों, पुस्तकों, सिनेमा आदि के आधार पर लोगों के मस्तिष्क में प्रत्येक व्यवसाय से सम्बन्धित व्यक्ति की एक विशेष प्रतिमा अंकित हो

जाती है, क्योंकि अलग-अलग व्यवसायों से सम्बन्धित व्यक्तियों के फोटो लोग अक्सर समाचार-पत्रों आदि में देखते रहते हैं। अतः उनके मस्तिष्क में ऐसे हर व्यक्ति की एक प्रतिमा होगी और वे यह फोटो या चित्र देखकर बता सकेंगे कि कौन-सा चित्र किसका है। वास्तव में यह बात सच ही निकली। लोगों द्वारा दिये गये उत्तरों से पता चला कि विभिन्न व्यवसाय अपनाने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में जो प्रतिमायें लोगों के मस्तिष्क में थीं, उन्हीं के अनुसार प्रयोग के लिये दिये गये चित्रों का वर्णन किया गया। इस प्रकार श्री राइस का प्रयोग रूढ़ियुक्तियों के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

सन् 1932 में **सर्वश्री काज और ब्रेली** (Kaz and Braly) ने भी अपने प्रयोग द्वारा यह सिद्ध किया कि विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों में विभिन्न राष्ट्रों के लोगों को कुछ विशेष सम्बोधन देने या राष्ट्रीय गुणों की ओर संकेत करने की आदत होती है। उदाहरणार्थ, जर्मनों को अक्सर वैज्ञानिक मस्तिष्क वाला, दृढ़ एवं उद्योगी बताया गया; नीग्रो लोगों को अन्धविश्वासी, आलसी, मस्त और अज्ञानी; इटैलियनों को कलात्मक, प्रवर्तक और अनुरागी; तथा, यहूदियों को धूर्त, धन-लोलुप और उद्यमी कहा गया है।

सामाजिक जीवन में रूढ़ियुक्तियों के कार्य
(Functions of Stereotypes in Social Life)

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) के अनुसार, संक्षेप मे, रूढ़ियुक्तियों के कार्य निम्नलिखित हैं—

1 रूढ़ियुक्तियों का कार्य एक परिस्थिति को अर्थ प्रदान करना है, अर्थात् किसी व्यक्ति या समूह के सम्बन्ध मे हमारे व्यवहार की सीमा निर्धारित करना है। इससे यह निश्चित होता है कि हम किस प्रकार के व्यक्ति से किस प्रकार व्यवहार की आशा करें, और उसके प्रति स्वयं किस प्रकार का व्यवहार करें। इससे सामाजिक व्यवहार मे एक क्रमबद्धता उत्पन्न हो जाती है, जिसके फलस्वरूप ऐसे व्यवहार का नियंत्रण व उसके सम्बन्ध मे भविष्यवाणी करना सहज हो जाता है।[8]

2. इसके अतिरिक्त अक्सर रूढ़ियुक्तियों का सम्बन्ध नैतिक क्रियाओं से जोड़ा जाता है, और उस अवस्था मे रूढ़ियुक्ति एक सांस्कृतिक आदर्श-नियम (norm) की सक्षम अभिव्यक्ति हो जाती है।

3. रूढ़ियुक्तियाँ हमारे सम्पर्क मे आनेवाले लोगों से सम्बन्धित अनेक तत्वों को व्यावहारिक बनाने मे तथा उन व्यक्तियों का स्वभाव समझने-समझाने मे सहायक होती हैं।

4. जब रूढ़ियुक्तियाँ बन जाती है तो कुछ व्यक्तियों या समूहों आदि की प्रतिमाएँ भी हमारे मस्तिष्क मे स्थिर हो जाती हैं, और उसी आधार पर हम उनके व्यवहार के बारे में अनुमान लगाते है।

5. रूढ़ियुक्तियों में मानव-व्यवहार को एक निश्चित दिशा में संचालित करने की क्षमता होती है। 'सरदार जी का दिमाग बारह बजे खराब हो जाता है' यह रूढ़ियुक्ति को कुछ न कुछ मानसिक प्रतिक्रिया उनके व्यवहारों में भी देखने को मिलने लगी है।

उदाहरण हैं। 'क्रान्ति' शब्द का प्रयोग वास्तव में इसी प्रकार के परिवर्त्तनों के लिये किया जाना चाहिए।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी महत्त्वपूर्ण आविष्कार के फलस्वरूप सम्पूर्ण स्थापित अर्थ-व्यवस्था ही उलट जाती है, और एक नयी अर्थ-व्यवस्था का उद्भव सम्भव हो उठता है। ऐसी स्थिति को वाणी देने के लिये 'आर्थिक या औद्योगिक क्रान्ति' का प्रयोग किया जाता है। उत्पादन-कार्य के लिये मशीनों का आविष्कार हो जाने से सन् 1760 में यूरोप तथा इंगलैण्ड में आरम्भ होने वाली औद्योगिक क्रान्ति (industrial revolution) इस प्रकार की 'क्रान्ति' की एक शानदार मिसाल है।

इसी प्रकार सामाजिक या धार्मिक क्रान्ति उस व्यवस्था या स्थिति का द्योतक है, जब सामाजिक या धार्मिक जीवन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण व स्थापित प्रणालियों में उल्लेखनीय परिवर्तन हो जाता है। क्रान्ति की इस धारणा के अनुसार यूरोप में प्रोटेस्टेन्ट-आन्दोलन के फलस्वरूप होने वाले धार्मिक परिवर्त्तनों को, तथा भारत में भक्ति-आन्दोलनों, ब्रह्म-समाज तथा आर्य-समाज जैसे धार्मिक आन्दोलनों के फलस्वरूप भारतवासियों के धार्मिक जीवन में होने वाले परिवर्त्तनों को धार्मिक क्रान्ति के नाम से पुकारा जाता है। इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र में राजा राममोहन राय द्वारा सती-प्रथा के उन्मूलन या विधवा-पुनर्विवाह के प्रचलन, गांधी जी द्वारा किये गये हरिजन-उद्धार, विनोबाजी तथा श्री जयप्रकाश नारायण द्वारा चलाये गये क्रमशः 'भूदान यज्ञ' व 'सर्वोदय' सामाजिक क्रान्ति के ही उल्लेखनीय उदाहरण हैं।

अतः स्पष्ट है कि 'क्रान्ति' शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में किया जा सकता है। अब हम विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत 'क्रान्ति' की परिभाषा की विवेचना करके इसके अर्थ को और भी स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

क्रान्ति की परिभाषा
(Definition of Revolution)

'क्रान्ति' (revolution) और उद्विकास (evolution) के बीच के आधारभूत अन्तर का उल्लेख 'क्रान्ति' की परिभाषा को समझने में बहुत सहायक सिद्ध होगा। उद्विकास (evolution) की प्रक्रिया में परिवर्तन धीरे-धीरे (gradually) तथा निरन्तर एक स्थिति से दूसरी स्थिति के बीच से गुजरते हुए होता है। इसके विपरीत, 'क्रान्ति' (revolution) में परिवर्तन एकाएक या अचानक (all of a sudden) ही होता है, जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण पूर्वव्यवस्था उलट-पलट जाती है। श्री बोगार्डस (Bogardus) ने लिखा है कि "सामाजिक क्रान्ति असद्भावना व रक्तपात की कीमत पर, शक्तिशाली विप्लव या उथल-पुथल की सृष्टि, तथा अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के मूल्यों को उखाड़-फेंक करती है, साथ ही विस्तृत सामाजिक पुनर्संगठन की माँग करती है।"[1]

श्री किम्बल यंग (Kimball Young) के अनुसार "राष्ट्र-राज्य (nation-state) विशेष के अन्दर ही राज्य-शक्ति का नये प्रकार की शक्ति या सत्ता द्वारा हथिया लिया जाना ही 'क्रान्ति' है।"[2] इस प्रकार आपके अनुसार क्रान्ति की अवधारणा में राजनैतिक सत्ता में आकस्मिक परिवर्तन होना आवश्यक है। यदि 'क्रान्ति' का अर्थ हम कोई आकस्मिक सांस्कृतिक परिवर्तन अथवा सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्थाओं, सामाजिक संस्थाओं, मनोवृत्तियों, आदतों आदि में होने वाला परिवर्तन

मान भी लें तो भी हमको स्वीकार करना पड़ेगा कि क्रान्ति में किसी न किसी प्रकार का राजनैतिक परिवर्तन अवश्य ही निहित रहता है। उदाहरणार्थ, गांधी जी तथा अन्य राष्ट्रीय नेताओं के प्रयत्नों के फलस्वरूप हरिजनों की सामाजिक, आर्थिक और विशेषकर राजनैतिक स्थिति में जो परिवर्तन हुआ है, उसे हिन्दू-परम्परागत समाज-व्यवस्था को देखते हुए 'क्रान्ति' ही कहा जावेगा, पर इसके मूल में राजनीतिक सत्ता का अंग्रेजों से भारतीयों द्वारा हथिया लिया जाना ही है। इसी प्रकार औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप इंगलैण्ड तथा यूरोप में सामन्तवाद सदा-सदा के लिये समाप्त हो गया, और पूँजीपतियों के एक नये शक्तिशाली वर्ग का उदय हुआ; पर, इस क्रान्ति के साथ-साथ वह राजनैतिक सत्ता जो पहले बड़े-बड़े सामन्तों के हाथों में थी, अब उनके हाथ से निकलकर पूँजीपतियों व उद्योगपतियों के हाथों में चली गयी। अतः स्पष्ट है कि क्रान्ति के साथ राजनैतिक सत्ता तथा नियन्त्रण में भी व्यापक और महत्त्वपूर्ण मूल परिवर्तन होना आवश्यक है। श्री किम्बल यंग (Kimball Young) के शब्दों में, "क्रान्ति एक ऐसा आकस्मिक सामाजिक परिवर्तन है जो साधारणतया वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था को बलपूर्वक उनट देने से घटित होता है, और जिसके फलस्वरूप सामाजिक तथा कानूनी नियंत्रण के नये स्वरूपों की स्थापना होती है।"[3] पर, श्री यंग ने हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर भी आकर्षित किया है कि बाह्य हिंसा (overt violence) क्रान्ति की कोई अनिवार्य विशेषता नहीं है; अर्थात्, जब तक रक्तपात न हो, तब तक हम किसी आकस्मिक सामाजिक परिवर्तन को क्रान्ति की संज्ञा नहीं दे सकते, किन्तु ऐसी बात नहीं है। सैनिक शक्ति पर अधिकार कर लेने से रक्तपात से, काफी सीमा तक, बचा जा सकता है। नाजी-क्रान्ति इसका उदाहरण है। सन् 1933 में हिटलर ने बड़े-बड़े उद्योगपतियों की सहायता से जर्मन-रिपब्लिक को नष्ट कर राज-शक्ति हथिया ली। उस समय सड़कों पर छोटे-मोटे दंगे-फसाद अवश्य हुए, परन्तु संगठित रूप से किसी समूह ने हथियारों से सामना या विरोध नहीं किया।[4] इसी प्रकार पाकिस्तान में भी 'मिलिटरी रूल' होने पर किसी प्रकार का रक्तपात नहीं हुआ।

श्री फेयर चाइल्ड (Fairchild) के मतानुसार, यदि किसी समाज में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन धीरे-धीरे और बिना विशेष संघर्ष या रक्तपात के होवें हैं तो उसे उद्विकास (evolution) ही कहा जावेगा, क्रान्ति नहीं। क्रान्ति का मूल तत्त्व अचानक परिवर्तन है, न कि हिंसा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि क्रान्ति में हिंसा हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। पर, क्रान्ति में सदैव परिवर्तन अचानक या एकाएक ही होता है; और, इस परिवर्तन के लिये समाज या उसके सदस्य सदा पहले से ही तैयार नहीं भी रहते हैं।

श्री सोरोकिन (Sorokin) का विचार है कि क्रान्ति के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व किसी समाज के सम्यों और मूल्यों में बहुत अधिक गड़बड़ी, अस्थिरता और अनिश्चितता है। इन्हीं गड़बड़ियों, अस्थिरताओं और अनिश्चितताओं के कारण समाज की आन्तरिक अशान्तियाँ बाहर फूट निकलती हैं—यही सामाजिक क्रान्ति है, जिसके फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्था या सांस्कृतिक व्यवस्था या दोनों ही व्यवस्थायें अनिवार्य रूप से अस्थिर हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में, श्री सोरोकिन ने इस बात पर बल दिया है कि प्रत्येक समाज में कुछ-न-कुछ मान्यतायें या मान्य मूल्य तथा लक्ष्य होते हैं, और समाज के सदस्य उनकी प्राप्ति ... प्रयत्नशील रहते हैं। पर, कभी-कभी समाज के ही कुछ सदस्य इन मूल्यों

तथा लक्ष्यों से अपने को पृथक् समझने लगते हैं, और उनके प्रति उन सदस्यों के हृदयों में असन्तोष पनप जाता है। फलतः वे उन मूल्यों, लक्ष्यों आदि को बिलकुल बदल देने या उनमें आमूल परिवर्तन करने के लिये उठ खड़े होते हैं। यही 'क्रान्ति की स्थिति' है।

क्रान्ति के कारण
(Causes of Revolution)

युद्ध की भाँति क्रान्ति के भी अनेक कारण हैं, किसी एक कारण से क्रान्ति नहीं होती। फिर भी कुछ विद्वानों ने क्रान्ति के केवल एक ही कारण का उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ, श्री ली बों (Le Bon) के मतानुसार, समाज के निम्न वर्ग के व्यक्तियों में एकाधिक अचेतन तथा पाशविक प्रवृत्तियाँ होती हैं, और इन प्रवृत्तियों के दबाव में आकर ही ये निम्न वर्ग के लोग उच्च और अधिक योग्य वर्ग के हाथ से शक्ति छीनने का प्रयत्न करते हैं। श्री फ्रॉयड के समर्थकों का विश्वास है कि समाज के सदस्यों में राज्य या सत्ता के दूसरे प्रतीक को नष्ट करने की एक गहरी, दबी और अचेतन इच्छा होती है, और, जब यह इच्छा बाहरी तौर पर प्रकट हो जाती है, तभी क्रान्ति होती है। श्री सोरोकिन (Sorokin) का मत है कि "क्रान्ति का प्रत्यक्ष कारण सदैव ही समाज के अधिकतर लोगों की प्रमुख मूलप्रवृत्तियों का अधिक दमन तथा मूलप्रवृत्तियों की आवश्यक न्यूनतम सन्तुष्टि का असम्भव हो उठना होता है।"[5]

यद्यपि उपर्युक्त कारणों को पूर्णतया अस्वीकार नहीं किया जा सकता, फिर भी इनमें से किसी एक कारण के आधार पर क्रान्ति की सम्पूर्ण व्याख्या सम्भव नहीं है। इसलिये क्रान्ति के एकाधिक कारणों की विवेचना आवश्यक है—

1 **सामाजिक-सांस्कृतिक कारक** (*Socio-cultural Factors*)—सामाजिक आविष्कार तथा अन्य कारकों के फलस्वरूप सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन जिस गति से होता रहता है, उस गति से समाज की परम्परागत संस्थाओं में परिवर्तन नहीं हो पाता, क्योंकि सामाजिक संस्थाएँ रूढ़िवादी होती हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि बदलती हुई सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में ये संस्थायें असफल रहती हैं, और लोगों में असन्तोष फैलने लगता है। यह असन्तोष जब अत्यधिक उग्र होकर फूट निकलता है तो समाज में क्रान्ति होती है। दूसरे शब्दों में, पुरानी सामाजिक संस्थाओं तथा नवीन परिस्थितियों के बीच अनुकूलन न होने के कारण जनता की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती, और राजनैतिक, आर्थिक धार्मिक तथा अन्य क्षेत्रों में भ्रष्टाचार फैल जाता है, जिससे औद्योगिक हड़तालें होती हैं, किसान-आन्दोलन छिड़ते हैं, भूखी भीड़ द्वारा अनाज की दूकानें लूटी जाती हैं, तथा इसी प्रकार के अन्य सगठित तथा असंगठित विद्रोह और उपद्रव आरम्भ हो जाते हैं। अक्सर ऐसा भी होता है कि प्रभुता-सम्पन्न उच्च वर्ग के लोग अपनी सत्ता को बनाये रखने के मोह में तथा अपने स्वार्थों की रक्षा करने के लिये भी बदलती हुई परिस्थितियों और जनता की माँगों को समझने तथा उनके अनुसार अपनी नीति को बदलने में असफल रहते हैं या जानबूझ उन्हें अनसुना कर देते हैं। इसके फलस्वरूप निम्न वर्ग के सदस्यों में असन्तोष की भावना दृढ़ होती जाती है और वे शासक-वर्ग को चुनौती देने लगते हैं। इस प्रकार की चुनौती देने के लिये समाज में प्रायः एक नये वर्ग का जन्म होता है; और यही वर्ग प्रभुता-सम्पन्न

पुराने वर्ग से टक्कर लेता है। उदाहरणार्थ, फ्रान्स की क्रान्ति में एक नवीन मध्य-वर्ग (middle class) का उदय हुआ, जिसने बड़े-बड़े जमींदारों तथा सामन्तों के विरुद्ध विद्रोह किया, और उनके हाथों से राजनैतिक सत्ता छीन ली।

कुछ विद्वानों का कथन है कि बड़े-बड़े नगरों की उत्पत्ति तथा विकास भी अप्रत्यक्ष रूप से क्रान्ति का एक कारण बन जाता है। नगरों में जनसंख्या अधिक होती है और ऐसे उद्योग-धन्धे आदि विकसित रूप में होते हैं, जिनमें व्यक्तिगत गुण व विशेषता, धन आदि को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है। इससे प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये ही सोचता है, और व्यक्तिगत वाद पनपता है। साथ ही जनसंख्या अधिक होने पर तथा मकानों की समस्या के सामने होने के कारण नगरों में संयुक्त परिवार तथा अन्य प्राथमिक समूहों का नियन्त्रण व्यक्ति पर न्यूनतम होना है। फलस्वरूप व्यक्ति नगर के जनसमूह के प्रवाह में एक तिनके की भाँति बहता रहता है। इसी परिस्थिति से फायदा उठाकर प्रचार करने वाले समाचारपत्रों, रेडियो आदि के द्वारा तथा संगठित आन्दोलन के माध्यम से सामूहिक सुझाव (mass suggestion) सामने रखते हैं। इस प्रकार व-नगर-निवासियों को क्रान्तिकारी कार्यक्रम के लिये सरलता से प्रेरित कर सकते हैं।

समाज में नवीन आविष्कारों तथा विदेशी संस्कृतियों से ग्रहण की गयी नवीन विचारधाराओं के फलस्वरूप समाज के सदस्य अपनी आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं का एक नए ढंग से अर्थ लगा सकते हैं और यह सोच सकते हैं कि अब तक उन्हें जो कुछ मिलता रहा है, वह अपर्याप्त रहा है, या अब तक उन्हें वास्तविक अधिकारों से वंचित रक्खा गया है। इससे उनमें असन्तोष फैल सकता है; और, इस असन्तोष का अन्तिम परिणाम क्रान्ति के रूप में सामने आ सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी है कि विदेशी संस्कृतियों से प्राप्त विचारधाराएँ पुराने विचार और विश्वासों के विपरीत हो सकती हैं। उस अवस्था में नवीन और पुरातन विचारधाराओं और नयी व पुरानी संस्थाओं के बीच संघर्ष होने लगता है। इस संघर्ष के फलस्वरूप पुरानी संस्थाओं व विचारधाराओं की कमियाँ धीरे-धीरे प्रकट होने लगती हैं। इसीलिये जनता उनके विरुद्ध विद्रोह करने और उन्हें बदलने के लिये कटिबद्ध हो जाती है।

2. सामाजिक-मनोवैज्ञानिक कारक (Socio-psychological Factors)—अनेक लेखकों का मत है कि क्रान्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण कारक मौलिक इच्छाओं का दमन है। इसमें सन्देह नहीं कि जब लोगों की आधारभूत इच्छाओं, आकांक्षाओं तथा उद्देश्यों को दबाया जाता है तो उनमें असन्तोष की भावना पनपती ही है, जिसका अन्तिम परिणाम क्रान्ति हो सकता है। परन्तु, केवल इन आधारभूत इच्छाओं के दमन से ही क्रान्ति का जन्म तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि उन इच्छाओं की अभिव्यक्ति के लिये अनुकूल सामाजिक परिस्थितियाँ प्राप्त न हो जायें। उदाहरण के लिये, हजारों वर्षों से पिछड़ी हुई जातियों या हरिजनों पर नाना प्रकार की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक व राजनैतिक अयोग्यताओं (disabilities) को लाद कर उन्हें शिक्षा, सामाजिक प्रतिष्ठा, धन आदि से वंचित रखा गया है। अब भी इन इच्छाओं की पूर्ति तब तक सम्भव नहीं है, जब तक कि देश में शिक्षा का प्रसार पूरी तरह न हो जाये। जब तक राष्ट्र-नेताओं ने उनको उनकी अयोग्यताओं तथा निम्न स्तर के सम्बन्ध में चेताया नहीं, न ही वे उनके समुदाय में प्रचार आदि के द्वारा जागृति लाये। ऐसे में भी हरिजनों में संगठन बढ़े और उन्होंने संगठित रूप में

समान अधिकार के लिये आवाज बुलन्द की। प्रत्येक समाज अपनी विभिन्न संस्थाओं के द्वारा व्यक्तियों की आधारभूत इच्छाओं तथा उद्वेगों को नियन्त्रित करने, परिस्थितियों के अनुकूल उनको दबाने अथवा उनको परिवर्तित करने का प्रयत्न करता है। पर, जब नयी सामाजिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हों तो हो सकता है कि लोग उन इच्छाओं तथा अभिलाषाओं की पूर्ति के सम्बन्ध में अत्यधिक जागरूक हो जायें, और पुरानी संस्थाओं की दमन-नीति के चक्र में पिसने से इन्कार कर दें। ऐसा करने से उनका प्रत्यक्ष विरोध उन लोगों के साथ होगा, जो पुरानी संस्थाओं के संचालक या शासक होंगे। नियमतः भी जब प्रभुता-सम्पन्न वर्ग जनता की इच्छाओं को दबाने का प्रयत्न करता है तो जनता में असन्तोष, क्षोभ तथा विद्रोह की भावना फैलने लगती है। ऐसी ही अवस्था से क्रान्ति का जन्म होता है।

नेतृत्व (leadership) भी क्रान्ति का एक प्रमुख सामाजिक-मनोवैज्ञानिक कारक है। नेतागण जनता को उनके अधिकारों के सम्बन्ध में चेतावनी देते, और यह बात स्पष्ट करते हैं कि शासक-वर्ग उन्हें किन-किन न्यायोचित अधिकारों से वंचित कर रहा है, और उनकी किन-किन आधारभूत इच्छाओं व आकांक्षाओं का दमन कर रहा है। नेता जनता की तकलीफों को नमक-मिर्च लगाकर उनके सामने पेश कर सकते हैं। साथ ही वे ऐसे सम्भव उपाय भी सुझा सकते हैं, जिनके द्वारा वे अपने अधिकारों की प्राप्ति सम्भव बना सकें, तथा इच्छाओं व आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकें। वे प्रतिष्ठा-सुझाव के द्वारा जनता के दिमाग में यह बात बैठा सकते हैं कि समस्त अधिकारों की प्राप्ति और समस्त यातनाओं से मुक्ति का एक मात्र उपाय क्रान्ति ही है। नेतागण स्वयं ही क्रान्ति का संचालन भी कर सकते हैं। सर्वश्री वाल्टेयर (Voltaire), रूसो (Rousseau), लेनिन (Lenin) आदि के नेतृत्व के कारण हुई क्रान्तियाँ इसकी जीती-जागती मिसालें हैं।

क्रान्ति को जन्म देने में सामाजिक अन्याय का हाथ बहुत हद तक होता है। जब देश के नागरिकों को समानता का व्यवहार नहीं मिलता, तब एक वर्ग दूसरे वर्ग के द्वारा पददलित किया जाता है, और जनता के लिये सुखी जीवन व्यतीत करना असम्भव हो जाता है, अथवा जब सरकार दमन की नीति अपना लेती है तो देश में क्रान्ति का जन्म होता है।

जब जीवन के लिये आवश्यक सामग्री उत्पन्न करने वाली अथवा जन-जीवन को सरकार की तरह किसी प्रकार नियन्त्रित करने वाली देश में स्थापित विभिन्न संस्थाओं के द्वारा जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती, तब उनके प्रति जनता में अविश्वास और असन्तोष पैदा हो जाता है, और क्रान्ति का बीजारोपण होता है। रूस, फ्रान्स तथा भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम का इतिहास इसका साक्षी है।

3. **आर्थिक कारक (Economic Factors)**—कुछ आर्थिक कारक भी क्रान्ति को जन्म दे देते हैं। प्रो० शर्मा ने लिखा है कि इसमें सन्देह नहीं कि अधिकतर क्रान्तियों का आर्थिक समस्याओं से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। देश में धन का अनुचित विभाजन, धनी वर्ग द्वारा निर्धन वर्ग का भीषण आर्थिक शोषण तथा असहनीय निर्धनता, बेरोजगारी आदि क्रान्ति के शक्तिशाली कारक प्रमाणित हुए हैं। उदाहरणार्थ, फ्रान्स की क्रान्ति के पहले बड़े-बड़े जमींदारों, सरदारों तथा

सामन्तों द्वारा किसानों तथा श्रमिकों का शोषण अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। रूसी क्रान्ति से पहले रूस के साधारण जन घोर दरिद्रता का जीवन व्यतीत कर रहे थे, जबकि जार तथा उसके विश्वास-पात्र सामन्त परम विलासिता का जीवन बिताते थे।

श्री कार्ल मार्क्स ने क्रान्ति के आर्थिक कारक पर विशेष बल दिया है। आपके मतानुसार सदा से ही प्रत्येक समाज में, स्वतन्त्र व्यक्ति तथा दास, कुलीन वर्ग तथा साधारण जन, सामन्त तथा अर्द्धदास किसान, गिल्ड के स्वामी तथा उसमें कार्य करने वाले कारीगर, पूँजीपति और श्रमिक—संक्षेप में, शोषक तथा शोषित वर्ग जैसे दो विरोधी वर्ग होते रहे हैं। इनमें से एक वर्ग के हाथ में उत्पादन के साधन केन्द्रित रहते हैं, और उसी के बल पर वह अपना श्रम बेचकर अपना पेट भरने वाले दूसरे वर्ग का जी भर आर्थिक शोषण करता रहता है। जब शोषक वर्ग की शोषण-नीति के फलस्वरूप श्रमिक-वर्ग में निर्धनता, भुखमरी और बेरोजगारी अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है और सम्पूर्ण स्थिति असहनीय हो जाती है, तब श्रमिक या सर्वहारा वर्ग अपनी समस्त जंजीर को तोड़कर शोषक वर्ग के विरुद्ध उठ खड़ा होता और विद्रोह करने लगता है। यही क्रान्ति की स्थिति है।

परन्तु, कुछ विद्वानों का मत है कि मात्र निर्धनता और आर्थिक अन्याय (economic injustice) ही क्रान्ति का एक मात्र कारण नहीं हो सकता। यानी, जब तक जनता को यह आशा न हो कि उन स्थितियों में सुधार हो ही नहीं सकता, तब तक क्रांति नहीं हो सकती। निर्धनता के साथ-साथ एक उज्ज्वल भविष्य की आशा ही निर्धन तथा पीड़ित जनता को क्रान्ति के लिये प्रेरित कर सकती है। श्री एडवर्ड्स (Edwards) ने स्पष्ट ही लिखा है कि "निराशा नहीं, आशा की भावना क्रान्ति की चालक शक्ति बनती है।"

क्रान्ति के दुष्परिणाम
(Evil Consequences of Revolution)

'1. **क्रान्ति सामाजिक विघटन को जन्म देती है**—क्रान्ति की स्थिति में अचानक ही समाज की व्यवस्था को एक धक्का लगता है। यह धक्का सामाजिक व्यवस्था को पूर्ण रूप से परिवर्तित कर देता है, और अच्छे और बुरे दोनों ही प्रकार के मूल्यों को उखाड़कर फेंक देता है। इस प्रकार क्रान्ति के समय ऐसी नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनके साथ सामाजिक संस्थाओं, समूहों और व्यक्तियों का अनुकूलन तत्काल ही सम्भव नहीं हो पाता। फलस्वरूप सामाजिक संतुलन नष्ट हो जाता है। क्रान्ति के समय हिंसात्मक साधनों का भी खुले तौर पर प्रयोग किया जाता है और अनेक व्यक्तियों को मौत का शिकार बना दिया जाता है। जो मरते नहीं हैं, उनमें से अनेक व्यक्ति घायल बने रहते हैं। इससे केवल व्यक्तिगत विघटन ही नहीं, अपितु पारिवारिक विघटन भी होता है। इसी प्रकार क्रान्ति के समय राज्य तथा नागरिकों के परम्परागत सहयोगी सम्बन्ध के स्थान पर एक तनावपूर्ण सम्बन्ध पनप जाता है। यह तनाव राज्य की ओर से दमन-नीति के रूप में भी अभिव्यक्त हो सकता है। इससे भी सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

2 सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार को खतरा—क्रान्ति के समय सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार सुरक्षित नही रह पाता। इस बीच ऐसे बहुत से लोग सामने आ जाते हैं, जो क्रान्ति की परिस्थितियो से पूरा लाभ उठाते है, और यह भी इस रूप में कि वे लोगो की चल सम्पत्ति को लूट-पाट के द्वारा जुटाने मे लग जाते हैं। कानूनी व्यवस्था भग हो जाने तथा पूर्ण अराजकता फैल जाने के कारण बुरे लोगो को लूट-पाट करने का और भी अधिक अवसर मिल जाता है। इस प्रकार क्रान्ति के समय सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध की दरें बढ जाती हैं।

3. क्रान्ति यौन-उच्छृंखलता को बढ़ाती है—क्रान्ति के समय न केवल सामाजिक नियम टूट जाते हैं, अपितु यौन-सम्बन्धी प्रतिबन्ध भी समाप्त हो जाते हैं। इसका प्रमुख कारण यह होता है कि समाज मे यौन-व्यभिचार फैलता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि क्रान्ति की विघटनात्मक परिस्थितियों से लाभ उठाकर बुरे लोग अपनी कामुकता को तृप्त करने मे लग जाते हैं। स्त्रियो, बहनों तथा माताओ की इज्जत लूट लेने मे भी उन्हे सकोच नही होता, और वे उन्हे वेश्याओ की स्थिति तक घसीट लाते हैं। फ्रान्स की क्रान्ति के समय पेरिस नगर मे वेश्याओ की संख्या मे तेजी से वृद्धि हुई। रूस के गृहयुद्ध के समय मे भी वेश्यावृत्ति तथा यौन-उच्छृंखलता बहुत बढ़ी। इसीलिए क्रान्ति के समय विवाह-विच्छेद की भी बाढ सी आ जाती है।

4. क्रान्ति मानव-जीवन का नाश करती है—क्रान्ति का एक और दुष्परिणाम यह होता है कि इसके दौरान अनेक व्यक्तियों को अपनी-अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है। जीवन का कोई मूल्य ही नहीं रह जाता। चारो ओर आतंक, रक्तपात तथा हत्याओ का ही राज्य हो जाता है। क्रान्तिकारी वर्ग के लोग जिसे पाते है, उसी को मारते है—चाहे वह जवान हो या बूढा, स्त्री हो या पुरुष, किशोर हो या बालक। निरपराध जनता को जी भर कर तरसाया जाता है। बहुधा क्रान्ति का आधार ही हिंसा और हिंसात्मक साधनो का प्रयोग होता है। इसलिये क्रान्ति मानव-जीवन का नाश करती है।

5. क्रान्ति धर्म पर भी आघात करती है—क्रान्ति नवीन परिवर्तन के लिये इतनी अधिक उतावली हो उठती है कि जो कुछ भी परम्परागत व रूढिवादी दीखता है, उसी का वह कठोरता से विरोध करती है। इसीलिये धर्म भी क्रान्ति के आघात से बच नही पाता। वास्तव मे क्रान्ति की सफलता के लिये रूढ़िवादी धर्म को नष्ट करना आवश्यक है, यह विश्वास क्रान्तिकारी नेताओं का होता है। इसीलिए वे धर्म पर आघात करते हैं। फ्रान्स तथा रूस की क्रान्ति के समय ऐसा ही हुआ था। इस प्रकार क्रान्ति धर्म के लिये भी घातक सिद्ध होती है।

युद्ध
(War)

युद्ध मानव-संघर्ष का सबसे हिंसात्मक रूप है। साथ ही मनुष्य की सर्वाधिक प्राचीन संस्थाओ मे से एक है। पहले साधन तथा शक्ति को प्राप्त करने के लिये एक समूह दूसरे समूह के साथ झगड़ता रहता था। युद्ध का मूल कारण साधन व शक्ति प्राप्त करने की इच्छा में निहित था। आधुनिक समय मे युद्ध, राष्ट्रीयतावाद (nationalism) तथा प्रभुसत्तावाद (sovereignty) के सिद्धान्त तथा व्यवहार

से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।[6] इसका तात्पर्य यह हुआ कि आज उग्र राष्ट्रवाद, तथा अन्य राष्ट्रों पर प्रभुसत्ता स्थापित करने की इच्छा युद्ध को जन्म देती है। आज शक्ति के लिए संघर्ष है; और, यह संघर्ष संसार के महान् शक्तिशाली देशों के बीच है। एक राष्ट्र के रूप में कौन कितना शक्तिशाली है, इस बात को प्रमाणित करने के लिये आज विभिन्न राष्ट्रों के बीच एक दौड़-सी हो रही है। आज शक्ति के प्रदर्शन के लिये अनेकानेक उपायों को अपनाया जा रहा है। उनमें दो सर्वप्रमुख हैं—(i) आधुनिकतम हाइड्रोजन बम, आदि का प्रयोगात्मक विस्फोट, और (ii) आसपास के किसी राष्ट्र के क्षेत्र को अपना कह कर, उस राष्ट्र-विशेष से उसे छोड़ देने की माँग। प्रथम उपाय को अपनाने वाले राष्ट्रों में अमेरिका का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है; और, दूसरा उपाय अपनाने वाले राष्ट्रों में चीन तथा पाकिस्तान आजकल सबसे आगे हैं। भारत पर चीन तथा फिर पाकिस्तान का हमला अपने राज्य की सीमा को बढ़ाने की इच्छा से ही प्रेरित था। इस प्रकार की इच्छाओं का खोखलापन आज सारी दुनिया के सामने उजागर हो चुका है। फिर भी सत्ता की लालसा से अन्धे राष्ट्र कोई भी तर्क मानने को तैयार ही नहीं। सभ्य मानव के जीवन की यह समस्या ही शायद आज सबसे बड़ी समस्या है। यदि ऐसा न होता तो स्थायी विश्व-शान्ति की सर्वव्यापी इच्छा को मन में रखते हुए भी शक्तिशाली राष्ट्र अधिक से अधिक संहारात्मक तथा विध्वंसात्मक शस्त्रों के निर्माण में न लगते, न धीरे-धीरे तृतीय विश्वयुद्ध की ओर अग्रसर होते, और न दूसरे राष्ट्रों के नागरिकों पर बमवर्षा करने तथा मानव के पवित्र स्थानों—मन्दिरों, मस्जिदों और गिर्जाघरों तक को नष्ट करने की बात कभी सोचते। पर, इधर यही होता रहा है, और आज भी यही हो रहा है।

युद्ध क्या है ?
(What is War)

सर्वश्री इलियट तथा मैरिल (Eiliot and Merrill) के अनुसार, "युद्ध उन सम्बन्धों का औपचारिक तौर पर टूटना है जो शान्ति-काल में राष्ट्रों को परस्पर एक-दूसरे से बाँध रखते हैं।"[7] और भी सरल शब्दों में कहना चाहें तो हम कह सकते हैं कि जब एक समूह या राष्ट्र दूसरे समूह या राष्ट्र पर हिंसात्मक विधियों द्वारा आक्रमण करके उसे जीतना और उस पर अपना अधिकार जमाना चाहता है तो उन दोनों समूहों या राष्ट्रों के बीच युद्ध की स्थिति पैदा होती है। यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें युद्ध में लगे दोनों ही समूह या राष्ट्र एक-दूसरे को अपना दुश्मन समझने लगते हैं। चूँकि दुश्मन के साथ सामाजिक सम्बन्ध बनाये रखना सम्भव नहीं होता है, अतएव इनके बीच का पारस्परिक सम्बन्ध भी आपसे आप टूट जाता है और वे एक-दूसरे को हर प्रकार से हानि पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं।

श्री होबिल (Hoebel) के शब्दों में, "युद्ध एक सामाजिक समूह द्वारा दूसरे सामाजिक समूह पर किया गया संगठित आक्रमण है, जिसमें आक्रामक समूह, आक्रान्त समूह के हितों की कीमत पर अपने हितों की वृद्धि जान-बूझ कर उसकी जान और माल की बर्बादी करके करता है।"[8]

सामाजिक विज्ञानों का विश्वकोश (Encyclopaedia of Social Sciences) के अनुसार, "युद्ध शब्द का प्रयोग साधारणतः ऐसे शस्त्रात्मक संघर्ष के लिये किया जाता है, जो प्रजातियों और जनजातियों, राज्यों और अपेक्षाकृत छोटी भौगो-

लिक इकाइयों, और धार्मिक और राजनैतिक दलों या आर्थिक वर्गों जैसी सावयवी इकाइयों (organic units) के रूप में जाने-माने जाने वाले जनसंख्यात्मक समूहों के बीच होता है।"[9]

युद्ध की प्रक्रिया
(Process of War)

श्री किम्बाल यंग (Kimball Young) का कथन है कि प्रक्रियाओं के दृष्टिकोण से युद्ध का चक्र इस प्रकार चलता है—युद्ध, शान्ति और पुनः युद्ध।[10] इस चक्र का अपना एक विलक्षण स्वरूप होता है, जिसे इस प्रकार समझा जा सकता है।[11]—

1 जिन प्रभुसत्ताधारी राज्यों (sovereign states) के बीच पहले सहयोग-पूर्ण सम्बन्ध रहे हैं, उनसे सम्बन्धित कोई समस्या या विवाद सबसे पहले खड़ा होता है। यह समस्या या विवाद आर्थिक, राजनैतिक या धार्मिक, *अथवा इन सभी का* योग हो सकता है। इन कठिनाइयों या समस्याओं को सुलझाने के लिये सबसे पहले कूटनीतिक या अन्य उपायों को अपनाया जाता है; पर, जब ये उपाय असफल हो जाते हैं और समस्या सुलझ नहीं पाती तो दूसरा चरण आरम्भ होता है।

2. इन अनसुलझी समस्याओं के प्रतिक्रिया-स्वरूप युद्ध का बुखार चढ़ने लगता है। इस दौरान विरोधी राष्ट्र एक दूसरे को धमकियाँ देते हैं और उलट-पुलट कर धमकियाँ सुनाते हैं। वफादारी तथा देशभक्ति के प्रतीकों का बहुल प्रयोग आरम्भ हो जाता है; राष्ट्रीय एकता पर बल दिया जाने लगता है; और, शत्रु के विरुद्ध प्रचार-कार्य शुरू हो जाता है।

3 तीसरे स्तर पर लड़ाई छिड़ जाती है। एक बार युद्ध आरम्भ हो जाने पर विभिन्न संस्थागत परिवर्तन घटित होते हैं—(अ) मानव-शक्ति, उत्पादन, तथा राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के अन्य पहलुओं से सम्बन्धित बाकी सभी माँगों की तुलना में सैनिक आवश्यकताओं को प्राथमिकता दी जाती है; (ब) सैनिक-सम्बन्धी तथा अन्तर्राष्ट्रीय नीतियाँ गृहनीतियों से अधिक महत्वपूर्ण हो जाती हैं; और, शासन-प्रबन्ध के कार्यों की तुलना में संसदीय कार्य (legislative activities) गौण हो जाते हैं। (स) भाषण देने तथा लोगों के एक जगह एकत्रित होने की स्वतंत्रता पर एक खतरा समझा जाता है, और ऐसे समय में आलोचकों को भी मुँह बन्द रखने को कहा जाता है। (द) ऐसे में परिवार, शिक्षा, मनोरंजन तथा सामुदायिक जीवन के दूसरे पहलुओं पर भी विविध प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं।

4. चौथे स्तर पर युद्ध समाप्त होता है और लोग मानो रोग से मुक्ति पाते हैं, और जल्दी से जल्दी स्वाभाविक (normal) स्थिति में लौट आने को व्याकुल हो उठते हैं।

5. अन्तिम स्तर पर, युद्ध के परिणामों को पृष्ठभूमि में रखकर फिर से सामंजस्य करने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें अर्थ-व्यवस्था को युद्ध के पहले की स्थिति में लौटा लाना, सरकारी नियन्त्रणों को समाप्त करना, और शान्ति-काल की भाँति असैनिक व्यवस्थाओं को उत्पन्न करना आदि सम्मिलित होता है। पराजित देश के लिये ऐसे सामंजस्य कर सकना वास्तव में कठिन होता है।

क्या युद्ध अनिवार्य है ?
(Is War Inevitable)

युद्ध को मानव-समाज का एक आवश्यक अंग मानने वाले विद्वान् अपने मत की पुष्टि तीन प्रकार के तर्कों की सहायता से करते है । वे इस प्रकार हैं—

(क) प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वे विद्वान् आते हैं जिनका तर्क यह है कि युद्ध एक दैवी क्रम है, और इसीलिये कभी स्वयं भगवान तक को 'धर्मयुद्ध' करना पड़ा था। महाभारत का युद्ध स्वयं भगवान श्रीकृष्ण द्वारा रचित व संचालित युद्ध था। चूंकि युद्ध ईश्वर की इच्छा से ही होता है, इस कारण इसे सदैव के लिये समाप्त करना मनुष्य के वश में नहीं है। पर, इस मत की पुष्टि न तो तार्किक आधार पर हो सकती है, और न ही वैज्ञानिक आधार पर। मंगलमय ईश्वर युद्धप्रेमी हो सकता है, इस बात की पुष्टि शायद कोई नास्तिक भी नही करेगा। उसी प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि से भी किसी भी मानवीय क्रिया को दैव-संचालित क्रिया अथवा ईश्वर-निर्देशित क्रिया भी नहीं कहा जा सकता।

(ख) दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत उन विद्वानों का मत आता है जिनके अनुसार आदि काल से ही मानव-इतिहास मानव-युद्ध का इतिहास रहा है। अत. इस इतिहास से युद्ध को भविष्य के विचार से भी निकाला नहीं जा सकता। संक्षेप में, इन विद्वानों के अनुसार चूंकि युद्ध हमेशा से होते रहे हैं इसलिये युद्ध हमेशा होते रहेंगे। कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र (1848) में सर्वश्री मार्क्स और एंजेल्स ने लिखा था, "अभी तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का ही इतिहास है। स्वतन्त्र व्यक्ति तथा दास, कुलीन वर्ग तथा साधारण जनता, सामन्त तथा अर्द्धदास किसान, गिल्ड का स्वामी तथा उसमें कार्य करने वाले कारीगर—संक्षेप मे शोषक तथा शोषित, सदा एक-दूसरे के विरोधी होकर कभी प्रत्यक्ष रूप से तो कभी अप्रत्यक्ष रूप से, परन्तु अनवरत युद्ध करते रहते हैं। इस संघर्ष का अन्त प्रत्येक बार या तो समग्र समाज के क्रान्तिकारी पुर्ननिर्माण में या संघर्षरत वर्गों की आम बर्बादी मे होता है।" युद्ध की अनिवार्यता के विषय में हम इस तर्क को भी स्वीकार नहीं कर सकते। मानवशास्त्रियों के आधुनिक अनुसंधानों से यह पता चला है कि ऐसे अनेक जनजातीय समाज (tribal society) है, जिनमें आज तक युद्ध कभी हुआ ही नही है। कुछ ऐसी प्राचीन सभ्यतायें भी रही हैं, जहाँ के निवासी अत्यन्त शान्तिप्रिय और लड़ाई-झगड़ों से बचने की प्रवृत्ति रखने वाले रहे हैं।

(ग) तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे विद्वान् आते हैं, जिनके मतानुसार मानव-क्रियाओं का आधार मूलप्रवृत्तियाँ हैं, इस कारण 'मानव-प्रकृति' को बदला नहीं जा सकता। मूलप्रवृत्तियों की सूची में युयुत्सा (instinct of pugnacity) भी एक है, जिसका अर्थ यह है कि लड़ने की प्रवृत्ति व्यक्ति की जन्मजात प्रवृत्ति है, अतः इससे छुटकारा पाना सम्भव नही है। श्री विलियम जेम्स (William James) का कथन है कि श्री डार्विन का यह सिद्धान्त सत्य है कि सबसे शक्तिशाली जीव ही केवल जीवित रह सकते हैं (only the fittest shall survive)। अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये प्राणी को अपने पर्यावरण से तथा अन्य प्राणियों से निरन्तर युद्ध करना पड़ता है। इस कारण युद्ध करने की प्रवृत्ति को प्रकृति ने जन्मजात बना दिया है। श्री जेम्स के अनुसार युद्ध करने की प्रवृत्ति हमने अपने

आदिम पूर्वजों से पैतृकता में प्राप्त की है। परन्तु, आधुनिक विद्वान् मूलप्रवृत्ति के अस्तित्व तक को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार मानव में ऐसी कोई भी मूलप्रवृत्ति नहीं हो सकती, जिस पर संस्कृति, शिक्षा, अनुभव आदि का प्रभाव न पड़े। इनके द्वारा मूलप्रवृत्ति में अनेक सुधार या संशोधन सम्भव हैं, और इसीलिये यदि युद्ध की भी कोई मूलप्रवृत्ति है, तो उसे भी बदला जा सकता है। अतः युद्ध को मानव-समाज का एक आवश्यक अंग मानने के पक्ष में राय कदापि नहीं दी जा सकती। हो सकता है कि भविष्य में ऐसा एक समय भी आये जब परिस्थितियाँ मनुष्य को युद्ध न करने के लिये बाध्य कर दें।

युद्ध के कारण
(Causes of War)

कुछ राजनीतिज्ञों का कथन है कि राष्ट्र के जीवन में कुछ ऐसी समस्याएँ होती हैं, जिनको सुलझाने के लिये ही युद्ध करना पड़ता है—अर्थात् राष्ट्रीय समस्याओं को युद्ध का कारण कहा जा सकता है। परन्तु, संसार दो विश्वयुद्धों से गुजरने के बाद, इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि युद्ध से किसी समस्या का सुलझना सम्भव नहीं। विविध वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण इस न्यूक्लीय युग (Nuclear age) में युद्ध के दुष्परिणाम और भी भयकर हो सकते हैं। यहाँ तक कि मानव-जाति व सभ्यता का विनाश तक असम्भव नहीं है। युद्ध सामान्य जन का पूरा जीवन अस्त-व्यस्त कर देता है, देश की आर्थिक व्यवस्था को तोड़ देता है, और परिवार व अन्य सामाजिक संस्थाओं के संगठन को भारी धक्का पहुँचाता है। इसी लिये युद्ध की इच्छा कोई देश नहीं करता। फिर भी आज युद्ध हो रहे हैं और भविष्य में युद्ध नहीं होगा, इसका कोई निश्चय नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि युद्ध के अनेक आन्तरिक व बाह्य कारण होते हैं, जो अन्दरूनी तथा बाहरी तौर पर युद्ध के लिये देश या राष्ट्र को प्रेरित करते रहते हैं। इन कारणों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. प्राणिशास्त्रीय कारण (Biological Causes)—प्राणीशास्त्रीय आधार पर युद्ध को समझने का प्रयत्न करने वाले विद्वानों का कथन है कि युद्ध करना मानव की एक मूलप्रवृत्ति (instinct) है। प्राकृतिक नियम है कि जो सबल है, वह निर्बल को अपने अधीन करके उस पर शासन करना चाहेगा। इस मूलप्रवृत्ति के भड़कने पर ही मनुष्य युद्ध में प्रवृत्त में होता है।

इस प्राणीशास्त्रीय कारण को एक दूसरी तरह से भी प्रस्तुत किया जा सकता है, और वह है प्रजातिवाद (racism) के आधार पर। प्रजातिवाद अपने उग्र रूप में जब व्यक्त होता है तब एक प्रजाति अपने को अन्य प्रजाति या प्रजातियों की तुलना में श्रेष्ठ समझने लगती है। उस प्रजाति से सम्बन्ध को अधर्म समझती है, और अनेकानेक आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक संकीर्ण विभेदों के आधार पर उनका शोषण ही नहीं करती, बल्कि उस पर तरह-तरह के अन्याय, अत्याचार और अविचार भी करती रहती है। नाजियों (Nazis) ने 'आर्य' प्रजाति की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में जो कल्पित कथा प्रचलित की और लाखों यहूदियों के प्राण लिये, उससे तो संसार परिचित ही है। हिटलर-कालीन जर्मनी में नॉर्डिक-प्रजाति

की दैवी विशेषताओं के, उनके संसार के शेष भाग पर राज्य करने के और उन्हें सभ्य बनाने के जन्मजात अधिकार-सम्बन्धी अवैज्ञानिक और अर्ध-वैज्ञानिक प्रलापों तथा विश्वयुद्ध के भयंकर परिणामों को संसार अभी तक भूला नहीं है। इसी प्रकार जापानियों ने भी इसी प्रजातीय श्रेष्ठता की भ्रान्त धारणा को फैलाकर युद्ध की जिस आग को समस्त पूर्वीय देशों में भड़काया, उसे भी भूल जाना शायद ही किसी के लिये सम्भव हो सके। परन्तु ये सभी भ्रान्त धारणायें अब धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही हैं।

2. **राजनैतिक कारण** (Political Causes)—युद्ध का एक महत्त्वपूर्ण कारण विश्व के शक्तिशाली राष्ट्रों में राजनैतिक सत्ता के लिये लोभ है। कुछ राज्य यह चाहते हैं कि उनकी सीमाओं का विस्तार होता रहे, और उनके साम्राज्य के अधीन अधिक से अधिक राज्य आते रहें। इस साम्राज्यवादी (imperialistic) नीति के कारण वे दूसरे राज्यों पर आक्रमण करते हैं, और युद्ध भड़काते हैं। कभी-कभी इसी विस्तारवाद और साम्राज्यवाद का दूसरा रूप भी प्रकट होता है; और, वह यह कि एक राज्य दूसरे राज्य के किसी भाग को अपना कहता है, और दूसरे पक्ष के वह भाग देने से इन्कार करने पर युद्ध छेड़ देता है। इस प्रकार अपने राज्य की सीमा बढ़ाने के लिये भी एक देश दूसरे पर चढ़ाई कर सकता है, और करता भी है। सन् 1962 में भारत पर चीन तथा 1965 में पाकिस्तान का आक्रमण इसी भावना का उदाहरण है।

संकुचित राष्ट्रवाद (narrow nationalism) भी युद्ध को जन्म दे सकता है। देशप्रेम तथा राष्ट्रीयता की भावना कभी-कभी इतनी तीव्र या कटु हो जाती है कि एक देश के लोग अपने देश की तुलना में अन्य देशों को अत्यन्त तुच्छ तथा हीन समझने लगते हैं और अपने हितों की रक्षा के लिए दूसरे राष्ट्रों के हितों को कुचलने में भी संकोच नहीं करते। इस उग्र राष्ट्रीयता के कारण विभिन्न राष्ट्रों के बीच वैमनस्य तथा घृणा की भावना पनपती है, फलस्वरूप उनके बीच कभी-कभी युद्ध भी छिड़ जाता है।

3. **आर्थिक कारण** (Economic Causes)—कुछ विद्वानों ने आर्थिक परिस्थितियों तथा आर्थिक प्रेरकों को भी युद्ध का प्रमुख कारण माना है। प्राचीन यूनानी दार्शनिक सुकरात का विश्वास था कि धरती, वस्त्र, मकान, सोना आदि आर्थिक वस्तुओं को अधिक से अधिक मात्रा में प्राप्त करने की लालसा के कारण ही मानव-समाज में युद्ध होते हैं। महमूद गजनवी आदि ने भारतवर्ष पर कई बार आक्रमण किये थे, और इन हमलों का प्रमुख उद्देश्य इस देश के राजाओं को युद्ध में हरा कर, लूटमार कर, यहाँ की धन-सम्पत्ति को अपने देश में ले जाना था। इस सम्बन्ध में चीन का उदाहरण भी दिया जा सकता है। प्रो० शर्मा ने लिखा है कि चीन की जनसंख्या सम्पूर्ण संसार की जनसंख्या का पाँचवाँ भाग है, जबकि उत्पादन की दृष्टि से यह देश उतना उन्नत नहीं है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण चीन अपनी बढ़ती हुई अतिरिक्त जनसंख्या के लिये अपने पड़ोसी देशों की अधिक से अधिक भूमि हस्तगत करने का प्रयत्न करता रहा है। द्वितीय महायुद्ध से पहले जापान तथा इंग्लैंड के बीच लम्बे समय से व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा चल रही थी। एशिया का वह बाजार दीर्घकाल से इंग्लैंड के हाथों में था और धीरे-धीरे जापान के हाथों में जा रहा था। इसलिये जापान तथा इंग्लैंड के बीच वैमनस्य उत्पन्न होना स्वाभाविक

था। इसी प्रकार चीन तथा जापान के बीच युद्ध का भी प्रमुख कारण जापान की बढ़ती हुई आर्थिक लालसा ही थी।

प्रो० शर्मा ने आगे यह भी लिखा है कि कुछ लेखकों का मत है कि आधुनिक युग में अस्त्र-शस्त्र, गोला-बारूद तथा युद्ध में काम आने वाली अन्य वस्तुओं का उत्पादन जब अपने लाभ के लिये किया जाता है, तब भी युद्ध को बढ़ावा मिलता है, क्योंकि इस प्रकार के उत्पादन से विभिन्न राज्यों के बीच तनाव उत्पन्न होता है। रूस तथा अमेरिका के बीच ऐसा ही राजनीतिक तनाव हमें आज भी देखने को मिलता है।

इसी प्रकार औद्योगिकीय उन्नति भी युद्ध बढ़ाने में एक विशेष कारक है। इन प्रौद्योगिकीयों की सहायता से जब बड़े पैमाने पर उत्पादन-कार्य किया जाता है तो उसके लिये अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की भी जरूरत होती है। इसके कारण विभिन्न राष्ट्रों में प्रतिस्पर्द्धा की भावना बढ़ती है। यह भावना राष्ट्रवाद के भाव को बढ़ाती है, और इसका अन्तिम परिणाम युद्ध ही होता है।

4. सामाजिक कारण (Social Causes)—डॉ० चौबे ने लिखा है कि समाज में कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो युद्ध के इच्छुक होते हैं, क्योंकि युद्ध के समय अत्याचार, अनाचार, निरंकुशता और धन-लोलुपता सम्बन्धी उनकी अनेक इच्छाओं की पूर्ति होती है। बहुत से लोग युद्ध की ताक में ही लगे रहते हैं, ताकि उनकी ये इच्छायें पूरी हों। यही कारण है कि युद्ध की परिस्थितियों से लाभ उठा कर कितने ही लोग मालामाल हो जाते हैं, और देश में चोरबाजारी, अत्याचार, अनाचार और निरंकुशता का बाजार गरम हो जाता है।

इसी प्रकार डॉ० चौबे ने युद्ध के सामाजिक कारणों में देश के कुछ राजनैतिक नेताओं की मनोवृत्ति का भी उल्लेख किया है। जब देश कुछ आन्तरिक संघर्षों से गुजरता है तो कुछ राजनैतिक नेता जनता का ध्यान किसी बाहरी शत्रु पर केन्द्रित करते हैं और उसे उस शत्रु के विरुद्ध भड़काते हैं। इससे भी युद्ध की सम्भावना बढ़ जाती है। इसी प्रकार जब समाज के अन्दर आन्तरिक गड़बड़ी फैलती है तो उस परिस्थिति से लाभ उठाने के लिये भी कोई बाहरी शत्रु देश पर आक्रमण कर सकता है।

5. मनोवैज्ञानिक कारण (Psychological Causes)—युद्ध के मनोवैज्ञानिक कारण की पुष्टि में यह कहा जा सकता है कि युद्ध द्वारा व्यक्ति की घृणा, द्वेष, भय तथा क्रोध की भावनाओं को तृप्ति का अवसर मिलता है। किसी भी देश के विभिन्न दलों में एक दूसरे के विरुद्ध ये भावनायें पायी जा सकती हैं, जिनके फलस्वरूप युद्ध छिड़ सकता है।

युद्ध के समय देश में एकता की लहर फैल जाती है। अतः कभी-कभी राष्ट्रों में एकता की भावना फैलाने के लिये भी युद्ध की ओर देश के नायक प्रेरित हो जाते हैं।

युद्ध के दुष्परिणाम
(Evil Consequences of War)

युद्ध व्यक्ति, परिवार तथा समूचे राष्ट्र के लिये अनेकानेक दुष्परिणाम बुनता

है। आज का युद्ध केवल किन्ही दो राष्ट्रों तक ही सीमित नही रहता। समान राजनीतिक नीति, दृष्टिकोण, विचार तथा संस्कृति में आस्था रखने वाले सभी राष्ट्र एक ओर होकर युद्ध के लिये तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार विश्व की राजनीतिक शक्ति दो गुटो में बँट जाती है, और युद्ध शीघ्र ही एक अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लेता है। इससे केवल दो राष्ट्रो के ही नही, दो गुटों में सम्मिलित होने वाले सभी राष्ट्रों के जन और धन, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था तथा पारिवारिक जीवन को भारी धक्का लगता है। ऐसी स्थिति मे तटस्थ देश भी युद्ध की लपटों से नही बच पाते। उन देशो मे भी सामाजिक विपत्तियो का जन्म होता है, और अन्तर्राष्ट्रीय विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। परिणामस्वरूप सभी सामाजिक मूल्य, व्यवस्था, संरचना, सस्कृति व मानव-जीवन की समग्र रचनात्मक प्रवृत्तियों और उपलब्धियो को गहरा आघात पहुँचता है। फिर, आज के अणु-युग के युद्ध का दुष्परिणाम केवल प्रलय या विनाश ही हो सकता है, और कुछ नही।

युद्ध सामाजिक परिवर्त्तन की गति को बहुत सीमा तक बढ़ा देता है। जब कोई राष्ट्र अपने अस्तित्व को स्थिर रखने के लिये जी-जान लगा कर लड़ रहा होता है, उस समय राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक मामलों मे क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हो जाना भी असम्भव नही होता। पर, सामाजिक परिवर्त्तन जब तेजी से होता है, तब सामाजिक विघटन की स्थिति भी सरलता से उत्पन्न हो सकती है। कुछ भी हो, युद्धकालीन आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये नये-नये तरीके निकाले जाते हैं, औद्योगिक विकास किया जाता है, और यातायात तथा संचार के साधनों को बढाया जाता है। इसी प्रकार नागरिक (civilian) जनता को युद्ध के कामों में अधिकाधिक सक्रिय भाग लेना पड़ता है, और उद्योग में काम करने वाले श्रमिकों की संख्या कई गुना बढ़ जाती है, फलस्वरूप नगरों का विस्तार होता है और शहरों में भीड़-भाड़ के साथ मकानों की कमी और भी ज्यादा हो जाती है। इन दोनों ही परिस्थितियो में अनेक सामाजिक समस्याओं का उद्भव होता है। नगरीकरण के साथ-साथ, अर्थात् जैसे-जैसे ग्रामीण जनता नगरों में उद्योगों मे या सेना मे काम करने के लिये गाँव छोड़ कर आती है, वैसे-वैसे संयुक्त परिवार का विघटन होता रहता है और अब तक मान्य मूल्य, आदर्श तथा परम्पराओं में तेजी से परिवर्त्तन होता है। इतना ही नही, युद्ध के समय जिन क्षेत्रों में गोलाबारी होती है या होने का अन्देशा रहता है, उन स्थानों को खाली करने को कहा जाता है। इससे अनेक परिवारों को स्थान-परिवर्त्तन करना पड़ता है। चाहे सेना में काम करने के लिये हो, चाहे उद्योगों मे भर्ती होने के लिये हो और चाहे आक्रमण के भय से ही हो, युद्ध के समय सामाजिक गतिशीलता बहुत अधिक बढ़ जाती है। संक्षेप में, प्रत्येक दिशा में परिवर्त्तन तेजी से होने लगते हैं। तेजी से बदलता हुआ समाज निर्धारित समाज होता है, क्योंकि मनुष्य उतनी तेजी से नयी सामाजिक परिस्थितियों से अपना अनुकूलन नही कर पाता। युद्ध के फलस्वरूप क्रियाशील सामाजिक परिवर्त्तन व सामाजिक विघटन की प्रक्रिया को, निम्नलिखित विवेचना के आधार पर, और भी स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

युद्ध—सामाजिक विघटन का एक विकराल रूप
(War—a Violent Form of Social Disorganization)

कहा जाता है कि 'युद्ध सामाजिक विघटन का सबसे विकराल या उग्र रूप है' (War is social disorganization in its most violent form)। इस कथन

का सरल अर्थ यही है कि युद्ध सामाजिक विघटन की ही स्थिति है; और, यदि सामाजिक विघटन का विकराल रूप देखना हो तो उसका दर्शन युद्ध के समय या युद्ध के परिणामस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों में ही हो सकता है। उपर्युक्त कथन की सत्यता निम्नलिखित विवेचन से और भी अधिक समझ में आ जायेगी।

युद्ध की प्रकृति और सामाजिक विघटन
(Nature of War and Social Disorganization)

युद्ध की प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि इसके फलस्वरूप सामाजिक विघटन होना ही स्वाभाविक है। वास्तविकता तो यह है कि युद्ध सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था में इतनी अधिक गड़बड़ी उत्पन्न कर देता है तथा सम्पूर्ण स्थापित संगठन को इस तरह उलट-पलट देता है कि सामाजिक विघटन की स्थिति आप से आप सामने आ जाती है। सामाजिक विघटन, ठोस अर्थ में, युद्ध-काल में होने वाले सामाजिक परिवर्तनों का ही परिणाम होता है। श्री फ्रांसिस मेरिल ने लिखा है कि युद्धकालीन सामाजिक परिवर्तन में निम्नलिखित तत्त्व उल्लेखनीय होते हैं—जनसंख्या का स्थान-परिवर्तन; सामाजिक गतिशीलता; नये उद्योगों का विकास; श्रम-शक्ति में असाधारण वृद्धि; मूल्य-वृद्धि; टूटे परिवारों की संख्या में वृद्धि; मृत्यु; त्याग और तलाक की दर में वृद्धि; पारिवारिक तनाव; स्त्रियों को अधिक धन कमाने के मिलने वाले अवसर; अपेक्षतया या अधिक अपराध; बाल-अपराध; वेश्यावृत्ति में वृद्धि; धर्म की प्रभुता; आदि। ये सभी परिवर्तन सामाजिक विघटन के कारण पैदा हो सकते हैं। सत्य तो यह है कि युद्ध स्वयं ही सामाजिक विघटन की स्थिति है। युद्ध का आधार है स्वार्थ की पूर्ति व प्रभुता स्थापित करने की पिपासा। युद्ध आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक या सीमा-सम्बन्धी स्वार्थों की पूर्ति के लिये लड़ा जाता है। पर, कारण या स्वार्थ कुछ भी हो, उन स्वार्थों की पूर्ति के लिये युद्ध में हिंसात्मक साधनों का प्रयोग किया जाता है, और एक पक्ष हर प्रकार से दूसरे पक्ष को दुर्बल करने का प्रयत्न करता है, योजनाएँ बनाता है और उसे कुचल देने को तत्पर हो जाता है। युद्ध की यह प्रकृति स्वयं ही सामाजिक विघटन उत्पन्न करने वाली होती है। यह सामाजिक विघटन किसी एक देश तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि इसका विस्तार उन सभी देशों तक हो जाता है जो युद्ध में सम्मिलित होते हैं। आधुनिक युद्ध में केवल दो देशों की सेनायें ही नहीं लड़तीं, वरन् उनके नागरिक, स्त्री और पुरुष, बच्चे और बूढ़े, किसान और क्लर्क, अमीर और गरीब, समितियाँ व संस्थाएँ सभी प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होते हैं। 'एटम' तथा 'हाइड्रोजन' बमों तथा आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों ने आधुनिक युद्ध की प्रकृति को कितना भयानक बना दिया है, और इससे सामाजिक विघटन की स्थिति किस विकराल व चरम सीमा तक पहुँच सकती है, इसकी कल्पना मात्र से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। युद्ध किन्हीं दो विपक्षी दलों के बीच होने वाला या हिंसात्मक संघर्ष होता है, इसीलिये यह सामाजिक विघटन का कारण बनता है। युद्ध की ध्वंसात्मक प्रकृति ही सामाजिक विघटन का विकराल रूप है।

युद्ध और सामाजिक संरचना की विकृति
(War and Detortion of Social Structure)

सामाजिक संगठन सामाजिक संरचना के विकृत न होने पर निर्भर करता है। ऐसा तभी हो सकता है जब समाज के विभिन्न सदस्य तथा संस्थायें अपने-अपने पदों

पर स्थिर रहते हुए अपने पूर्वनिर्धारित कार्यों को विधिवत् करते रहें। परन्तु, युद्ध इस संतुलन को खत्म करके सामाजिक संरचना को विकृत कर देता है। युद्ध से उत्पन्न आपत्तिकालीन परिस्थितियों का सामना करने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि अनेक महत्त्वपूर्ण पदों और उनसे सम्बन्धित कार्यों को आमूल परिवर्तित कर दिया जाय। यदि युद्ध में देश पराजित होता है तो विजेता देश विजित देश पर अपना आधिपत्य स्थापित करता है, बहुधा वहाँ के सारे पुराने महत्त्वपूर्ण अधिकारियों को हटाकर उनकी जगह नये अधिकारियों को नियुक्त करता है और उनके कार्यों की नयी रूपरेखायें तैयार करता है। फलस्वरूप समाज की सम्पूर्ण संरचना केवल बदल ही नहीं जाती, बल्कि उस परिवर्तन के बल पर ऐसी नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनके साथ वहाँ के लोग अपना अनुकूलन करने में असफल हो जाते हैं। ऐसी दशा में समाज का विघटन अनिवार्य ही होता है। इसके अतिरिक्त युद्ध के दौरान भी सम्पूर्ण सामाजिक परिस्थिति इतनी अधिक अनिश्चितता से भरपूर रहती है कि समाज का कोई भी सदस्य या संस्था अपनी स्थिति तथा कार्य के सम्बन्ध में न तो सुनिश्चित हो पाता है, न ही निश्चित होकर अपने कर्त्तव्यों का पालन कर पाता है। ऐसी स्थिति भी सामाजिक विघटन की ही परिचायिका होती है। इतना ही नहीं, युद्ध के दौरान होने वाले हमलों के फलस्वरूप, हो सकता है कि कुछ महत्त्वपूर्ण संस्थायें या व्यक्ति नष्ट हों। उस अवस्था में उन संस्थाओं तथा व्यक्तियों के कार्यों को तत्काल दूसरी संस्थाओं या व्यक्तियों को सौंप देना पड़ता है, और ऐसा न हो सकने की स्थिति में महत्त्वपूर्ण कार्य कुछ समय के लिये बंद तक कर देने पड़ते हैं। दोनों ही अवस्थाओं में गड़बड़ी की स्थिति उत्पन्न हो सकती है, जिसका परिणाम स्वभावतया सामाजिक विघटन होता है।

युद्ध और विघटित अन्तर्राष्ट्रीय जीवन
(War and Disorganized International Life)

युद्ध, विशेषकर आधुनिक युद्ध मूलतः दो राष्ट्रों के बीच होता है और उन दो राष्ट्रों के समर्थक भी धीरे-धीरे या एकसाथ दो दलों में बँट जाते हैं। ये दोनों दल एक-दूसरे के विरोधी हो जाते हैं, और एक-दूसरे को हर तरह का नुकसान पहुँचाने की कोशिश करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में एक अजीब तनाव या संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, और पहले की थोड़ी बहुत निश्चितता व स्थिरता भी रहे-सहे समाप्त हो जाती है। सर्वश्री इलियट तथा मेरिल (Elliot and Merrill) ने लिखा है—जो 'प्रजातन्त्र', धर्म तथा विज्ञान अपने-अपने ढंग से सामान्य, पारस्परिक सूत्र में मनुष्य को संयुक्त करने का प्रयास करते हैं, वे युद्ध के द्वारा ऐसे नष्ट-भ्रष्ट होते हैं, जैसे अन्य किसी भी मानव-दुर्घटना द्वारा कभी नहीं होते।" अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध विघटित होने का प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय बाजार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विचारों के स्वतन्त्र आदान-प्रदान तथा संचार-प्रक्रिया पर पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय जीवन अत्यधिक संकुचित हो जाता है, तथा विश्व-शान्ति और विश्व-बन्धुत्व का सपना तक अधूरा रह जाता है। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि युद्ध घृणा, ईर्ष्या, द्वेष तथा तनाव का विष इस तरह घोलता है कि उससे अन्तर्राष्ट्रीय जीवन न केवल विघटित होता है, बल्कि कलुषित भी हो जाता है। प्रथम महायुद्ध ने पाश्चात्य राष्ट्रों को इस प्रकार विघटित किया कि सामूहिक रूप में प्रगति करने की उनकी समस्त योजनायें तार-तार होकर रह गयीं। दूसरे विश्वयुद्ध ने तो परिस्थिति

को और भी विघटित किया, और अब तीसरे विश्वयुद्ध के बादल भी कभी-कभी विश्व के आकाश में मँडराते नजर आते हैं। यह सब विघटन का सूचक भी है और विघटन का कारण भी।

युद्ध तथा विघटित मानव-सम्बन्ध
(War and Disorganized Human Relations)

प्राचीन काल मे युद्धो मे केवल दो देशों की सेनाएँ ही, आबादी के क्षेत्र से दूर, किसी खुले हुए मैदान मे लड़ती थीं, इसलिये उन देशों के बच्चों, बूढ़ों, स्त्रियो तथा अन्य असैनिक नागरिको पर इसका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता था। परन्तु, आधुनिक युद्ध में देश की सम्पूर्ण जनता प्रत्यक्ष रूप से युद्ध द्वारा प्रभावित होती है, और युद्ध को सफलता के लिये उनमे से प्रत्येक को जागरूक प्रयत्न करते पड़ते हैं। फलतः युद्ध के कारण समाज के सदस्यो के बीच के पारस्परिक सम्बन्ध भी विघटित हो जाते हैं। मानव के प्रति मानव की सहानुभूति युद्ध-काल में जाती रहती है, और मानव के हाथ से ही मानव को उत्पीड़न तथा अत्याचार सहना पड़ता है। युद्ध की घोषणा होते ही एक राष्ट्र की जनता दूसर राष्ट्र की जनता के प्रति अपने मन मे कटु मनोभाव रखने लगती है। देश के नेता अपने शत्रु राष्ट्र के विरुद्ध बड़े-बड़े भाषण देते हैं तथा सरकार द्वारा श्वेतपत्र (white paper) प्रकाशित किये जाते हैं। साथ ही तरह-तरह की अफवाहें भी फैलती रहती हैं। इससे दोनों देशों के बीच तनाव बढ़ता जाता है। इतना ही नहीं, युद्ध के कारण देश के अन्दर भी नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों मे कुछ न कुछ गड़बड़ी अवश्य ही पैदा हो जाती है। देश के नवयुवक युद्ध-क्षेत्र मे चले जाते हैं और स्त्रियो को पुरुषों के अनेक कार्य करने पड़ते हैं। फलस्वरूप स्त्री-पुरुषो के पारस्परिक सम्बन्ध व व्यवहार-प्रतिमान में बहुत तरह की गड़बड़ियाँ आ जाती हैं। यह सभी कुछ सामाजिक विघटन का ही सूचक होता है।

युद्ध और आर्थिक विघटन
(War and Economic Disorganization)

युद्ध के फलस्वरूप देश का आर्थिक ढाँचा पूरी तरह चकनाचूर हो जाता है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि आधुनिक युद्ध मे केवल जान की ही नहीं, माल की भी अकूत बर्बादी होती है। आधुनिक युद्ध तलवारो का युद्ध नहीं, बल्कि टैंकों, हवाई जहाजों तथा बमो व अन्य सहस्रों प्रकार के मूल्यवान् अस्त्र-शस्त्रों का युद्ध होता है। एक टैंक या एक जहाज की कीमत लाखो रुपये होती है, और इन लाखों रुपयों के मूल्य वाली युद्ध-सामग्री की बर्बादी पल भर में ही हो जाती है। इससे राष्ट्रीय धन की कितनी क्षति होती है, और इस बर्बादी का कितना दुष्प्रभाव देश की जनता व संगठन पर पड़ता है, इसका अनुमान साधारण व्यक्ति नहीं लगा सकता। इसके अतिरिक्त आधुनिक युद्धों में सैनिकों को अस्त्र-शस्त्र के अलावा असंख्य अन्य वस्तुओं की भी आवश्यकता होती है। सरकार सबसे पहले उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न करती है, इसलिये असैनिक जनता को दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं का मिलना कठिन हो जाता है। वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण पर सरकार का नियन्त्रण होता है। इस नियन्त्रण के फलस्वरूप आम जनता का कष्ट

और भी बढ़ जाता है, और उसी परिस्थिति मे लाभ उठाकर स्वार्थी लोग काला बाजार करने लगते हैं। इस प्रकार युद्ध-काल में धन-सम्बन्धी अपराधों में वृद्धि हो जाती है। यह वृद्धि सामाजिक विघटन की ओर ही खुला संकेत करती है। युद्ध-सम्बन्धी खर्चा को पूरा करने के लिये सरकार को मुद्रा-स्फीति (inflation) का सहारा लेना पड़ता है। सरकारी राशनिंग होती है, फलस्वरूप चीजों की कीमतें तेजी से बढ़ती हैं, जिससे आम जनता को अपार कष्ट का सामना करना पड़ता है। दूसरी ओर शत्रु-पक्ष द्वारा की गई बमबारी से संस्थान के संस्थान ही नष्ट हो जाते हैं। ऐसा होने पर देश की आर्थिक प्रगति स्वतः रुक जाती है, और आर्थिक संकट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि देश युद्ध मे पराजित हुआ तो विजयी देश उसका जी भर आर्थिक शोषण करता है। वैसे भी युद्ध के बाद युद्ध-सामग्री तथा सैनिको की आवश्यकता कम हो जाने के कारण उत्पादन कार्यों को सहसा ही कम कर देना पड़ता है। इससे देश में बेरोजगारी, निर्धनता आदि की गम्भीर समस्यायें पैदा हो जाती हैं; और, ये समस्यायें सामाजिक विघटन का विकराल रूप प्रस्तुत करती हैं।

युद्ध तथा राजनैतिक विघटन
(War and Political Disorganization)

युद्ध देश के आर्थिक ढाँचे को ही नहीं, बल्कि राजनैतिक ढाँचे को भी विघटित कर देता है। युद्ध-काल मे साधारण राजनैतिक ढाँचा क्रियाशील नही रह पाता, और देश का राजनैतिक नेतृत्व विशेष कर उन व्यक्तियो के हाथ मे चला जाता है, जिनमें कठोरता, युद्धप्रियता, कूटबुद्धि और चतुराई होती है। इसका प्रभाव यह होता है कि राजनैतिक जीवन का स्वस्थ कलेवर कूटनीति तथा युद्धप्रेम से भर जाता है। सुविधावादी राजनैतिक नेताओं या मन्त्रियो को युद्ध के नाम पर अपने स्वार्थों की सिद्धि करने का अच्छा अवसर मिलता है, और वे व्यापारियों तथा अन्य व्यक्तियो को लोहे, सीमेन्ट आदि के परमिट देते हैं, सरकार से रुपये उधार दिलवाते हैं, अपनी जान-पहचान वालों को नौकरियाँ देते हैं, और बदले मे उन लोगो से अपना स्वार्थ पूरा करवाते हैं। कभी-कभी तो युद्ध के द्वारा किसी विशेष राजनैतिक संस्था या "वाद" के लिये खास खतरा तक उत्पन्न हो जाता है। उदाहरण के लिये, हमलावर देश साम्यवादी हो सकता है और युद्ध के द्वारा या अन्य उपायों के द्वारा दूसरे देश के राजनैतिक ढाँचे को साम्यवाद का बाना पहनाने की कोशिश कर सकता है। यह स्थिति अपने आप में भी स्वयं सामाजिक विघटन का एक कारण बन सकती है।

युद्ध तथा पारिवारिक विघटन
(War and Family Disorganization)

युद्ध पारिवारिक जीवन व संगठन में भी उथल-पुथल ला देता है, और फिर परिवार का अंग-अंग पड़ा कराहता रहता है। युद्ध बच्चों को पिता से अलग करता है; माता को नौकरी करने के लिये घर से बाहर जाने को विवश करता है; पति को पत्नी से और पत्नी को पति से अलग करता है; न जाने कितनी सुहागिनों का सुहाग लूट लेता है; बाप-दादों की गाढ़ी कमाई से बने मकानों आदि को मिट्टी में मिला देता है; और, परिवार के सदस्यों को क्षण भर में शरणार्थी बना देता है। वह उनके जीवन में बर्बादी का ज़हर घोल कर, पैशाचिक अट्टहास के साथ 'विघटन की होली' खेलता है।

युद्ध-काल में देश के अधिकतर वयस्क पुरुषों के युद्ध-क्षेत्र में अथवा युद्ध से संबंधित कार्यक्षेत्रों में व्यस्त हो जाने का परिवारों पर बहुत बुरा और गहरा प्रभाव पड़ता है। अधिकतर पिताओं के सेना में भर्ती हो जाने से परिवार की परम्परागत अन्तःक्रियाओं में परिवर्तन हो जाता है। पिता के कार्यों को माताओं को करना पड़ता है, और चूंकि वे यह सब करने की अभ्यस्त नहीं होतीं, इसलिये पारिवारिक जीवन विघटित हो जाता है।

युद्ध-काल में बढ़ती हुई महँगाई का सामना करने के लिये तथा पुरुषों के युद्ध-क्षेत्र में चले जाने के कारण हुए रिक्त स्थानों को भरने के लिये स्त्रियों को भी नौकरी करनी पड़ती है। इसलिये घर-गृहस्थी का काम वे ठीक से नहीं कर पातीं, और परिवार में नित्य नयी गड़बड़ियाँ होने लगती हैं। जिन परिवारों में माता-पिता, दोनों ही नौकरी करते हैं, वहाँ पारिवारिक व्यवस्था बिलकुल ही बिगड़ जाती है, और बच्चों की देखभाल कायदे से नहीं हो पाती। यही कारण है कि युद्धकाल में बाल-अपराधों की संख्या बढ़ जाती है। इतना ही नहीं, स्त्रियों से पुरुषों का काम लेने से उनमें पुरुषोचित व्यवहार-प्रतिमान बहुत अधिक स्पष्ट हो उठते हैं और उनमें उच्छृंखलता की मात्रा बढ़ जाती है। वे शराब और सिगरेट पीना शुरू कर देती हैं; मर्दों की पोशाकें पहनती हैं; और, भोग-विलास में डूब जाती हैं। पारिवारिक संगठन पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। युद्ध के समय अनेकानेक अविवाहिता लड़कियों को भी नौकरी करने का अवसर, सरलता से, मिल जाता है। इसके साथ ही उन्हें नवयुवकों से मेल-मिलाप बढ़ाने के सभी अवसर मिलने लगते हैं। उन पर पारिवारिक नियन्त्रण भी कम ही रहता है, क्योंकि हो सकता है कि कितनों के ही पिता युद्ध-क्षेत्र में हों और मातायें कहीं नौकरी करती हों। इससे यौन-अपराध की दरें अपने आप ही बढ़ जाती हैं।

युद्धकाल में टूटे परिवारों (broken homes) की संख्या बढ़ती है। अनेक परिवार तो पिताओं या पतियों के युद्धक्षेत्र में भी ख्याति प्राप्त करने के फलस्वरूप स्थायी रूप से टूट जाते हैं। अनेक स्त्रियों का सुहाग लुट जाता है, अनेक बच्चे बेसहारा हो जाते हैं, और अनेक वृद्ध माता-पिताओं के बुढ़ापे की लकड़ी टूट जाती है। युद्धकाल में परिवार का सम्पूर्ण संगठन असंतुलित हो जाता है, क्योंकि पिता या पति युद्ध में होते हैं, और पत्नियाँ या मातायें घर से बाहर जाकर नौकरी करती हैं। दुश्मन हमला करता है, इससे भी कितने ही घर मिट जाते हैं। किसी परिवार का कोई मरता है तो किसी की अंग-हानि होती है। युद्धक्षेत्र में पति या पिता का हाथ कटेगा या पैर, कुछ भी निश्चित नहीं रहता। कहना कठिन होता है कि बमबारी से टूटे घरों में रहने-बसने वालों को रहने के लिये दूसरे घर भी मिलेंगे या तम्बू मिलेंगे। ये सभी परिवार के विघटन के सहज उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त युद्धकाल में परिवार इस रूप में भी विघटित होता है कि परिवार की स्थान-सम्बन्धी स्थिरता बहुत कम हो जाती है। युद्ध-सामग्री के उत्पादन के लिये आवश्यक श्रमिकों की माँग को पूरा करने के विचार से गाँव से बड़ी संख्या में लोग नगरों तथा औद्योगिक केन्द्रों में बसते हैं। फिर, बमबारी होने के फलस्वरूप या बमबारी होने से पहले कितनी ही बस्तियों को खाली करवा लिया जाता है। फलस्वरूप एक स्थान पर दीर्घकाल से जमे परिवार अपने स्थानों से उखड़ कर नये स्थानों पर बसने को मजबूर होते हैं, और परिवारों के सदस्यों को नये पड़ोसियों, स्कूलों, निवास-स्थानों आदि के साथ

नये सिरे से अनुकूलन करना पड़ता है। मकानों की समस्या गम्भीर हो जाती है, किराया बढ़ जाता है, और गन्दी बस्तियों (sluns) का जन्म होता है। ये सभी स्थितियाँ परिवार के संगठन को खोखला कर देती हैं।

युद्ध के समय पारिवारिक तनाव (family tension) भी बढ़ जाता है, क्योंकि स्त्रियाँ घर से बाहर नौकरी करने जाती हैं, आर्थिक रूप में अपने को स्वतन्त्र समझने लगती हैं, और पारिवारिक बेड़ियों को तोड़ने की कोशिश करती हैं। कुछ युवतियाँ अपनी स्वतन्त्रता को व्यक्त करने के लिये स्वयं व्यक्ति चुनकर विवाह करती हैं, और कुछ क्लबों व पार्टियों में रंगरेलियाँ मनाती फिरती हैं।

वियोग (separation) या बिछोह के कारण भी परिवार, अस्थायी रूप में ही सही, विघटित हो जाता है। द्वितीय महायुद्ध के समय करोड़ों परिवारों के सदस्य (विवाहित दम्पति) अलग-अलग अवधि के लिये एक-दूसरे से बिछुड़ गये। इस प्रकार के बिछोह का मानसिक परिणाम बहुत बुरा होता है। ऐसी स्थिति में दोनों पक्षों का जीवन चिंता और अनिश्चितता के बीच व्यतीत होता है। यों युद्ध के बाद यह स्थिति अनेक परिवारों के सामने नहीं रह जाती; परन्तु इसके बाद पति-पत्नी एक-दूसरे से अनुकूलन करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। अलगाव का समय एक समस्या बन जाता है।

युद्ध तथा व्यक्तिगत विघटन
(War and Personal Disorganization)

युद्ध का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व के विघटन पर भी पड़ता है। युद्ध में अनेक व्यक्तियों को अपने शरीर के विभिन्न अंगों से हाथ धोना पड़ता है। इस अंगहानि के कारण व्यक्तियों में हीन भावना (inferiority complex) पनप जाती है, और वे सामाजिक क्रियाओं में उतनी सक्रियता से भाग नहीं ले पाते, फलस्वरूप उनके व्यक्तित्व का विघटन हो जाता है। इस अंगहानि के कारण ही कुछ पति-पत्नियों का पारस्परिक अनुकूलन नहीं हो पाता, और वे विवाह-विच्छेद द्वारा अपने सम्बन्ध तोड़ देते हैं। फिर, अंगहानि के कारण उपार्जन की क्षमता घट जाती है और व्यक्तियों को निर्धनता का शिकार होना पड़ता है। ऐसे में जिनके पति या एक मात्र पुत्र युद्ध में मारे जाते हैं, ऐसी अनेक पत्नियाँ या मातायें अपना मानसिक सतुलन खो बैठती हैं। युद्ध की विभीषिका या युद्ध के फलस्वरूप होने वाली हृदय-विदारक बरबादियों को देखकर भी अनेक लोग पागल हो जाते हैं। युद्ध के समय उचित रूप में खाने-पीने को नहीं मिलता, और मिलावट तथा कालाबाजारी होती है, जिसके फलस्वरूप जनता का स्वास्थ्य-स्तर गिरता जाता है, और लोगों को कुछ भयंकर बीमारियाँ घेर लेती हैं। युद्ध का प्रभाव छोटे बच्चों के लालन-पालन पर विशेष रूप से पड़ता है। उनका संतुलित विकास नहीं हो पाता। प्राप्त आँकड़ों से पता चलता है कि युद्धकाल में कालाबाजारी, मिलावट आदि आर्थिक अपराध तथा वेश्यावृत्ति जैसे यौन-अपराध अधिक बढ़ जाते हैं। मद्यपान तथा मादक द्रव्यों का सेवन भी बढ़ जाता है।

पिछले द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान इगलैंड तथा यूरोपीय देशों में बाल-अपराधों की संख्या तेजी से बढ़ी। ब्लैक-आउट, दिन-रात होने वाली बमवर्षा, और राशनिंग आदि के कारण धन-सम्बन्धी अपराधों की संख्या में भी तीव्र गति से वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त पतियों और पत्नियों दोनों के नौकरी करने के कारण बच्चों पर रहने वाला

पारिवारिक नियन्त्रण शिथिल हो गया, इसलिये छोटी-छोटी आयु के लड़कों तथा लड़कियों के बीच शराबखोरी, जुआ, आवारागर्दी तथा यौन-सम्बन्धी अपराधों में भी खूब बढ़ती हुई। नगरों में 15 या 20 वर्ष के लड़कों के संगठित गुण्डा-समूह घूमते नजर आने लगे। युद्धकाल में बच्चों तथा युवकों के हाथ में अधिक पैसा आ जाने के कारण भी अनैतिकता और बाल-अपराध की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। साथ ही, युद्ध के समय मरने और मारने का विचार सम्पूर्ण समाज को अपने पंजो में कस लेता है। इसीलिये युद्धकाल में बच्चों तथा युवकों में हिंसा और निर्दयता की प्रवृत्तियों का तीव्र हो जाना स्वाभाविक ही होता है, और स्पष्ट है कि सामाजिक संगठन पर इसका बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है।

युद्धकाल में बमवर्षा से जिन नगरों को नुकसान पहुँचता है, वहाँ के लोगों को हटाकर शरणार्थी केन्द्रों में रक्खा जाता है। वहाँ उन बच्चों की हालत सचमुच दयनीय होती है, जिन्हें अपने माता-पिताओं से बिछुड़ना पड़ता है। ऐसे बच्चे अपरिचित लोगों के बीच अपने-आप को अकेले असुरक्षित, अकेला और दुःखी अनुभव करने लगते हैं, अत. उनके अन्दर भावात्मक असतुलन पैदा हो जाता है। इन केन्द्रों में बच्चों की मनोवृत्तियाँ विकृत हो जाती हैं, और आदतें बिगड़ जाती हैं। वे अधिकतर चुप रहने लगते हैं और उनमें तरह-तरह के दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

युद्ध में कितने ही लोग मारे जाते हैं, और उनमें बहुत से विवाहित होते हैं। इनके मरने से देश में विधवाओं की सख्या में वृद्धि होती है, जो अपने आप में ही एक विकट सामाजिक समस्या है। इन विधवाओं के व्यक्तित्व के विकास में कुछ न कुछ बाधा अवश्य ही उत्पन्न होती है। युद्ध में पुरुष ही अधिक मारे जाते हैं, फलस्वरूप समाज में पुरुषों की सख्या कम हो जाती है। स्त्री-पुरुषों के अनुपात में इस असतुलन के कारण कुवाँरी लड़कियों तक की शादियों के लिये वर नहीं मिल पाते, विधवाओं का पुनर्विवाह तो और भी कठिन हो जाता है। वे फिर से घर नहीं बसा पाती, और भावात्मक असतुलन की शिकार हो जाती हैं। युद्ध उनके व्यक्तित्व को विघटित कर देता है।

युद्ध और प्रमुख सामाजिक सस्थाओं का विघटन
(War and Disorganization of Important Institutions)

युद्ध समाज की प्रमुख सस्थाओं को भी विघटित कर देता है। संस्थाओं का सगठित रहना तो इस बात पर निर्भर करता है कि उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध संतुलित स्तर पर हो और संस्थाओं की गतिविधि में कहीं से कोई बाधा उत्पन्न न हो। पर, युद्धकाल में इसकी सम्भावना बहुत ही कम रहती है। जिन स्थानों पर वास्तविक लड़ाई चलती है, वहाँ तो शिक्षा-संस्थायें, धार्मिक सस्थायें, सरकार, आर्थिक संस्थायें आदि कुछ भी स्वाभाविक स्थिति में नहीं रह पाती। इनमें भी सबसे भयकर विघटन शिक्षा-सस्थाओं का होता है। युद्धक्षेत्र की सभी शिक्षा-सस्थाओं को अनिश्चित काल के लिये अपना काम बन्द कर देना पड़ता है, और बच्चों की पढ़ाई-लिखाई बिल्कुल रुक जाती है। द्वितीय महायुद्ध के समय स्कूलों में पढ़ने वाले हजारों बच्चों को लन्दन से बाहर सुरक्षित स्थानों में भेज दिया गया था। अमेरिका में जनसंख्या की गतिशीलता ने बच्चों की पढ़ाई-लिखाई को विघटित कर दिया था। कुछ बच्चों को तो स्कूली शिक्षा मिली ही नहीं, और अन्य अनेकों को ऐसे वातावरण में पढ़ना पड़ा, जो उनके लिये अनुकूल और हितकर नहीं थे। वैसे भी युद्धकाल में अनेक स्कूल व कालिज सैनिक अस्पतालों में बदल जाते हैं। देश के

जिन भागो मे दुश्मन का कब्जा हो जाता है, वहाँ की शिक्षा-संस्थाओ को तो भगवान का ही भरोसा रह जाता है।

धार्मिक संस्थाओं पर भी युद्ध का विघटनात्मक प्रभाव पड़ता है। युद्ध-काल मे देश के उल्लेखनीय धार्मिक स्थानों, मंदिरों, मस्जिदों या गिर्जाघरों को किसी भी सीमा तक नुकसान पहुँच सकता है। बमवर्षा के फलस्वरूप अनेक मन्दिर आदि ध्वस्त हो जाते हैं। इतना ही नही, युद्ध घृणा द्वेष, हिंसा, आक्रमण आदि की भावनाओ को समाज के जीवन मे इस प्रकार घोल देता है कि धार्मिक विश्वास, पवित्रता, दया व धार्मिक निर्देश-उपदेश सभी कुछ तुच्छ पड़ जाते हैं। इसके अतिरिक्त, यदि आक्रमणकारी विधर्मी हुआ और उसे युद्ध मे विजय प्राप्त हुई, तो वह पराजित देश के लोगों पर अपना धर्म थोपने का प्रयत्न करता है, और लोगों को बाध्य होकर धर्म-परिवर्तन करना पड़ता है। इससे भी देश के परम्परागत धर्म के स्वरूप मे विघटन आरम्भ हो जाता है।

युद्ध राजनैतिक संस्थाओं, विशेषकर सरकार को भी विघटित कर देता है। वह राष्ट्रवाद तथा साम्राज्यवाद को बढ़ावा देता है; और राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद विश्व-शान्ति और स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों को कुचलते चलते हैं। राजनैतिक संस्थाओं मे राष्ट्रीय तथा आर्थिक विस्तारवादी आकांक्षाओ का समावेश सचमुच घातक सिद्ध होता है। युद्ध मे जो राज्य पराजित होता है, उसका तो ऐसा विघटन होता है कि सम्पूर्ण व्यवस्था ही उलट-पुलट जाती है। विजयी राज्य मे भी, युद्ध के बाद, शक्ति का हस्तान्तरण अथवा सत्ता का देश की एक राजनीतिक पार्टी से दूसरे पार्टी के हाथों में आ जाना कोई बड़ी बात नही रह जाती।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि समाज का कोई भी अग ऐसा नही है जो युद्ध के विघटनात्मक प्रभावो से अपने को अछूता रख सकता हो। युद्ध सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये ही एक सकटपूर्ण परिस्थिति बन कर आता है। यह एक ऐसी परिस्थिति होती है, जिसमे सभी कुछ अस्त-व्यस्त हो जाता है, सामूहिक जीवन का ताना-बाना बढ जाता है, और समाज की प्रगति व कलात्मक और मानवीय भावनायें युद्ध की ज्वाला मे झुलस कर राख हो जाती हैं। युद्ध स्वस्थ और सगठित जीवन के प्रतिकूल है, युद्ध 'जियो और जीने दो' सिद्धान्त के विपरीत है, और युद्ध सम्पूर्ण सामाजिक सरचना, संस्था, व्यक्ति तथा समूह को असंतुलित कर देने वाला अभिशाप है। युद्ध वास्तव मे हो सामाजिक विघटन का सबसे विकराल (most violent) स्वरूप है।

REFERENCES

1. "Social revolutions create a powerful upheaval uprooting both good and bad values, taking place at the price of ill will and blood-shed, and calling for extensive social reorganization"—*E.S. Bogardus*, Sociology, (MacMillan and Co., New York), 1957, pp. 391-392.

2. "Revolution is an abrupt shift to new forms of power or authority within a nation-state."—*Kimball Young*, Handbook of Social Psychology London, 1927, p. 567.

पारिवारिक नियन्त्रण शिथिल हो गया, इसकि less sudden social change, usually
लड़कियों के बीच शराबखोरी, जुआ, आ[illegible] [illegible]row of the existing political order
बढ़ती [illegible] [illegible]shment of new forms of social and legal
controls.—Kimbali Young, Ibid.

4. Ibid., p. 163.

5. "The immediate cause of revolution is always the growth of repression of the main instincts of the majority of society, and the impossibility of obtaining for these instincts the necessary minimum of satisfaction."—Sorokin.

6 Kimball Young, Handbook of Social Psychology, 1957, p. 589.

7 "War is the formal disruption of the relationships that bind nations together peacetime harmony."—*Elliot and Merrill*, Social Disorganization, (Harper and Bros, New York), 1950, p. 707.

8. "By war is meant organized assault by one social group upon another with the intent to further the interest of the one group at the expense of the other through the wilful destruction of life and goods."—*E.A. Hoebel*, Man in the Primitive World, (McGraw-Hill Book Co., New York), 1958, p. 508.

9. "The term war is generally applied to armed conflit between population groups conceived of as organic units, such as races or tribes, states or lesser geographic units, religious or political parties, economic classes."—Encyclopaedia of Social Sciences, Vol. XV, p. 331.

10. "From the standpoint of process, war may be considered as falling into a cycle of war, peace, and war again."—*Kimball Young*, op. cit., p. 589.

11 *Ibid*., pp. 589-590.